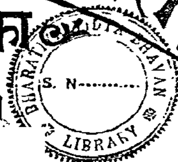
सचित्र महाभारत

भाषा-टीका



प्रथम अङ्क ।

जिसका संशोधन

महामहोपाध्याय श्री माधव शास्त्री भाण्डारी प्रधानाध्यापक ओरियण्टल
कालेज, लाहौर ने अत्यन्त सावधानी के साथ प्रामाणिक और
प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया है।

और

जिसका टीका

काशी निवासी विद्वद्वर श्रीराम शास्त्री तैलंग

ने

बड़े परिश्रम से अत्यन्त सरल हिन्दी-भाषा में की है।

प्रकाशक :—

लक्ष्मणदास प्यारेलाल जैन,
अध्यक्ष-संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर।

द्वितियावार) मूल्य १२॥)

सिरफ टाइटल पेज घरोड्रस प्रेस, अनारकली लाहौर में से छपा

सचित्र

महाभारत भाषा टीका

महर्षि वेदव्यास-प्रणीत

(आदि पर्व १)

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

॥ श्रीवेदव्यासायनम ॥

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमः पितामहाय ॥
ॐ नमः प्रजापतिभ्यः ॥ ॐ नमः कृष्णद्वैपायनाय ॥
ॐ नमः सर्वविघ्नविनायकेभ्यः ॥
लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिको ।
नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ॥ १ ॥

पुरुषों में उत्तम नर, नारायण और देवी सरस्वती को नमस्कार करके जय कीर्तन करे ॥१॥

भगवान् वासुदेव, ब्रह्माजी, वसिष्ठ मरीच्यादि प्रजापति, कृष्णद्वैपायन तथा सर्व विघ्नों के नाश करने वाला विनायक, इन सब को नमस्कार हो ।

लोमहर्षण सूत के पुत्र उग्रश्रवा नामक पुराणों के विद्वान् किसी समय (द्वापर के अन्त में) फिरते फिरते कुलपति अर्थात् दश हजार विद्यार्थियों को भोजन देकर पढ़ाने वाले, शौनक ऋषि के बारह वर्ष के सत्र (यज्ञ) में नैमिषारण्य आगये (सत्र एक ऐसा यज्ञ होता है जहां बहुत से ऋषि स्वयं यजमान और ऋत्विक् बन कर कर्म करें।)॥ १ ॥

सुखासीनानभ्यगच्छद्ब्रह्मर्षीन् संशितव्रतान् ।
विनयावनतो भूत्वा कदाचित् सूतनन्दनः ॥ २ ॥
तमाश्रममनुप्राप्तं नैमिपारण्यवासिनाम् ।
चित्राः श्रोतुं कथास्तत्र परिवव्रुस्तपस्विनः ॥ ३ ॥
अभिवाद्य मुनींस्तांस्तु सर्वानेव कृताञ्जलिः ।
अपृच्छत्स तपोवृद्धिं सद्भिश्चैवाभिपूजितः ॥ ४ ॥
अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव तपस्विषु ।
निर्दिष्टमासनं भेजे विनयाल्लौमहर्षणिः ॥ ५ ॥
सुखासीनं ततस्तं तु विश्रान्तमुपलक्ष्य च ।
अथापृच्छदृषिस्तत्र कश्चित् प्रस्तावयन् कथाः ॥ ६ ॥
कुत आगम्यते सौते क्व चायं विहृतस्त्वया ।
कालः कमलपत्राक्ष शंसैतत् पृच्छतो मम ॥ ७ ॥
एवं पृष्टोऽब्रवीत् सम्यग्यथावल्लौमहर्षणिः ।
वाक्यं वचनसंपन्नस्तेषां च चरिताश्रयम् ॥ ८ ॥
तस्मिन् सदसि विस्तीर्णे मुनीनां भावितात्मनाम् ।
सौतिरुवाच—जनमेजयस्य राजर्षेः सर्पसत्रे महात्मनः ॥ ९ ॥

ऐसे कदाचित् सूतकुल को प्रसन्न करने वाले उग्रश्रवा विनय से नम्र होकर सुख से विराजमान शौनकादि ब्रह्म ऋषियों के समीप आये ॥ २ ॥

सूत जी को देखकर सब ऋषि विचित्र कथाएँ सुनने की अभिलाषा से चारों ओर घेर कर बैठ गए ॥

सूतपुत्र ने नम्रता पूर्वक हाथ जोड़ कर सबको प्रणाम करके तपोवृद्धि का समाचार पूछा, उन सब लोगों ने भी सूत जी का बड़ा आदर सत्कार किया। इसके अनन्तर लोमहर्षण के पुत्र (उग्रश्रवा जी) उन सब तपस्वियों के यथा स्थान बैठ जाने पर आप भी निर्दिष्ट किये आसन पर विराजमान हो गये ॥३।४॥

तब उन में से कोई एक ऋषि विश्राम करके सुख पूर्वक विराजमान सूत जी को जानकर कथाओं का प्रस्ताव (सुखबन्ध) करता हुआ पूछने लगा ॥६॥

हे सूतपुत्र ! आपका कहां से यहां आना हुआ और यह समय आपने कहां कहां विहरण से व्यतीत किया। हे कमल के सदृश विशाल लोचन ! यह मुझ से आप कथन कीजिये ॥ ७ ॥

ऐसा पूछने पर लोमहर्षण के पुत्र जो कि कहने में बड़े कुशल थे उन के चरितों का आश्रय वाक्य उस सभा में कथन करने लगे ॥ ८ ॥

जो विस्तृत सभा उन भावितात्मा मुनियों से शोभायमान थी। सूतपुत्र जी बोले—हे महर्षियो ! महात्मा राजा जनमेजय के सर्प यज्ञ में वैशम्पायन

समीपे पार्थिवेन्द्रस्य सम्यक् पारिक्षितस्य च ।
कृष्णद्वैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः ॥ १० ॥
कथिताश्चापि विधिवद्या वैशम्पायनेन वै ।
श्रुत्वाऽहं ता विचित्रार्था महाभारतसंश्रिताः ॥ ११ ॥
बहूनि संपरिक्रम्य तीर्थान्यायतनानि च ।
समन्तपंचकं नाम पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥ १२ ॥
गतवानस्मि तं देशं युद्धं यत्राभवत् पुरा ।
कुरूणां पाण्डवानां च सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ १३ ॥
दिदृक्षुरागतस्तस्मात् समीपं भवतामिह ।
आयुष्मन्तः सर्व एव ब्रह्मभूता हि मे मताः ।
अस्मिन् यज्ञे महाभागाः सूर्यपावकवर्चसः ॥ १४ ॥
कृताभिषेकाः शुचयः कृतजप्या हुताग्नयः ।
भवन्त आसने स्वस्था ब्रवीमि किमहं द्विजाः ॥ १५ ॥
पुराणसंहिताः पुण्याः कथा धर्मार्थसंश्रिताः ।
इतिवृत्तं नरेन्द्राणामृषीणां च महात्मनाम् ॥ १६ ॥
ऋषय ऊचुः—द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ १७ ॥

जी ने कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) रचित अनेक प्रकार की पवित्र कथाओं का वर्णन किया था वहां मैंने सर्व कथाएँ सुनीं। महाभारत नामक विचित्र अर्थों वाली उन कथाओं को सुनकर बहुत से तीर्थ और आश्रमों में घूमते घूमते द्विजों से शोभित समन्तपञ्चक नाम पुण्य देशमें गया जहां पर पहिले कुरु पाण्डवों का संग्राम हुआ था ॥९।१२॥

वहां से आप लोगों के दर्शन करने की इच्छा से सेवा में उपस्थित हुआ हूं। इस यज्ञमें आप सबने अभिषेक (यज्ञान्तस्नान) किया है पवित्र होकर जप और अग्निहोत्र करके स्वस्थचित होकर आसनों पर विराजमान हुए हैं। पवित्र पुराणों की कथाएँ, राजाओं के इतिहास, महात्माओं के जीवन चरित्र, जो आप कहें सो मैं सुनाऊँ ॥१३।१६॥

ऋषि बोले—वेदव्यास जी ने जो पुराण कथन किये हैं देवता और ब्रह्मर्षियोंने जिस की स्तुति की है, आख्यानकों में श्रेष्ठ आश्चर्य देने वाले पद-सन्धि-गूढ अर्थ और न्याय से युक्त वेद अर्थों से अलङ्कृत, मिले हुए अर्थ से युक्त संस्कार की गई भारत नामक इतिहास अनेक शास्त्रों के आशय लिये हुए ब्रह्मोपदेश देने वाली, पवित्र कथा हमें सुनाओ ॥१७।१९॥

जनमेजय राजा के यज्ञ में वेदव्यास जी की

तस्याख्यान वरिष्ठस्य विचित्र पद पर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याय युक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ॥ १८ ॥
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रंथार्थसंयुताम् ।
संस्कारोपगतां ब्राह्मीं नाना शास्त्रोपबृंहिताम् ॥ १९ ॥
जनमेजयस्य यां राज्ञो वैशम्पायन उक्तवान् ।
यथावत् स ऋषिस्तुष्टया सत्रे द्वैपायनाज्ञया ॥ २० ॥
वेदैश्चतुर्भिः संयुक्तां व्यासस्याद्भुतकर्मणः ।
संहितां श्रोतुमिच्छामः पुण्यां पापभयापहाम् ॥ २१ ॥
सौतिरुवाच—आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥ २२ ॥
असच्च सदसच्चैव यद्विश्वं सदसत्परम् ।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥ २३ ॥
मङ्गल्यं मंगलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम् ।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥ २४ ॥
महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोकैर्महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं पुण्यं व्यासस्याद्भुतकर्मणः ॥ २५ ॥
आचख्युः कवयः केचित् संप्रत्याचक्षते परे ।
आख्यास्यन्ति तथैवान्य इतिहासमिमं भुवि ॥ २६ ॥

आज्ञा से यह वैशम्पायन जिस कथा को स्तुति करके यथावत कहते हुए ॥ २० ॥

उग्रश्रवा सूत ने कहा—जो इस स्थूल और सूक्ष्म सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमण्डल के आदि पुरुष और ईश्वर है, जिसका नाम लेकर बहुत लोग हवन और स्तुति कर रहे है, जिन को अद्वितीय एकमात्र सत्य-रूप परब्रह्म कहते है, जो सत और असत है, जिनके लिये बहुत पुरुष इकत्र होकर यज्ञमें आहुति छोड़ते है, जिनकी बहुत लोग महिमा करते है, जो सनातन अविनाशी है, जिन को प्राप्त करने के लिये बड़े बड़े कठिन तप और व्रत धारण किये जाते है। उन इन्द्रियों का स्वामी, चराचर जगत के गुरु, विश्व का पालन करने वाला, अनादि, अनन्त, मङ्गल का देने वाला, और मङ्गलरूप, हरिके चरणों में नमस्कार करके महात्मा वेदव्यास के कहे हुए पवित्र इतिहास का मैं वर्णन करता हू ॥ २२ । २५ ॥

इस इतिहास का संसार मे कवियों ने पहिले भी वर्णन किया है, अब भी वर्णन कर रहे हैं और आगे भी वर्णन करेंगे ॥ २६ ॥

यह इतिहास तीनों लोकों मे फैला हुआ है।

इदं तु त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम् ।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद्द्विजातिभिः ॥ २७ ॥
अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः ।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम् ॥ २८ ॥
निष्प्रभेऽस्मिन्निरालोके सर्वतस्तमसावृते ।
बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां वीजमव्ययम् ॥ २९ ॥
युगस्यादौ निमित्तं तन्महद्दिव्यं प्रचक्षते ।
यस्मिन् संश्रूयते सत्यं ज्योतिर्ब्रह्म सनातनम् ॥ ३० ॥
अद्‌भुतं चाप्यचिंत्यं च सर्वत्र समतां गतम् ।
अव्यक्तं कारणं सूक्ष्मं यत्तत्सदसदात्मकम् ॥ ३१ ॥
यस्मात् पितामहो जज्ञे प्रभुरेकः प्रजापतिः ।
ब्रह्मा सुरगुरुः स्थाणुर्मनुः कः परमेष्ठ्यथ ॥ ३२ ॥
प्राचेतसस्तथा दक्षो दक्षपुत्राश्च सप्त वै ।
ततः प्रजानां पतयः प्राभवन्नेकविंशतिः ॥ ३३ ॥
पुरुषश्चाप्रमेयात्मा यं सर्व ऋषयो विदुः ।
विश्वेदेवास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावपि ॥ ३४ ॥

ब्राह्मण लोग इसे भली भान्ति धारण किये हुए है। यह महाभारत ग्रंथ अनेक भान्ति के छन्दों तथा अलंकारों करके, अच्छे कोमल और मधुर शब्दों और बहुत ही मनोहर भावों से भरा हुआ है। इसलिये विद्वान् लोग इसका बहुत आदर करते है ॥२७।२८॥

पहिले यह सारा संसार घोर अंधकार से ढका हुआ था। इसमें प्रकाश और ज्योति नहीं थी। इसके पश्चात् जगत् का बीज ज्योतिमय एक बड़ा अण्डा उत्पन्न हुआ। इस अंडे के भीतर आदि और अन्त से रहित, अचिन्तनीय, सत्य, सनातन, ज्योतिर्मय, परब्रह्म ने प्रवेश किया ॥२९।३१॥

फिर उस अंडे मे भगवान् प्रजापति ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उसके बाद स्थाणु, स्वायंभुव मनु, दश प्रचेता दक्ष, दक्ष के सात पुत्र, सप्त ऋषि और चौदह मनु पैदा हुए। फिर वह अप्रमेय, विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ। फिर दश विश्वेदेवा, बारह आदित्य, आठ वसु, अश्विनीकुमार, यक्ष, साध्यगण, पिशाच, गुह्यक, और पितृगण उत्पन्न हुए। पश्चात् सब गुणों से सुशोभित विद्वान् ब्रह्मर्षि, और राजर्षियों ने जन्म लिया। फिर जल, पृथिवी, स्वर्ग, वायु, आकाश, दश दिशायें, वर्ष ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात्रि और सब पदार्थ धीरे २ उत्पन्न हुए ॥३२।३७॥

जब प्रलय का समय आवेगा तब इस विशाल विश्व का लोप होजायगा। जैसे ऋतुओं के आरम्भ

यक्षाः साध्याः पिशाचाश्चगुह्यकाः पितरस्तथा ।
ततः प्रसूता विद्वांसः शिष्टा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥ ३५ ॥
राजर्षयश्च बहवः सर्वे समुदिता गुणैः ।
आपोद्यौः पृथिवी वायुरन्तरिक्षं दिशस्तथा ॥ ३६ ॥
संवत्सरर्तवो मासाः पक्षाहोरात्रयः क्रमात् ।
यच्चान्यदपि तत्सर्वं संभूतं लोकसाक्षिकम् ॥ ३७ ॥
यादिदं दृश्यते किंचिद् भूतं स्थावरजंगमम् ।
पुनः संक्षिप्यते सर्वं जगत्प्राप्ते युगक्षये ॥ ३८ ॥
यथर्तावृतुलिंगानि नाना-रूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ ३९ ॥
एवमेतदनाद्यन्तं भूत-संहार-कारकम् ।
अनादिनिधनं लोके चक्रं संपरिवर्तते ॥ ४० ॥
त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च ।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा ॥ ४१ ॥
दिवः पुत्रो बृहद्भानुश्चक्षुरात्मा विभावसुः ।
सविता स ऋचीकोऽर्को भानुराशावहो रविः ॥ ४२ ॥
पुत्रा विवस्वतः सर्वे सह्यस्तेषां तथावरः ।
देवभ्राद् तनयस्तस्य सुभ्राडिति ततः स्मृतः ॥ ४३ ॥
सुभ्राजस्तु त्रयः पुत्राः प्रजावन्तो बहुश्रुताः ।
दशज्योतिः शतज्योतिः सहस्रज्योतिरेव च ॥ ४४ ॥

में उसके तरह तरह के चिन्ह फल फूलआदि दिखाई पड़ते हैं और ऋतु बदलने के समय वह सब चिन्ह एक एक करके अस्त होजाते हैं वैसे ही युग के आरम्भ में सब वस्तुएँ उत्पन्न होतीं और प्रलय काल में लीन होजाती हैं । इसी प्रकार से ही यह संसार चक्र सदैव बदलता रहता है ॥ ३८।४० ॥

फिर उस अंडे से तेतीस देवता उत्पन्न हुए। और तेतीस सौ से तेतीस हजार उत्पन्न हुए ॥४१।४२॥

इन सब में सह्य जो सब से छोटे थे उनके देवभ्रात पुत्र उत्पन्न हुआ । देवभ्रात के सुभ्राद् नामी पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। सुभ्राद् के तीन पुत्र उत्पन्न हुए-दशज्योति, शतज्योति और सहस्रज्योति ॥४३।४४॥

दशज्योति के दस हजार पुत्र उत्पन्न हुए।

दश पुत्रसहस्राणि दशज्योतेर्महात्मनः ।
ततो दशगुणाश्चान्ये शतज्योतेरिहात्मजाः ॥ ४५ ॥
भूयस्ततो दशगुणाः सहस्रज्योतिषः सुताः ।
तेभ्योऽयं कुरुवंशश्च यदूनां भरतस्य च ॥ ४६ ॥
ययातीक्ष्वाकुवंशश्च राजर्षीणां च सर्वशः ।
संभूता बहवो वंशा भूतसर्गाः सुविस्तराः ॥ ४७ ॥
भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं त्रिविधं च यत् ।
वेदा योगः सविज्ञानो धर्मोऽर्थः काम एव च ॥ ४८ ॥
धर्मकामार्थयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च ।
लोकयात्राविधानं च सर्वं तद् दृष्टवानृषिः ॥ ४९ ॥
इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च ।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम् ॥ ५० ॥
विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत् ।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ॥ ५१ ॥
मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथा परे ।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥ ५२ ॥

शतज्योति के एक लक्ष और सहस्रज्योति के दश लक्ष पुत्र उत्पन्न हुए। इनहीं से कुरुवंश, यदुवंश, भरतवंश, ययाति वंश, इक्ष्वाकु वंश, और-और बहुत से वंश और बहुत सी जातिया उत्पन्न हुईं। वही सब वंश इस समय पृथिवी पर फैले हुए हैं ॥४५।४७॥

सब भूतों के रहने के स्थान तीन प्रकार के रहस्य, कर्म उपासना और ज्ञान आदि काड, धर्म, अर्थ और काम के देने वाले अनेक प्रकार के शास्त्र अर्थात् स्मृति, नीति, मीमासा, कोकशास्त्र, वेदशास्त्र जैसे आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि इस लोक से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रों को महर्षि वेदव्यास अपने योगबल से जानते थे। अब इस ग्रन्थ में जो जो इतिहास तथा श्रुतियों का वर्णन किया है। उन सबको क्रम से इस प्रथम अध्याय में वर्णन करते हैं ॥४८।५०॥

कुछ लोग इसको संक्षेप रूप में जानना चाहते हैं, और कोई कोई विद्वान् इसे विस्तार पूर्वक जानना चाहते हैं। ऐसा जान कर वेदव्यासजी ने इस ग्रन्थ में ऊपर लिखे हुए विषयों का वर्णन संक्षेप रूप में भी किया है और विस्तार से भी किया है। कोई कोई बुद्धिमान् ब्राह्मण 'नारायण नमस्कृत्य' इस मन्त्र से, कोई आस्तीक वंश से और कोई उपरिचर राजा की कथा से ग्रन्थ का आरम्भ समझ कर पढने लगते हैं। कई ज्ञानी लोग इस भारत के

विविधं संहिताज्ञानं दीपयन्ति मनीषिणः ।
व्याख्यातुं कुशलाः केचिद् ग्रन्थान् धारयितुं परे ॥ ५३ ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम् ।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः ॥ ५४ ॥
पराशरात्मजो विद्वान् ब्रह्मर्षिः संशितव्रतः ।
तदाख्यानवरिष्ठं स कृत्वा द्वैपायनः प्रभुः ॥ ५५ ॥
कथमध्यापयानीह शिष्यानित्यन्वचिन्तयत् ।
तस्य तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ऋषेर्द्वैपायनस्य च ॥ ५६ ॥
तत्राजगाम भगवान् ब्रह्मा लोकगुरुः स्वयम् ।
प्रीत्यर्थं तस्य चैवर्षेर्लोकानां हितकाम्यया ॥ ५७ ॥
तं दृष्ट्वा विस्मितो भूत्वा प्रांजलिः प्रणतः स्थितः ।
आसनं कल्पयामास सर्वैर्मुनिगणैर्वृतः ॥ ५८ ॥
हिरण्यगर्भमासीनं तस्मिंस्तु परमासने ।
परिवृत्यासनाभ्याशे वासवेयः स्थितोऽभवत् ॥ ५९ ॥
अनुज्ञातोऽथ कृष्णस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
निषसादासनाभ्याशे प्रीयमाणः शुचिस्मितः ॥ ६० ॥

गूढ़ मर्म (विषयों) पर विचार करके लोगों को समझाते हैं। उनमें कोई कोई तो अपूर्व व्याख्या करते हैं और कोई इसको धारण करने में कुशल (चतुर) हैं ॥ ५१।५३ ॥

ब्रह्मर्षि व्यास जी ने अपनी तपस्या और तेजबल के प्रभाव से चारों वेदों के सारांश का संग्रह करके इस पवित्र इतिहास को रचा है। तब उनके चित्त में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस पवित्र इतिहास की रचना के पश्चात् मैं इसे किस प्रकार अपने शिष्यों को पढ़ाऊंगा। महर्षि द्वैपायन (वेदव्यास) को ऐसी चिन्ता में पड़े हुए जान कर, सर्व शक्तिमान भगवान ब्रह्मा जी व्यास जी को प्रसन्न करने के लिए संसार के हित की इच्छा से स्वयं वहां उपस्थित हुए। उन्हें देखकर व्यास जी को बड़ा विस्मय (हैरानगी) हुआ। सब ऋषियों सहित व्यास जी ने ब्रह्मा जी को प्रणाम किया और सुन्दर आसन पर उनको बड़े आदर और सत्कार से बैठाया। व्यास जी हाथ जोड़ कर सामने खड़े रहे। ब्रह्मा जी की आज्ञा पाकर व्यासजी उनके पास बैठ गये ॥ ५४।६० ॥

थोड़ी देर बाद महर्षि व्यास जी ब्रह्मा जी से कहने लगे, कि हे भगवन्! मैंने एक ऐसा पवित्र काव्य रचा है जिसमें वेदों के सब अंग रहस्य उपनिषद्, वेदों की क्रिया, अनेक इतिहास और पुराणों की बातें, भूत, भविष्यत और वर्तमान इन तीनों कालों का वर्णन है।

उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ॥ ६१ ॥
ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया ।
सांगोपनिपदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥ ६२ ॥
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥ ६३ ॥
जरामृत्यु-भय-व्याधि-भावाभाव-विनिश्चयः ।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ॥ ६४ ॥
चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः ।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥ ६५ ॥
ग्रह-नक्षत्र-ताराणां प्रमाणं च युगैः सह ।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥ ६६ ॥
न्यायः शिक्षा चिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥ ६७ ॥
तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम् ।
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥ ६८ ॥
पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम् ।
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥ ६९ ॥

बुढ़ापा, जन्म, मरण, भय, व्याधि, इनके होने न होने का निश्चय, और अनेक प्रकार के धर्म आश्रमों के लक्षण, सब पुराण चारों वर्णों का विधान, तप और ब्रह्मचर्य का तत्व बतलाया गया है । सूर्य्य, चद्रमा, पृथवी, गृह, नक्षत्र, तारागण और युगों का परिमाण, ऋगवेद, सामवेद, यजुर्वेद, वेदांत विद्या, दर्शन शास्त्र, वैद्यक, दान, पाशुपत धर्म आदिका भली भांती वर्णन है । संसार में होने वाले भगवान् के दिव्य अवतारों का वर्णन है; पवित्र तीर्थ, देश, नदी, पर्वत, वन, सागर, दिव्यपुरी, युद्ध—कौशल, विशेष विशेष जातियों का वर्णन है; लौकिक आचार व्यवहार का भी वर्णन है । इस सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त ब्रह्म का प्रतिपादन ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है । परन्तु मुझे इस जगत् में इस महान् ग्रन्थ को लिखने के लिये कोई योग्य लेखक नहीं देख पड़ता ॥६०।७०॥

यह सुनकर ब्रह्मा जी बोले कि मैं तुमको इस रहस्य और ज्ञान के जानने से बड़े बड़े तपस्वियों से भी श्रेष्ठ समझता हूं। तुमने जन्म से लेकर आज

यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम् ।
परं न लेखकः कश्चिदेतस्य भुवि विद्यते ॥ ७० ॥
ब्रह्मोवाच—तपो विशिष्टादपि वै विशिष्टान्मुनिसंचयात् ।
मन्ये श्रेष्ठतरं त्वां वै रहस्यज्ञानवेदनात् ॥ ७१ ॥
जन्मप्रभृति सत्यां ते वेद्मि गां ब्रह्मवादिनीम् ।
त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात्काव्यं भविष्यति ॥ ७२ ॥
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
विशेषणे गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥ ७३ ॥
काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने ।
सौतिरुवाच—एवमाभाष्य तं ब्रह्मा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ ७४ ॥
ततः सस्मार हेरम्बं व्यासः सत्यवतीसुतः ।
स्मृतमात्रो गणेशानो भक्त-चिन्तितपूरकः ॥ ७५ ॥
तत्राजगाम विघ्नेशो वेदव्यासो यतः स्थितः ।
पूजितश्चोपविष्टश्च व्यासेनोक्तस्तदाऽनघ ॥ ७६ ॥
लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक ।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च ॥ ७७ ॥
श्रुत्वैतत्प्राह विघ्नेशो यदि मे लेखनी क्षणम् ।
लिखतो नावतिष्ठेत तदा स्यां लेखको ह्यहम् ॥ ७८ ॥

तक कभी अन्यथा नहीं कहा । तुम्हारे मुख से सदा ब्रह्म-सम्बंधी वाक्य ही निकला करते हैं । तुमने इस ग्रन्थ को काव्य कहा इससे इस पृथ्वी पर यह काव्य ही कहलावेगा । जैसे सब आश्रमों में गृहस्थ आश्रम श्रेष्ठ है वैसे ही सब काव्यों में तुम्हारा यह काव्य श्रेष्ठ समझा जायगा । कोई भी विद्वान कवि इससे सुन्दर काव्य नहीं रच सकेगा । अब तुम इसके *लिखने के लिए गणेश जी का ध्यान करो ।* यह कहकर ब्रह्मा जी तो अन्तर्धान हो गये (अपने लोक को चले गये) ॥७१।७४॥

फिर सत्यवती के पुत्र व्यास जी ने हेरम्ब (गणेश जी) का स्मरण किया । सो गणेश जी अपने भक्तों का मनोरथ पूरा करने वाले व्यास जी के ध्यान करते ही वहां आन पहुंचे । व्यास जी ने उनको आये हुए जानकर यथोचित सत्कार करके सुंदर आसन दिया और हाथ जोड़ कर कहा—गणेश जी, मैंने भारत नाम का एक काव्य रचा है, आप संसार के उपकार के लिये लिख दीजिये—मैं बोलता जाऊँगा ।

व्यासोऽप्युवाच. तं देवमबुध्वा मा लिख कचित् ।
ओमित्युक्त्वा गणेशोऽपि बभूव किल लेखकः ॥ ७९ ॥
ग्रन्थग्रन्थिं तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात् ।
यस्मिन् प्रतिज्ञया प्राह मुनिर्द्वैपायनास्त्विदम् ॥ ८० ॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ॥ ८१ ॥
तत् श्लोककूटमद्यापि ग्रथितं सुदृढं मुने ।
भेत्तुं न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च ॥ ८२ ॥
सर्वज्ञोऽपि गणेशो यत् क्षणमास्ते विचारयन् ।
तावच्चकार व्यासोऽपि श्लोकानन्यान् बहूनपि ॥ ८३ ॥
अज्ञानतिमिरांधस्य लोकस्य तु विचेष्टतः ।
ज्ञानाञ्जनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥ ८४ ॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः ।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः ॥ ८५ ॥
पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः ।
नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेतत्प्रकाशनम् ॥ ८६ ॥

यह सुनकर गणेश जी ने उत्तर दिया—मैं इस शर्त पर लेखक होने को तैय्यार हूं कि क्षणभर भी मेरी क़लम रुकने न पावे ॥७५।७८॥

व्यास जी बोले—अच्छी बात है; किन्तु आप भी ठीक अर्थ समझे बिना नहीं लिखना। गणेश जी ने यह बात स्वीकार कर लिखना प्रारम्भ कर दिया। इस महाभारत में व्यास जी ने आठ हज़ार आठ सौ श्लोक ऐसे कूट और कठिन (जिसका अर्थ सहज में समझ न आसके) जहां जहां लिखवाये कि उनके बारे में व्यास जी ने यह कहा है कि इनका ठीक अर्थ या तो मैं जानता हूं या शुकदेव जी जानते है और सञ्जय के बारे में ठीक नहीं कहा जा सकता है और न ही समझा जा सकता है। गणेश जी भी यद्यपि सर्वज्ञ थे परन्तु उनको भी अर्थों में क्षणभर विचार करना पड़ता था। उसी समय में व्यास जी और बहुत से श्लोकों की रचना कर लेते थे ॥७९।८३॥

यह महाभारत अज्ञान के अन्धकार से घिरे हुए लोगों के आगे से मोह रूपी पर्दे को हटाकर उनकी ज्ञान की आंखें खोलने वाला सूर्य्य है। इतनी कथा सुनाकर सूत पुत्र बोले कि हे ऋषियो! इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। महाभारत-रूपी पूर्ण चन्द्र ने पृथवी पर प्रकट होकर, श्रुतियों की किरणें फैलाकर, कुमुद के समान उज्ज्वल मनुष्यों की बुद्धि को विकसित

इतिहास–प्रदीपेन मोहाऽऽवरण–घातिना ।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत्संप्रकाशितम् ॥ ८७ ॥
संग्रहाध्यायवीजो वै पौलोमास्तीकमूलवान् ।
संभवस्कन्धविस्तारः संभारण्याविटंकवान् ॥ ८८ ॥
अरणीपर्वरूपाढ्यो त्रिराटोद्योग—सारवान् ।
भीष्मपर्वमहाशाखो द्रोणपर्वपलाशवान् ॥ ८९ ॥
कर्णपर्वसितैः पुष्पैः शल्यपर्वसुगन्धिभिः ।
स्त्रीपर्वैपीकाविश्रामः शांतिपर्वमहाफलः ॥ ९० ॥
अश्वमेधाऽमृतरसस्त्वाश्रम–स्थान–संश्रयः ।
मौसलः श्रुतिसंक्षेपः शिष्टद्विजनिषेवितः ॥ ९१ ॥
सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥ ९२ ॥
सौतिरुवाच—तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शश्वत्पुष्पफलोदयम् ।
स्वादु–मेध्य–रसोपेतमच्छेद्यममरैरपि ॥ ९३ ॥

करके विमल बनाया है । यह इतिहास मोह को मिटाने के लिये एक दीपक के समान है। इसने संसार भर को ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित कर रक्खा है ॥८४।८७॥

यह महाभारत एक बड़ा भारी वृक्ष है । संग्रहाध्याय इसका बीज है । पौलोम और आस्तीक इसकी जड़ है । सृष्टि के उपजने की जो कथा है वह इसके टहनों का फैलाव है। सभा पर्व पक्षियों के रहने के घोंसले हैं । वन पर्व इस महान वृक्ष का तना है । विराट और उद्योग पर्व इस वृक्ष के सार भाग है । भीष्म पर्व इसकी शाखा है । द्रोण पर्व इसके पत्ते हैं। कर्ण पर्व इस वृक्ष के सफेद फूल हैं । शल्य पर्व इन फूलों की सुगन्धि है। स्त्री पर्व इस वृक्ष की छाया है। शान्ति पर्व इसके फल हैं ॥८८।९०॥

अश्वमेध पर्व इस फलका अमृत के समान रस है। आश्रम पर्व इस वृक्ष के नीचे बैठने का स्थान है। मौसल पर्व इस वृक्ष की लम्बी शाखाओं के आगे का हिस्सा है। और इस माहभारत रूपी वृक्ष की उत्तम कथा के सुनने वाले महात्मा लोग इस वृक्ष के फल के खाने वाले पक्षी है। जैसे मेघ के जल से तरह–तरह के अन्नादि उत्पन्न होकर लोगों की क्षुधा तृप्त करते हैं वैसे ही इस महाभारत की कथाओं पर कवियों के काव्य नाटकादि मनुष्यों का मन खुश करेंगे। ॥९१।९२॥

इतनी कथा सुनकर सूत जी बोले कि मैं अब उसी वृक्ष के स्वादिष्ट और पवित्र रस भरे नित्य धर्म रूपी फूल और फलों से युक्त कथा कहुंगा ॥९३॥

हे ऋषियो ! पूर्व कालमें धर्मात्मा कृष्णद्वैपा-

मातुर्नियोगाद्धर्मात्मा गांगेयस्य च धीमतः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य कृष्णद्वैपायनः पुरा ॥ ९४ ॥
त्रीनग्नीनिव कौरव्याञ्जनयामास वीर्यवान् ।
उत्पाद्य धृतराष्ट्रं च पाण्डुं विदुरमेव च ॥ ९५ ॥
जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ।
तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम् ॥ ९६ ॥
अब्रवीद्भारतं लोके मानुषेऽस्मिन् महानृषिः ।
जनमेजयेन पृष्टः सन् ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ॥ ९७ ॥
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमान्तिके ।
स सदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम् ॥ ९८ ॥
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ।
विस्तरं कुरुवंशस्य गांधार्या धर्मशीलताम् ॥ ९९ ॥
क्षत्तुः प्रज्ञां धृतिं कुन्त्याः सम्यग्द्वैपायनोऽब्रवीत् ।
वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानां च सत्यताम् ॥ १०० ॥
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान् भगवानृषिः ।
इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम् ॥ १०१ ॥

यन जी (वेदव्यास) ने अपनी सत्यवती माता और भीष्मपितामहके कहने से विचित्रवीर्य के क्षेत्र में तीनों अग्नि के समान तेजस्वी तीन पुत्र उपजाये थे । वेदव्यास जी महाराज इस प्रकार से धृतराष्ट्र,पाण्डु, विदुर इन तीन संतानों को जन्म देकर तपस्या के लिए फिर आश्रम को चले गये । नियम के अनुसार वही तीनों पुत्र जब वृद्धावस्था को प्राप्त होकर परलोक चले गये तब महर्षि व्यास जी ने यह महाभारत भारतवर्ष में प्रकाशित (प्रकट) किया ॥९४।९६॥

अनन्तर जनमेजय राजा के सर्पयज्ञ में हज़ारों ब्राह्मणों और स्वयं जनमेजय ने महाभारत इतिहास सुनने की इच्छा प्रकट करके व्यास जी से प्रार्थना की। कृपालु व्यास जी ने पास बैठे हुए अपने शिष्य श्री वैशम्पायन जी से महाभारत ग्रन्थ सुनाने की आज्ञा दी । यज्ञ का सर्व कार्य्य समाप्त हो जाने पर वैशम्पायन जी नित्य उन महात्माओं को महाभारत सुनाने लगे ॥९७।९८॥

भगवान् द्वैपायन ने इस महाभारतमें कौरवशी राजाओं का विस्तार, गान्धारी की धर्म शीलता, विदुर की प्रज्ञा, (समझदारी) कुन्ती का धैर्य्य, कृष्ण का महात्म्य, पाण्डवों की सत्यनिष्ठा और धृतराष्ट्र के पुत्रों की दुष्टता का वर्णन अच्छी तरह किया है।९९।१००।

व्यास जी ने प्रथम इस महाभारत को चौबीस हज़ार श्लोकों में निर्माण किया (बनाया) था ।

उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ।
चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ॥ १०२ ॥
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः ।
ततोऽध्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः ॥ १०३ ॥
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तानां सपर्वणाम् ।
इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम् ॥ १०४ ॥
ततोऽन्येभ्योनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ विभुः ।
षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम् ॥ १०५ ॥
त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम् ।
पित्र्ये पंचदश प्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश ॥ १०६ ॥
एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम् ।
नारदोऽश्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन् ॥ १०७ ॥
गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ।
अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान् ॥ १०८ ॥
शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः ।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत ॥ १०९ ॥
दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः फलपुष्पे समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥ ११० ॥

पंडित लोग चौबीस हजार श्लोकों ही को 'महाभारत' कहा करते हैं। उसके पश्चात् व्यास जी ने डेढ़ सौ श्लोकों में संक्षेप करके यह पहला अनुक्रमणिकाध्याय बनाया। भगवान द्वैपायन ने पहले अपने पुत्र शुकदेव जी को पढ़ाया; पीछे से अपने योग्य शिष्यों को भी पढ़ा दिया। इसके पीछे व्यास जी ने इस महाभारत को साठ लाख श्लोकों में कहा। उसके केवल तीस लाख श्लोक स्वर्ग में, पन्द्रह लाख श्लोक पितृलोक में, चौदह लाख श्लोक गन्धर्वलोक में और एक लाख श्लोक मनुष्यलोक में प्रतिष्ठित हुए हैं। देवलोक में नारद ने, पितृलोक में असितदेवल ने और गन्धर्वलोक में शुकदेव जी ने सुनाये थे। व्यासदेव जी के शिष्य वैशम्पायन मुनि ने जनमेजय के सर्प यज्ञ में एक लाख श्लोकों की जिस भारत संहिता को वर्णन किया था वही मैं इस समय आप लोगों के सन्मुख कहता हूं। आप लोग एकाग्र चित्त होकर सुनिए ॥१०१।१०९॥

दुर्योधन अहंकारी एक महा वृक्ष है। कर्ण उस का तना है। शकुनि उसकी शाखा है। दुःशासन

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमःस्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥ १११ ॥
पाण्डुर्जित्वा बहून् देशान् बुद्ध्या विक्रमणेन च ।
अरण्ये मृगयाशीलो न्यवसन् मुनिभिः सह ॥ ११२ ॥
मृगव्यवायनिधनात् कृच्छ्रां प्राप स आपदम् ।
जन्मप्रभृति पार्थानां तत्राचारविधिक्रमः ॥ ११३ ॥
मात्रोरभ्युपपत्तिश्च धर्मोपनिषदं प्रति ।
धर्मस्य वायोः शक्रस्य देवयोश्च तथाश्विनोः ॥ ११४ ॥
तापसैः सह संवृद्धा मातृभ्यां परिरक्षिताः ।
मेध्यारण्येषु पुण्येषु महतामाश्रमेषु च ॥ ११५ ॥
ऋषिभिर्यत्तदानीता धार्तराष्ट्रान् प्रति स्वयम् ।
शिशवश्चाभिरूपाश्च जटिला ब्रह्मचारिणः ॥ ११६ ॥
पुत्राश्च भ्रातरश्चेमे शिष्याश्च सुहृदश्च वः ।
पाण्डवा एत इत्युक्त्वा मुनयोऽन्तर्हितास्ततः ॥ ११७ ॥

उसका फल और फूल है। अज्ञान से अन्धे, बुद्धि हीन धृतराष्ट्र उसकी जड़ है। युधिष्ठिर धर्ममय एक बड़ा भारी वृक्ष है। अर्जुन उसका तना है। भीमसैन उसकी शाखा है। नकुल, सहदेव उसके फूल और फल हैं, कृष्णदेव और ब्राह्मण उसकी जड हैं ॥११०।१११॥

पूर्व समय एक महा पराक्रमी महाबली राजा पाण्डु ने अपनी बुद्धिबल से बहुत से देशों को जीतकर अपने राज्यको बढाया। राजा को शिकार का शौक पड़ जाने पर वह अनुचरों सहित वन में ही मुनियोंके संग रहने लगा। (एक दिवस पाण्डु राजा ने मृगों का जोड़ा रमण करते देख उनपर बाण चलाया बाण लगते ही वह मृग मर गया। मरते समय उसने राजा को शाप दे दिया कि जब तू भी अपनी स्त्री से भोग करेगा तब मर जायेगा। राजा पाण्डु उस शाप से बहुत डरकर अपने स्थान पर आये)। कुन्ती ने धर्म, वायु, और इन्द्र तीनों देवताओं को बुलाया। उनसे उनके युधिष्ठिर, भीमसैन और अर्जुन उत्पन्न हुए। अश्विनी-कुमार के वीर्य से नकुल और सहदेव माद्री के गर्भ से उत्पन्न हुए। ऋशियों के आश्रम में ही, पाँचों पुत्रों के जात कर्म आदि संसकार हुए और वहीं उनका पालन पोषण होने लगा। (एक दिवस माद्री से सहवास करने पर मृगभेषधारी ऋषि के शाप के प्रभाव से, राजा पाण्डुकी मृत्यु होगई।) कुछ दिनों बाद ऋषि लोग उन राज लक्षणोंसे सुशोभित जटाधारी, ब्रह्मचारी पाण्डवों को लेकर धृतराष्ट्र आदि के पास पहुंचे। आगे वे मुनि लोग यह कहकर, कि "यह पाण्डु पुत्र गण तुम्हारे पुत्र, भ्राता, चेले और सुहृत हैं" वहा से

तांस्तैर्निवेदितान्दृष्ट्वा पाण्डवान् कौरवास्तदा ।
शिष्टाश्च वर्णाः पौरा ये ते हर्षाच्चुक्रुशुर्भृशम् ॥ ११८ ॥
आहुः केचिन्न तस्यैते तस्यैत इति चापरे ।
यदा चिरमृतः पाण्डुः कथं तस्येति चापरे ॥ ११९ ॥
स्वागतं सर्वथा दिष्ट्या पाण्डोः पश्याम संततिम् ।
उच्यतां स्वागतमिति वाचोऽश्रूयंत सर्वशः ॥ १२० ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे दिशः सर्वा निनादयन् ।
अन्तर्हितानां भूतानां निःस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥ १२१ ॥
पुष्पवृष्टिः शुभागन्धाः शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनाः ।
आसन् प्रवेशे पार्थानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १२२ ॥
तत्प्रीत्या चैव सर्वेषां पौराणां हर्षसंभवः ।
शब्द आसीन्महांस्तत्र दिवस्पृक्कीर्तिवर्धनः ॥ १२३ ॥
तेऽधीत्य निखिलान् वेदान्शास्त्राणि विविधानि च ।
न्यवसन् पाण्डवास्तत्र पूजिता अकुतोभयः ॥ १२४ ॥
युधिष्ठिरस्य शौचेन प्रीताः प्रकृतयोऽभवन् ।
धृत्या च भीमसेनस्य विक्रमेणार्जुनस्य च ॥ १२५ ॥

चले गये ॥११२।११७॥

पाण्डव बालकों को देख कुरुवंशी लोग और नाना जाति-पुरवासी हर्ष प्रगट करने लगे। उनमें से किसी ने कहा—यह पाण्डु पुत्र नहीं हैं। किसी ने कहा—नहीं, यह पाण्डु के पुत्र ही हैं। किसी ने कहा पाण्डु राजा को परलोक गए तो बहुत दिवस होचुके तब यह उनके पुत्र कैसे हो सकते हैं? किसी ने कहा—आज हमारे बड़े सौ-भाग्य जो पाण्डु पुत्रों का दर्शन हुआ। इनका स्वागत करना चाहिये ॥११८।१२०॥

यह शब्द शांत हो जाने पर चारों दिशाओं से आकाश वाणी हुई। पाण्डवों के नगर में पहुंचते ही अद्भुत रूप से आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी, सुगन्धित वायु चलने लगी, देवलोक में शंख और नगाड़ों की आवाज़ आने लगी। सब लोग जय जय-कार करने लगे। पांडव निर्भय-होकर नाना प्रकार के शास्त्र और वेद पढ़ने लगे ॥१२१।१२४॥

युधिष्ठिर की सरलता और धर्म परायणता, भीमसेन का धर्म, अर्जुन का पराक्रम, नकुल और सहदेव की नम्रता और कुन्ती की श्वसुर सासु आदि बड़ों की सेवा देखकर सब पुरवासी लोग प्रसन्न हुए। इसके उपरांत जब से अर्जुन ने बहुत से राजाओं के बीच में मच्छली का निशाना मारकर द्रौपदी को जीता तब से अर्जुन सब धनुर्धारियों में वीर हुए और

गुरुशुश्रूषया क्षान्त्या यमयोर्विनयेन च ।
तुतोष लोकः सकलस्तेषां शौर्यगुणेन च ॥ १२६ ॥
समवाये ततो राज्ञां कन्यां भर्तृस्वयंवराम् ।
प्राप्तवानर्जुनः कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १२७ ॥
ततः प्रभृति लोकेऽस्मिन् पूज्यः सर्वधनुष्मताम् ।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरेष्वपि चाभवत् ॥ १२८ ॥
स सर्वान् पार्थिवाञ्जित्वा सर्वांश्च महतो गणान् ।
आजहारार्जुनो राज्ञो राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १२९ ॥
अन्नवान् दक्षिणावांश्च सर्वैः समुदितो गुणैः ।
युधिष्ठिरेण संप्राप्तो राजसूयो महाक्रतुः ॥ १३० ॥
सुनयाद् वासुदेवस्य भीमार्जुनवलेन च ।
घातयित्वा जरासंधं चैद्यं च वलगर्वितम् ॥ १३१ ॥
दुर्योधनं समागच्छन्नर्हणानि ततस्ततः ।
मणिकांचनरत्नानि गोहस्त्यश्वधनानि च ॥ १३२ ॥
विचित्राणि च वासांसि प्रावारावरणानि च ।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च ॥ १३३ ॥
समृद्धां तां तथा दृष्ट्वा पाण्डवानां तदा श्रियम् ।
ईर्ष्यासमुत्थः सुमहांस्तस्य मन्युरजायत ॥ १३४ ॥

उनकी तरफ शत्रु ऐसे नहीं देख सकता था जैसे सूर्य्य की ओर मनुष्य नहीं देख सकता है । इसके पीछे अर्जुन ने सब राजाओं को जीत कर युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करवाया जिसमें दीन दुखिया लोगों को अनन्त अन्न और ब्राह्मणों को अनंत दक्षिणा दी गई ॥१२५।१३०॥

इस यज्ञ को युधिष्ठिर ने जरासंध और शिशुपाल जो बड़े बल के घमंड में थे श्रीकृष्ण की नीति और अर्जुन और भीमसेन के बल से मरवाकर कराया था और जिन जिन राजाओं को पाण्डवों ने जीता था, उनके यहां से युधिष्ठिर के अर्थ दुर्योधन के पास अच्छी अच्छी मणि, स्वर्ण, रत्न, गाय, हाथी, घोड़े धन, रंग, विरंगे उत्तम वस्त्र और अनेक प्रकार के कपड़ों के घर जैसे कम्बल, रेशमी वस्त्र, डेरे तंबू इत्यादि और कीमती मृग चर्म जो राजाओं के विछाने योग्य होते हैं आए ॥१३१।१३३॥

पाण्डवों की बढ़ी हुई प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य को देखकर दुर्योधन के हृदय में द्वेष उत्पन्न हुआ और

विमानप्रतिमां तत्र मयेन सुकृतां सभाम् ।
पाण्डवानामुपहृतां स दृष्ट्वा पर्यतप्यत ॥ १३५ ॥
तत्रावहसितश्चासीत् प्रस्कंदन्निव संभ्रमात् ।
प्रत्यक्षं वासुदेवस्य भीमेनानाभिजातवत् ॥ १३६ ॥
स भोगान् विविधान् भुञ्जन् रत्नानि विविधानि च ।
कथितो धृतराष्ट्रस्य विवर्णो हरिणः कृशः ॥ १३७ ॥
अन्वजानात्ततो द्यूतं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य कोपः संभवन्महान् ॥ १३८ ॥
नातिप्रीत—मनाश्चासीद्विवादांश्चान्वमोदत ।
द्यूतादीननयान् घोरान् विविधांश्चाप्युपैक्षत ॥ १३९ ॥
निरस्य विदुरं भीष्मं द्रोणं शारद्वतं कृपम् ।
विग्रहे तुमुले तस्मिन् दहन् क्षत्रं परस्परम् ॥ १४० ॥
जयत्सु पाण्डुपुत्रेपु श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
दुर्योधनमतं ज्ञात्वा कर्णस्य शकुनेस्तथा ॥ १४१ ॥
धृतराष्ट्रश्चिरं ध्यात्वा संजयं वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु संजय सर्वं मे न चासूयितुमर्हसि ॥ १४२ ॥

क्रोध से जलने लगा और मयदानव की बनाई हुई सभा जिसमें यज्ञ हुआ था उसे देखकर भी दुर्योधन कुढ़ने लगा। एक दिन दुर्योधन युधिष्ठिर की सभा में आया। उसको थल में पानी का धोखा हुआ। वह गिरते गिरते बचा भीमसेन ने उसकी हँसी ऐसी की जैसे कोई गँवार के साथ करता है। इस अपमान से दुर्योधन बहुत लज्जित हुआ। और वह उस क्रोध और दाह से यद्यपि नाना प्रकार के भोग भोगता और नाना प्रकार के रत्न उसके पास मौजूद थे परन्तु दिन पर दिन चेहरा उतरा और पीला पड़ने लगा। तब पुत्र वत्सल धृतराष्ट्र ने दुर्योधन की इच्छा पूर्ण करने के लिए जुआ खेलने की आज्ञा दी ॥१३५ ।१३८॥

यह सुनकर श्री वासुदेव जी को बड़ा क्रोध पैदा हुआ। वह इस उद्योग से प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने बड़े असन्तोष के साथ इस झगड़े में अपनी सम्मति दी और विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य्य, कृपाचार्य्य का कहना न मान कर आपस की उस घोर युद्ध में भिड़े हुए क्षत्रियों के नष्ट होने के कारण रूपी भयावने जुआ आदि नाना अनीतियों की ओर ध्यान नहीं दिया ॥१३९॥१४०॥

अन्त में पाण्डवों की विजय हुई। तब यह बुरा हाल संजय से धृतराष्ट्र ने सुना तब धृतराष्ट्र, दुर्योधन, कर्ण और शकुनी की सम्मति को

श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसंमतः ।
न विग्रहे मम मतिर्न च प्रीये कुलक्षये ॥ १४३ ॥
न मे विशेषः पुत्रेषु स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ।
वृद्धं मामभ्यसूयंति पुत्रा मन्युपरायणाः ॥ १४४ ॥
अहं त्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ॥ १४५ ॥
राजसूये श्रियं दृष्ट्वा पाण्डवस्य महौजसः ।
तच्चावहसनं प्राप्य सभारोहणदर्शने ॥ १४६ ॥
अमर्षणः स्वयं जेतुमशक्तः पाण्डवान् रणे ।
निरुत्साहश्च सम्प्राप्तुं सुश्रियं क्षत्रियोऽपि सन् ॥ १४७ ॥
गान्धार–राज–सहितश्छद्म–द्यूतममंत्रयत् ।
तत्र यद्यद्यथा ज्ञातं मया संजय तच्छृणु ॥ १४८ ॥
श्रुत्वा तु मम वाक्यानि बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ।
ततो ज्ञास्यसि मां सौते प्रज्ञाचक्षुषमित्युत ॥ १४९ ॥
यदाश्रौषं धनुरायम्य चित्रं विद्धं लक्ष्यं पातितं वै पृथिव्याम् ।
कृष्णां हृतां प्रेक्षतां सर्वराज्ञां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५० ॥

समझा कर बड़ी देर तक विचार करके संजय से बोला–कि हे संजय ! तुम बड़े बुद्धिमान् और शास्त्रों के जानकार हो । इसलिए मुझे दोष देना तुम को उचित नहीं । तुम निश्चय जानो कि मैं युद्ध को पसन्द नहीं करता और न ही मुझे कुल का नाश होने में प्रसन्नता है । मैं पाण्डु के पुत्रों को अपने पुत्र समझता हूं। मेरे पुत्र क्रोधी हैं जो मुझ बड़े का कहा नहीं मानते। मैं अंधा और दीन हूं। पुत्र स्नेह के कारण सब कुछ सह लेता हूं अचेत दुर्योधन के मोह युक्त होने से मैं भी मोह में पड़ता हूं। हे संजय ! युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दुर्योधन ने पाण्डवों का ऐश्वर्य और सभा में अपना हास्य जब देखा और क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने पर भी जब पाण्डवों से वह ऐश्वर्य लेने की अपनी सामर्थ्य न देखी, तब क्रोध और ईर्षा से दुखित होकर शकुनी की सलाह से छलरूपी जय में पाण्डवों से वह लक्ष्मी जीती और उस जुए से पहले और पीछे जो जो बातें अयश शुकुनरूपी जीत की आशा दूर करने वाली हुई थीं सो मैं सब कहता हूं। हे सूत पुत्र ! मेरे यह सब बुद्धियुक्त वचन सुनकर मुझे सच्चा प्रज्ञाचक्षु जानोगे ॥१४१।१४९॥

मैंने जब सुना कि अर्जुन ने विचित्र धनुष चढ़ा कर निशाने को मार कर पृथवी पर गिरा दिया और सब राजाओं के सामने द्रौपदी को हर लाया है

यदाश्रौषं द्वारकायां सुभद्रां प्रसह्योढां माधवीमर्जुनेन ।
इन्द्रप्रस्थं वृष्णिवीरौ च यातौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५१ ॥
यदाश्रौषं देवराजं प्रवृष्टं शरैर्दिव्यैर्वारितं चार्जुनेन ।
अग्निं तथा तर्पितं खाण्डवे च तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५२ ॥
यदाश्रौषं जातुषाद्वेश्मनस्तान्मुक्तान् पार्थान् पञ्च कुंत्या समेतान् ।
युक्तं चैषां विदुरं स्वार्थसिद्धौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५३ ॥
यदाश्रौषं द्रौपदीं रङ्गमध्ये लक्ष्यं भित्त्वा निर्जितामर्जुनेन ।
शूरान्पंचालान्पांडवेयांश्च युक्तांस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५४ ॥
यदाश्रौषं मागधानां वरिष्ठं जरासन्धं क्षत्रमध्ये ज्वलन्तम् ।
दोर्भ्यां हतं भीमसेनेन गत्वा तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५५ ॥
यदाश्रौषं दिग्जये पाण्डुपुत्रैर्वशीकृतान् भूमिपालान् प्रसह्य ।
महाक्रतुं राजसूयं कृतं च तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५६ ॥
यदाश्रौषं द्रौपदीमश्रुकंठीं सभां नीतां दुःखितामेकवस्त्राम् ।
रजस्वलां नाथवतीमनाथवत्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५७ ॥

तभी संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब मैंने सुना कि अर्जुन ने द्वारका में जाकर कृष्ण की छोटी बहिन सुभद्रा से बलपूर्वक द्वारकापुरी में जाकर विवाह किया, पीछे से कृष्ण और बलभद्र इन्द्रप्रस्थ में आये, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। फिर मैंने जब सुना कि अर्जुन ने बाणों की वर्षा करके इन्द्र की जल वर्षा को शान्त कर दिया और खाण्डव वन को जला कर अग्निदेव को तृप्त किया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। फिर जब पाचों पाण्डव कुन्ती सहित लाख के घर में जलने से बच गये और हमारे भाई विदुर उन की सहाई कर रहे हैं, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। फिर जब सुना कि अर्जुन ने बड़े बड़े शूरमा राजाओं में द्रौपदी को जीता और पाण्डवों से पांचाल देश के बड़े बड़े राजाओं से मित्रता हुई, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। फिर जब मैंने सुना कि भीमसैन ने मगध देश के बडे बडे प्रतापी राजा जरासंध को बिना शस्त्रों के हाथों से मार डाला है, तभी हे संजय, मैंने विजय की आशा नहीं की। जब सुना कि रोती हुई, केवल एक वस्त्र धारण किये हुए, द्रौपदी को उसके सिर के बाल पकड़ कर उसके पतियों के सामने ही, दुश्शासन सभा में पकड़ कर लाया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। फिर जब सुना कि कपटी दुश्शासन ने द्रौपदी को नग्न करने के लिये वस्त्रों को खींच-खींच कर ढेर लगा दिया, तिस पर भी वस्त्र का (अन्त) नहीं पा सका, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं

यदाश्रौषं वाससां तत्र राशिं समाक्षिपत् कितवो मन्दबुद्धिः ।
दुःशासनो गतवान्नैव चान्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५८ ॥
यदाश्रौषं हृतराज्यं युधिष्ठिरं पराजितं सौवलेनाक्षवत्याम् ।
अन्वागतं भ्रातृभिरप्रमेयैस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५९ ॥
यदाश्रौषं विविधास्तत्र चेष्टा धर्मात्मनां प्रस्थितानां वनाय ।
ज्येष्ठप्रीत्या क्लिश्यतां पाण्डवानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६० ॥
यदाश्रौषं स्नातकानां सहस्रैरन्वागतं धर्मराजं वनस्थम् ।
भिक्षाभुजां ब्राह्मणानां महात्मनां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६१ ॥
यदाश्रौषमर्जुनं देवदेवं किरातरूपं त्र्यम्बकं तोष्य युद्धे ।
अवाप्तवन्तं पाशुपतं महास्त्रं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६२ ॥
यदाश्रौषं त्रिदिवस्थं धनंजयं शक्रात् साक्षाद्दिव्यमस्त्रं यथावत् ।
अधीयानं शंसितं सत्यसंधं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६३ ॥
यदाश्रौषं कालकेयास्ततस्ते पौलोमानो वरदानाच्च दृप्ताः ।
देवैरजेया निर्जिताश्चार्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६४ ॥
यदाश्रौषमसुराणां वधार्थे किरीटिनं यान्तममित्रकर्शनम् ।
कृतार्थं चाप्यागतं शक्रलोकात्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६५ ॥

की। जब सुना कि शकुनि ने कपट के पाँसों से युधिष्ठिर का सब राज्य जीत लिया और वे भाइयों को साथ ले वन को चले गये, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि धार्मिक पाण्डव लोग वन में जाकर बड़े बड़े कष्ट उठाकर भी धर्म को नहीं छोड़ते हैं। बड़े भाई को प्रसन्न रखने के लिए छोटे भाई दुःख उठा रहे हैं, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१५०।१६०॥

फिर जब मैंने सुना कि हजारों स्नातक ब्राह्मण युधिष्ठिर के साथ वन में निवास करते हैं और वे ब्राह्मण युधिष्ठिर से भिक्षा पाते हैं, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१६१॥

जब मैंने सुना कि अर्जुन ने किरातरूपधारी देवाधिदेव महादेव को युद्ध में प्रसन्न करके पाशुपतनामक अस्त्र पाया है, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। फिर जब अर्जुन ने देवलोक में जाकर वहां इन्द्र से बड़े बड़े दिव्य अस्त्रों के चलाने की विद्या को सीखा, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि वरदान के घमण्ड में भरे कालकेय और पौलोम राक्षसों को जिन्हें देवता भी नहीं जीत सकते अर्जुन ने उनको जीत लिया है, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि अर्जुन देवलोक में राक्षसों को मारने

यदाश्रौषं वैश्रवणेन सार्धं समागतं भीममन्यांश्च पार्थान् ।
तस्मिन् देशे मानुषाणामगम्ये तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६६ ॥
यदाश्रौषं घोषयात्रागतानां बंधं गन्धर्वैर्मोक्षणं चार्जुनेन ।
स्वेषां सुतानां कर्णबुद्धौ रतानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६७ ॥
यदाश्रौषं यक्षरूपेण धर्मं समागतं धर्मराजेन सूत ।
प्रश्नान् कांश्चिद्विब्रुवाणं च सम्यक् तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६८ ॥
यदाश्रौषं न विदुर्मामकास्तान् प्रच्छन्नरूपान् वसतः पाण्डवेयान् ।
विराटराष्ट्रे सह कृष्णया च तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १६९ ॥
यदाश्रौषं मामकानां वरिष्ठान् धनंजयेनैकरथेन भग्नान् ।
विराटराष्ट्रे वसतः महात्मना तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७० ॥
यदाश्रौषं सत्कृतां मत्स्यराज्ञा सुतां दत्तामुत्तरामर्जुनाय ।
तां चार्जुनः प्रत्यगृह्णात्सुतार्थे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७१ ॥
यदाश्रौषं निर्जितस्याधनस्य प्रव्राजितस्य स्वजनात् प्रच्युतस्य ।
अक्षौहिणीः सप्त युधिष्ठिरस्य तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७२ ॥
यदाश्रौषं माधवं वासुदेवं सर्वात्मना पाण्डवार्थे निविष्टम् ।
यस्येमां गां विक्रममेकमाहुस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७३ ॥

के लिये गए और वहां अपने कार्य्य को साध कर सकुशल लौट आये, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब मैंने सुना कि भीमसेन और चारों पाण्डव उस स्थान में जाकर जहां मनुष्य नहीं जा सकते यक्षराज कुबेर से मिलकर आये, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१६५।१६६॥

जब सुना कि कर्ण की सलाह में लगे हुए मेरे पुत्र घोष यात्रा में जाकर गन्धर्वों से पकड़े गये और फिर अर्जुन ने उनको छुड़ाया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब मैंने सुना कि धर्म ने यक्ष का स्वरूप धारण करके युधिष्ठिर के समीप आकर कुछ प्रश्न पूछे हैं और उसने ठीक ठीक उत्तर दे दिये हैं, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । फिर जब सुना कि पाण्डव विराटपुर में द्रौपदी सहित गुप्त रहे और मेरे पुत्र उनका पता नहीं पा सके, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब सुना कि पाण्डवों के विराट् नगर में रहते समय एकरथ (अकेले) धनंजय ने हमारी ओर के बड़े बड़े वीरों को परास्त कर लिया है, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१६७।१७०॥

जब मैंने सुना कि विराट् देश के राजा मत्स्य ने अर्जुन का पराक्रम देखकर नाना अलं-

यदाश्रौषं नरनारायणौ तौ कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य ।
अहं द्रष्टा ब्रह्मलोके च सम्यक्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७४ ॥
यदाश्रौषं लोकहिताय कृष्णं शमार्थिनमुपयांतं कुरूणाम् ।
शमं कुर्वाणमकृतार्थं च यातं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७५ ॥
यदाश्रौषं कर्णदुर्योधनाभ्यां बुद्धिं कृतां निग्रहे केशवस्य ।
तं चात्मानं बहुधा दर्शयानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७६ ॥
यदाश्रौषं वासुदेवे प्रयाते रथस्यैकामग्रतस्तिष्ठमानाम् ।
आर्तां पृथां सान्त्वितां केशवेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७७ ॥
यदाश्रौषं मंत्रिणं वासुदेवं तथा भीष्मं शान्तनवं च तोषाम् ।
भारद्वाजं चाशिषोऽनुब्रुवाणं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७८ ॥
यदाश्रौषं कर्ण उवाच वाक्यं नाहं योत्स्ये युध्यमाने त्वयीति ।
हित्वा सेनामपचक्राम चापि तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १७९ ॥

कारों से सुहाती हुई उत्तरा नाम कन्या दे दी है और अर्जुन ने उस कन्या को अपने पुत्र अभिमन्यु के निमित्त ग्रहण किया है, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब सुना कि युधिष्ठिर ने जुए में जीते जाने, धन हीन होने, देश से निकाले जाने, स्वजनों से बिछुड़े हुए भी सात अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करली है, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब सुना कि एक पग से पृथ्वी भर को नापने वाले वसुदेव सब प्रकार से पांडवों की भलाई में तत्पर हो रहे हैं, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब नारद जी ने सुना, कि कृष्णचंद्र और अर्जुन नर नारायण के अवतार हैं, और उन्होंने उनका ब्रह्मलोक में भली भांति दर्शन किया है, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१७१।१७४॥

जब सुना कि श्रीकृष्णचन्द्र लोकों के हितार्थ और कौरवों का विरोध शांत करने के लिये दुर्योधन के यहां आये और वहां उनका निरादर हुआ, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब सुना कि कर्ण और दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को पकड लेना चाहा और उस समय कृष्ण ने अपना विराट् रूप दिखलाया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब सुना, कि वासुदेव ने जाते समय दुःखित कुन्ति उनके रथ के सामने खड़ी हुई है और उन्होंने अनेक प्रकार से समझाया है, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब सुना कि भगवान् कृष्ण और शान्तनु के पुत्र भीष्म पाण्डवों को सम्मति देते हैं और द्रोणाचार्य्य उन्हें आशीर्वाद देते हैं, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की । जब सुना कि कर्ण भीष्म से यह कह कर कि "जब तक तुम युद्ध करोगे तब तक मैं नहीं लड़ूंगा ।" सैना को छोड़कर चला गया है, तभी हे संजय, मैंने युद्ध की आशा नहीं की ॥१७५।१७९॥

यदाश्रौषं वासुदेवार्जुनौ तौ तथा धनुर्गाण्डीवमप्रमेयम् ।
त्रीण्युग्रवीर्याणि समागतानि तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८० ॥
यदाश्रौषं कश्मलेनाभिपन्ने रथोपस्थे सीदमानेऽर्जुने वै ।
कृष्णं लोकान् दर्शयानं शरीरे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८१ ॥
यदाश्रौषं भीष्ममामित्रकर्शनं निघ्नन्तमाजावयुतं रथानाम् ।
नैषां कश्चिद्वध्यते ख्यातरूपस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८२ ॥
यदाश्रौषं चापगेयेन संख्ये स्वयं मृत्युं विहितं धार्मिकेण ।
तच्चाकार्षुः पाण्डवेयाः प्रहृष्टास्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८३ ॥
यदाश्रौषं भीष्ममत्यन्तशूरं हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम् ।
शिखण्डिनं पुरतः स्थापयित्वा तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८४ ॥
यदाश्रौषं शरतल्पे शयानं वृद्धं वीरं सादितं चित्रपुङ्खैः ।
भीष्मं कृत्वा सोमकानल्पशेषांस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८५ ॥
यदाश्रौषं शान्तनवे शयाने पानीयार्थे चोदितार्जुनेन ।
भूमिं भित्त्वा तर्पितं तत्र भीष्मं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८६ ॥

जब मैंने सुना कि कृष्ण, अर्जुन और गाण्डीव धनुष यह तीन कठोर वीर्य एकत्र हो गये हैं, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१८०॥

जब सुना कि युद्ध के आरम्भ में रथ के ऊपर बैठे हुए अर्जुन ने मोहयुक्त और खिन्न होने पर श्रीकृष्णचन्द्र ने विश्वरूप दिखाकर गीता का उपदेश किया है, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि भीष्मपितामह युद्ध में नित्य दस हजार रथी मारते थे परन्तु पाण्डव पक्ष का नामी और मुख्य पुरुष उन दस हजार में कभी कोई नहीं मारा गया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१८१॥१८२॥

जब सुना कि भीष्मपितामह ने पाण्डवों को अपने मारने का उपाय बता दिया और इन्होंने प्रसन्न होकर वैसा ही किया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१८३॥

जब सुना कि अर्जुन ने नपुंसक शिखण्डी को आगे करके भीष्मपितामह जैसे शूरवीर को मार लिया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१८४॥

जब सुना कि भीष्मपितामह जो महावृद्ध और महापराक्रमी थे अर्जुन के अनेक प्रकार के पर लगे हुए बाणों से बेधित होकर रथ से गिर पड़े, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१८५॥

जब सुना कि भीष्मपितामह ने अर्जुन से पीने के लिए पानी मांगा और अर्जुन ने धरती फोड़ कर भीष्म को जल पिलाया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१८६॥

यदा वायुश्चन्द्रसूर्यौ च युक्तौ कौन्तेयानामनुलोमा जयाय ।
नित्यं चास्मान्श्वापदा भीषयन्ति तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८७ ॥
यदा द्रोणो विविधानस्त्रमार्गान्निदर्शयन् समरे चित्रयोधी ।
न पाण्डवान् श्रेष्ठतरान्निहंति तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८८ ॥
यदाश्रौपं चास्मदीयान् महारथान् व्यवस्थितानर्जुनस्यान्तकाय ।
संशप्तकान्निहतानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १८९ ॥
यदाश्रौपं व्यूहमभेद्यमन्यैर्भारद्वाजनात्तशस्त्रेण गुप्तम् ।
भित्त्वा सौभद्रं वीरमेकं प्रविष्टं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९० ॥
यदाऽभिमन्युं परिवार्य बालं सर्वे हत्वा हृष्टरूपा बभूवुः ।
महारथाः पार्थमशक्नुवंतस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९१ ॥
यदाश्रौपमभिमन्युं निहत्य हर्षान्मूढान् क्रोशतो धार्त्तराष्ट्रान् ।
क्रोधादुक्तं सैंधवे चार्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९२ ॥
यदाश्रौपं सैन्धवार्थे प्रतिज्ञां प्रतिज्ञातां तद्वधायार्जुनेन ।
सत्यां तीर्णां शत्रुमध्ये च तेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९३ ॥

जब सुना कि वायु, इन्द्र और सूर्य्य पांडवों की विजय के लिए उनके सहायक बने हैं और हिंसक जंतु गण हमको यात्रा के समय भय दिखला रहे हैं, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब मैंने सुना कि योद्धा द्रोणाचार्य्य लड़ाई में अस्त्र चलाने के अनेक कौशल दिखाकर भी पांचों पांडवों में से किसी एक को भी नहीं मारते, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि अर्जुन को मारने के लिए सात महारथी एक स्थान खड़े होकर अर्जुन से युद्ध करने लगे और अर्जुन ने उन सातों को मार डाला, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि वीर अभिमन्यु, शस्त्रधारी द्रोणाचार्य्य से रक्षित और दूसरों से न भेदे जाने वाले चक्रव्यूह को भेद कर उसमें चला गया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१८७।१९०॥

जब मैंने सुना कि अर्जुन का सामना न कर सकने वाले सात महारथियों ने अकेले बालक वीर अभिमन्यु को मार कर आनन्द मनाया, तभी हे सजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि वीरों के अभिमन्यु को मार कर आनन्द मनाते सुनकर अर्जुन ने क्रोध में आकर जयद्रथवध के मारने की प्रतिज्ञा की, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि अर्जुन ने जयद्रथवध के मारने की प्रतिज्ञा करके शत्रुओं के बीच में सत्य कर दिखाया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१९१।१९३॥

जब सुना कि अर्जुन के थके और प्यास से

यदाश्रौषं श्रान्तहये धनंजये मुक्त्वा हयान् पायित्वोपवृत्तान् ।
पुनर्युक्त्वा वासुदेवं प्रयातं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९४ ॥
यदाश्रौषं वाहनेष्वक्षमेषु रथोपस्थे तिष्ठता पाण्डवेन ।
सर्वान् योधान् वारितानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९५ ॥
यदाश्रौषं नागबलैः सुदुःसहं द्रोणानीकं युयुधानं प्रमथ्य ।
यातं वार्ष्णेयं यत्र तौ कृष्णपार्थौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९६ ॥
यदाश्रौषं कर्णमासाद्य मुक्तं वधाद्भीमं कुत्सयित्वा वचोभिः ।
धनुष्कोटया तुद्य कर्णेन वीरं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९७ ॥
यदा द्रोणः कृतवर्मा कृपश्च कर्णो द्रौणिर्मद्रराजश्च शूरः ।
अमर्षयन् सैन्धवं वध्यमानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९८ ॥
यदाश्रौषं देवराजेन दत्तां दिव्यां शक्तिं व्यंसितां माधवेन ।
घटोत्कचे राक्षसे घोररूपे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १९९ ॥
यदाश्रौषं कर्णघटोत्कचाभ्यां युद्धे मुक्तां सूतपुत्रेण शक्तिम् ।
यया वध्या समरे सव्यसाची तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०० ॥
यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं धृष्टद्युम्नेनाभ्यातिक्रम्य धर्मम् ।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०१ ॥

व्याकुल घोड़ों को खोल कर श्रीकृष्ण ने पानी पिला कर फिर जोत कर रथ को चला दिया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि घोड़ों के थक जाने पर रथ पर बैठे हुए अकेले अर्जुन ने सब वीरों को हरा दिया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब मैंने सुना कि हाथियों की बड़ी सेना को जिसे लेकर द्रोणाचार्य युद्ध करते थे अकेला सात्यकी मारकर निर्भय श्रीकृष्ण और अर्जुन के पास पहुँच गया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥१९४।१९६॥

जब सुना कि कर्ण ने धनुष की नोक भीमसेन को मार कर कटु वचन कहता हुआ चला गया परन्तु उसे मारा नहीं—छोड़ दिया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि द्रोणाचार्य्य, कृतवर्मा, कृपाचार्य्य, कर्ण, अश्वत्थामा और शल्य पास खड़े हैं; अर्जुन से जयद्रथवध को बचा नहीं सके, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि जो शक्ति कर्ण को इन्द्र ने इस प्रतिज्ञा से दी थी कि तु इसको जिस पर चलावेगा वह मर जायेगा परन्तु फिर यह काम की नहीं रहेगी और वह शक्ति कर्ण ने अर्जुन के मारने के लिए रखी थी सो श्रीकृष्ण जी ने कर्ण का चित्तभ्रम कराके उस शक्ति को घटोत्कच नाम

यदाश्रौषं द्रौणिना द्वैरथस्थं माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये ।
समं युद्धे मण्डलेभ्यश्चरन्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०२ ॥
यदा द्रोणे निहते द्रोणपुत्रो नारायणं दिव्यमस्त्रं विकुर्वन् ।
नैषामन्तं गतवान् पाण्डवानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०३ ॥
यदाश्रौषं भीमसेनेन पीतं रक्तं भ्रातुर्युधि दुःशासनस्य ।
निवारितं नान्यतमेन भीमं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०४ ॥
यदाश्रौषं कर्णमत्यंतशूरं हतं पार्थेनाहवेष्वप्यप्रधृष्यम् ।
तस्मिन् भ्रातृणां विग्रहे देवगुह्ये तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०५ ॥
यदाश्रौषं द्रोणपुत्रं च शूरं दुःशासनं कृतवर्माणमुग्रम् ।
युधिष्ठिरं धर्मराजं जयन्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०६ ॥
यदाश्रौषं निहतं मद्रराजं रणे शूरं धर्मराजेन सूत ।
सदा संग्रामे स्पर्धते यस्तु कृष्णं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०७ ॥
यदाश्रौषं कलहद्यूतमूलं मायाबलं सौबलं पाण्डवेन ।
हतं संग्रामे सहदेवेन पापं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०८ ॥

दैत्य पर चलवाकर उसे व्यर्थ करवा दिया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की॥१९७।२००॥

जब सुना कि द्रोणाचार्य्य के अस्त्र छोड़ कर मृत्यु की आशा से अकेले रथ पर बैठे हुए को धृष्टद्युम्न ने अधर्म से मार डाला, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि नकुल ने मंडल बांधकर अश्वत्थामा के साथ समान युद्ध किया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥२०१।२०२॥

जब सुना कि द्रोणाचार्य्य के मारे जाने पर अश्वत्थामा दिव्य अस्त्र मार कर भी पांडवों को मार नहीं सका, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि भीमसैन ने रणभूमि में अपने भाई दुश्शासन का रुधिर पिया और दुर्योधन आदि उसे कोई भी रोक नहीं सके, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि भाईयों के इस युद्ध में अर्जुन के हाथ से वीर कर्ण मारा गया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि युधिष्ठिर ने अश्वत्थामा, दुश्शासन और उग्र कृतवर्मा को जीत लिया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि रणभूमि में श्रीकृष्ण के तुल्य दावा करने वाले शूरवीर शल्य को धर्मराज ने मार दिया, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि शकुनी जो जुआ और लड़ाई की जड़ था उसको सहदेव ने मार डाला, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। ॥२०३।२०८॥

यदाश्रौपं श्रान्तमेकं शयानं ह्रदं गत्वा स्तंभयित्वा तदंभः ।
दुर्योधनं विरथं भग्नशक्तिं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २०९ ॥
यदाश्रौपं पांडवांस्तिष्ठमानान् गत्वा ह्रदे वासुदेवेन सार्धम् ।
अमर्षणं धर्षयतः सुतं मे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २१० ॥
यदाश्रौपं विविधांश्चित्रमार्गान् गदायुद्धे मण्डलशश्चरन्तम् ।
मिथ्याहतं वासुदेवस्य बुद्ध्या तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २११ ॥
यदाश्रौपं द्रोणपुत्रादिभिस्तैर्हतान् पंचालान् द्रौपदेयांश्च सुप्तान् ।
कृतं बीभत्समयशस्यं च कर्म तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २१२ ॥
यदाश्रौपं भीमसेनानुयातेनाश्वत्थाम्ना परमास्त्रं प्रयुक्तम् ।
क्रुद्धेनैषीकमवधीद्येन गर्भं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २१३ ॥
यदाश्रौपं ब्रह्मशिरोऽर्जुनेन स्वस्तीत्युक्त्वाऽस्त्रमस्त्रेण शान्तम् ।
अश्वत्थाम्ना मणिरत्नं च दत्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ २१४ ॥
यदाश्रौपं द्रोणपुत्रेण गर्भे वैराट्या वै पात्यमाने महास्त्रैः ।
द्वैपायनः केशवो द्रोणपुत्रं परस्परेणाभिशापैः शशाप ॥ २१५ ॥

जब सुना कि मेरा पुत्र दुर्योधन संग्राम में थक कर अकेला कमल के तालाब में उसका पानी रोक कर छुप कर सो रहा और श्रीकृष्ण आदि ने उसके पास जाकर उसे लड़ाई करने के लिए ललकारा, तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि मेरा क्रोधी पुत्र दुर्योधन उठकर भीमसेन से गदा युद्ध करने लगा और मण्डल पाकर लड़ने पर भी श्रीकृष्ण ने उसे अधर्म युद्ध में मरवाया (अन्याय रूप से घायल हुआ) तभी हे संजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि मेरे दुर्योधन पुत्र ने अश्वत्थामा आदि से यह अधम और भयानक का कर्म कराया कि उन्होंने पांचाल देश के राजा के पुत्रों और द्रौपदी के पुत्रों को सोते हुए मार डाला, तभी हे सजय, मैंने जय की आशा नहीं की ॥२०९।२१२॥

फिर जब सुना कि भीमसैन को पुत्र-वध के कारण क्रोध से अंधे बनकर अश्वत्थामा के पीछे दौडा और अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र चलाया और उससे उत्तरा का गर्भ नष्ट किया है, तभी हे सजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि अर्जुन ने "स्वस्ति जय" कहकर अश्वत्थामा के फैंके हुए ब्रह्मास्त्र को अपने अस्त्र से शांत कर दिया और अश्वत्थामा के सिर का मणि रत्न छीन लिया, तभी हे सजय, मैंने जय की आशा नहीं की। जब सुना कि अश्वत्थामा ने उत्तरा के गर्भ को अस्त्र से नष्ट करना ही चाहा और व्यास जी और श्रीकृष्ण जी दोनों ने शाप दे दिया, तभी हे सजय, मैंने जय की आशा नहीं

शोच्या गान्धारी पुत्रपौत्रैर्विहीना तथा वंधुभिः पितृभिर्भ्रातृभिश्च ।
कृतं कार्यं दुष्करं पाण्डवेयैः प्राप्तं राज्यमसपत्नं पुनस्तैः ॥ २१६ ॥
कष्टं युद्धे दश शेषाः श्रुता मे त्रयोऽस्माकं पाण्डवानां च सप्त ।
द्व्यूना विंशतिराहताऽक्षौहिणीनां तस्मिन्संग्रामे भैरवे क्षत्रियाणाम् ॥ २१७ ॥
तमस्त्वतीव विस्तीर्णं मोह आविशतीव माम् ।
संज्ञां नोपलभे सूत मनो विह्वलतीव मे ॥ २१८ ॥
सौतिरुवाच—इत्युक्त्वा धृतराष्ट्रोऽथ विलप्य बहु दुःखितः ।
मूर्छितः पुनराश्वस्तः संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २१९ ॥
धृतराष्ट्र उवाच-संजयैवंगते प्राणांस्त्यक्तुमिच्छामि मा चिरम् ।
स्तोकं ह्यपि न पश्यामि फलं जीवित धारणे ॥ २२० ॥
सौतिरुवाच--तं तथा वादिनं दीनं विलपन्तं महीपतिम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं मुह्यमानं पुनः पुनः ॥ २२१ ॥
गावल्गणिरिदं धीमान् महार्थं वाक्यमब्रवीत् ।
संजय उवाच--श्रुतवानासि वै राजन् महोत्साहान् महाबलान् ॥ २२२ ॥
द्वैपायनस्य वदतो नारदस्य च धीमतः ।
महत्सु राजवंशेषु गुणैः समुदितेषु च ॥ २२३ ॥

की। हे संजय ! जब यह सब बातें हुई तब मैंने अपने अन्तःकरण (मन) में यह निश्चय ठहराया कि हमारे पुत्रों की जय न होगी। मेरे पुत्र और पाण्डव एक ही हैं अर्थात् जो पाण्डवों की जय है सो मेरी ही जय है परन्तु गान्धारी शोचनीय दशा में पड़ी हुई है क्योंकि इस लड़ाई में उसके पुत्र, पौत्र, बाप, भाई आदि सब मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं। पाण्डवों ने ऐसा कठिन कार्य्य करके फिर अकंटक राज्य प्राप्त कर लिया है। बड़े दुःख की बात है ! कि इस युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सैना और बड़े महारथी और बड़े बड़े शूरवीर सब कटकर मर गये हैं। केवल दश आदमी बचे हैं—सात पाण्डवों की ओर और तीन हमारी ओर ! यह सब समरण करके मेरी आंखों के आगे अंधेरा और शरीर में मोह होता आता है। मेरा चित्त बड़ा व्याकुल हो रहा है ॥२१३।२१८॥

उग्रश्रवा सूत जी बोले—इस तरह विलाप करके धृतराष्ट्र मूर्च्छित हो गये। आगे फिर चेतना आजाने पर धृतराष्ट्र ने संजय से कहा हे संजय! अब मेरे भी प्राण छूटने चाहते हैं क्योंकि इस जीवन के रखने का कुछ भी विशेष फल नहीं देख पड़ता ॥२१९।२२०॥

इतनी कथा सुनाकर उग्रश्रवा सूत जी बोले कि हे ऋषियो ! जब धृतराष्ट्र इस प्रकार से विलाप

जातान् दिव्यास्त्रविदुषः शक्रप्रतिमतेजसः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा यज्ञैरिष्ट्वाप्तदक्षिणैः ॥ २२४ ॥
अस्मिंल्लोके यशः प्राप्य ततः कालवशं गतान् ।
शैब्यं महारथं वीरं संजयं जयतां वरम् ॥ २२५ ॥
सुहोत्रं रन्तिदेवं च काक्षीवन्तमथौशिजम् ।
बाह्लीकं दमनं चैद्यं शर्यातिमजितं नलम् ॥ २२६ ॥
विश्वामित्रममित्रघ्नमम्बरीषं महाबलम् ।
मरुत्तं मनुमिक्ष्वाकुं गयं भारतमेव च ॥ २२७ ॥
रामं दाशरथिं चैव शशबिन्दुं भगीरथम् ।
कृतवीर्यं महाभागं तथैव जनमेजयम् ॥ २२८ ॥
ययातिं शुभकर्माणं देवैर्यो याजितः स्वयम् ।
चैत्ययूपांकिता भूमिर्यस्येयं सवनाकरा ॥ २२९ ॥
इति राज्ञां चतुर्विंशन् नारदेन सुरर्षिणा ।
पुत्रशोकाभितप्ताय पुरा श्वैत्याय कीर्तितम् ॥ २३० ॥
तेभ्यश्चान्ये गताः पूर्वं राजानो बलवत्तराः ।
महारथा महात्मानः सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ २३१ ॥

करके मूर्छित होने लगे और मोह में आकर सर्प की तरह श्वास लेने लगे तब बुद्धिमान् संजय ने कहा कि हे राजा! आप ने व्यास जी और नारद के मुख से यह सुना होगा कि बड़े बड़े घरानों में उत्पन्न और महाबली, महारथी राजा शैब्य, जय शील संजय, सुहोत्र और रंतिदेव, काक्षीवान, औशिज, बाह्लीक, दमन, चैद्य, शर्याति, अजित, नल, विश्वामित्र, महाबली अंबरीष, महात्मा मरुत्त, मनु, इक्ष्वाकु, गय, भरत, राम, शशबिन्दु, भगीरथ कृतवीर्य, जनमेजय और ययाति का वृत्तान्त सुना है। राजा ययाति (को स्वयं देवताओं ने यज्ञ कराये थे) जिन्हों ने पृथ्वी जीत कर बडे बडे यज्ञ किये और ब्राह्मणों को अनंत दक्षिणा दी और जिन का यश आज तक इस पृथ्वी पर छाया हुआ है। परन्तु इस लोक में वह अनेक कर्म करके काल के गाल में चले गए हैं। (काल के वशीभूत हुए हैं) ॥२२१।२२९॥

पूर्व समय में पुत्र शोक से पीडित राजा श्वैत्य से नारद ने इन चौबीस राजाओं की कथा कही थी। इन राजाओं से पहले और भी बलवान् महारथी महात्मा और गुणवान् राजा—पुरु, कुरु, यदु, विश्वगश्व, महाद्युति, अणुह, युवनाश्व, ककुत्स्थ, रघु, विजय, वीति होत्र, अंग, भव, श्वेत, बृहद्गुरु, उशीनर, शतरथ, कंक, दुलिदुह, द्रुम,

पुरुः कुरुर्यदुः शूरो विष्वगश्वो महाद्युतिः ।
अणुहो युवनाश्वश्च ककुत्स्थो विक्रमी रघुः ॥ २३२ ॥
विजयो वीतिहोत्रोऽङ्गो भवः श्वेतो बृहद्गुरुः ।
उशीनरः शतरथः कंको दुलिदुहो द्रुमः ॥ २३३ ॥
दंभोद्भवः परो वेनः सगरः संकृतिर्निमिः ।
अजयः परशुः पुण्ड्रः शम्भुर्देवावृधोऽनघः ॥ २३४ ॥
देवाह्वयः सुप्रतिमः सुप्रतीको बृहद्रथः ।
महोत्साहो विनीतात्मा सुक्रतुर्नैषधो नलः ॥ २३५ ॥
सत्यव्रतः शान्तभयः सुमित्रः सुबलः प्रभुः ।
जानुजंघो नरण्योऽर्कः प्रियभृत्यः शुचिव्रतः ॥ २३६ ॥
बलबंधुर्निरामर्दः केतुशृंगो बृहद्बलः ।
धृष्टकेतुबृहत्केतुर्दीप्त—केतुर्निरामयः ॥ २३७ ॥
अविक्षिच्चपलो धूर्तः कृतबन्धुर्दृढेषुधिः ।
महापुराणसंभाव्यः प्रत्यंगः परहा श्रुतिः ॥ २३८ ॥
एते चान्ये च राजानः शतशोऽथ सहस्रशः ।
श्रूयन्ते शतशश्चान्ये संख्यातश्चैव पद्मशः ॥ २३९ ॥
हित्वा सुविपुलान् भोगान् बुद्धिमन्तो महाबलाः ।
राजानो निधनं प्राप्तास्तव पुत्रा इव प्रभो ॥ २४० ।
येषां दिव्यानि कर्माणि विक्रमस्त्याग एव च ।
माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम् ॥ २४१ ॥
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ।
सर्वर्द्धिगुणसम्पन्नास्ते चापि निधनं गताः ॥ २४२ ॥

दम्भोद्भव, वेन, सागर, संकृति, निमि, अजेय परशु, पुण्ड्र, शम्भु, देवावृध, अनघ, देवाह्वय, सुप्रतिम, सुप्रतीक, बृहद्रथ, विनीत सुक्रतु, नैषध नल, सत्यव्रत, शान्तभय सुमित्र, सुबल, जानुजंघ, अनरण्य, अर्क, प्रियभृत्य, शुचिव्रत, बलबन्धु, निरामर्द, केतुशृंग, बृहद्बल, धृष्टकेतु, बृहत्केतु, दीप्तकेतु, निरामय, अविक्षित, चपल, धूर्त, कृतबन्धु, दृढेषुधि, महापुराण संभाव्य, प्रत्यंग, परहा, श्रुति, आदि बड़े बड़े प्रतापी राजा हुए। इनके सिवाय और भी हज़ारों राजा इस पृथ्वी पर होगये हैं। और जिन जिन राजाओं का कवियों ने यश, पराक्रम, बुद्धि, दातृशक्ति, सत्यता, शुद्धता, दया, ऋद्धि और

तव पुत्रा दुरात्मानः प्रतप्ताश्चैव मन्युना ।
लुब्धा दुर्वृत्तभूयिष्ठा न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥ २४३ ॥
श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसंमतः ।
येषां शास्त्रानुगा बुद्धिर्न ते मुह्यन्ति भारत ॥ २४४ ॥
निग्रहानुग्रहौ चापि विदितौ ते नराधिप ।
नात्यंतमेवानुवृत्तिः कार्या ते पुत्र रक्षणे ॥ २४५ ॥
भवितव्यं तथा तच्च नानुशोचितुमर्हपि ।
दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवार्तितुमर्हति ॥ २४६ ॥
विधातृविहितं मार्ग न कश्चिदतिवर्तते ।
कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥ २४७ ॥
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजा ।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥ २४८ ॥
कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान् ।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ॥ २४९ ॥
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥ २५० ॥
अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम् ।
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि ॥ २५१ ॥

अनेक गुणों की सम्पन्नता का कीर्तन किया है वे भी मृत्यु को जीत न सके । फिर आप के पुत्र तो बड़े क्रोधी, लोभी और दुरात्मा थे। उनके लिए आप को शोच करना उचित नहीं ॥२३०।२४३॥

हे धृतराष्ट्र ! आप तो बड़े बुद्धिमान् और शास्त्रों के जानकार हैं । जिनकी बुद्धि शास्त्र के अनुगत बनी रहती है वह मोहरूपी जाल में कभी नहीं फँसते । पाण्डवों का तिरस्कार और अपने पुत्रों में प्रीति यह सब आप में था और आप ही इसको अच्छी प्रकार से जानते हैं इसलिए आप को कदापि शोक करना नहीं चाहिए । होनहार कभी नहीं टल सकती । पूर्वकृत कर्मों का फल अनेक उपाय करने से भी नहीं जाता है । जगत् के कर्ता ने इस प्राणी ही को शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगने को शुभ और अशुभ कर्म रच रखे हैं । उनको उलङ्घन करने की किसी की सामर्थ्य नहीं है । इस सब जगत् का काल मूल है । क्योंकि सब प्राणियों को दुःख, सुख, ऐश्वर्य और दरिद्रता सब काल के अनुसार होते हैं । जगत् का रचने और नाश करने वाला काल ही है । उस

सौतिरुवाच—इत्येवं पुत्रशोकार्तं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
आश्वास्य स्वस्थमकरोत् सूतो गावल्गणिस्तदा ॥ २५२ ॥
अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ॥ २५३ ॥
भारताध्ययनं पुण्यमपि पादमधीयतः ।
श्रद्दधानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः ॥ २५४ ॥
देवा देवर्षयो ह्यत्र तथा ब्रह्मर्षयोमलाः ।
कीर्त्यन्ते शुभकर्माणस्तथा यक्षा महोरगाः ॥ २५५ ॥
भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥ २५६ ॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम् ।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ॥ २५७ ॥
असच्च सदसच्चैव यस्माद्विश्वं प्रवर्तते ।
संततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्म–मृत्यु–पुनर्भवाः ॥ २५८ ॥
अध्यात्मं श्रूयते यच्च पञ्चभूतगुणात्मकम् ।
अव्यक्तादि परं यच्च स एव परिगीयते ॥ २५९ ॥
यतयतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः ।
प्रतिविम्वमिवादर्शे पश्यंत्यात्मन्यऽवास्थितम् ॥ २६० ॥

काल को भी महाकालरूपी महात्मा नाश करता है। वह महाकाल ही सब शुभ अशुभ भावों का कर्ता है। और प्रजा का नाश करने वाला और रचने वाला भी यही है। यही सोते में जागृत् रूप है और सब प्राणियों में समान फिरता है। उसको कोई भी उलङ्घन नहीं कर सकता है भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी वस्तु काल से रची हुई है, यह सब जानकर आप को मोहवश होना नहीं चाहिए। ॥२४४।२५१॥

श्री उग्रश्रवा जी बोले—हे ऋषियो! संजय ने इस प्रकार से राजा धृतराष्ट्र को समझा कर उनका चित्त शान्त किया। श्रीकृष्णद्वैपायन जी इस विषय में परम पवित्र उपनिषद् कह गए हैं। चतुर विद्वान् लोग पुराण में उस उपनिषद् का वर्णन करते हैं। बड़े बड़े बुद्धिमान् कवि लोग कहते हैं कि, इस महाभारत का पाठ करने से पापों का नाश होता है और पुण्य (तेज) बढ़ता है। यहां तक कि श्लोक का एक चरण भी पढ़ लेने से पाप का भय नहीं रहता। क्योंकि इस महाभारत में देवता, देवऋषि, ब्रह्मऋषि, यक्ष और नाग आदि का

श्रद्दधानः सदा युक्तः सदा धर्मपरायणः ।
आसेवन्निममध्यायं नरः पापात्प्रमुच्यते ॥ २६१ ॥
अनुक्रमणिकाध्यायं भारतस्येममादितः ।
आस्तिकः सततं शृण्वन्न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥ २६२ ॥
उभे संध्ये जपन् किंचित् सद्यो मुच्येत् किल्बिषात्।
अनुक्रमण्या यावत्स्यादन्हा रात्र्या च संचितम् ॥ २६३ ॥
भारतस्य वपुर्ह्येतत्सत्यं चामृतमेव च ।
नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा ॥ २६४ ॥
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधीभ्योऽमृतं यथा ।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ॥ २६५ ॥
यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते ।
यश्चैनं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान् पादमन्ततः ॥ २६६ ॥
अक्षय्यमन्नपानं वै पितॄंस्तस्योपतिष्ठते ।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥ २६७ ॥

वर्णन है । और श्री वासुदेव भगवान् जो सत्य, पवित्र, सब पापों के नाश करने वाले, भाग्य के उदय करने वाले, सर्व देश और सर्व वस्तुओं में व्याप्त, परब्रह्म अचल, ज्योति के समान चैतन्य, सनातन, अमृत, (मुख से वर्णन नहीं किए जा सकते) सदसत् (कारण कार्यरूप) जन्म मृत्यु के देने वाले और अध्यातम हैं। जिनका ध्यान करके यति लोगों ने मुक्ति पाई; और जिन को ज्ञानी लोग अपने हृदय में इस प्रकार से देखते हैं, जैसे दर्पण में मुख देख पड़ता है । उसी भगवान् कृष्ण का अद्भुत चरित्र इस महाभारत ग्रंथ में बहुत विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है । धार्मिक लोग इस अध्याय को नियम और श्रद्धा के साथ पठन करने से सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं।

आस्तिक पुरुष भारत ग्रंथ के इस अनुक्रमणिकाध्याय को पहले ही सुना करें वह कभी कष्ट में नहीं पड़ेंगे । इस अध्याय का संध्या और प्रातः-काल में कुछ कुछ पाठ करने से दिन और रात्रि के पाप सब दूर हो जाते हैं । यह अनुक्रमणिकाध्याय महाभारत ग्रंथ की सत्य और अमृत भरी देह के सदृश हुआ है । जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेद में उपनिषद्, औषधियों में अमृत, जलाशयों में सागर और चतुष्पदों में गाय श्रेष्ठ है वैसे ही इतिहासों में यह महाभारत श्रेष्ठ है । जो कोई पितरों के श्राद्ध में ब्राह्मणों को भोजन कराने में इस श्रेष्ठ ग्रंथ को सुनावे तो उसके पितरों को वह अन्न अक्षय होकर पहुंचता है । यदि कोई पुरुष वेदों को जानना चाहे वह पहिले

विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्श्रावयित्वार्थमश्नुते ॥ २६८ ॥
भ्रूणहत्यादिकं चापि पापं जह्यादसंशयम् ।
य इमं शुचिरध्यायं पठेत् पर्वाणि पर्वाणि ॥ २६९ ॥
अधीतं भारतं तेन कृत्स्नं स्यादिति मे मति ।
यश्चैनं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धा समन्वितः ॥ २७० ॥
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गातिं चाप्नुयान्नरः ।
एकतश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकतः ॥ २७१ ॥
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलाया धृतम् ।
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदोभ्यो ह्यधिकं यदा ॥ २७२ ॥
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ।
महत्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् ॥ २७३ ॥
महत्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २७४ ॥

इस महाभारत को पढ़े जो इसको बिना पढ़े वेदों में परिश्रम करता है उसका परिश्रम व्यर्थ है । हे ऋषियो ! इस व्यास जी के बनाये हुए वेदमय ग्रंथ को सुनाकर विद्वान् लोग धन उपार्जन करते हैं । इसके पढ़ने पढ़ाने से गर्भ-पात आदि के समान पाप भी निःसंशय दूर हो जाते हैं । जो पवित्रता के साथ प्रति पर्व के दिन इस अध्याय को पढ़ेगा उसको सब महाभारत पाठ करने का फल मिलेगा । जो मनुष्य पूर्ण श्रद्धा से इसे नित्य सुनता है वह बड़ी आयु, कीर्ति और स्वर्ग लोक पाता है ॥२५२।२७०॥

पहिले इस भारत को देवताओं ने एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर भारत को रखकर तोला जब वह भारत चारों वेदों से अधिक निकला तभी से इसे संसार में महाभारत कहने लगे। महाभारत का ठीक अर्थ यह है कि सब ग्रन्थों में यह ग्रन्थ बड़ा होने के कारण इसको महत्व पदवी मिली और सब ग्रंथों से इसका अर्थ कठिन होने से भारत्व कहलाया सो इसलिए इसका नाम महाभारत हुआ । यदि कोई पुरुष यह कहे कि इस महाभारत में छल, प्रपंच और निग्रह है और जहां जहां भगवत् कथा भी है तो- इसको इस प्रकार से त्यागना चाहिये जैसे विष मिश्रित अन्न त्याग दिया जाता है ऐसे पुरुष के लिए यह है कि जैसे तप आदि का करना, वेदों का पढ़ना और भूख प्यास आदि को सहन करके धन संचय का करना केवल पुण्य ही है पाप नहीं है परन्तु वही बातें चित्त का भाव दूषित होने पर पापरूप हो जातीं

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविकोवेदविधिर्न कल्कः ।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥ २७५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अनुक्रमणिकापर्वणि प्रथमोध्यायः ॥ १ ॥ अनुक्रमणीपर्वसमाप्तम् ॥

है इसी प्रकार से भारत में भी धर्म और ब्रह्म का निरुपण होने से पुण्य का देने वाला है । कौरवों की दुष्टता और पाण्डवों की सत्यता इस कारण से दिखलाई है कि संसारी लोग भी इसको पढ़कर युधिष्ठिर आदि का सा धर्म करें और कौरवों जैसा अन्याय न करें और यदि कदाचित् ऐसा करेंगे भी तो उनका कौरवों की तरह नाश हो जावेगा । ॥२७१।२७५॥

द्वितीयोऽध्याय २

ऋषय ऊचु—**समन्तपञ्चकमिति यदुक्तं सूतनन्दन ।**
एतत्सर्वं यथातत्वं श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १ ॥
सौतिरुवाच—**श्रृणुध्वं मम भो विप्रा ब्रुवंतश्च कथाः शुभाः ।**
समन्तपञ्चकाख्यं च श्रोतुमर्हथ सत्तमाः ॥ २ ॥
त्रेताद्वापरयोः संधौ रामः शस्त्रभृतां वरः ।
असकृत्पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्पचोदितः ॥ ३ ॥
स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः ।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रौधिरान्ह्रदान् ॥ ४ ॥
स तेषु रुधिराम्भःसु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः ।
पितृन्संतर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम् ॥ ५ ॥
अथर्चीकादयोऽभ्येत्य पितरो राममब्रुवन् ।
राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ॥ ६ ॥

॥ दूसरा अध्याय २ ॥

ऋषियों ने कहा —हे सूत पुत्र ! समन्तपञ्चक तीर्थ का नाम जो आपने कहा है हम उसका विस्तार पूर्वक वर्णन सुनना चाहते हैं । सूत पुत्र ने कहा हे ऋषियो, मैं कथा सुनाता हु, आप एक चित्त होकर सुनो । त्रेता और द्वापर की सधि में शस्त्र धारियों में श्रेष्ठ परशुराम ने क्रोध में आकर कई बार क्षत्रियों का नाश किया ॥३॥

उस अग्नि के समान तेजस्वी ने अपने बल से, क्षत्रियों को नाश करके समन्तपञ्चक में रक्त के पाच तालाब बनाये, और क्रोध में आकर रुधिर से अपने पितरों का तर्पण किया । उसके पश्चात् ऋचीक आदि पितर परशुराम के समीप आकर

अनया पितृ भक्त्या च विक्रमेण तव प्रभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यमिच्छसि महाद्युते ॥ ७ ॥

रामोवाच—यदि मे पितरः प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ॥ ८ ॥
अतश्च पापान्मुच्येऽहमेष मे प्रार्थितो वरः ।
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ॥ ९ ॥
एवं भविष्यतीत्येवं पितरस्तमथाब्रुवन् ।
तं क्षमस्वेति निषिषिधुस्ततः स विरराम ह ॥ १० ॥
तेषां समीपे यो देशो ह्रदानां रुधिराम्भसाम् ।
समन्तपञ्चकमिति पुण्यं तत्परिकीर्तितम् ॥ ११ ॥
येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः समुपलक्ष्यते ।
तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः ॥ १२ ॥
अन्तरे चैव संप्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत् ।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरु-पाण्डव-सेनयोः ॥ १३ ॥
तस्मिन्परमधर्मिष्ठे देशे भूदोषवर्जिते ।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ॥ १४ ॥

बोले—हे भृगुवंशि महाभाग परशुराम, तुम्हारी यह पितरों की भक्ति और पराक्रम देखकर हम अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं। अब अपनी इच्छानुसार वर माँगो। यह सुनकर परशुराम जी ने कहा, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझ को अनुग्रह योग्य समझते हैं तो मैंने जो क्रोधित होकर क्षत्रिय वंश का नाश किया है उसके पाप से निर्वृत हो जाऊँ यही मेरी इच्छा है और यह रक्त से भरे पाँच कुण्ड तीर्थ माने जाने लगें ॥९॥

पितरों ने कहा—ऐसा ही होगा। इसके उपरान्त उसने क्षत्रियों की हिंसा का निषेध किया और परशुराम जी ने स्वीकार किया। उन पाँचों कुण्डों के समीप का सब स्थान समन्तपञ्चक कहलाता है। विद्वान् लोग कहते हैं कि जो देश जिस चिह्न से युक्त हो वह उसी नाम से प्रसिद्ध होता है। कलियुग और द्वापर के संगम में समन्तपञ्चक में कौरवों और पाण्डवों की सेना का युद्ध हुआ था ॥१०।१३॥

हे ब्राह्मणो! उस निर्दोष तीर्थ-स्थान में अठारह अक्षौहिणी सेना लड़ने के लिये जमा हुई और सब मारी गई। यह समन्तपंचक नाम का कारण है समन्तपंचक का अर्थ यह है कि समंत और अंत दोनों मिलकर समन्त हुआ जिसका अर्थ यह है कि वह जगह जहां अठारह अक्षौहिणी

समेत्य तं द्विजास्ताश्च तत्रैव निधनं गताः ।
एतन्नामाभिनिर्वृत्तं तस्य देशस्य वै द्विजाः ॥ १५ ॥
पुण्यश्च रमणीयश्च स देशो वः प्रकीर्तितः ।
तदेतत्कथितं सर्वं मया ब्राह्मणसत्तमाः ।
यथा देशः स विख्यातस्त्रिपु लोकेपु सुव्रताः ॥ १६ ॥

ऋषय ऊचु—अक्षौहिण्य इति प्रोक्तं यत्त्वया सूतनन्दन ।
एतदिच्छामहे श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥ १७ ॥
अक्षौहिण्याः परीमाणं नराश्वरथदन्तिनाम् ।
यथावच्चैव नो हि सर्वं हि विदितं तव ॥ १८ ॥

सौतिरुवाच—एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः ।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥ १९ ॥
पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः ।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते ॥ २० ॥
त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः ।
स्मृतास्तिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः ॥ २१ ॥
चमूस्तु पृतनास्तिस्रस्तिस्रश्चम्वस्त्वनीकिनी ।
अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥ २२ ॥

सेना कटी और उस जगह पाच कुण्ड होने से समन्तपञ्चक नाम हुआ। सो वह देश तीनों लोकों में विख्यात है और बड़ा रमणीक और देखने के योग्य है। इतनी कथा सुनकर ऋषि लोग बोले, हे सूत पुत्र ! अक्षौहिणी जिसे कहते है, सो हम से आप कहो। अक्षौहिणी के मनुष्य, घोड़े, रथ, हाथियों का प्रमाण हमें बताओ क्योंकि तुम सब कुछ जानते हो ॥१७।१८॥

सूत पुत्र जी बोले, कि हे ऋषियो ! एक रथ, एक हाथी, पांच पैदल सिपाही, तीन घोड़े— इतने को 'पत्ति' कहते है। तीन पत्तियों का एक 'सेनामुख' होता है। तीन सेनामुखों का एक 'गुल्म' होता है। तीन गुल्मों का एक 'गण' कहलाता है। तीन गणों का एक 'वाहिनी' कहलाती है। तीन वाहिनियों की एक 'पृतना' होती है। तीन पृतनाओं की एक 'चमू' होती है। तीन चमूओं की एक 'अनीकिनी' होती है। दस अनीकिनिओं की एक 'अक्षौहिणी' होती है। एक अक्षौहिणी में २१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० घोड़े और १०९३५० पैदल सिपाही

अक्षौहिण्याः प्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तमाः ।
संख्या गणितत्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥ २३ ॥
शतान्युपरिचैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः ।
गजानां च परिमाणमेतदेव विनिर्दिशेत् ॥ २४ ॥
ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु ।
नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः ॥ २५ ॥
पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च ।
दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया ॥ २६ ॥
एतामक्षौहिणीं प्राहुः संख्यातत्त्वविदो जनाः ।
यां वः कथितवानस्मि विस्तरेण तपोधनाः ॥ २७ ॥
एतया संख्यया ह्यासन्कुरुपाण्डवसेनयोः ।
अक्षौहिण्यो द्विजश्रेष्ठाः पिण्डिताष्टादशैव तु ॥ २८ ॥
समेतास्तत्र वै देशे तत्रैव निधनं गताः ।
कौरवान्कारणं कृत्वा कालेनाद्भुतकर्मणा ॥ २९ ॥
अहानि युयुधे भीष्मो दशैव परमास्त्रवित् ।
अहानि पञ्च द्रोणस्तु ररक्ष कुरुवाहिनीम् ॥ ३० ॥
अहनी युयुधे द्वे तु कर्णः परबलार्दनः ।
शल्योऽर्धदिवसं चैव गदा युद्धमतः परम् ॥ ३१ ॥
तस्यैव दिवसस्यान्ते द्रौणिहार्दिक्यगौतमाः ।
प्रसुप्तं निशि विश्वस्तं जघ्नुर्यौधिष्ठिरं बलम् ॥ ३२ ॥

होते हैं। हे ऋषियो! कौरवों और पाण्डवों की ऐसी अठारह अक्षौहिणी सेना समन्तपंचक पृथ्वी पर ईकट्ठी हुई थी और कौरवों को केवल कारण बनाकर अद्भुत कर्म करने वाले काल ने उन सब का वहां नाश किया। अद्भुत अस्त्र विद्या के जानने वाले भीष्म दस दिन तक और द्रोण पांच दिवस तक कौरवों के सेनापति रहे ॥२९।३०॥

कर्ण ने दो दिवस तक और शल्य ने आधा दिन तक युद्ध किया। अन्त को आधे दिन भीमसेन और दुर्योधन ने गदा-युद्ध किया। उसी दिन सन्ध्या के समय अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ने रात्रि के समय युधिष्ठिर की सेना का नाश किया ॥३१।३२॥

इतनी कथा सुनाकर सूत पुत्र बोले,

यत्तु शौनक सत्रे ते भारताख्यानमुत्तमम् ।
जनमेजयस्य तत्सत्रे व्यासशिष्येण धीमता ॥ ३३ ॥
कथितं विस्तरार्थं च यशो वीर्यं महीक्षिताम् ।
पौष्यं तत्र च पौलोममास्तीकं चादितः स्मृतम् ॥ ३४ ॥
विचित्रार्थ—पदाख्यानमनेक—समयान्वितम् ।
प्रतिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ॥ ३५ ॥
आत्मैव वेदितव्येषु प्रियेष्विव हि जीवितम् ।
इतिहासः प्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ॥ ३६ ॥
अनाश्रित्येदमाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ ३७ ॥
तदेतद्भारतं नाम कविभिस्तूपजीव्यते ।
उदय—प्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ ३८ ॥
इतिहासोत्तमे यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा ।
स्वरव्यञ्जनयोः कृत्स्ना लोकवेदाश्रयेव वाक् ॥ ३९ ॥
तस्य प्रज्ञाभिपन्नस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूपितस्य च ॥ ४० ॥

हे ऋषियो ! तुम्हारे यज्ञ में जो मैं यह महाभारत कह रहा हूं, इसे व्यास जी के शिष्य बुद्धिमान् वैशम्पायन ने राजा जनमेजय के सर्प यज्ञ में वर्णन किया था। इसके आदि पर्व में मंगलाचरण रूपी पौष्य, पौलोम और आस्तीक पर्व में राजाओं के असाधारण चरित्र विशेष रूप से (कहे) गये हैं ॥३३।३४॥

इसमें अनेक समय के विचित्र अर्थ पद और इतिहास वर्णन किये गये हैं। जैसे मोक्ष की इच्छा करने वालों को वैराग्य प्यारा होता है वैसे ही बुद्धिमान लोग इस महाभारत का आश्रय लेते हैं। जैसे सब पदार्थों में अपना जीवन श्रेष्ठ है, वैसे ही सर्व पदार्थों में यह भारत श्रेष्ठ है। जैसे भोजन के बिना शरीर का रहना असम्भव है वैसे ही महाभारत के आश्रय के बिना कोई कथा पृथ्वी में नहीं हो सकती। जैसे निर्धन मनुष्य धनी की सेवा तन और मन से करते हैं वैसे ही कवि लोग इस महाभारत का आश्रय लेते हैं। जैसे सब लौकिक और वैदिक वाक्य, स्वर और व्यजन वर्णों से परिपूर्ण रहते हैं, तैसे ही इतिहासों में श्रेष्ठ यह महाभारत हित साधने वाली बुद्धि का आधार है ॥३५।३९॥

उस बुद्धियुक्त और विचित्र पर्व और पद वाले और सूक्ष्म अर्थ न्याय से युक्त और वेदों के

भारतस्येतिहासस्य श्रूयतां पर्वसंग्रहः ।
पर्वानुक्रमणी पूर्वं द्वितीयः पर्वसंग्रहः ॥ ४१ ॥
पौष्यं पौलोममास्तीकमादिरंशावतारणम् ।
ततः संभवपर्वोक्तमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ४२ ॥
दाहो जतुगृहस्यात्र हैडिम्बं पर्व चोच्यते ।
ततो बकवधः पर्व पर्व चैत्ररथं ततः ॥ ४३ ॥
ततः स्वयंवरो देव्याः पाञ्चाल्याः पर्व चोच्यते ।
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम् ॥ ४४ ॥
विदुरागमनं पर्व राज्यलम्भस्तथैव च ।
अर्जुनस्य वने वासः सुभद्राहरणं ततः ॥ ४५ ॥
सुभद्राहरणादूर्ध्वं ज्ञेया हरणहारिका ।
ततः खाण्डवदाहाख्यं तत्रैव मयदर्शनम् ॥ ४६ ॥
सभापर्व ततः प्रोक्तं मन्त्रपर्व ततः परम् ।
जरासन्धवधः पर्व पर्व दिग्विजयं तथा ॥ ४७ ॥
पर्व दिग्विजयादूर्ध्वं राजसूयिकमुच्यते ।
ततश्चार्घाभिहरणं शिशुपाल-वधस्ततः ॥ ४८ ॥
द्यूतपर्व ततः प्रोक्तमनुद्यूतमतः परम् ।
तत आरण्यकं पर्व किर्मीरवध उच्यते ॥ ४९ ॥
अर्जुनस्याभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
ईश्वरार्जुनयोर्युद्धं पर्व कैरातसंज्ञितम् ॥ ५० ॥

अर्थों मे अलंकृत भारत इतिहास पर्वसग्रह को सुनो ॥४०॥

इस महाभारत का यह पहला अध्याय अनुक्रमणिकापर्व और दूसरा पर्व संग्रहपर्व कहलाता है । फिर क्रम से पौष्यपर्व, पौलोमपर्व, आस्तीकपर्व, अंशावतरणपर्व और सम्भवपर्व, जो अद्भुत और रोमांचकारी है (आनन्द के देने वाला) जतुगृहपर्व, लाख के घर का दाह । हिडिम्ब-वधपर्व, बकवधपर्व, चैत्ररथपर्व, द्रौपदीस्वयंवरपर्व, वैवाहिकपर्व, विदुरागमन और राज्यलाभपर्व, अर्जुन-वनवासपर्व, सुभद्राहरणपर्व, यौतुकाहरणपर्व, खाण्डव-दाहपर्व और मयदर्शनपर्व है । सभापर्व में मंत्रपर्व, जरासंध-वधपर्व, दिग्विजयपर्व, राजसूयपर्व, अर्घ्यहरणपर्व, शिशुपालवधपर्व, द्यूतपर्व और अनुद्यूत-

इन्द्रलोकाभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
नलोपाख्यानमपि च धार्मिकं करुणोदयम् ॥ ५१ ॥
तीर्थयात्रा ततः पर्व कुरुराजस्य धीमतः ।
जटासुरवधः पर्व यक्षयुद्धमतः परम् ॥ ५२ ॥
निवातकवचैर्युद्धं पर्व चाजगरं ततः ।
मार्कण्डेयसमास्या च पर्वानन्तरमुच्यते ॥ ५३ ॥
संवादश्च ततः पर्व द्रौपदीसत्यभामयोः ।
घोषयात्रा ततः पर्व मृगस्वप्नोद्भवं ततः ॥ ५४ ॥
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमैन्द्रद्युम्नं तथैव च ।
द्रौपदीहरणं पर्व जयद्रथविमोक्षणम् ॥ ५५ ॥
पतिव्रताया माहात्म्यं सावित्र्याश्चैवमद्भुतम् ।
रामोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥ ५६ ॥
कुण्डलाहरणं पर्व ततः परमिहोच्यते ।
आरणेयं ततः पर्व वैराटं तदनन्तरम् ।
पाण्डवानां प्रवेशश्च समयस्य च पालनम् ॥ ५७ ॥
कीचकानां वधः पर्व पर्व गोग्रहणं ततः ।
अभिमन्योश्च वैराट्याः पर्व वैवाहिकं स्मृतम् ॥ ५८ ॥
उद्योगपर्व विज्ञेयमत ऊर्ध्वं महाद्भुतम् ।
ततः संजययानाख्यं पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥ ५९ ॥
प्रजागरं तथा पर्व धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ।

पर्व है ॥४१।४०॥

वनपर्व में किर्मीरवधपर्व, अर्जुन-वन-गमनपर्व, किरातपर्व, जिसमे अर्जुन और महादेव का युद्ध हुआ है। इन्द्रलोक-गमनपर्व, धर्म और करुणा के भाव से युक्त राजा नल की कथा का पर्व, युधिष्ठिर की तीर्थयात्रापर्व, जटासुर-वधपर्व, यक्ष-युद्धपर्व, निवातकवच युद्धपर्व, अजगरपर्व, मार्कण्डेयसमास्यापर्व, द्रौपदी और सत्यभामा का सम्वादपर्व, घोषयात्रापर्व, मृगस्वप्नोद्भवपर्व, व्रीहिद्रौणिक और इन्द्रद्युम्नपर्व, द्रौपदीहरणपर्व, जयद्रथमन्थनपर्व, पतिव्रता सावित्री के अद्भुत महात्म्यपर्व, रामोपाख्यानपर्व, कुण्डलाहरणपर्व और आरणेयपर्व है। विराट पर्व में पाण्डवप्रवेशपर्व, समयपालनपर्व, कीचक-वधपर्व, गोग्रहणपर्व और अभिमन्यु और उत्तरा

पर्व सानत्सुजातं वै गुह्यमध्यात्मदर्शनम् ॥ ६० ॥
यानसंधिस्ततः पर्व भगवद्यानमेव च ।
मातलीयमुपाख्यानं चरितं गालवस्य च ॥ ६१ ॥
सावित्रं वामदेव्यं च वैन्योपाख्यानमेव च ।
जामदग्न्यमुपाख्यानं पर्व षोडशराजकम् ॥ ६२ ॥
सभाप्रवेशः कृष्णस्य विदुलापुत्रशासनम् ।
उद्योगः सैन्यनिर्याणं विश्वोपाख्यानमेव च ॥ ६३ ॥
ज्ञेयं विवादपर्वात्र कर्णस्यापि महात्मनः ।
निर्याणं च ततः पर्व कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ६४ ॥
रथातिरथसंख्या च पर्वोक्तं तदनंतरम् ।
उलूक—दूतागमनं पर्वामर्ष—विवर्धनम् ॥ ६५ ॥
अम्बोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
भीष्माभिषेचनं पर्व ततश्चाद्भुतमुच्यते ॥ ६६ ॥
जंबूखण्डविनिर्माणं पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
भूमिपर्व ततः प्रोक्तं द्वीपविस्तारकीर्तनम् ॥ ६७ ॥
पूर्वोक्तं भगवद्गीता पर्व भीष्मवधस्ततः ।
द्रोणाभिषेचनं पर्व संशप्तकवधस्ततः ॥ ६८ ॥
अभिमन्युवधः पर्व प्रतिज्ञा पर्व चोच्यते ।
जयद्रथ—वधः पर्व घटोत्कच—वधस्ततः ॥ ६९ ॥

विवाहपर्व है। अद्भुत उद्योगपर्व में सेनोद्योगपर्व, सञ्जय—यानपर्व, धृतराष्ट्र की चिन्ता का प्रजागरपर्व, अध्यातम विद्यासनत्सुजातपर्व, यानसंधिपर्व और भगवद्यानपर्व है। भगवद्यानपर्व में गालवचरित्र, सावित्री, वामदेव, पृथु और परशुराम की कथा, षोड़श-राजकपर्व, कृष्ण का सभा-प्रवेश, विदुला पुत्र शासन, उद्योगपर्व में सैन्यनिर्याणपर्व है। सैन्यनिर्याणपर्व के अन्तर्गत विश्वोपाख्यान, महात्मा कर्ण का विवाद, कुरु पाण्डव सेना का निर्याणपर्व, रथातिरथसंख्यापर्व, क्रोधी उल्लूक दूतागमन, अमर्षविवर्द्धन, अंबोपाख्यान, भीष्माभिषेकपर्व, जम्बुखण्ड-निर्माणपर्व, द्वीप विस्तार वर्णन युक्त भूमिपर्व, भगवद्गीतापर्व और भीष्म वधपर्व है। द्रोणपर्व में द्रोणाभिषेकपर्व, संशप्तक-वध-पर्व, अभिमन्यु-वधपर्व, प्रतिज्ञापर्व, जयद्रथ-वधपर्व, घटोत्कच-वधपर्व, द्रोण-वधपर्व, लोमहर्षणपर्व, नारायणशास्त्रपर्व, कर्णपर्व, शल्यपर्व, दुर्योधन जल-

ततो द्रोणवधः पर्व विज्ञेयं लोमहर्षणम् ।
मोक्षो नारायणास्त्रस्य पर्वानन्तरमुच्यते ॥ ७० ॥
कर्णपर्व ततो ज्ञेयं शल्यपर्व ततः परम् ।
ह्रदप्रवेशनं पर्व गदायुद्धमतः परम् ॥ ७१ ॥
सारस्वतं ततः पर्व तीर्थवंशानुकीर्तनम् ।
अत ऊर्ध्वं सुवीभत्सं पर्व सौप्तिकमुच्यते ॥ ७२ ॥
ऐषीकं पर्व चोद्दिष्टमत ऊर्ध्वं सुदारुणम् ।
जलप्रदानिकं पर्व स्त्रीविलापस्ततः परम् ॥ ७३ ॥
श्राद्धपर्व ततो ज्ञेयं कुरूणामौर्ध्वदेहिकम् ।
चार्वाकनिग्रहः पर्व रक्षसो ब्रह्मरूपिणः ॥ ७४ ॥
आभिषेचनिकं पर्व धर्मराजस्य धीमतः ।
प्रविभागो गृहाणां च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ॥ ७५ ॥
शान्तिपर्व ततो यत्र राजधर्मानुशासनम् ।
आपद्धर्मश्च पर्वोक्तं मोक्षधर्मस्ततः परम् ॥ ७६ ॥
शुकप्रश्नाभिगमनं ब्रह्मप्रश्नानुशासनम् ।
प्रादुर्भावश्च दुर्वासः संवादश्चैव मायया ॥ ७७ ॥
ततः पर्व परिज्ञेयमानुशासनिकं परम् ।
स्वर्गारोहणिकं चैव ततो भीष्मस्य धीमतः ॥ ७८ ॥
ततोऽश्वमेधिकं पर्व सर्वपापप्रणाशनम् ।
अनुगीता ततः पर्व ज्ञेयमध्यात्मवाचकम् ॥ ७९ ॥

प्रवेशपर्व, गदायुद्धपर्व, अनन्तर सारस्वततीर्थवंशानुकीर्तनपर्व, अति भयानक सौप्तिकपर्व में ऐषीकपर्व है । स्त्रीपर्व में जलप्रदानिकपर्व, स्त्रीविलापपर्व और श्राद्धपर्व है । फिर चार्वाक राक्षस का वधपर्व, अभिषेचनिकपर्व, और गृहविभागपर्व है । शान्तिपर्व में राजधर्मानुशासनपर्व, अनन्तर आपद्धर्मपर्व और मोक्षधर्मपर्व है । फिर शुकप्रश्नाभिगमन, ब्रह्मप्रश्नानुशासन, दुर्वासा प्रादुर्भाव और माया के साथ सम्वाद है । फिर अनुशासनपर्व में भीष्म स्वर्गारोहणपर्व है । सर्व पापों के नाश करने वाला अश्वमेधपर्व और अनुगीता पर्व है । आश्रमवासिकपर्व, पुत्रदर्शनपर्व और नारदागमनपर्व है । फिर मौसलपर्व, महाप्रस्थानिकपर्व और स्वर्गारोहणपर्व है । हरिवंशपर्व में कृष्ण की लीला और कंसवध का वर्णन किया

पर्व चाश्रमवासाख्यं पुत्रदर्शनमेव च ।
नारदागमनं पर्व ततः परमिहोच्यते ॥ ८० ॥
मौसलं पर्व चोद्दिष्टं ततो घोरं सुदारुणम् ।
महाप्रस्थानिकं पर्व स्वर्गारोहणिकं ततः ॥ ८१ ॥
हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम् ।
विष्णुपर्व शिशोश्चर्या विष्णोः कंसवधस्तथः ॥ ८२ ॥
भविष्यपर्व चाप्युक्तं खिलेष्वेवाद्भुतं महत् ।
एतत्पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ॥ ८३ ॥
यथावत्सूतपुत्रेण लौमहर्षणिना ततः ।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु ॥ ८४ ॥
समासो भारतस्यायमंत्रोक्तः पर्वसंग्रहः ।
पौष्यं पौलोममास्तीकमादिरंशावतारणम् ॥ ८५ ॥
संभवो जतुवेश्माख्यं हिडिम्बवकयोर्वधः ।
तथा चैत्ररथं देव्याः पाञ्चाल्याश्च स्वयंवरः ॥ ८६ ॥
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम् ।
विदुरागमनं चैव राज्यलम्भस्तथैव च ॥ ८७ ॥
वनवासोऽर्जुनस्यापि सुभद्राहरणं ततः ।
हरणाहरणं चैव दहनं खाण्डवस्य च ॥ ८८ ॥
मयस्य दर्शनं चैव आदिपर्वणि कथ्यते ।
पौष्ये पर्वणि माहात्म्यमुत्तङ्कस्योपवर्णितम् ॥ ८९ ॥

गया है, अद्भुत भविष्यपर्व, यह महात्मा व्यास के कहे हुए एक सौ पर्व हैं। उग्रश्रवा ने नैमिषारण्य में उन सौ पर्वों को संक्षिप्त करके केवल अठारह पर्वों में कहा है। सो सब पर्वों की कथा संक्षेप में कही जाती है ॥५०।८४॥

पौष्य, पौलोम, आस्तीक, अंशावतरण, सम्भव, जतुगृह, हिडिम्बवध, बकवध, चैत्ररथ, द्रौपदी-स्वयंवर, वैवाहिक, विदुरागमन, राज्यलाभ, अर्जुन-वनगमन, सुभद्राहरण, यौतुकाहरण, खाण्डवदाह और मयदर्शन, यह सब पर्व आदिपर्व में हैं। पौष्यपर्व में उत्तङ्क ऋषि का माहात्म्य वर्णन किया है। पौलोम पर्व में भृगुवंश का विस्तार कहा है। आस्तीकपर्व में नागों और गरुड़ की उत्पत्ति और समुन्दर मथने और जनमेजय के सर्पयज्ञ

पौलोमे भृगुवंशस्य विस्तारः परिकीर्तितः ।
आस्तीके सर्वनागानां गरुडस्य च संभवः ॥ ९० ॥
क्षीरोदमथनं चैव जन्मोच्चैःश्रवसस्तथा ।
यजतः सर्पसत्रेण राज्ञः पारीक्षितस्य च ॥ ९१ ॥
कथेयमभिनिर्वृत्ता भरतानां महात्मनाम् ।
विविधाः संभवा राज्ञामुक्ताः संभवपर्वणि ॥ ९२ ॥
अन्येषां चैव शूराणामृषेर्द्वैपायनस्य च ।
अंशावतरणं चात्र देवानां परिकीर्तितम् ॥ ९३ ॥
दैत्यानां दानवानां च यक्षाणां च महौजसाम् ।
नागानामथ सर्पाणां गन्धर्वाणां पतत्रिणाम् ॥ ९४ ॥
अन्येषां चैव भूतानां विविधानां समुद्भवः ।
महर्षेराश्रमपदे कण्वस्य च तपस्विनः ॥ ९५ ॥
शकुन्तलायां दुष्यन्ताद्भरतश्चापि जज्ञिवान् ।
यस्य लोकेषु नाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम् ॥ ९६ ॥
वसूनां पुनरुत्पत्तिर्भागीरथ्यां महात्मनाम् ।
शान्तनोर्वेश्मनि पुनस्तेषां चारोहणं दिवि ॥ ९७ ॥
तेजोंशानां च संपातो भीष्मस्याप्यत्र संभवः ।
राज्यान्निवर्तनं तस्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितिः ॥ ९८ ॥
प्रतिज्ञापालनं चैव रक्षा चित्राङ्गदस्य च ।
हते चित्राङ्गदे चैव रक्षा भ्रातुर्यवीयसः ॥ ९९ ॥

और उच्चैःश्रवा घोड़े के जन्म होने की कथा का वर्णन है । अंशावतरणपर्व में यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, देवता, दैत्य, दानव, नाग, सर्प आदि पक्षी और दूसरे नाना प्राणियों की उत्पत्ति, और भरत-वंश के आदिपुरुष, कण्व तपस्वी के आश्रम में शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न दुष्यन्त के पुत्र भरत की कथा वर्णित है । शान्तनु राजा के औरस और गङ्गा के गर्भ से आठ वसुओं का जन्म और फिर स्वर्गारोहण तथा अंशावतारों का वर्णन है । सम्भव-पर्व में राजाओं और वीर क्षत्रियों और महर्षि व्यास जी की उत्पत्ति है । इसी तरह क्रम से भीष्मपिता-मह की उत्पत्ति, राज्य का त्याग करना, ब्रह्मचर्य धारण और प्रतिज्ञा पालन, चित्रांगद की रक्षा, चित्रांगद की मृत्यु पीछे छोटे भाई की रक्षा,

विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये संप्रतिपादनम् ।
धर्मस्य नृषु संभूतिरणीमाण्डव्यशापजा ॥ १०० ॥
कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा ।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च संभवः ॥ १०१ ॥
वारणावतयात्रायां मंत्रो दुर्योधनस्य च ।
कूटस्य धार्त्तराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान्प्रति ॥ १०२ ॥
हितोपदेशश्च पथि धर्मराजस्य धीमतः ।
विदुरेण कृतो यत्र हितार्थं म्लेच्छभाषया ॥ १०३ ॥
विदुरस्य च वाक्येन सुरङ्गोपक्रमक्रिया ।
निषाद्याः पञ्चपुत्रायाः सुप्ताया जतुवेश्मनि ॥ १०४ ॥
पुरोचनस्य चात्रैव दहनं संप्रकीर्तितम् ।
पाण्डवानां वने घोरे हिडिम्बायाश्च दर्शनम् ॥ १०५ ॥
तत्रैव च हिडिम्बस्य वधो भीमान्महाबलात् ।
घटोत्कचस्य चोत्पत्तिरत्रैव परिकीर्तिता ॥ १०६ ॥
महर्षेदर्शनं चैव व्यासस्यामिततेजसः ।
तदाज्ञयैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ १०७ ॥
अज्ञातचर्यया वासो यत्र तेषां प्रकीर्तितः ।
बकस्य निधनं चैव नागराणां च विस्मयः ॥ १०८ ॥
संभवश्चैव कृष्णाया धृष्टद्युम्नस्य चैव ह ।
ब्राह्मणात्समुपश्रुत्य व्यासवाक्यप्रचोदिताः ॥ १०९ ॥

विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक, अणीमाण्डव्य के शाप से धर्म का मनुष्य शरीर धारण करना ॥८५।१००॥

व्यास के वरदान से धृतराष्ट्र पाण्डवों का जन्म होना, पाण्डवों को वारणावत नगर में भेजने के लिए दुर्योधन से सम्मति, दुर्योधन का पुरोचन को दूत बनाकर पाण्डवों के निकट भेजना, रास्ते में बुद्धिमान् युधिष्ठिर को विदुर का म्लेच्छ भाषा में हित समझाना, विदुर के कहने से सुरंग का खोदा जाना, पाच पुत्रों के साथ सो रही, मल्लाहिन और पुरोचन का लाग के घर में जल जाना, पाण्डवों का घोर वन में हिडिम्बा राक्षसी का दर्शन, वहीं भीमसेन बली के हाथ से हिडिम्ब का मारा जाना, घटोत्कच की उत्पत्ति, महर्षि व्यास का पाण्डवों को दर्शन देना, व्यास जी की आज्ञा से एक चक्रानगरी में

द्रौपदीं प्रार्थयन्तस्ते स्वयंवरादिदृक्षया ।
पञ्चालानभितो जग्मुर्यत्र कौतूहलान्विताः ॥ ११० ॥
अङ्गारपर्णं निर्जित्य गङ्गाकूलेऽर्जुनस्तदा ।
सख्यं कृत्वा ततस्तेन तस्मादेव च शुश्रुवे ॥ १११ ॥
तापत्यमथ वासिष्ठमौर्वं चाख्यानमुत्तमम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः पञ्चालानभितो ययौ ॥ ११२ ॥
पाञ्चालनगरे चापि लक्ष्यं भित्त्वा धनंजयः ।
द्रौपदीं लब्धवानत्र मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ॥ ११३ ॥
भीमसेनार्जुनौ यत्र संरब्धान्पृथिवीपतीन् ।
शल्यकर्णौ च तरसा जितवन्तौ महामृधे ॥ ११४ ॥
दृष्ट्वा तयोश्च तद्वीर्यमप्रमेयममानुषम् ।
शङ्कमानौ पाण्डवांस्तान्रामकृष्णौ महामती ॥ ११५ ॥
जग्मतुस्तैः समागन्तुं शालां भार्गववेश्मनि ।
पंचानामेकपत्नीत्वे विमर्शो द्रुपदस्य च ॥ ११६ ॥
पञ्चेन्द्राणामुपाख्यानमत्रैवाद्भुतमुच्यते ।
द्रौपद्या देवविहितो विवाहश्चाप्यमानुषः ॥ ११७ ॥
क्षत्तुश्च धार्तराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान्प्रति ।
विदुरस्य च सम्प्राप्तिर्दर्शनं केशवस्य च ॥ ११८ ॥

ब्राह्मण के घर में पाण्डवों का छिपकर रहना, बकासुर का भीमसेन के हाथ से मारा जाना, उसके मारे जाने से नगर वासियों का विस्मय (हैरान) होना। द्रौपदी और धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति, ब्राह्मणों से द्रौपदी के स्वयंवर की वार्ता सुनकर श्रीव्यास जी की आज्ञा से पाण्डवों का द्रौपदी लाभ की आशा से स्वयंवर देखने के लिए पाचाल देश की ओर जाना, अङ्गारपर्ण नाम के गन्धर्व को गङ्गा किनारे अर्जुन का जीतना, उससे मित्रता करना और उसके मुख से तपती, वसिष्ठ और और्व की कथा सुनना, भाईयों के साथ पांचाल देश में जाना, द्रुपद के नगर में जाकर सब राजाओं के बीच में लक्ष्य भेदकर अर्जुन का द्रौपदी को जीतना, अर्जुन और भीम के हाथों से युद्ध में शल्य, करण आदि वीर राजाओं की हार, भीम और अर्जुन के अत्यंत और मनुष्य शक्ति से बाहिर पराक्रम को देखकर कृष्ण और बलराम का उनके पीछे पीछे कुँभार के घर में जाना, यह जानकर कि 'द्रौपदी के पांच स्वामि होंगे' राजा

खाण्डवप्रस्थवासश्च तथा राज्यार्धसर्जनम् ।
नारदस्याज्ञया चैव द्रौपद्याः समयक्रिया ॥ ११९ ॥
सुन्दोपसुन्दयोस्तद्वदाख्यानं परिकीर्तितम् ।
अनन्तरं च द्रौपद्या सहासीनं युधिष्ठिरम् ॥ १२० ॥
अनुप्रविश्य विप्रार्थे फाल्गुनो गृह्य चायुधम् ।
मोक्षयित्वा गृहं गत्वा विप्रार्थं कृतनिश्चयः ॥ १२१ ॥
समयं पालयन्वीरो वनं यत्र जगाम ह ।
पार्थस्य वनवासे च उलूप्या पथि संगमः ॥ १२२ ॥
पुण्यतीर्थानुसंयानं बभ्रुवाहनजन्म च ।
तत्रैव मोक्षयामास पञ्च सोऽप्सरसः शुभाः ॥ १२३ ॥
शापाद् ग्राहत्वमापन्ना ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
प्रभासतीर्थे पार्थेन कृष्णस्य च समागमः ॥ १२४ ॥
द्वारकायां सुभद्रा च कामयानेन भामिनी ।
वासुदेवस्यानुमते प्राप्ता चैव किरीटिना ॥ १२५ ॥
गृहीत्वा हरणं प्राप्ते कृष्णे देवकिनन्दने ।
अभिमन्योः सुभद्रायां जन्म चोत्तमतेजसः ॥ १२६ ॥
द्रौपद्यास्तनयानां च संभवोऽनुप्रकीर्तितः ।
विहारार्थं च गतयोः कृष्णयोर्यमुनामनु ॥ १२७ ॥

द्रुपद का उस बारे में चिन्ता करना, पांच इन्द्रों का अति आश्चर्य्य उपाख्यान कहा जाना, द्रौपदी का दैवी अद्भुत विवाह, धृतराष्ट्र का विदुर को पांडवों के पास भेजना, विदुर का उनके पास पहुंचना और श्रीकृष्ण का दर्शन देना, पाण्डवों का खाण्डवप्रस्थ में वास करना, धृतराष्ट्र से उनका आधा राज्य पाना, नारद की आज्ञा से द्रौपदी के मिलने का समय ठहराना, सुन्द-उपसुन्द की कथा, प्रार्थी ब्राह्मण की गाय की रक्षा के लिए शस्त्र लेने को अर्जुन का भीतर जाना और वहां एकान्त में द्रौपदी के साथ युधिष्ठिर के बैठे देखने पर प्रतिज्ञा के मुताबिक प्रायश्चित्त करने को अर्जुन का वन को जाना, वनवास में उलूपी का मिलना, पुण्य तीर्थों में जाना, बभ्रुवाहन की उत्पत्ति, पांच अप्सराओं को जो ब्राह्मण के शाप से ग्राह बनी हुई थीं अर्जुन के स्पर्श से मोक्ष, प्रभासतीर्थ में अर्जुन का श्रीकृष्ण से समागम, श्रीकृष्ण की सलाह से अर्जुन का द्वारका में जाकर सुभद्रा ग्रहण दहेज लेकर श्रीकृष्ण का अर्जुन के

संप्राप्तिश्चक्रधनुषोः खाण्डवस्य च दाहनम् ।
मयस्य मोक्षो ज्वलनाद्भुजङ्गस्य च मोक्षणम् ॥ १२८ ॥
महर्षेर्मन्दपालस्य शार्ङ्ग्यां तनयसंभवः ।
इत्येतदादिपर्वोक्तं प्रथमं बहुविस्तरम् ॥ १२९ ॥
अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा ।
सप्तविंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ॥ १३० ॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
श्लोकाश्च चतुराशीतिर्मुनिनोक्ता महात्मना ॥ १३१ ॥
द्वितीयं तु सभापर्व बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सभाक्रिया पाण्डवानां किंकराणां च दर्शनम् ॥ १३२ ॥
लोकपालसभाख्यानं नारदाद्देवदर्शिनः ।
राजसूयस्य चारम्भो जरासंधवधस्तथा ॥ १३३ ॥
गिरिव्रजे निरुद्धानां राज्ञां कृष्णेन मोक्षणम् ।
तथा दिग्विजयोऽत्रैव पाण्डवानां प्रकीर्तितः ॥ १३४ ॥
राज्ञामागमनं चैव सार्हणानां महाक्रतौ ।
राजसूयेर्घसंवादे शिशुपालवधस्तथा ॥ १३५ ॥
यज्ञे विभूतिं तां दृष्ट्वा दुःखामर्षान्वितस्य च ।
दुर्योधनस्यावहासो भीमेन च सभातले ॥ १३६ ॥

पास जाना, सुभद्रा के गर्भ से महापराक्रमी अभिमन्यु का जन्म होना, द्रौपदी के पुत्रों का जन्म, श्रीकृष्ण और अर्जुन का विहार करने के लिये यमुना में जाना, चक्र और धनुष की प्राप्ति, खाण्डव वन का जलना, दाह से मय और सर्प का छुड़ाना, और शार्ङ्गी के गर्भ से मन्दपाल के पुत्र उत्पन्न होना, उस वहाँ हुई कथाएँ विस्तार पूर्वक आदिपर्व में कही है। इसमें महर्षि वेदव्यास जी ने दो सौ सत्ताईस अध्याय और आठ हजार आठ सौ चौरासी श्लोक कहे हैं ॥१०१।१३१॥

दूसरा सभापर्व है। इसमें पाण्डवों का सभा बनाना, किंकर दर्शन, देवलोक देखने वाले श्री-नारद जी द्वारा लोकपालों की सभा का वर्णन, राजसूय यज्ञ का आरम्भ, जरासंध का वध, गिरि-व्रज में कैदी राजाओं को श्रीकृष्ण का छुड़ाना, पाण्डवों का दिग्विजय, उपहार (भेंट) लेकर राज-सूय यज्ञ में राजाओं का आना, प्रजा के झगड़े में शिशुपाल को श्रीकृष्ण का मारना, यज्ञ में पाण्डवों

यत्रास्य मन्युरुद्भूतो येन द्यूतमकारयत् ।
यत्र धर्मसुतं द्यूते शकुनिः कितवोऽजयत् ॥ १३७ ॥
यत्र द्यूतार्णवे मग्नां द्रौपदीं नौरिवार्णवात् ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः स्नुषां परमदुःखिताम् ॥ १३८ ॥
तारयामास तांस्तीर्णाञ्ज्ञात्वा दुर्योधनो नृपः ।
पुनरेव ततो द्यूते समाह्वयत पाण्डवान् ॥ १३९ ॥
जित्वा स वनवासाय प्रेषयामास तांस्ततः ।
एतत्सर्वं सभापर्व समाख्यातं महात्मना ॥ १४० ॥
अध्यायाः सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा चाष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु पञ्च श्लोकशतानि च ॥ १४१ ॥
श्लोकाश्चैकादश ज्ञेयाः पर्वण्यस्मिन्द्विजोत्तमाः ।
अतः परं तृतीयं तु ज्ञेयमारण्यकं महत् ॥ १४२ ॥
वनवासं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
पौरानुगमनं चैव धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥ १४३ ॥
अन्नौषधीनां च कृते पाण्डवेन महात्मना ।
द्विजानां भरणार्थं च कृतमाराधनं रवेः ॥ १४४ ॥
धौम्योपदेशात्तिग्मांशुप्रसादादन्नसंभवः ।
हितं च ब्रुवतः क्षत्तुः परित्यागोऽम्बिकासुतात् ॥ १४५ ॥

के भारी ऐश्वर्य्य को देखकर भीमसैन का सभा में दु खित और क्रोधित दुर्योधन की हसी करना, इसी कारण से दुर्योधन के मन में क्रोध उत्पन्न हुआ वही क्रोध जुए का मूल था। कपट से जुआ खेलना, कपटी शकुनि का जुए में धर्मराज को जीतना, उस जुए के समुद्र में डूबी हुई दु खित द्रौपदी को धृतराष्ट्र का नाव के समान उभाराना, और पाण्डवों को भी छुटकारा देना, दुर्योधन का फिर जुआ खेलने के लिए युधिष्ठिर को बुलाना, युधिष्ठिर का फिर हारना और भाईयों समेत बन में जाना कहा गया है। इस पर्व में अठत्तर अध्याय और दो हजार पाच सौ ग्यारह श्लोक हैं ॥१३२।१४१॥

तीसरा बनपर्व कहलाता है। पाण्डवों का बन को जाना उनके साथ हस्तिनापुर के लोगों और ब्राह्मणों का जाना, अनुगत ब्राह्मणों के अन्न के वास्ते युधिष्ठिर का सूर्य्य की आराधना करना, सूर्य्य के प्रसाद से इच्छा-पूर्ण होना, विदुर जी को दुर्योधन करके निकालना, विदुर का पाण्डवों के

त्यक्तस्य पाण्डुपुत्राणां समीपगमनं तथा ।
पुनरागमनं चैव धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ १४६ ॥
कर्ण–प्रोत्साहनाच्चैव धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
वनस्थान्पाण्डवान्हन्तुं मन्त्रो दुर्योधनस्य च ॥ १४७ ॥
तं दुष्टभावं विज्ञाय व्यासस्यागमनं द्रुतम् ।
निर्याणप्रतिषेधश्च सुरभ्याख्यानमेव च ॥ १४८ ॥
मैत्रेयागमनं चात्र राज्ञश्चैवानुशासनम् ।
शापोत्सर्गश्च तेनैव राज्ञो दुर्योधनस्य च ॥ १४९ ॥
किर्मीरस्य वधश्चात्र भीमसेनेन संयुगे ।
वृष्णीनामागमश्चात्र पञ्चालानां च सर्वशः ॥ १५० ॥
श्रुत्वा शकुनिना द्यूते निकृत्या निर्जितांश्च तान् ।
क्रुद्धस्यानुप्रशमनं हरेश्चैव किरीटिना ॥ १५१ ॥
परिदेवनं च पांचाल्या वासुदेवस्य सन्निधौ ।
आश्वासनं च कृष्णेन दुःखार्तायाः प्रकीर्तितम् ॥ १५२ ॥
तथा सौभवधाख्यानमत्रैवोक्तं महर्षिणा ।
सुभद्रायाः सपुत्रायाः कृष्णेन द्वारकां पुरीम् ॥ १५३ ॥
नयनं द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्नेन चैव ह ।
प्रवेशः पाण्डवेयानां रम्ये द्वैतवने ततः ॥ १५४ ॥

पास जाना और धृतराष्ट्र की आज्ञा से फिर लौट आना, कर्ण के उत्साहित करने से दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन का पाण्डवों के मारने का विचार करना, दुर्योधन के उस खोटे विचार को जानकर व्यास जी का शीघ्र आना, और दुर्योधन को वन की ओर जाने से रोकना, सुरभि का उपाख्यान, मैत्रेय ऋषि का हस्तिनापुर में आना, और राजा धृतराष्ट्र को उपदेश देना, दुर्योधन को शाप देना, युद्ध में भीमसेन से किर्मीर का मारा जाना, वृष्णियों और पाञ्चालों का वन में पाण्डवों के निकट जाना, जुए में शकुनि ने कपट से पाण्डवों को जीता जानकर श्रीकृष्ण का क्रोध होना और अर्जुन का उनको शांत करना, द्रौपदी का श्रीकृष्ण के आगे विलाप करना, दुःखित द्रौपदी को श्रीकृष्ण का समझाना, सौभवध की कथा कहना, सुभद्रा को पुत्र सहित श्रीकृष्ण का द्वारका नगरी में लेजाना, धृष्टद्युम्न का द्रौपदी के पुत्रों को ले आना, पाण्डवों का रमणीय द्वैत वन में जाना, युधिष्ठिर, भीमसेन

धर्मराजस्य चात्रैव संवादः कृष्णया सह ।
संवादश्च तथा राज्ञा भीमस्यापि प्रकीर्तितः ॥ १५५ ॥
समीपं पाण्डुपुत्राणां व्यासस्यागमनं तथा ।
प्रतिस्मृत्याथ विद्याया दानं राज्ञो महर्षिणा ॥ १५६ ॥
गमनं काम्यके चापि व्यासे प्रतिगते ततः ।
अस्त्रहेतोर्विवासश्च पार्थस्यामिततेजसः ॥ १५७ ॥
महादेवेन युद्धं च किरातवपुषा सह ।
दर्शनं लोकपालानामस्त्रप्राप्तिस्तथैव च ॥ १५८ ॥
महेन्द्र-लोक-गमनमस्त्रार्थे च किरीटिनः ।
यत्र चिन्ता समुत्पन्ना धृतराष्ट्रस्य भूयसी ॥ १५९ ॥
दर्शनं बृहदश्वस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
युधिष्ठिरस्य चार्त्तस्य व्यसनं परिदेवनम् ॥ १६० ॥
नलोपाख्यानमत्रैव धर्मिष्ठं करुणोदयम् ।
दमयन्त्याः स्थितिर्यत्र नलस्य चरितं तथा ॥ १६१ ॥
तथाऽक्षहृदयप्राप्तिस्तस्मादेव महर्षितः ।
लोमशस्यागमस्तत्र स्वर्गात्पाण्डुसुतान्प्रति ॥ १६२ ॥
वनवासगतानां च पाण्डवानां महात्मनाम् ।
स्वर्गे प्रवृत्तिराख्याता लोमशेनार्जुनस्य वै ॥ १६३ ॥

और द्रौपदी का वार्तालाप, पाण्डवों के समीप व्यास जी का आना, युधिष्ठिर को स्मृति नामक विद्या का देना, श्रीवेदव्यास के चले जाने पर पाण्डवों का काम्यक वन में प्रवेश, अस्त्र के लेने के निमित्त तेजस्वी अर्जुन का वन में जाना, व्याधरूपी महादेव के साथ अर्जुन का युद्ध, लोकपालों का दर्शन और अस्त्र का प्राप्त होना, दिव्य अस्त्र के लिए अर्जुन का इन्द्रलोक को जाना, यह सुनकर धृतराष्ट्र का अति चिन्तातुर होना, श्रेष्ठ आत्मा वाले महर्षि बृहदश्व के दर्शन, युधिष्ठिर का उनके समीप अपना दुःख कहना ॥१४२।१६०॥

धर्म और करुणारस युक्त नलदमयन्ती की कथा, दमयन्ती का आपत्ति में भी धर्म में स्थिर रहना, बृहदश्व से युधिष्ठिर का अक्षहृदय नामक विद्या का प्राप्त करना, पाण्डवों के समीप स्वर्ग से लोमश ऋषि का आना, और वनवासी पाण्डवों को स्वर्ग में गये हुए अर्जुन का वृत्तान्त उनको सुनाना, अर्जुन का समाचार पाकर पाण्डवों की

संदेशादर्जुनस्यात्र तीर्थाभिगमनाक्रिया ।
तीर्थानां च फलप्राप्तिःपुण्यत्वं चापि कीर्तितम् ॥ १६४ ॥
पुलस्त्यतीर्थं यात्रा च नारदेन महर्षिणा ।
तीर्थयात्रा च तत्रैव पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १६५ ॥
कर्णस्य परिमोक्षोत्र कुण्डलाभ्यां पुरंदरात् ।
तथा यज्ञविभूतिश्च गयस्यात्र प्रकीर्तित ॥ १६६ ॥
आगस्त्यमपि चाख्यानं यत्र वातापिभक्षणं ।
लोपामुद्राभिगमनमपत्यार्थमृषेस्तथा ॥ १६७ ॥
ऋष्यशृङ्गस्य चरितं कौमारब्रह्मचारिणः ।
जामदग्न्यस्य रामस्य चरितं भूरितेजसः ॥ १६८ ॥
कार्तवीर्यवधो यत्र हैहयानां च वर्ण्यते ।
प्रभासतीर्थे पाण्डूनां वृष्णिभिश्च समागमः ॥ १६९ ॥
सौकन्यमपि चाख्यानं च्यवनो यत्र भार्गवः ।
शर्याति यज्ञे नासत्यौ कृतवान्सोमपातिनौ ॥ १७० ॥
ताभ्यां च यत्र स मुनिर्यौवनं प्रातिपादितः ।
मांधातुश्चाप्युपाख्यानं राज्ञोऽत्रैव प्रकीर्तितम् ॥ १७१ ॥
जन्तूपाख्यानमत्रैव यत्र पुत्रेण सोमकः ।
पुत्रार्थमयजद्राजा लेभे पुत्रशतं च सः ॥ १७२ ॥

तीर्थयात्रा, तीर्थयात्रा के फल की प्राप्ति और उनके पवित्र होने का वर्णन, महर्षि नारद की पुलस्त्य-तीर्थयात्रा और पाण्डवों का भी वहाँ पहुँचना, इन्द्र का कर्ण के कुण्डलों को ले जाना, गयासुर के यज्ञ का वर्णन, अगस्त्य ऋषि की कथा का वर्णन, वातापि राक्षस का विनाश होना, और सन्तान के लिए लोपामुद्रा के साथ अगस्त्य का विवाह करना, कुमार ब्रह्मचारी ऋष्यशृङ्ग ऋषि का वृत्तान्त, परशुराम का जीवनचरित्र वर्णन, कार्तवीर्य और हैहय की कथा का वर्णन, प्रभासतीर्थ में वृष्णिओं के साथ पाण्डवों का मिलना ॥१६१।१६०॥

सुकन्या की कथा, राजा शर्याति के यज्ञ में भृगुवंशी च्यवन ऋषि का अश्विनीकुमारों को सोमरस का भाग देना, अश्विनीकुमारों का च्यवन मुनि को जवान बना देना, मान्धाता राजा की कथा का वर्णन, जन्तु नामक राजपुत्र का वर्णन, सोमक राजा का अनेक पुत्रों के पाने के लिए पुत्र को मारकर यज्ञ करना, जिससे सौ पुत्रों का प्राप्त होना,

ततः श्येनकपोतीयमुपाख्यानमनुत्तमम् ।
इन्द्राग्नी यत्र धर्मश्चाप्यजिज्ञासच्छिविं नृपम् ॥ १७३ ॥
अष्टावक्रीयमत्रैव विवादो यत्र वन्दिना ।
अष्टावक्रस्य विप्रर्षेर्जनकस्याध्वरेऽभवत् ॥ १७४ ॥
नैयायिकानां मुख्येन वरुणस्यात्मजेन च ।
पराजितो यत्र वन्दी विवादेन महात्मना ॥ १७५ ॥
विजित्य सागरं प्राप्तं पितरं लब्धवानृषिः ।
यवक्रीतस्य चाख्यानं रैभ्यस्य च महात्मनः ।
गन्धमादनयात्रा च वासो नारायणाश्रमे ॥ १७६ ॥
नियुक्तो भीमसेनश्च द्रौपद्या गन्धमादने ।
व्रजन्पथि महाबाहुर्दृष्टवान्पवनात्मजम् ॥ १७७ ॥
कदलीषण्डमध्यस्थं हनूमन्तं महाबलम् ।
यत्र सौगन्धिकार्थेऽसौ नलिनीं तामधर्षयत् ॥ १७८ ॥
यत्रास्य युद्धमभवत्सुमहद्राक्षसैः सह ।
यक्षैश्चैव महावीर्यैर्मणिमत्प्रमुखैस्तथा ॥ १७९ ॥
जटासुरस्य च वधो राक्षसस्य वृकोदरात् ।
वृषपर्वणो राजर्षेस्ततोऽभिगमनं स्मृतम् ॥ १८० ॥
आर्ष्टिषेणाश्रमे चैषां गमनं वास एव च ।
प्रोत्साहनं च पाञ्चाल्या भीमस्यात्र महात्मनः ॥ १८१ ॥

अद्भुत सुफ़ेद कबूतर और बाज की कथा का वर्णन, इन्द्र, अग्नि और धर्म द्वारा राजा शिवि की परीक्षा, अष्टावक्र की कथा का वर्णन, वर्ण के पुत्र का शास्त्रार्थ में वन्दी को जीतना, अष्टावक्र का समुद्र को जीतकर कहोड नामक निज पिता का उद्धार करना, यवक्रीत और महात्मा रैभ्य की कथा का वर्णन, गन्धमादन पर्वत में पाण्डवों की यात्रा और नारायण आश्रम में रहना, द्रौपदी के कहने से गन्धमादन पर्वत पर भीमसेन का पुष्प लेने जाना, रास्ते में हनुमान् का मिलना, कमलपुष्प की प्राप्ति के लिए भीमसेन का कमल के वृक्षों को उजाड़ना, मणिमान् आदि यक्षों और राक्षसों के साथ भीमसेन का घोर युद्ध होना, जटासुर राक्षस का भीमसेन के हाथों मारा जाना, पाण्डवों का वृषपर्वा नाम राजर्षि से मिलना ॥१७०।१८०॥

आर्ष्टिषेण ऋषि के आश्रम में जाना और वास

कैलासारोहणं प्रोक्तं यत्र यक्षैर्बलोत्कटैः ।
युद्धमासीन्महाघोरं मणिमत्प्रमुखैः सह ॥ १८२ ॥
समागमश्च पाण्डूनां यत्र वैश्रवणेन च ।
समागमश्चार्जुनस्य तत्रैव भ्रातृभिः सह ॥ १८३ ॥
अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि गुर्वर्थं सव्यसाचिना ।
निवातकवचैर्युद्धं हिरण्यपुरवासिभिः ॥ १८४ ॥
निवातकवचैर्घोरैर्दानवैः सुरशत्रुभिः ।
पौलोमैः कालकेयैश्च यत्र युद्धं किरीटिनः ॥ १८५ ॥
वधश्चैषां समाख्यातो राज्ञस्तेनैव धीमता ।
अस्त्रसंदर्शनारंभो धर्मराजस्य सन्निधौ ॥ १८६ ॥
पार्थस्य प्रतिषेधश्च नारदेन सुरर्षिणा ।
अवरोहणं पुनश्चैव पाण्डूना गन्धमादनात् ॥ १८७ ॥
भीमस्य ग्रहणं चात्र पर्वताभोगवर्ष्मणा ।
भुजगेंद्रेण बलिना तस्मिन्सुगहने वने ॥ १८८ ॥
अमोक्षयद्यत्र चैनं प्रश्नानुक्त्वा युधिष्ठिरः ।
काम्यकागमनं चैव पुनस्तेषां महात्मनाम् ॥ १८९ ॥
तत्रस्थांश्च पुनर्द्रष्टुं पाण्डवान्पुरुषर्षभान् ।
वासुदेवस्यागमनमत्रैव परिकीर्तितम् ॥ १९० ॥
मार्कण्डेयसमास्यायामुपाख्यानानि सर्वशः ।
पृथोर्वैन्यस्य यत्रोक्तमाख्यानं परमर्षिणा ॥ १९१ ॥

करना, द्रौपदी का भीमसेन को उत्साहित करना, भीमसेन का कैलाश पर्वत पर चढ़ना, वहाँ मणिमान आदि यक्षों के साथ घोर युद्ध होना, पाण्डवों को कुबेर के दर्शन होना, वहीं अर्जुन का भाईयों से मिलाप होना, दिव्य अस्त्रों को पाकर गुरु दक्षिणा के लिए हिरण्यपुर के वास करने वाले निवात कवचों और देवताओं के शत्रु कालकेय और पौलोम दानवों के साथ युद्ध का वर्णन, तथा उनका वध, धर्मराज के आगे अर्जुन का अस्त्र दिखाने का उद्योग, और देवर्षि नारद का रोकना, गन्धमादन पर्वत से पाण्डवों का वापस लौटना, एक बलवान् सर्प से बड़े बन में भीमसेन का पकड़ा जाना, प्रश्नों के उत्तर कहकर युधिष्ठिर का भीमसेन को छुड़ाना, पाण्डवों का फिर काम्यक वन को आना, और बड़े विस्तार वाले

संवादश्च सरस्वत्यास्तार्क्ष्यर्षेः सुमहात्मनः ।
मत्स्योपाख्यानमत्रैव प्रोच्यते तदनन्तरम् ॥ १९२ ॥
मार्कण्डेयसमास्या च पुराणं परिकीर्त्यते ।
ऐन्द्रद्युम्नमुपाख्यानं धौन्धुमारं तथैव च ॥ १९३ ॥
पतिव्रतायाश्चाख्यानं तथैवाङ्गिरसं स्मृतम् ।
द्रौपद्याः कीर्तितश्चात्र संवादः सत्यभामया ॥ १९४ ॥
पुनर्द्वैतवनं चैव पाण्डवाः समुपागतः ।
घोषयात्रा च गन्धर्वैर्यत्र बद्धः सुयोधनः ॥ १९५ ॥
ह्रियमाणस्तु मन्दात्मा मोक्षितोऽसौ किरीटिना ।
धर्मराजस्य चात्रैव मृगस्वप्ननिदर्शनात् ॥ १९६ ॥
काम्यके काननश्रेष्ठे पुनर्गमनमुच्यते ।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ॥ १९७ ॥
दुर्वाससोऽप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
जयद्रथेनापहारो द्रौपद्याश्चाश्रमान्तरात् ॥ १९८ ॥
यत्रैनमन्वयाद्भीमो वायुवेगसमो जवे ।
चक्रे चैनं पंच शिखं यत्र भीमो महाबलः ॥ १९९ ॥
रामायणमुपाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ।
यत्र रामेण विक्रम्य निहतो रावणो युधि ॥ २०० ॥

मार्कण्डेय की कथा का वर्णन, ॥१८१।१९१॥

मार्कण्डेय के मुख से राजा वेण के पुत्र पृथु की कथा सुनना, सरस्वती और गरुड़ का वर्णन, मत्स्यचरित्र, मार्कण्डेयचरित्र का वर्णन, इन्द्रद्युम्न की कथा का वर्णन, धुन्धुमार की कथा का वर्णन, पतिव्रता-वर्णन, अङ्गिरा ऋषि की कथा का वर्णन, द्रौपदी और सत्यभामा का वर्णन, पाण्डवों का द्वैतवन में फिर आना, और घोषयात्रा में गंधर्वों से दुर्योधन का पकड़ा जाना, और अर्जुन का उसे छुड़ा लाना, और धर्मराज युधिष्ठिर का मृगस्वप्न देखकर फिर काम्यक वन को लौट आना, बड़े विस्तार वाले व्रीहिद्रौणिक की कथा का वर्णन, दुर्वासा की कथा का वर्णन, आश्रम से जयद्रथ का द्रौपदी को हर लेना, भीमसेन का उसके पीछे दौड़ना, भीमसेन का उसके सिर में पाँच चोटियाँ रखना, विस्तार से रामचंद्र जी की कथा का वर्णन जिसमें रामचंद्र जी ने अपने पराक्रम से लड़ाई में रावण को मारडाला ॥१९२।२००॥

सावित्र्याश्चाप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
कर्णस्य परिमोक्षोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरंदरात् ॥ २०१ ॥
यत्रास्य शक्तिस्तुष्टोऽसावदादेकवधाय च ।
आरणेयमुपाख्यानं यत्र धर्मोऽन्वशात्सुतम् ॥ २०२ ॥
जग्मुर्लब्धवरा यत्र पांडवाः पश्चिमां दिशम् ।
एतदारण्यकं पर्व तृतीयं परिकीर्तितम् ॥ २०३ ॥
अत्राध्यायशते द्वे तु संख्यया परिकीर्तिते ।
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्तिताः ॥ २०४ ॥
एकादश सहस्राणि श्लोकानां षट्शतानि च ।
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाः पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्तिताः ॥ २०५ ॥
अतः परं निबोधेदं वैराटं पर्व विस्तरम् ।
विराटनगरे गत्वा श्मशाने विपुलांशमीम् ॥ २०६ ॥
दृष्ट्वा सन्निदधुस्तत्र पाण्डवा ह्यायुधान्युत ।
यत्र प्रविश्य नगरं छद्मना न्यवसंस्तु ते ॥ २०७ ॥
पाञ्चाली प्रार्थयानस्य कामोपहतचेतसः ।
दुष्टात्मनो वधो यत्र कीचकस्य वृकोदरात् ॥ २०८ ॥
पाण्डवान्वेषणार्थं च राज्ञो दुर्योधनस्य॰ च ।
चाराःप्रस्थापिताश्चात्र निपुणाः सर्वतोदिशम् ॥ २०९ ॥

सावित्री की कथा का वर्णन, कर्ण का इन्द्र को कुण्डल देना, और उससे प्रसन्न होकर इन्द्र का कर्ण को एक पुरुष को मारने वाली शक्ति का देना, आरणेय उपाख्यान, धर्म का युधिष्ठिर को कर्तव्य का उपदेश करना, वरदान पाकर पाण्डवों का पश्चिम दिशा को जाना, यह तीसरा आरण्यक पर्व कहा गया है। इस पर्व में दो सौ उनहत्तर अध्याय, ग्यारह हजार छ सौ चौसठ श्लोक कहे हैं ॥२०१।२०५॥

इसके पश्चात् विराटपर्व है। विराट नगर में पहुच कर श्मशान भूमि में जाकर बडे भारी शमी (जड) के पेड पर पाण्डवों का उसमें अपने शस्त्रों को छिपा कर रखना, दुष्टात्मा कीचक का द्रौपदी को दुःख देना, और भीमसेन का उसे मार डालना, पाण्डवों के तलाश करने के लिए दुर्योधन के भेजे हुए गुप्त दूतों का खाली वापस लौट आना, त्रिगर्त देश के रहने वाले क्षत्रियों से विराट की गऊओं का पकडा जाना, त्रिगर्त वासियों के साथ घोर युद्ध

न च प्रवृत्तिस्तैर्लब्धा पाण्डवानां महात्मनाम् ।
गोग्रहश्च विराटस्य त्रिगर्तैः प्रथमं कृतः ॥ २१० ॥
यत्रास्य युद्धं सुमहत्तैरासील्लोमहर्षणम् ।
ह्रियमाणश्च यत्रासौ भीमसेनेन मोक्षितः ॥ २११ ॥
गोधनं च विराटस्य मोक्षितं यत्र पाण्डवैः ।
अनन्तरं च कुरुभिस्तस्य गोग्रहणं कृतम् ॥ २१२ ॥
समस्ता यत्र पार्थेन निर्जिताः कुरवो युधि ।
प्रत्याहृतं गोधनं च विक्रमेण किरीटिना ॥ २१३ ॥
विराटेनोत्तरा दत्ता स्नुषा यत्र किरीटिनः ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य सौभद्रमरिघातिनम् ॥ २१४ ॥
चतुर्थमेतद्विपुलं वैराटं पर्व वर्णितम् ।
अत्रापि परिसंख्याता अध्यायाः परमर्षिणा ॥ २१५ ॥
सप्तषष्टिरथो पूर्णा श्लोकानामपि मे शृणु ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु श्लोकाः पञ्चाशदेव तु ॥ २१६ ॥
उक्तानि वेदविदुषा पर्वण्यस्मिन्महर्षिणा ।
उद्योगपर्व विज्ञेयं पञ्चमं शृण्वतः परम् ॥ २१७ ॥
उपप्लव्ये निविष्टेषु पाण्डवेषु जिगीषया ।
दुर्योधनोऽर्जुनश्चैव वासुदेवमुपस्थितौ ॥ २१८ ॥

का होना, त्रिगर्तों से पकड़कर ले जाते हुए विराट को भीमसेन का छुड़ाना, पाण्डवों का गायें हाँक कर पीछे आना, फिर कौरव आदि का विराट राजा का गोधन हरना, अर्जुन का युद्ध में जीत कर गोधन लौटाना और राजा विराट का अभिमन्यु के लिए अपनी उत्तरा नाम कन्यादान का देना कहा गया है । इस पर्व में महर्षि व्यास जी के कहे हुए सड़सठ अध्याय, दो हजार पचास श्लोक कहे हैं ॥२०६।२१६॥

इसके आगे पांचवां उद्योगपर्व है । पाण्डवों के जय की इच्छा से उपप्लव्य नगर में रहने के समय दुर्योधन और अर्जुन दोनों का श्रीकृष्ण के पास जाना, उन दोनों के सहायता मांगने पर कृष्ण का यह कहना, कि एक ओर सम्मति देने वाले और युद्ध न करने वाले अपने को, एक ओर युद्ध करने वाली एक अक्षौहिणी सेना को इन दोनों में से कहो कि किसको मैं क्या दूं, जिसमें अभागी और मन्द-बुद्धि दुर्योधन का एक अक्षौहिणी सेना को माँगना,

सहाय्यमस्मिन्समरे भवान्नो कर्तुमर्हति ।
इत्युक्ते वचने कृष्णो यत्रोवाच महामतिः ॥ २१९ ॥
अयुध्यमानमात्मानं मन्त्रिणं पुरुषर्षभौ ।
अक्षौहिणीं वा सैन्यस्य कस्य किं वा ददाम्यहम् ॥ २२० ॥
वव्रे दुर्योधनः सैन्यं मन्दात्मा यत्र दुर्मतिः ।
अयुध्यमानं सचिवं वव्रे कृष्णं धनंजयः ॥ २२१ ॥
मद्रराजं च राजानमायान्तं पाण्डवान्प्रति ।
उपहारैर्वञ्चयित्वा वर्त्मन्येव सुयोधनः ॥ २२२ ॥
वरदं तं वरं वव्रे साहाय्यं क्रियतां मम ।
शल्यस्तस्मै प्रतिश्रुत्य जगामोद्दिश्य पाण्डवान् ॥ २२३ ॥
शान्तिपूर्वं चाकथयद्यत्रेन्द्रविजयं नृपः ।
पुरोहितप्रेषणं च पाण्डवैः कौरवान्प्रति ॥ २२४ ॥
वैचित्रवीर्यस्य वचः समादाय पुरोधसः ।
तथेन्द्र विजयं चापि यानं चैव पुरोधसः ॥ २२५ ॥
संजयं प्रेषयामास शमार्थी पाण्डवान्प्रति ।
यत्र दूतं महाराजो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ॥ २२६ ॥
श्रुत्वा च पाण्डवान्यत्र वासुदेवपुरोगमान् ।
प्रजागरः संप्रजज्ञे धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ॥ २२७ ॥
विदुरो यत्र वाक्यानि विचित्राणि हितानि च ।
श्रावयामास राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ॥ २२८ ॥

और अर्जुन का युद्ध न करने वाले केवल सम्मति देने वाले श्रीकृष्ण को लेना दुर्योधन का पाण्डवों के समीप आते हुए मद्रदेश के राजा शल्य को मार्ग में ही अनेक प्रकार के उपहार आदि देकर प्रसन्न करना, शल्य के प्रसन्नता पूर्वक वरदान देने पर दुर्योधन का उनसे युद्ध में सहायता करने की प्रार्थना करना, शल्य का वरदान को स्वीकार करके पाण्डवों के पास जाना, शल्य का युधिष्ठिर को समझाना और इन्द्र की विजय वर्णन करना, युधिष्ठिर का दुर्योधन के समीप पुरोहित को भेजना, उसमें वृत्रासुर के वध और इन्द्र के विजय की कथा सुनकर शांतचित्त वाले महाप्रतापी धृतराष्ट्र का विदुर की सलाह से सञ्जय को दूत बनाकर पाण्डवों के पास भेजना, वासुदेव और पाण्डवों की

तथा सनत्सुजातेन यत्राध्यात्ममनुत्तमम् ।
मनस्तापान्वितो राजा श्रावितः शोकलालसः ॥ २२९ ॥
प्रभाते राजसमितौ संजयो यत्र वा विभो ।
ऐकात्म्यं वासुदेवस्य प्रोक्तवानर्जुनस्य च ॥ २३० ॥
यत्र कृष्णो दयापन्नः संधिमिच्छन्महामतिः ।
स्वयमागाच्छमं कर्तुं नगरं नागसाह्वयम् ॥ २३१ ॥
प्रत्याख्यानं च कृष्णस्य राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
शमार्थे याचमानस्य पक्षयोरुभयोर्हितम् ॥ २३२ ॥
दंभोद्भवस्य चाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
वरान्वेषणमत्रैव मातलेश्च महात्मनः ॥ २३३ ॥
महर्षेश्चापि चरितं कथितं गालवस्य वै ।
विदुलायाश्च पुत्रस्य प्रोक्तं चाप्यनुशासनम् ॥ २३४ ॥
कर्णदुर्योधनादीनां दुष्टं विज्ञाय मन्त्रितम् ।
योगेश्वरत्वं कृष्णेन यत्र राज्ञां प्रदर्शितम् ॥ २३५ ॥
रथमारोप्य कृष्णेन यत्र कर्णोऽनुमन्त्रितः ।
उपायपूर्वं शौटीर्यात्प्रत्याख्यातश्च तेन सः ॥ २३६ ॥
आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिंदमः ।
पाण्डवानां यथावृत्तं सर्वमाख्यातवान्हरिः ॥ २३७ ॥

बात सुनकर व्याकुलता में पड़े हुए धृतराष्ट्र का रात्रि निद्रा त्याग देना, विदुर का धृतराष्ट्र को विचित्र हित के वचन सुनाना, शोक में गलतान और चिन्तित धृतराष्ट्र को ऋषि सनत्सुजात का अध्यात्म विद्या का ज्ञान सुनाना, प्रातःकाल में संजय से वासुदेव और अर्जुन का ऐकात्मभाव का विषय कहा जाना, दया से युक्त शांति की इच्छा से अपने आप श्रीकृष्ण का दूत बनकर हस्तिनापुर नगर में आना, दोनों पक्षों की भलाई की इच्छा करते हुए श्रीकृष्ण का दुर्योधन से तिरस्कार (अनादर) किया जाना, दम्भोद्भव का उपाख्यान, महात्मा मातलि का अपनी कन्या के लिए वर की तालाश करना, महर्षि गालव का चरित्र वर्णन, विदुला का अपने पुत्र को उपदेश देना ॥२१७।२३४॥

कर्ण और दुर्योधन आदि के दुष्ट विचारों को जानकर श्रीकृष्ण का राजाओं को अपना योगबल दिखलाना, श्रीकृष्ण का कर्ण को निज रथ पर बिठला कर युक्ति से समझाना, परन्तु कर्ण का अहंकार के

ते तस्य वचनं श्रुत्वा मन्त्रयित्वा च यद्धितम् ।
सांग्रामिकं ततः सर्वं सज्जं चक्रुः परंतपाः ॥ २३८ ॥
ततो युद्धाय निर्याता नराश्वरथदन्तिनः ।
नगराद्धास्तिनपुराद्बलसंख्यानमेव च ॥ २३९ ॥
यत्र राज्ञा ह्युलूकस्य प्रेषणं पाण्डवान्प्रति ।
श्वोभाविनि महायुद्धे दौत्येन कृतवान्प्रभुः ॥ २४० ॥
रथातिरथसंख्यानमम्बोपाख्यानमेव च ।
एतत्सुबहुवृत्तांतं पञ्चमं पर्व भारते ॥ २४१ ॥
उद्योगपर्व निर्दिष्टं संधिविग्रहमिश्रितम् ।
अध्यायानां शतं प्रोक्तं षडशीतिर्महर्षिणा ॥ २४२ ॥
श्लोकानां षट् सहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ।
श्लोकाश्च नवतिः प्रोक्तास्तथैवाष्टौ महात्मना ॥ २४३ ॥
व्यासेनोदारमतिना पर्वण्यस्मिंस्तपोधनाः ।
अतः परं विचित्रार्थं भीष्मपर्व प्रचक्षते ॥ २४४ ॥
जम्बूखण्डविनिर्माणं यत्रोक्तं संजयेन ह ।
यत्र यौधिष्टिरं सैन्यं विषादमगमत्परम् ॥ २४५ ॥
यत्र युद्धमभूद्धोरं दशाहानि सुदारुणम् ।
कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः ॥ २४६ ॥

साथ उसे अस्वीकार करना, श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर में उपप्लव्य नगर को आकर पाण्डवों से सब हाल कहना, श्रीकृष्ण के वचनों को सुनकर अपना हित विचार करके पाण्डवों का संग्राम के लिए तैयार होना, युद्ध के लिए हस्तिनापुर नगर में मनुष्य, रथ, घोड़े, हाथी आदि का निकलना, सेना की संख्या, युद्ध आरम्भ होने के पहले दिन राजा दुर्योधन का पाण्डवों के पास उलूक दूत को भेजना, रथ, अतिरथ संख्या, और अम्बा का उपाख्यान । इस पर्व में एक सौ छयासी अध्याय, छ हजार छ सौ अठानवे श्लोक कहे हैं । इस पर्व में संधि और विग्रह की कथा का वर्णन है ॥२३८-२४३॥

इसके आगे विचित्र अर्थ वाला छठा भीष्मपर्व कहा है । संजय के मुख से जम्बूखण्ड का वर्णन, युधिष्ठिर की सेना का उदास होना, दस दिवस का घोर संग्राम, श्रीकृष्ण का अर्जुन के मोह को युक्ति के वचनों द्वारा दूर करना, युधिष्ठिर के हित चाहने वाले श्रीकृष्ण का भीष्म को दुर्जय देखकर रथ से

मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः ।
समीक्ष्याधोक्षजः क्षिप्रं युधिष्ठिरहिते रतः ॥ २४७ ॥
रथादाप्लुत्य वेगेन स्वयं कृष्ण उदारधीः ।
प्रतोदपाणिराधावद्भीष्मं हन्तुंव्यपेतभीः ॥ २४८ ॥
वाक्यप्रतोदाभिहतो यत्र कृष्णेन पाण्डवः ।
गाण्डीवधन्वा समरे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ २४९ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य यत्र पार्थो महाधनुः ।
विनिघ्नन्निशितैर्बाणै रथाद्भीष्ममपातयत् ॥ २५० ॥
शरतल्प–गतश्चैव भीष्मो यत्र बभूव ह ।
षष्ठमेतत्समाख्यातं भारते पर्व विस्तृतम् ॥ २५१ ॥
अध्यायानां शतं प्रोक्तं तथा सप्तदशापरे ।
पञ्च श्लोकसहस्राणि संख्ययाऽष्टौ शतानि च ॥ २५२ ॥
श्लोकाश्च चतुराशीतिरस्मिन्पर्वणि कीर्तिताः ।
व्यासेन वेदविदुषा संख्याता भीष्मपर्वणि ॥ २५३ ॥
द्रोणपर्व ततश्चित्रं बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सैनापत्येऽभिषिक्तोऽथ यत्राचार्यः प्रतापवान् ॥ २५४ ॥
दुर्योधनस्य प्रीत्यर्थं प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
ग्रहणं धर्मराजस्य पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ २५५ ॥

कूदकर भीष्म को मारने के लिए दौडना, श्रीकृष्ण का अर्जुन को वचनरूपी कोडे मारना, और शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन का शिखंडी को आगे करके तीक्ष्ण बाणों द्वारा भीष्म को रथ से गिरा देना, भीष्म का बाणशय्या पर सोना, महाभारत का बडा विस्तार वाला यह छठा भीष्मपर्व कहा है। इस पर्व में व्यास जी ने एक सौ सत्रह अध्याय, पाँच हजार आठ सौ चोरासी श्लोक कहे है॥२४४।२५३॥

तत्पश्चात् सातवा द्रोणपर्व है। द्रोणाचार्य्य का सेनापति होना, द्रोणाचार्य्य का दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए धर्मपुत्र युधिष्ठिर को पकड लेने की प्रतिज्ञा करना, संशप्तक सेना का अर्जुन को अलग हटा देना, अर्जुन का इन्द्र के तुल्य बली राजा भगदत्त को सुप्रतीक नामक हाथी सहित मारना, जयद्रथ आदि कई महारथियों को मिलाकर बालक और वीर अभिमन्यु को मारना, वीर अभिमन्यु के मरने पर क्रोध से भरे हुए अर्जुन का सात अक्षौहिणी सेना नाशकर जयद्रथ का

यत्र संशप्तकाः पार्थमपिनिन्यू रणाजिरात् ।
भगदत्तो महाराजो यत्र शक्र समो युधि ॥ २५६ ॥
सुप्रतीकेन नागेन स हि शान्तः किरीटिना ।
यत्राभिमन्युं बहवो जघ्नुरेकं महारथाः ॥ २५७ ॥
जयद्रथ–मुखा बालं शूरमप्राप्त–यौवनम् ।
हतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन यत्र पार्थेन संयुगे ॥ २५८ ॥
अक्षौहिणीः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ।
यत्र भीमो महाबाहुः सात्यकिश्च महारथः ॥ २५९ ॥
अन्वेषणार्थं पार्थस्य युधिष्ठिर–नृपाज्ञया ।
प्रविष्टौ भारतीं सेनामप्रधृष्यां सुरैरपि ॥ २६० ॥
संशप्तकावशेषं च कृतं निःशेषमाहवे ।
संशप्तकानां वीराणां कोटयो नव महात्मनाम् ॥ २६१ ॥
किरीटिनाभिनिष्क्रम्य प्रापिता यमसादनम् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राश्च तथा पाषाण–योधिनः ॥ २६२ ॥
नारायणाश्च गोपालाः समरे चित्रयोधिनः ।
अलम्बुषः श्रुतायुश्च जलसंघश्च वीर्यवान् ॥ २६३ ॥
सौमदत्तिर्विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।
घटोत्कचादयश्चान्ये निहता द्रोण–पर्वणि ॥ २६४ ॥
अश्वत्थामाऽपि चात्रैव द्रोणे युधि नीपातिते ।
अस्त्रं प्रादुश्चकारोग्रं नारायणममर्षितः ॥ २६५ ॥

मारना, युधिष्ठिर की आज्ञा से सात्यकि और बड़ी भुजा वाले भीमसेन का अर्जुन को खोजने के लिए कौरवों की सेना के भीतर प्रवेश होना, संशप्तक सेना में जो कुछ बाकी थी वह अर्जुन ने सब नाश करदी, वीर संशप्तकों की सेना ९,००००००० संग्राम में यमलोक में पहुंच गई। धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध, नारायणी सेना का संहार, गोपाल सेना का विनाश होना, अलम्बुश, श्रुतायु, जलसन्ध, सोमदत्त का पुत्र विराट, महारथी द्रुपद और घटोत्कच आदि अनेक वीरों का वध, युद्ध में द्रोणाचार्य्य जी के मारे जाने पर क्रोध से जले हुए अश्वत्थामा का नारायण शस्त्र को चलाना, रुद्र के महात्म का विस्तार पूर्वक वर्णन, श्री महाराज वेदव्यास का आगमन, श्रीकृष्ण और

आग्नेयं कीर्त्यते यत्र रुद्रमाहात्म्यमुत्तमम् ।
व्यासस्य चाप्यागमनं माहात्म्यं कृष्णपार्थयोः ॥ २६६ ॥
सप्तमं भारते पर्व महदेतदुदाहृतम् ।
यत्र ते पृथिवीपालाः प्रायशो निधनं गताः ॥ २६७ ॥
द्रोणपर्वणि ये शूरा निर्दिष्टाः पुरुषर्षभाः ।
अत्राध्यायशतं प्रोक्तं तथाऽध्यायाश्च सप्ततिः ॥ २६८ ॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च ।
श्लोका नव तथैवात्र संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥ २६९ ॥
पाराशर्येण मुनिना संचिंत्य द्रोणपर्वणि ।
अतः परं कर्णपर्व प्रोच्यते परमाद्भुतम् ॥ २७० ॥
सारथ्ये विनियोगश्च मद्रराजस्य धीमतः ।
आख्यातं यत्र पौराणं त्रिपुरस्य निपातनम् ॥ २७१ ॥
प्रयाणे परुषश्चात्र संवादः कर्णशल्ययोः ।
हंसकाकीयमाख्यानं तत्रैवाक्षेपसंहितम् ॥ २७२ ॥
वधः पाण्ड्यस्य च तथा अश्वत्थाम्ना महात्मना ।
दण्डसेनस्य च ततो दण्डस्य च वधस्तथा ॥ २७३ ॥
द्वैरथे यत्र कर्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संशयं गमितो युद्धे मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥ २७४ ॥
अन्योन्यं प्रति च क्रोधो युधिष्ठिरकिरीटिनोः ।
यत्रैवानुनयः प्रोक्तो माधवेनार्जुनस्य हि ॥ २७५ ॥

अर्जुन का महात्म्य वर्णन, इस पर्व में बड़े बड़े वीर राजाओं की मृत्यु का वर्णन है। इस में एक सौ सत्तर अध्याय, आठ हजार नव सौ नव श्लोक कहे हैं ॥२६६।२६९॥

इसके उपरान्त आठवां कर्णपर्व कहा है। इसमें कर्ण का शल्य को सारथी बनाना, त्रिपुर के तीन पुत्रों का इतिहास, कर्ण के युद्ध में जाते समय कर्ण और शल्य का सम्वाद, शल्य का हंस और काक की कथा कहना, अश्वत्थामा के हाथों पाण्ड्य का वध, दण्डसेन तथा दण्ड की मृत्यु, द्वन्द्वयुद्ध में सब धनुषधारियों के आगे कर्ण के हाथों युधिष्ठिर के प्राणों पर संकट, युधिष्ठिर और अर्जुन का पर

प्रतिज्ञापूर्वकं चापि वक्षो दुःशासनस्य च ।
भित्त्वा वृकोदरो रक्तं पीतवान्यत्र संयुगे ॥ २७६ ॥
द्वैरथे यत्र पार्थेन हतः कर्णो महारथः ।
अष्टमं पर्व निर्दिष्टमेतद्भारतचिन्तकैः ॥ २७७ ॥
एकोनसप्ततिः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि ।
चत्वार्येव सहस्राणि नव श्लोकशतानि च ॥ २७८ ॥
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाः पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्तिताः ।
अतः परं विचित्रार्थं शल्यपर्व प्रकीर्तितम् ॥ २७९ ॥
हतप्रवीरे सैन्ये तु नेता मद्रेश्वरोऽभवत् ।
यत्र कौमारमाख्यानमभिषेकस्य कर्म च ॥ २८० ॥
वृत्तानि रथयुद्धानि कीर्त्यन्ते यत्र भागशः ।
विनाशः कुरुमुख्यानां शल्यपर्वणि कीर्त्यते ॥ २८१ ॥
शल्यस्य निधनं चात्र धर्मराजान्महात्मनः ।
शकुनेश्च वधोऽत्रैव सहदेवेन संयुगे ॥ २८२ ॥
सैन्ये च हतभूयिष्ठे किंचिच्छिष्टे सुयोधनः ।
ह्रदं प्रविश्य तत्रासौ संस्तभ्यापो व्यवस्थितः ॥ २८३ ॥
प्रवृत्तिस्तत्र चाख्याता यत्र भीमस्य लुब्धकैः ।
क्षेपयुक्तैर्वचोभिश्च धर्मराजस्य धीमतः ॥ २८४ ॥

स्पर में क्रोध करना, और उसी स्थान में श्रीकृष्ण का अर्जुन को समझाना, भीमसेनका प्रतिज्ञानुसार दुःशासन के हृदय को चीरकर खून पीना और द्वैरथयुद्ध में अर्जुन से महारथी कर्ण का मारा जाना कहा गया है। इस पर्व में उनहत्तर अध्याय, चार हजार नव सौ चौंसठ श्लोक कहे हैं। इसके पश्चात् नवां शल्यपर्व कहा है ॥२७०।२८०॥ कर्ण के मारे जाने पर शल्य को सेनापति बनाना, कुमार का आख्यान, शल्य के राज्याभिषेक का वर्णन, अनेक वीरों के युद्ध का वर्णन, कौरव पक्ष के प्रधान प्रधान वीरों का मारा जाना, महानुभाव युधिष्ठिर के हाथ से शल्य का वध होना, सहदेव के हाथ से शकुनि की मृत्यु, बहुत सेना के नाश होने के पश्चात् कुछ बाकी रहने पर दुर्योधन का एक तालाब में घुसना और जल को बांध कर ठहरना, व्याधों का भीमसेन को दुर्योधन का समाचार देना, आक्षेप वचनों से क्रोधी धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन का तालाब से बाहर निकलना,

ह्रदात्समुत्थितो यत्र धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ।
भीमेन गदया युद्धं यत्रासौ कृतवान्सह ॥ २८५ ॥
समवाये च युद्धस्य रामस्यागमनं स्मृतम् ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानां पुण्यता परिकीर्तिता ॥ २८६ ॥
गदायुद्धं च तुमुलमत्रैव परिकीर्तितम् ।
दुर्योधनस्य राज्ञोऽथ यत्र भीमेन संयुगे ॥ २८७ ॥
ऊरू भग्नौ प्रसह्याजौ गदया भीमवेगया ।
नवमं पर्व निर्दिष्टमेतदद्भुतमर्थवत् ॥ २८८ ॥
एकोनषष्टिरध्यायाः पर्वण्यत्र प्रकीर्तिताः ।
संख्याता बहुवृत्तांताः श्लोक संख्याऽत्र कथ्यते ॥ २८९ ॥
त्रीणि श्लोकसहस्राणि द्वे शते विंशतिस्तथा ।
मुनिना संप्रणीतानि कौरवाणां यशोभृता ॥ २९० ॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि सौप्तिकं पर्व दारुणम् ।
भग्नोरुं यत्र राजानं दुर्योधनममर्षणम् ॥ २९१ ॥
अपयातेषु पार्थेषु त्रयस्तेऽभ्याययू रथाः ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः सायाह्ने रुधिरोक्षितम् ॥ २९२ ॥
समेत्य ददृशुर्भूमौ पतितं रणमूर्धनि ।
प्रतिजज्ञे दृढक्रोधो द्रौणिर्यत्र महारथः ॥ २९३ ॥

भीमसेन के साथ गदायुद्ध होना, युद्ध के समय बलराम का आना, सरस्वती और अन्यान्य तीर्थों की पवित्रता का वर्णन, राजा दुर्योधन का भीमसेन के साथ घोर युद्ध का होना इस पर्व में कहा गया है। इसमें उनसठ अध्याय, तीन हज़ार दो सौ बीस श्लोक कहे हैं। तत्पश्चात् दसवां सौप्तिकपर्व कहा है। जाँघ टूटे जाने से पड़े हुए राजा दुर्योधन के पास सन्ध्या के समय कृतवर्मा, कृपाचार्य्य और अश्वत्थामा तीन रथियों का आना, रक्त में लिपटायमान् युद्धभूमि में पड़े दुर्योधन को देखकर महारथी अश्वत्थामा का क्रोध में होकर प्रतिज्ञा करना कि "मैं धृष्टद्युम्न आदि सम्पूर्ण पंचालों को और मंत्रियों सहित पाण्डवों को मारे विना कवच नहीं खोलूंगा" ऐसा कहकर तीनों महारथियों का दुर्योधन को छोड़कर सूर्य्यास्त के समय वन में प्रवेश करना, बड़ के वृक्ष के नीचे सबका विश्राम करना, उस पेड़ पर उल्लुओं से मारे हुए बहुत से कव्वों को रात्रि के समय देखकर पिता

अहत्वा सर्वं पञ्चालान्धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ।
पाण्डवांश्च सहामात्यान्न विमोक्ष्यामि दंशनम् ॥ २९४ ॥
यत्रैवमुक्त्वा राजानमपक्रम्य त्रयो रथाः ।
सूर्यास्तमनवेलायामासेदुस्ते महद्वनम् ॥ २९५ ॥
न्यग्रोधस्याथ महतो यत्राधस्ताद्व्यवस्थिताः ।
ततः काकान्बहून् रात्रौ दृष्ट्वोलूकेन हिंसितान् ॥ २९६ ॥
द्रौणिः क्रोधसमाविष्टः पितुर्वधमनुस्मरन् ।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां वधं प्रति मनो दधे ॥ २९७ ॥
गत्वा च शिविरद्वारि दुर्दर्शं तत्र राक्षसम् ।
घोररूपमपश्यत्स दिवमावृत्य धिष्ठितम् ॥ २९८ ॥
तेनव्याघातमस्त्राणां क्रियमाणमवेक्ष्य च ।
द्रौणिर्यत्र विरूपाक्षं रुद्रमाराध्य सत्वरः ॥ २९९ ॥
प्रसुप्तान्निशि विश्वस्तान्धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ।
पञ्चालान्सपरीवारान्द्रौपदेयांश्च सर्वशः ॥ ३०० ॥
कृतवर्मणा च सहितः कृपेण निजघ्निवान् ।
यत्रामुच्यन्त ते पार्थाः पञ्च कृष्णबलाश्रयात् ॥ ३०१ ॥
सात्यकिश्च महेष्वासः शेषाश्च निधनं गताः ।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां यत्र द्रोणसुताद्वधः ॥ ३०२ ॥
धृष्टद्युम्नस्य सूतेन पाण्डवेषु निवेदितः ।
द्रौपदी पुत्रशोकार्त्ता पितृभ्रातृवधार्दिता ॥ ३०३ ॥

की मृत्यु को स्मरण करता हुआ क्रोधित अश्वत्थामा का उसी तरह निश्चिन्त रात्रि को सो रहे पाचालों का विनाश करने के लिए इरादा करना, पाण्डवों के शिविर के समीप अश्वत्थामा का पहुँचना, वहाँ पान के सेना निवेश के द्वार पर आकाश को घेरे हुए घोररूप वाले राक्षस का देख पड़ना, राक्षस द्वारा अपने अस्त्रों को निष्फल होते देखकर अश्वत्थामा का महादेव की आराधना करना, कृतवर्मा और कृपाचार्य्य के साथ अश्वत्थामा का शिविर के भीतर प्रवेश होना, रात्रि के समय बेखटके सोते हुए धृष्टद्युम्न आदि पाचालों और सम्पूर्ण द्रौपदी के पुत्रों को मारना, श्रीकृष्ण की सहायता से सात्यकि का पाँचों पाण्डवों सहित बचना, सबका अश्वत्थामा के हाथ से संहार, सारथी द्वारा पाण्डवों को इस

कृतानशनसंकल्पा यत्र भर्तृनुपाविशत् ।
द्रौपदीवचनाद्यत्र भीमो भीमपराक्रमः ॥ ३०४ ॥
प्रियं तस्याश्चिकीर्षन्वै गदामादाय वीर्यवान् ।
अन्वधावत्सुसंक्रुद्धो भारद्वाजं गुरोः सुतम् ॥ ३०५ ॥
भीमसेनभयाद्यत्र दैवेनाभिप्रचोदितः ।
अपाण्डवायेति रुषा द्रौणिरस्त्रमवासृजत् ॥ ३०६ ॥
मैवमित्यब्रवीत्कृष्णः शमयंस्तस्य तद्वचः ।
यत्रास्त्रमस्त्रेण च तच्छमयामास फाल्गुनः ॥ ३०७ ॥
द्रौणेश्च द्रोहबुद्धित्वं वीक्ष्य पापात्मनस्तदा ।
द्रौणिद्वैपायनादीनां शापाश्चान्योन्यकारिताः ॥ ३०८ ॥
मणिं तथा समादाय द्रोणपुत्रान्महारथात् ।
पाण्डवाः प्रददुर्हृष्टा द्रौपद्यै जितकाशिनः ॥ ३०९ ॥
एतद्वै दशमं पर्व सौप्तिकं समुदाहृतम् ।
अष्टादशास्मिन्नध्यायाः पर्वण्युक्ता महात्मना ॥ ३१० ॥
श्लोकानां कथितान्यत्र शतान्यष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकाश्च सप्ततिः प्रोक्ता मुनिना ब्रह्मवादिना ॥ ३११ ॥
सौप्तिकैषीके संबद्धे पर्वण्युत्तमतेजसी ।
अत ऊर्ध्वमिदं प्राहुः स्त्रीपर्व करुणोदयम् ॥ ३१२ ॥

अनर्थ की खबर मिलना, पुत्रों और भाईयों की मृत्यु के शोक से व्याकुल द्रौपदी को पाण्डवों के पास खाना पीना त्याग कर धरना देना, द्रौपदी के वचनों से भयानक पराक्रम वाले भीमसेन का द्रौपदी के प्रेम और क्रोध से गुरुपुत्र अश्वत्थामा के पीछे गदा लेकर दौड़ना, प्रारब्ध के अनुसार भीमसेन के भय से अश्वत्थामा का पाण्डवों के विनाश के लिए अस्त्र छोड़ना, अर्जुन का अपने अस्त्र के द्वारा उस छोड़े हुए अस्त्र को शांत करना, अश्वत्थामा और द्वैपायन आदि का परस्पर अभिशाप, विजयी पाण्डवों का अश्वत्थामा से मणि लेकर द्रौपदी को देना कहा गया है। इस पर्व में अठारह अध्याय, आठ सौ सत्तर श्लोक कहे गये हैं ॥२९१।३११॥

अनन्तर ग्यारहवाँ करुणरसपूर्ण स्त्रीपर्व कहा है। अन्धे राजा धृतराष्ट्र का पुत्रशोक से पीड़ित होकर कृष्ण की दी हुई लोहे की बनी भीमसेन की मूर्ति को अपने बल से दबाकर चूर-चूर कर डालना, शोक से पीड़ित बुद्धिमान् धृतराष्ट्र को यह

पुत्रशोकाभिसंतप्तः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कृष्णोपनीतां यत्रासावायसी प्रतिमां दृढाम् ॥ ३१३ ॥
भीमसेनद्रोहबुद्धिर्धृतराष्ट्रो बभञ्ज ह ।
तथा शोकाभितप्तस्य धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ ३१४ ॥
संसारगहनं बुद्ध्या हेतुभिर्मोक्षदर्शनैः ।
विदुरेण च यत्रास्य राज्ञ आश्वासनं कृतम् ॥ ३१५ ॥
धृतराष्ट्रस्य चात्रैव कौरवायोधनं तथा ।
सान्तः पुरस्य गमनं शोकार्तस्य प्रकीर्तितम् ॥ ३१६ ॥
विलापो वीरपत्नीनां यत्रातिकरुणः स्मृतः ।
क्रोधावेशः प्रमोहश्च गांधारीधृतराष्ट्रयोः ॥ ३१७ ॥
यत्र तान्क्षत्रियाः शूरान्संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
पुत्रान्भ्रातॄन्पितॄंश्चैव ददृशुर्निहतान्रणे ॥ ३१८ ॥
पुत्रपौत्रवधार्त्तायास्तथात्रैव प्रकीर्तिता ।
गांधार्याश्चापि कृष्णेन क्रोधोपशमनाक्रिया ॥ ३१९ ॥
यत्र राजा महाप्राज्ञः सर्वधर्मभृतांवरः ।
राज्ञां तानि शरीराणि दाहयामास शास्त्रतः ॥ ३२० ॥
तोयकर्मणि चारब्धे राज्ञामुदकदानिके ।
गूढोत्पन्नस्य चाख्यानं कर्णस्य पृथयाऽऽत्मनः ॥ ३२१ ॥
सुतस्यैतदिह प्रोक्तं व्यासेन परमर्षिणा ।
एतदेकादशं पर्व शोकवैक्लव्यकारणम् ॥ ३२२ ॥

सन्पादक 'यह संसार असार है' मोक्ष मार्ग के दिखाने वाले वाक्यों से राजा को विदुर का समझाना, और धृतराष्ट्र का रानियों को लेकर कौरवों के रणभूमि में जाना, वीर स्त्रियों का अत्यन्त करुणामय विलाप करना, गांधारी और धृतराष्ट्र का क्रोध और मोह का प्रदर्शित होना, क्षत्रियों का संग्राम में पीठ न दिखाने वाले शूरवीर, पिता भ्राता और पतियों की लाशों को देखना, पुत्र, पौत्र की मृत्यु से व्याकुल गांधारी को श्रीकृष्ण का शान्त करना, धर्मात्माओं में श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर का युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए हुए वीर राजाओं के शरीरों को विधिपूर्वक दाह करना, और मृतकों को तिलाञ्जली देते समय कुन्ती का कर्ण के जन्म की गुप्त वार्ता प्रकट करना कहा गया है। इस पर्व में व्यास जी ने सत्ताईस अध्याय, सात सौ

प्रणीतं सज्जनमनोवैक्लव्याश्रुप्रवर्तकम् ।
सप्तविंशतिरध्यायाः पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्तिताः ॥ ३२३ ॥
श्लोकसप्तशती चापि पञ्चसप्ततिसंयुता ।
संख्यया भारताख्यानमुक्तं व्यासेन धीमता ॥ ३२४ ॥
अतः परं शान्तिपर्व द्वादशं बुद्धिवर्धनम् ।
यत्र निर्वेदमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३२५ ॥
घातयित्वा पितॄन्भ्रातॄन्पुत्रान्संबन्धिमातुलान् ।
शान्तिपर्वणि धर्माश्च व्याख्याताः शारतल्पिकाः ॥ ३२६ ॥
राजभिर्वेदितव्यास्ते सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभिः ।
आपद्धर्माश्च तत्रैव कालहेतुप्रदर्शिनः ॥ ३२७ ॥
यान्बुद्ध्वा पुरुषः सम्यक्सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ।
मोक्षधर्माश्च कथिता विचित्रा बहुविस्तराः ॥ ३२८ ॥
द्वादशं पर्व निर्दिष्टमेतत्प्राज्ञजनप्रियम् ।
अत्र पर्वणि विज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ॥ ३२९ ॥
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैव तपोधनाः ।
चतुर्दश सहस्राणि तथा सप्त शतानि च ॥ ३३० ॥
सप्त श्लोकास्तथैवात्र पञ्चविंशति संख्यया ।
अत ऊर्ध्वं च विज्ञेयमनुशासनमुत्तमम् ॥ ३३१ ॥
यत्र प्रकृतिमापन्नः श्रुत्वा धर्मविनिश्चयम् ।
भीष्माद्भागीरथीपुत्रात्कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३३२ ॥

पिछत्तर श्लोक कहे हैं ॥३१२।३२४॥

अनन्तर बारहवाँ शांतिपर्व है । इस पर्व में पिता-भाई-पुत्र-सम्बन्धी मातुल आदि का नाश होने के कारण राजा युधिष्ठिर को वैराग्य उत्पन्न होना, और शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म के समीप जाने पर उनके मुख से राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्म सुनना कहा गया है । जिनको मनुष्य भली प्रकार जानकर सर्वज्ञत्व प्राप्त कर सकता है । इस पर्व में तीन सौ उनतीस अध्याय, चौदह हजार सात सौ बत्तीस श्लोक कहे हैं ॥३२५।३३१॥

इसके उपरांत तेरहवां उत्तम अनुशासनपर्व कहा है । इसमें भीष्म के मुख से धर्म का निश्चय सुनकर युधिष्ठिर का स्वस्थ होना, धर्म, अर्थ सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवहार, विविध दानों के तरह-तरह के

व्यवहारोऽत्र कात्स्न्येंन धर्मार्थीयः प्रकीर्तितः ।
विविधानां च दानानां फलयोगाः प्रकीर्तिताः ॥ ३३३ ॥
तथा पात्रविशेषाश्च दानानां च परो विधिः ।
आचारविधियोगश्च सत्यस्य च परा गतिः ॥ ३३४ ॥
महाभाग्यं गवां चैव ब्राह्मणानां तथैव च ।
रहस्यं चैव धर्माणां देशकालोपसंहितम् ॥ ३३५ ॥
एतत्सुबहुवृत्तान्तमुत्तमं चानुशासनम् ।
भीष्मस्यात्रैव संप्राप्तिः स्वर्गस्य परिकीर्तिता ॥ ३३६ ॥
एतत् त्रयोदशं पर्व धर्मनिश्चयकारकम् ।
अध्यायानां शतं त्वत्र षट्चत्वारिंशदेव तु ॥ ३३७ ॥
श्लोकानां तु सहस्राणि प्रोक्तान्यष्टौ प्रसंख्यया ।
ततोऽश्वमेधिकं नाम पर्व प्रोक्तं चतुर्दशम् ॥ ३३८ ॥
तत्संवर्तमरुत्तीयं यत्राख्यानमनुत्तमम् ।
सुवर्णकोशसंप्राप्तिर्जन्म चोक्तं परीक्षितः ॥ ३३९ ॥
दग्धस्यास्त्राग्निना पूर्वं कृष्णात्संजीवनं पुनः ।
चर्यायां हयमुत्सृष्टं पाण्डवस्यानुगच्छतः ॥ ३४० ॥
तत्र तत्र च युद्धानि राजपुत्रैरमर्षणैः ।
चित्राङ्गदायाः पुत्रेण पुत्रिकाया धनंजयः ॥ ३४१ ॥
संग्रामे बभ्रुवाहेन संशयं चात्र दर्शितः ।
अश्वमेधे महायज्ञे नकुलाख्यानमेव च ॥ ३४२ ॥

धर्मों का वर्णन, दान के योग्य पात्रों का वर्णन, दान विधि, आचार व्यवहार का निरूपण, सत्य की पूर्ण उन्नति का वर्णन, गाय और ब्राह्मण का माहात्म्य, देश और काल के अनुसार धर्म के तत्त्व का रहस्य और भीष्म के स्वर्गारोहण का वर्णन है। इसमें नाना प्रकार के धर्मों का अनुशासन है। इस पर्व में व्यास जी ने एक सौ छियालीस अध्याय, आठ हजार श्लोक कहे हैं ॥३३३।३३८॥

तत्पश्चात् चौदहवाँ अश्वमेधपर्व कहा है। संवर्त और मरुत्त का सुंदर उपाख्यान, युधिष्ठिर को स्वर्ण का खजाना मिलना, परीक्षित का जन्म होना, अग्नि से जले हुए परीक्षित का श्रीकृष्ण की कृपा से जीना रहना, अश्वमेध के घोड़े की रक्षा करते हुए अर्जुन का सब राजाओं को जीतना, चित्राङ्गदा के

इत्याश्वमेधिकं पर्व प्रोक्तमेतन्महाद्भुतम् ।
अध्यायानां शतं चैव त्रयोऽध्यायाश्च कीर्तिताः ॥ ३४३ ॥
त्रीणि श्लोकसहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥ ३४४ ॥
ततस्त्वाश्रमवासाख्यं पर्व पञ्चदशं स्मृतम् ।
यत्र राज्यं समुत्सृज्य गांधार्या सहितो नृपः ॥ ३४५ ॥
धृतराष्ट्रोऽऽश्रमपदं विदुरश्च जगाम ह ।
यं दृष्ट्वा प्रस्थितं साध्वी पृथाप्यनुययौ तदा ॥ ३४६ ॥
पुत्रराज्यं परित्यज्य गुरुशुश्रूषणे रता ।
यत्र राजा हतान्पुत्रान्पौत्रानन्यांश्च पार्थिवान् ॥ ३४७ ॥
लोकान्तरगतान्वीरानपश्यत्पुनरागतान् ।
ऋषेः प्रसादात्कृष्णस्य दृष्ट्वाऽश्चर्यमनुत्तमम् ॥ ३४८ ॥
त्यक्त्वा शोकं सदारश्च सिद्धिं परमिकां गतः ।
यत्र धर्मं समाश्रित्य विदुरः सुगतिं गतः ॥ ३४९ ॥
संजयश्च सहामात्यो विद्वान्गावल्गणिर्वशी ।
ददर्श नारदं यत्र धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ३५० ॥
नारदाच्चैव शुश्राव वृष्णीनां कदनं महत् ।
एतदाश्रमवासाख्यं पर्वोक्तं महदद्भुतम् ॥ ३५१ ॥
द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वैतदभिसंख्यया ।
सहस्रमेकं श्लोकानां पञ्च श्लोकशतानि च ॥ ३५२ ॥

गर्भ से अपने ही वीर्य से पैदा पुत्र बभ्रुवाहन से संग्राम में अर्जुन का प्राणान्त के निकट होना और अश्वमेध में नकुल का वर्णन कहा गया है। इस पर्व में व्यास जी ने एक सौ तीन अध्याय और तीन हजार तीन सौ बीस श्लोक कहे हैं ॥३४३।३४४॥

इसके उपरान्त पन्द्रहवाँ आश्रमवासिक पर्व कहा है इस पर्व में गांधारी सहित राजा धृतराष्ट्र और विदुर का राज्य को छोड़ कर वन में जाना, यह देखकर गुरु आदि की भक्ति करने वाली कुन्ती का भी उनके पीछे जाना, वहां राजा धृतराष्ट्र का युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए हुए फिर स्वर्ग से वापस आये हुए पुत्र-पौत्र और दूसरे वीर राजाओं को देखना, यह आश्चर्य को देखकर शोक को त्याग कर परमपदप्राप्ति, धर्म का आश्रय लेकर संजय

पडेव च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।
अतः परं निवोधेदं मौसलं पर्व दारुणम् ॥ ३५३ ॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शस्त्रस्पर्शहता युधि ।
ब्रह्मदण्डाविनिष्पिष्टाः समीपे लवणांभसः ॥ ३५४ ॥
आपाने पानकलिता दैवेनाभिप्रचोदिताः ।
एरकारूपिभिर्वज्रैर्निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ३५५ ॥
यत्र सर्वक्षयं कृत्वा तावुभौ रामकेशवौ ।
नातिचक्रामतुः कालं प्राप्तं सर्वहरं महत् ॥ ३५६ ॥
यत्रार्जुनो द्वारवतीमेत्य वृष्णिविना कृताम् ।
दृष्ट्वा विपादमगमत्परां चार्तिं नरर्षभः ॥ ३५७ ॥
ससंस्कृत्य नरश्रेष्ठं मातुलं शौरिमात्मनः ।
ददर्श यदुवीराणामापाने वैशसं महत् ॥ ३५८ ॥
शरीरं वासुदेवस्य रामस्य च महात्मनः ।
संस्कारं लंभयामास वृष्णीनां च प्रधानतः ॥ ३५९ ॥
स वृद्धवालमादाय द्वारवत्यास्ततो जनम् ।
ददर्शापदि कष्टायां गाण्डीवस्य पराभवम् ॥ ३६० ॥
सर्वेषां चैव दिव्यानामस्त्राणामप्रसन्नताम् ।
नाशं वृष्णिकलत्राणां प्रभावानामनित्यताम् ॥ ३६१ ॥
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नो व्यासवाक्यप्रचोदितः ।
धर्मराजं समासाद्य संन्यासं समरोचयत् ॥ ३६२ ॥

और विदुर का भी परलोक को सिधारना, युधिष्ठिर को नारद मुनि के दर्शन होना, और उन्हीं से यादवों के विनाश की खबर मिलना कहा गया है । इस पर्व में महर्षि वेदव्यास ने ब्यालीस अध्याय, एक हजार पाँच सौ छः श्लोक कहे हैं ॥३४५।३५३॥

इसके उपरान्त भीषण और दुःखदायी मौसलपर्व कहा है । सर्व पुरुषों में श्रेष्ठ संग्राम में शस्त्रों के स्पर्श से नष्ट और ब्रह्मदण्ड से खारी समुद्र के समीप मदिरा से उन्मत्त प्रारब्ध से प्रेरणा किये हुए, एरका रूप वज्रों से परस्पर नाश होना, राम और कृष्ण का और सर्व का क्षय होने पर काल का लंघन न करना, अर्जुन का द्वारका में जाकर और यादवों को खाली देखकर शोक से व्याकुल होना, अर्जुन का वसुदेव, कृष्ण, बलराम आदि यादवों का संस्कार कराकर

इत्येतन्मौसलं पर्व षोडशं परिकीर्तितम् ।
अध्यायाऽष्टौ समाख्याता श्लोकानां च शतत्रयम् ॥ ३६३ ॥
श्लोकानां विंशतिश्चैव संख्याताततत्त्वदर्शिना ।
महाप्रस्थानिकं तस्मादूर्ध्वं सप्तदशं स्मृतम् ॥ ३६४ ॥
यत्र राज्यं परित्यज्य पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
द्रौपद्या सहिता देव्या महाप्रस्थानमास्थिताः ॥ ३६५ ॥
यत्र तेऽग्निं ददृशिरे लौहित्यं प्राप्य सागरम् ।
यत्राग्निना चोदितश्च पार्थस्तस्मै महात्मने ॥ ३६६ ॥
ददौ संपूज्य तद्दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ।
यत्र भ्रातॄन्निपतितान्द्रौपदीं च युधिष्ठिरः ॥ ३६७ ॥
दृष्ट्वा हित्वा जगामैव सर्वाननवलोकयन् ।
एतत्सप्तदशं पर्व महाप्रस्थानिकं स्मृतम् ॥ ३६८ ॥
यत्राध्यायास्त्रयःप्रोक्ताः श्लोकानां च शतत्रयम् ।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥ ३६९ ॥
स्वर्गपर्व ततो ज्ञेयं दिव्यं यत्तदमानुषम् ।
प्राप्तं दैवरथं स्वर्गान्नेष्टवान्यत्र धर्मराट् ॥ ३७० ॥

शेष बचे हुए बालकों, वृद्धों और स्त्रियों को द्वारका नगरी से लेजाना, रास्ते में आपत्ति के समय गाण्डीव धनुष का शक्ति से रहित होना, अस्त्रों का काम न देना, उसके पश्चात् यादवों की स्त्रियों का अलहदा होजाना, और प्रभाव की अनित्यता देखकर अर्जुन को वैराग्य होना, और व्यास जी की आज्ञा से अर्जुन का युधिष्ठिर के समीप आकर उन्हें सन्यास की सम्मति देना कहा गया है । इस पर्व में व्यास जी के कहे हुए आठ अध्याय, तीन सौ बीस श्लोक कहे हैं ॥३५४।३६४॥

तदनन्तर सत्रहवाँ महाप्रस्थानिकपर्व कहा गया है । राज्य को छोड़कर पुरुषों में श्रेष्ठ पाण्डवों का द्रौपदी सहित महाप्रस्थान करना, लोहित सागर में अग्नि का देखा जाना, अग्नि के कहने से अर्जुन का गाण्डीव धनुष फैंक देना, चारों भाई और द्रौपदी को नष्ट होता हुआ देखकर राजा युधिष्ठिर का जाना कहा गया है । इस पर्व में व्यासजी ने तीन अध्याय, तीन सौ बीस श्लोक कहे हैं ॥ ३६५।३६९॥

इसके पश्चात् अठारहवाँ स्वर्गारोहणपर्व कहा है । धर्मराज युधिष्ठिर को ले जाने के लिए स्वर्ग से दिव्यरथ का आना, अपने साथी कुत्ते के बिना युधिष्ठिर का उस रथ पर चढ़ने की इच्छा न करना, उसकी निश्चल बुद्धि और धर्म में स्थिति को

आरोढुं सुमहाप्राज्ञ आनृशंस्याच्छुना विना ।
तामस्याविचलां ज्ञात्वा स्थितिं धर्मे महात्मनः ॥ ३७१ ॥
श्वरूपं यत्र तत्त्यक्त्वा धर्मेणाऽसौ समन्वितः ।
स्वर्गं प्राप्तः स च तथा यातना विपुला भृशम् ॥ ३७२ ॥
देवदूतेन नरकं यत्र व्याजेन दर्शितम् ।
शुश्राव यत्र धर्मात्मा भ्रातॄणां करुणा गिरः ॥ ३७३ ॥
निदेशे वर्तमानानां देशे तत्रैव वर्तताम् ।
अनुदर्शितश्च धर्मेण देवराज्ञा च पाण्डवः ॥ ३७४ ॥
आप्लुत्याकाशगंगायां देहं त्यक्त्वा स मानुषम् ।
स्वधर्मनिर्जितं स्थानं स्वर्गे प्राप्य स धर्मराट् ॥ ३७५ ॥
मुमुदे पूजितः सर्वैः सेन्द्रैः सुरगणैः सह ।
एतदष्टादशं पर्व प्रोक्तं व्यासेन धीमता ॥ ३७६ ॥
अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वण्यस्मिन्महात्मना ।
श्लोकानां द्वे शते चैव प्रसंख्याते तपोधनाः ॥ ३७७ ॥
नव श्लोकास्तथैवान्ये संख्याताः परमर्षिणा ।
अष्टादशैवमेतानि पर्वाण्येतान्यशेषतः ॥ ३७८ ॥
खिलेषु हरिवंशश्च भविष्यं च प्रकीर्तितम् ।
दश श्लोकसहस्राणि विंशश्लोकशतानि च ॥ ३७९ ॥
खिलेषु हरिवंशे च संख्यातानि महर्षिणा ।
एतत्सर्वं समाख्यातं भारते पर्वसंग्रहः ॥ ३८० ॥

देखकर धर्म का कुत्ते के रूप को छोड़ कर प्रगट होना, युधिष्ठिर और धर्म का स्वर्ग पहुँचना, देवदूत का किसी चतुराई से युधिष्ठिर को नरक दिखाना, नरक में पड़े हुए अपने आज्ञाकारी भाइयों की गति और विलाप देखना, युधिष्ठिर का कातर होना, धर्म और इन्द्र का युधिष्ठिर को धैर्य देना कि "ऐश्वर्य भोगने का यही फल है" युधिष्ठिर का आकाश गङ्गा के जल में स्नान करके, मनुष्य शरीर त्याग करके धर्मराज युधिष्ठिर का इन्द्र से आदर सत्कार पाकर प्रसन्न होना कहा गया है। इस पर्व में व्यास जी ने पांच अध्याय, दो सौ नव श्लोक कहे हैं ॥३७०।३७८॥

इस प्रकार से सम्पूर्ण अठारह पर्व कहे गये हैं। इसके पश्चात् हरिवंश और भविष्यपर्व कहा

अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ।
तन्महादारुणं युद्धमहान्यष्टादशाभवत् ॥ ३८१ ॥
यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥ ३८२ ॥
अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत् ।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥ ३८३ ॥
श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते ।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव ॥ ३८४ ॥
इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः ।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥ ३८५ ॥
अस्याख्यानस्य विषये पुराणं वर्तते द्विजाः ।
अन्तरिक्षस्य विषये प्रजा इव चतुर्विधाः ॥ ३८६ ॥
क्रियागुणानां सर्वेषामिदमाख्यानमाश्रयः ।
इन्द्रियाणां समस्तानां चित्रा इव मनः क्रियाः ॥ ३८७ ॥
अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ ३८८ ॥
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ ३८९ ॥
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
साधोरिव गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥ ३९० ॥

है । इसमें श्लोकों की संख्या व्यास जी ने १२००० (बारह हज़ार) कही है । यह भारत के सम्पूर्ण पर्वो का संग्रह पर्वसंग्रहाध्याय कहा गया है । अठारह अक्षौहिणी सेना युद्ध करने के लिए एकत्र हुई थी और अठारह दिन तक घोर युद्ध हुआ था ॥३७९।३८१॥

वेद, वेदाङ्ग और उपनिषदों के ज्ञाता इस महाभारत उपाख्यान को जाने बिना वह चतुर पण्डित नहीं कहला सकते । महर्षि व्यास जी ने अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र का इसमें वर्णन किया है । जिस प्रकार कोयल का शब्द सुनकर कौवे की वाणी रूखी मालूम होती है वैसे ही इस उपाख्यान को सुन लेने से और कुछ सुनने की इच्छा नहीं होती । जैसे पंच महाभूतों से तीनों लोकों की रचना होती है वैसे ही इस

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः ।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥३९१॥
द्वैपायनौष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥ ३९२ ॥

यदह्ना कुरुते पापं ब्राह्मणस्त्विन्द्रियैश्चरन् ।
महाभारतमाख्याय संध्यां मुच्यति पश्चिमाम् ॥ ३९३ ॥
यद्रात्रौ कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा ।
महाभारतमाख्याय पूर्वां संध्यां प्रमुच्यते ॥ ३९४ ॥

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय ।
पुण्यां च भारतकथां शृणुयाच्च नित्यं तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥३९५॥
आख्यानं तदिदमनुत्तमं महार्थं विज्ञेयं महदिह पर्वसंग्रहेण ।
श्रुत्वाऽऽदौ भवति नृणां सुखावगाहं विस्तीर्णं लवणजलं यथा प्लवेन ॥३९६॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संग्रहपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ पर्वसंग्रहपर्वसमाप्तम् ॥

उत्तम आख्यान से कवियों की बुद्धियें उत्पन्न होती हैं। हे ऋषियो! इस महाभारत आख्यान में सम्पूर्ण पुराण ऐसे ही वर्त्तमान हैं जैसे आकाश में चार प्रकार की सृष्टि। लौकिक और वैदिक कर्मों के फल से यह आख्यान ऐसा भरा है जैसे मन में सम्पूर्ण इन्द्रियों की विचित्र क्रिया रहती है। जैसे भोजन के बिना शरीर का आधार नहीं है वैसे ही इस आख्यान के आश्रय बिना संसार में कोई कथा नहीं है। जैसे उन्नति चाहने वाले भृत्य अपने स्वामी की सेवा तन और मन से करने में तत्पर रहते हैं वैसे ही कवि लोग इस इतिहास को पठन-पाठन करते हैं। जैसे चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम श्रेष्ठ है वैसे ही सब काव्यों में यह महाभारत काव्य श्रेष्ठ है। हे ऋषियो! तुम सदा धर्म में उद्यत रहो। यह धर्म ही परलोक में मनुष्य का साथी है। चतुर लोग धन और स्त्रियों का सेवन करते हैं परन्तु वह नित्य नहीं रहते। जो व्यासदेव के बनाये बड़े पवित्र, सर्व पाप के नाश करने वाले और महाकल्याणकारी भारत को श्रवण करता है उसको अनेक तीर्थों के स्नानों की क्या आवश्यकता है। जो ब्राह्मण दिन में इन्द्रियों से अनेक प्रकार के पाप करता है वह भारत का पाठ सायंकाल के समय पढ़कर उस किये हुए पाप से निवृत्त हो जाता है। जो मन, वाणी और काया से रात्रि में पाप करता है वह भारत का पाठ प्रातःकाल के समय पढ़कर उस पाप से छूट जाता है। जो सोने के सींगों वाली सौ गायें वेदपाठी ब्राह्मण को देता है, और जो कोई पवित्र भारत की कथा को नित्य सुनता है, उन दोनों को बराबर (एक जैसा) फल मिलता है। इस सर्वोत्तम पर्वों के

संग्रह से महाभारत को जानना चाहिये । इसको आदि में श्रवण करने से महाभारत सुगम हो जाता है जैसे बडे भारी समुद्र में जहाज या नाव आदि का सहारा लेना ॥३८२।३०६॥

आदिपर्व का दूसरा अध्याय पर्वसंग्रह नाम समाप्त हुआ ॥

तृतीयोऽध्याय ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच—**जनमेजयः पारिक्षितः सह भ्रातृभिः कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रमुपासते । तस्य भ्रातरस्त्रयः श्रुतसेन उग्रसेनो भीमसेन इति । तेषु तत्सत्रमुपासीनेष्वागच्छत् सारमेयः ॥ १ ॥ जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतो रोरूयमाणो मातुः समीपमुपागच्छत् ॥ २ ॥ तं माता रोरूयमाणमुवाच किं रोदिषि केनास्यभिहत इति ॥ ३ ॥ स एवमुक्तो मातरं प्रत्युवाच जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतोऽस्मीति ॥ ४ ॥ तं माता प्रत्युवाच व्यक्तं त्वया तत्रापराद्धं येनास्यभिहत इति ॥ ५ ॥ स तां पुनरुवाच नापराध्यामि किंचिन्नावेक्षे हवींषि नावलिह इति ॥ ६ ॥ तच्छ्रुत्वा तस्य माता सरमा पुत्रदुःखार्ता तत्सत्रमुपागच्छद्यत्र स जनमेजयः सह भ्रातृभिर्दीर्घसत्रमुपास्ते ॥ ७ ॥ स तया क्रुद्धया तत्रोक्तोऽयं मे पुत्रो न किंचिदपराध्यति नावेक्षते हवींषि नावलेढि किमर्थमभिहत इति ॥ ८ ॥ न किंचिदुक्तवंतस्ते सा तानुवाच यस्मादयमभिहतोऽनपकारी तस्माददृष्टं त्वां भयमागमिष्यतीति ॥ ९ ॥ जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया भृशं**

॥ तीसरा अध्याय ३ ॥

श्री उग्रश्रवा जी बोले कि हे ऋषियो ! परीक्षित का पुत्र जनमेजय अपने भाईयों श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन के साथ बहुत दिनों में समाप्त होने वाला यज्ञ कर रहे थे। एक दिन एक कुत्ता यज्ञ-मण्डप में चला आया । जनमेजय के भाईयों ने उस कुत्ते को मारा । वह रोता हुआ अपनी माता के पास जा पहुंचा । उसको रोते हुए देखकर उसकी माता ने कहा कि तू क्यों रोता है ? तुझे किसने मारा ? उस कुत्ते ने अपनी माता से कहा कि मुझको जनमेजय के भाईयों ने मारा है । उसकी माता ने कहा कि तू ने वहां अवश्य कोई अपराध किया होगा इसीसे जनमेजय के भाईयों ने तुझे मारा है । उस कुत्ते ने अपनी माता से कहा कि न मैंने कोई अपराध किया और न मैंने यज्ञ के हवि (घी) की ओर देखा और न उसमें मुख डाला । यह वचन सुनकर उसकी माता सरमा पुत्र के दुःख से दुखी होकर यज्ञ स्थान में आई वह क्रोध में आकर बोली कि तुमने बिना अपराध किये मेरे पुत्र को मारा है, न उसने कोई पदार्थ देखा और न खाया है, इसलिए तुमको

संभ्रान्तो विषण्णश्चासीत् ॥ १० ॥ स तस्मिन्सत्रे समाप्ते हास्तिनपुरं प्रत्येत्य पुरोहितमनुरूपमन्विष्यमाणः परं यत्नमकरोद्यो मे पापकृत्यां शमयेदिति ॥ ११ ॥ स कदाचिन्मृगयां गतः पारिक्षितो जनमेजयः कस्मिंश्चित्स्वविषय आश्रममपश्यत् ॥ १२ ॥ तत्र कश्चिदृषिरासांचक्रे श्रुतश्रवा नाम । यस्य तपस्याभिरतः पुत्र आस्ते सोमश्रवा नाम ॥ १३ ॥ तस्य तं पुत्रमभिगम्य जनमेजयः पारिक्षितः पौरोहित्याय वव्रे ॥ १४ ॥ स नमस्कृत्य तमृषिमुवाच भगवन्नयं तव पुत्रो मम पुरोहितोऽस्त्विति ॥ १५ ॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच जनमेजयं भो जनमेजय पुत्रोऽयं मम सर्प्यां जातो महातपस्वी स्वाध्यायसंपन्नो मत्तपोवीर्यसंभृतो मच्छुक्रं पीतवत्यास्तस्याः कुक्षौ जातः ॥ १६ ॥ समर्थोऽयं भवतः सर्वाः पापकृत्याः शमयितुमंतरेण महादेव कृत्याम् अस्य त्वेकमुपांशु व्रतं यदेनं कश्चिद्ब्राह्मणः कंचिदर्थमभियाचेत्तं तस्मै दद्यादयं यद्येतदुत्सहसे ततो नयस्वैनमिति ॥ १८ ॥ तेनैवमुक्तो जनमेजयस्तं प्रत्युवाच भगवंस्तत्तथा भविष्यतीति ॥ १९ ॥ स तं पुरोहितमुपादायोपावृत्तो भ्रातॄनुवाचमयाऽयं वृत उपाध्यायो यदयं ब्रूयात्तत्कार्यमविचारयद्भिर्भवद्भिरिति । तेनैवमुक्ता भ्रातरस्तस्य तथा चक्रुः स

अकस्मात् (अचानक) भय की प्राप्ति होगी । कुतिया सरमा के शाप को सुनकर दुःखित हो राजा जनमेजय सोचने लगा ॥१।१०॥

वह यज्ञ के समाप्त होने पर हस्तिनापुर में आकर योग्य पुरोहित की तलाश करने लगा कि जो इस पाप को दूर करे । एक दिन राजा जनमेजय शिकार खेलने को वन में गये और उन्होंने एक आश्रम को देखा । उस आश्रम में श्रुतश्रवा नाम के एक ऋषि रहता था । उसके पुत्र का नाम सोमश्रवा था । राजा जनमेजय ने उस सोमश्रवा के पास आकर पुरोहित होने की प्रार्थना की । उस ऋषि को प्रणाम कर बोला कि हे भगवन् ! यह आपका पुत्र मेरा पुरोहित होवे । ऐसा कहने पर वह ऋषि जनमेजय से बोला—हे जनमेजय ! यह मेरा पुत्र बड़ा तपस्वी और वेदपाठी है । मेरे तप से पुष्ट हुए वीर्य को एक सर्पिणी खा गई थी । उसकी कोख से यह बालक उत्पन्न हुआ है । और यह महादेव के सिवाय सब पापों को दूर कर सकता है । इसकी एक गुप्त प्रतिज्ञा यह है कि जो कोई इससे कुछ माँगे उसको यह वह वस्तु अवश्य देता है । यदि तुम इसके इस नियम का निर्वाह कर सकते हो तो इसको ले जाओ । इस प्रकार उस ऋषि के वचन को सुनकर जनमेजय ने कहा कि हे भगवन् ! मुझे यह बात स्वीकार है । सोमश्रवा

तथा भ्रातॄन् संदिश्य तक्षशिलां प्रत्यभिप्रतस्थे तं च देशं वशे स्थापयामास ॥ २० ॥ एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदृषिर्धौम्यो नामापोदस्तस्य शिष्यास्त्रयो बभूवुः उपमन्युरारुणिर्वेदश्चेति ॥ २१ ॥ स एकं शिष्यमारुणिं पाञ्चाल्यं प्रेषयामास गच्छ केदारखण्डं बधानेति ॥ २२ ॥ स उपाध्यायेन संदिष्ट आरुणिः पांचाल्यस्तत्र गत्वा तत्केदारखण्डं बद्धुं नाशकत् । स क्लिश्यमानोऽपश्यदुपायं भवत्वेवं करिष्यामि ॥ २३ ॥ स तत्र संविवेश केदारखण्डे शयाने च तथातस्मिंस्तदुदकं तस्थौ ॥ २४ ॥ ततः कदाचिदुपाध्याय आपोदो धौम्यः शिष्यानपृच्छत्कआरुणिः पाञ्चाल्यो गत इति ॥ २५ ॥ ते तं प्रत्यूचुर्भगवंस्त्वयैव प्रेषितो गच्छ केदारखण्डं बधानेति । स एवमुक्तस्ताञ्छिष्यान्प्रत्युवाच तस्मात्तत्र सर्वे गच्छामो यत्र स गत इति ॥ २६ ॥ स तत्र गत्वा तस्याह्वानाय शब्दश्चकार भो आरुणे पाञ्चाल्य क्वासिवत्सैहीति ॥ २७ ॥ स तच्छ्रुत्वाआरुणिरुपाध्यायवाक्यं तस्मात्केदारखण्डात्सहसोत्थाय तमुपाध्यायमुपतस्थे ॥ २८ ॥ प्रोवाच

पुरोहित को लेकर राजा जनमेजय अपने नगर को आया और आकर अपने भाईयो मे बोला, कि हमने इन ऋषि पुत्र को अपना उपाध्याय और पुरोहित बनाया है । जो जिस कार्य्य को यह कहे उसको विना विचारे तुम करो । वह इस प्रकार अपने भ्राताओ को कहकर राजा जनमेजय तक्षशिला नगर के विजय करने को गए और उस नगर को विजय किया । ॥१९।२०॥

इतना कथा सुनाकर सूत जी बोले कि, हे ऋषियो ! इसी के मध्य मे अपोध ऋषि के पुत्र धौम्य नामक एक ऋषि थे । वह केवल जल पीकर ही अपना निर्वाह किया करते थे । उनके तीन शिष्य थे—उपमन्यु, आरुणि और वेद । एक दिन धौम्य ऋषि ने अपने शिष्य आरुणि की परीक्षा करने के लिए कहा—अमुक खेत मे जल बहुत भग जाता है तू जाकर क्यारियो की मेड ऐसी ऊंची बाध जिसमे खेत का पानी बाहर न निकलने पावे । आरुणि गुरु की आज्ञा पाकर खेत मे गया परन्तु बहुत चेष्टा करने पर भी क्यारियों का पानी रोक नहीं सका । अन्त मे उन्हे एक उपाय सूझ पडा । वे स्वयं पानी की नाली मे लेट रहे । उनके ऐसा करने पर पानी की गति भी रुक गई । कुछ काल के उपरान्त धौम्य ऋषि ने आरुणि को न देखकर अपने अन्य शिष्यों से पूछा कि पाचाल देश का आरुणि कहां गया ? उनके शिष्यो ने उत्तर दिया भगवन् आप ही ने तो उसे खेत की नाली का पानी रोकने के लिए भेजा था । यह सुनकर धौम्य ने कहा— तो आओ चलो, देखें वहा वह अब तक क्या कर रहा है । खेत मे पहुचने पर धौम्य ने आरुणि का नाम लेकर पुकारा । आरुणि गुरु की आवाज सुनकर उस जल के जाने के रास्ते से निकल कर गुरु के निकट आया । आरुणि

चैनमयमस्यत्र केदारखण्डे निःसरमाणमुदकमवारणीयं संरोद्धुं
संविष्टो भगवच्छब्दं श्रुत्वैव सहसा विदार्य केदारखण्डं भवन्तमुपस्थितः
॥ २९ ॥ तदभिवादये भगवन्तमाज्ञापयतु भवान्कमर्थं करवाणीति
॥ ३० ॥ स एवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच यस्माद्भवान्केदारखण्डं
विदार्योत्थितस्तस्मादुद्दालक एव नाम्ना भवान्भविष्यतीत्युपाध्यायेनानु-
गृहीतः ॥ ३१ ॥ यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि सर्वे
च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति ॥ ३२ ॥ स
एवमुक्त उपाध्यायेनेष्टं देशं जगाम । अथापरः शिष्यस्तस्यैवापोदस्य
धौम्यस्योपमन्युर्नाम ॥ ३३ ॥ तं चोपाध्यायः प्रेषयामास वत्सोपमन्यो
गा रक्षस्वेति ॥ ३४ ॥ स उपाध्यायवचनादरक्षद्गाः स चाहनि गा
रक्षित्वा दिवसक्षये गुरुगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे
॥ ३५ ॥ तमुपाध्यायः पीवानमपश्यदुवाच चैनं वत्सोपमन्यो केन वृत्तिं
कल्पयसि पीवानसि दृढमिति ॥ ३६ ॥ स उपाध्यायं प्रत्युवाच भो
भैक्ष्येण वृत्तिं कल्पयामीति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ ३७ ॥ मय्यनिवेद्य

ने प्रणाम कर कहा गुरु जी, मैं नाली में पानी को रोकने के लिए पड़ा हुआ था। मेड़ बाँधने की मैंने बहुत चेष्टा की थी परन्तु बाँध नहीं सका इसीलिए यही एक सुगम उपाय सोचा था। आपकी आवाज सुनते ही एकदम खेत की नाली से निकल कर आप के पास आया हूँ। अब आप जो कुछ आज्ञा दें सो करूँ ॥२९।३०॥

धौम्य ऋषि ने प्रसन्न होकर कहा कि, तुम नाली को तोड़ कर मेरे पास आये हो इसलिये तुम्हारा नाम लोक में उद्दालक प्रसिद्ध होगा। तुमने कष्ट को सहकर भी मेरी आज्ञा का पालन किया है इससे तुम्हारा कल्याण होगा। चारों वेद और धर्मशास्त्र का तुमको बोध हो जावेगा। आरुणि अपने गुरु की आज्ञा पाकर पंजाब देश को चला गया। उसके उपरान्त धौम्य ऋषि ने अपने शिष्य उपमन्यु को वन में अपनी गायें चराने की आज्ञा दी। वह गुरु की आज्ञा पाने पर नित्य प्रति गायों को वनों में चराता और सायंकाल को उन्हें लाकर घर बाँध देता था। एक दिन शाम को उपमन्यु गुरु के समीप गये और प्रणाम करके उनके सन्मुख खड़े हो गये। गुरु ने उनको खूब हृष्ट पुष्ट जानकर पूछा—बेटा उपमन्यु, तुम क्या खाते पीते हो, जिससे इतने मोटे हो रहे हो।' उपमन्यु ने उत्तर दिया मैं भिक्षा से अपनी जीविका का निर्वाह कर लेता हूँ। गुरु ने उपमन्यु से कहा मेरे आगे भिक्षा को रक्खे बिना तुमको खाना योग्य नहीं। उपमन्यु ने कहा बहुत अच्छा, उस दिन से वह जो कुछ भीख माँग कर लाता सो अपने

भैक्ष्यं नोपयोक्तव्यमिति । स तथेत्युक्तो भैक्ष्यं चरित्वोपाध्याया-
न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥ स तस्मादुपाध्यायः सर्वमेव भैक्ष्यमगृह्णात् । स
तथेत्युक्तः पुनररक्षद्गा अहानि रक्षित्वा निशामुखे गुरुकुलमागम्य
गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३९ ॥ तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव
दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो सर्वमशेषतस्ते भैक्ष्यं गृह्णामि केनेदानीं वृत्तिं
कल्पयसीति ॥ ४० ॥ स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भगवते निवेद्य
पूर्वमपरं चरामि तेन वृत्तिं कल्पयामीति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ ४१ ॥
नैषा न्याय्या गुरुवृत्तिरन्येषामपि भैक्ष्योपजीविनां वृत्त्युपरोधं करोषीत्येवं
वर्त्तमानो लुब्धोऽसीति ॥ ४२ ॥ स तथेत्युक्त्वा गा अरक्षद्रक्षित्वा च
पुनरुपाध्यायगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४३ ॥
तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच वत्सोपमन्योऽहं ते सर्वं
भैक्ष्यं गृह्णामि न चान्यच्चरसि पीवानसि भृशं केन वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४४ ॥
स एव मुक्तस्तमुपाध्यायं प्रत्युवाच भो एतासां गवां पयसा वृत्तिं
कल्पयामीति । तमुवाचोपाध्यायो नैतन्न्याय्यं पय उपयोक्तुं भवतो

गुरु के पास रख देता था। वह गुरु उस चेले से सब भिक्षा ले लेते थे। वह इस आज्ञा को स्वीकार कर गायों की रक्षा करने लगा। एक दिन संध्या का समय आने पर गायों को ले गुरु के आश्रम में जा उसने नमस्कार किया ॥३१।३९॥

तब भी उपमन्यु को वैसा ही मोटा देखकर धौम्य ऋषि ने कहा कि बेटा उपमन्यु, मैं तुम्हारी सब भिक्षा ले लेता हूं अब तुम क्या खाते हो ? उपमन्यु ने कहा कि पहली भिक्षा मांग कर आप के अर्पण कर फिर भिक्षा मांग उससे अपनी आजीविका करता हुं। गुरु ने कहा कि ऐसा करना तुमको योग्य नहीं है। यह गुरु वृत्ति से विपरीत कार्य्य है और बहुत से भिक्षा मागकर जीविका चलाने वालों की जीविका में बाधा डालने का पाप होता है इससे तू बड़ा लोभी है। वह इस बात को भी स्वीकार कर गौओं की रक्षा करने लगा फिर सायंकाल को आ गुरु के समीप खड़ा हो नमस्कार किया। उसको फिर उपाध्याय ने मोटा ताजा देख फिर पूछा कि पुत्र उपमन्यु, मैं तेरी सब भिक्षा को ले लेता हुं और दूसरी और कोई वृत्ति भी नहीं है फिर तू किस कारण हृष्ट पुष्ट है। तू किस प्रकार अपनी आजीविका करता है? उपमन्यु ने कहा कि भगवन् मैं इन गाओं का दूध पी लेता हु। गुरु ने कहा कि यह उचित नहीं है। मेरी आज्ञा विना गाओं का दूध न पीना। उपमन्यु ने यह भी स्वीकार कर लिया और पहले की तरह अपने कार्य्य में तत्पर रहा। फिर एक दिन प्रणाम करके आगे खड़े हुए उपमन्यु को वैसा ही मोटा देखकर धौम्य ने

मया नाभ्यनुज्ञातमिति ॥ ४५ ॥ स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा
पुनरुपाध्यायगृहमेत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४६ ॥ तमुपाध्यायः
पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो भैक्ष्यं नाश्नासि न चान्यच्चरसि पयो
न पिवासि पीवानसि भृशं केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४७ ॥ स
एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भोः फेनं पिवामि यमिमे वत्सा मातॄणां
स्तनात्पिवन्त उद्गिरन्ति ॥ ४८ ॥ तमुपाध्यायःप्रत्युवाच एतेत्वदनुकम्पया
गुणवन्तो वत्साः प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति तदेषामपि वत्सानां वृत्युपरोधं
करोष्येवं वर्तमानः फेनमपि भवान्न पातुमर्हतीति । स तथेति प्रतिश्रुत्य
पुनररक्षद्गाः ॥ ४९ ॥ तथा प्रतिषिद्धो भैक्ष्यं नाश्नाति न चान्यच्चरति पयो
न पिवति फेनं नोपयुंक्ते स कदाचिदरण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राण्यभक्षयत्
॥ ५० ॥ स तैरर्कपत्रैर्भक्षितैः क्षारतिक्तकटुरूक्षैस्तीक्ष्णविपाकैश्चक्षुष्यु
पहतोऽन्धो वभूव। ततः सोऽन्धोऽपि चङ्क्रम्यमाणः कूपे पपात ॥ ५१ ॥
अथ तस्मिन्ननागच्छति सूर्ये चास्ताचलावलंविनिउपाध्यायः शिष्यानवोचत्
नायात्युपमन्युःत ऊचुर्वनं गतो गारक्षितुमिति तानाहउपाध्यायः ॥ ५२ ॥
मयोपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः स नियतं कुपितस्ततो नागच्छति
चिरम् । ततोऽन्वेष्य इत्येवमुक्त्वा शिष्यैः सार्धमरण्यं गत्वा तस्याह्वानाय

पूछा कि बेटा उपमन्यु, तू भिक्षा नहीं करता दूसरी बार भी भिक्षा को नहीं जाता और दूध भी नहीं पीता अब क्या आजीविका करता है? वह गुरु के पूछने पर बोला कि जब तक यह बछड़े अपनी माताओं का दूध पीते हैं उस समय इनके मुख से जो फेना (झाग) निकलता है उसको पीकर मैं आजीविका करता हूं। धौम्य ने कहा कि यह उचित नहीं। बछड़े तुम पर कृपा करके बहुत सा फेना उगलते हैं और अपना पेट भरने में न्यूनता करते हैं इसलिए तुम फेना भी न पीया करो। उपमन्यु ने फेना को पीना भी बन्द कर दिया और इसी तरह गौओं का पालन करने लगा। इस प्रकार अपने गुरु से निषेध किया हुआ उपमन्यु न तो भिक्षा करता, न दूध पीता और न फेन को काम में लाता, इसलिए भूख से अत्यन्त लाचार होकर आक के पत्ते खाने लगा। और रूखे खारी, कड़वे और तीक्ष्ण आक के पत्तों को खा करके अंधा हो गया। और गुरु के आश्रम में आता हुआ कुएँ में गिर पडा ॥५०।५१॥

सूर्य के अस्त होने पर जब वह आश्रम में न आया तब गुरु ने अपने शिष्यों से पूछा कि क्या उपमन्यु नहीं आया? शिष्यों ने उत्तर दिया कि आपने तो उसे गाय चराने भेजा था, गुरु ने फिर कहा कि मैंने उपमन्यु को बार बार रोका था इससे वह क्रोध में आकर किसी अन्य स्थान चला गया होगा, इसी

शब्दं चकार भो उपमन्यो कासि वत्सैहीति ॥ ५३ ॥ स उपाध्यायवचनं श्रुत्वा प्रत्युवाचोच्चैरयमस्मिन्कूपे पतितोऽहमिति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच कथं त्वमस्मिन्कूपे पतित इति ॥ ५४ ॥ स उपाध्यायं प्रत्युवाचअर्कपत्राणि भक्षयित्वाऽन्धीभूतोऽस्म्यतः कूपे पतित इति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ ५५ ॥ अश्विनौ स्तुहि तौ देवाभिषजौ त्वां चक्षुष्मन्तं कर्तारावितिं। स एवमुक्त उपाध्यायेनोपमन्युरश्विनौ स्तोतुमुपचक्रमे देवावश्विनौ वाग्भिर्ऋग्भिः ॥ ५६ ॥

प्रपूर्वगौ पूर्वजौ चित्रभानू गिरा वाऽऽशंसामि तपसा ह्यनन्तौ।
दिव्यौ सुपर्णौ विरजौ विमानावधिक्षिपन्तौ भुवनानि विश्वा ॥ ५७ ॥
हिरण्मयौ शकुनी सांपरायौ नासत्यदस्रौ सुनसौ वैजयन्तौ।
शुक्लं वयन्तौ तरसा सुवेमावधिव्ययन्तावसितं विवस्वतः ॥ ५८ ॥
ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्तिकाममुञ्चतामश्विनौ सौभगाय।
तावत्सुवृत्तावनमन्त मायया वसत्तमागा अरुणा उदाऽवहन् ॥ ५९ ॥
षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति।
नाना गोष्ठा विहिता एकदोहनास्तावश्विनौ दुहतो धर्ममुक्थ्यम् ॥ ६० ॥

कारण से अभी तक नहीं आया उसको देखना चाहिये। यह कहकर गुरु अपने शिष्यों को साथ ले वन में गये। वहां जाकर ऊँची आवाज़ से बोलने लगे—बेटा उपमन्यु, कहाँ हो? आओ। अपने गुरु के शब्दों को सुनकर वह उपमन्यु कुएँ के भीतर से बोला कि मैं यहां कुएँ में पड़ा हूं। गुरु ने पूछा तुम कैसे कुएँ में गिर पड़े? उपमन्यु ने उत्तर दिया कि, मैं आक के पत्ते खाकर अंधा हो गया हूं इससे कुएँ में गिर पड़ा हूँ। गुरु ने कहा—तुम देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमारों की स्तुति करो। वह प्रसन्न होकर तुझे नेत्र सहित कर देंगे। उपमन्यु इस प्रकार गुरु की आज्ञा पाकर वेद वाक्यों से अश्विनीकुमारों की स्तुति करने लगा ॥५२।५६॥

हे अश्विनीकुमारो! तुम सृष्टि के पहले विद्यमान थे और सब से पहले उत्पन्न हुए। आप विचित्र प्रपंच वाले आकार करके अग्निरूप होकर प्रकाशमान् हो। मैं आप की वाणी और तप द्वारा स्तुति करता हूं। आप अन्तरहित पक्षिस्वरूप रजोगुणरहित अपरिमित सम्पूर्ण भवनों को सत्वगुण में लाने वाले हो। आप तेजस्वरूप, महाप्रलय में सब के निवासस्थान, मिथ्याज्ञान से रहित, सुन्दर नासिका वाले और काल को जीतने वाले हो। आप सूर्य को रचकर काले सूत्ररूपी रात्रि और श्वेत सूत्ररूपी दिन के ताने बाने से सम्वत्सररूपी कपड़े को बुनकर लोक को सुमार्ग में करने वाले हो जीवरूपी पक्षी के परमात्मा की काल शक्ति

एकां नाभिं सप्तशता अराः श्रिताः प्रधिष्वन्या विंशतिरर्पिता अराः ।
अनेमि चक्रं परिवर्त्ततेऽजरं मायाऽश्विनौ समनक्ति चर्पणी ॥ ६१ ॥
एकं चक्रं वर्त्तते द्वादशारं षण्णाभिमेकाक्षममृतस्य धारणम् ।
यस्मिन्देवा अधि विश्वे विषक्तास्तावश्विनौ मुञ्चतं माविषीदितम् ॥ ६२ ॥
अश्विनाविन्दुममृतं वृत्तभूयौ तिरोधत्तामश्विनौ दासपत्नी ।
हित्वा गिरिमश्विनौ गामुदाचरन्तौ तद्वृष्टिमह्ना प्रस्थितौ बलस्य ॥ ६३ ॥
युवां दिशो जनयथो दशाग्रे समानं मूर्ध्नि रथयानं वियन्ति ।
तासां यातमृषयोऽनु प्रयान्ति देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६४ ॥
युवां वर्णान्विकुरुथो विश्वरूपांस्तेऽधिक्षियन्ते भुवनानि विश्वा ।
ते भानवोऽप्यनुसृताश्चरन्ति देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६५ ॥
तौ नासत्यावश्विनौ वां महेऽहं स्रजं च यां बिभृथः पुष्करस्य ।
तौ नासत्यावमृतावृतावृधावृते देवास्तत्प्रपदे न सूते ॥ ६६ ॥

द्वारा भ्रमित होने के कारण उसको मोक्षरूपी सौभाग्य देने को अश्विनीकुमारों के रूप में प्रकटित हुए हो। मूर्ख मनुष्य रागादि विषयों में जकड़े हुए जब तक इन्द्रियों के अधीन होकर रहते हैं तब तक आप उनको शरीरधारी समझते हो। ३६० रात्रि और दिनरूपी कर्म फल रूप, दुग्ध देने वाली गाय, सम्वत्सर रूप बछड़े को पैदा करती है और भिन्न भिन्न प्रकार की क्रिया वाली भी एक प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करती है। हे अश्विनीकुमारो ! तुम उनके दुहने वाले हो। और वह सम्वत्सररूप बछड़ा सब संसार का हरने वाला और कर्मों को उत्पन्न करने वाला है। सम्वत्सर चक्र में एक नाभी है और सात सौ बीस दिन रात्रि रूप अरे लगे हुए हैं। तुमने उस अनियत मायामय अक्षय कालचक्र को नियुक्त किया है। वह कालचक्र इस लोक और परलोक की सब प्रजा को स्पर्श कर रहा है। मघादि राशि रूपी बारह आरे, ऋतुरूपी छः धुरे और वर्णरूपी एक अक्षवाला तथा कर्मफल रूपी आधार युक्त जो एक चक्र है जिसमें कालाभिमानी देवता आसक्त है। तुम मुझ जन्म मरण से दुःखित को उस काल चक्र से मुक्त करो। तुम विषय आदि सम्पूर्ण प्रपंचों से भरे हो। तुम ही आकाशादि लय के कारण हो। तुम ही अनादि अविद्या दोष मे भोगने वाले पदार्थों में इन्द्रिय संयोग करके परम आनन्द से विचर रहे हो। हे अश्विनीकुमारो ! तुमने सृष्टि के पहले दश दिशाओं को, आकाश को और सब के समानरूप से वर्त्तमान सूर्य्य को उत्पन्न किया। दिशा और काल के अनुसार ऋषि लोग सम्पूर्ण कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। देवता और मनुष्य अपने अधिकार के अनुसार ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं। हे अश्विनीकुमारो ! तुम लाल, शुक्ल और कृष्ण इन वर्णों को उत्पन्न करते हो और इन्हीं रंगों के मेल से सम्पूर्ण लोकों को उत्पन्न करते हो और सम्पूर्ण प्रकाशमय जीव, देव, मनुष्य

मुखेन गर्भं लभेतां युवानौ गतासुरेतत्प्रपदेन सूते ।
सद्यो जातो मातरमत्ति गर्भस्तावश्विनौ मुंचथो जीवसेगाः ॥ ६७ ॥
स्तोतुं न शक्नोमि गुणैर्भवन्तौ चक्षुर्विहीनः पथि संप्रमोहः ।
दुर्गेऽहमस्मिन् पतितोऽस्मि कूपे युवां शरण्यौ शरणं प्रपद्ये ॥ ६८ ॥
इत्येवं तेनाभिष्टुतावश्विनावाजग्मतुराहतुश्चैनं प्रीतौ स्व एप तेऽपूपोऽशानेन-
मिति ॥ ६९ ॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच नानृतमूचतुर्भगवन्तौ न त्वहमेतम-
पूपमुपयोक्तुमुत्सहे गुरवेऽनिवेद्येति ॥ ७० ॥ ततस्तमाश्विनावूचतुरावाभ्यां
पुरस्ताद्भवत उपाध्यायेनैवमेवाभिष्टुताभ्यामपूपो दत्त उपयुक्तः स तेनानि-
वेद्य गुरवे त्वमपि तथैव कुरुष्व यथा कृतमुपाध्यायेनेति ॥ ७१ ॥ स
एवमुक्तः प्रत्युवाचैतत्प्रत्यनुनये भवन्तावश्विनौ नोत्सहेऽहमनिवेद्य
गुरवेऽपूपमुपयोक्तुमिति ॥ ७२ ॥ तमश्विनावाहतुः प्रीतौस्वस्तवानया
गुरुभक्त्योपाध्यायस्य ते कार्ष्णायसा दन्ता भवतोऽपि हिरण्मया

और पशु आदि इस पृथ्वी का आश्रय किये हुए इसमें विचरते हैं। हे अश्विनीकुमारो ! आप सत्य रूप हैं। मैं आप की पूजा करता हूं। आप आकाश में व्याप्त हो रहे हैं। आप नित्यमुक्त और कर्मों के फल को धारण करने वाले हैं। तुम्हारे विना अभिमानी देवता अपने अपने विषय को प्राप्त नहीं कर सकते। तुम प्रथम मुख से गर्भ को धारण करते हो इसके उपरांत माता पिता के द्वारा गर्भ को धारण कराते हो तिसके उपरांत उत्पन्न हुआ गर्भ माता का दुग्ध पान करता है। हे अश्विनी-कुमार ! आप जीने के लिए मुझे चक्षु दो ॥५७।६७॥

मैं नेत्र हीन और ज्ञान से रहित आप की स्तुति नही कर सकता हूं और इस कुएं में गिरा पड़ा हूं। तुम शरणागत की रक्षा करने वाले हो सो तुम दोनों की शरण ली है। सूत ने कहा कि, उपमन्यु ने इसी तरह और भी उन की स्तुति की।

इस प्रकार स्तुति किये हुए अश्विनीकुमार वहा पर आये और कहने लगे कि, हम तुझपर प्रसन्न हैं और यह पुआ तुझको देते हैं इसको खा। इस प्रकार अश्विनीकुमारों के वचन सुनकर उपमन्यु ने कहा कि, आप लोगों का कहना ठीक है परन्तु विना गुरु के अर्पण किये इसको नहीं खा सकता हूं ॥६८।७०॥

अश्विनीकुमारों ने कहा कि, पहले तुम्हारे गुरु ने भी इसी तरह स्तुति की थी। हमने प्रसन्न होकर उनको पुआ दिया था। उन्होंने अपने गुरु को विना अर्पण किये ही पुआ खा लिया था। ऐसे ही तू भी खा। इस प्रकार उनके वचनों को सुनकर उपमन्यु कहने लगा कि, आप क्षमा कीजिये। मैं गुरु को अर्पण किये विना इस पुए को कदापि नहीं खा सकता हूं। अश्विनीकुमार बोले कि, हम तेरी गुरु भक्ति देखकर अति प्रसन्न हुए हैं। तुम्हारे गुरु के लोहे के दांत हैं किन्तु तुम्हारे सवर्ण के

भविष्यन्ति चक्षुष्मांश्च भविष्यसीति श्रेयश्चावाप्स्यसीति ॥ ७३ ॥ स एवमुक्तोऽश्विभ्यां लब्धचक्षुरुपाध्यायसकाशमागम्याभ्यवादयत् ॥ ७४ ॥ आचचक्षे च स चास्य प्रीतिमान्बभूव ॥ ७५ ॥ आह चैनं यथाऽश्विनावाहतुस्तथा त्वं श्रेयोऽवाप्स्यसि ॥ ७६ ॥ सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति एषा तस्यापि परीक्षोपमन्योः ॥ ७७ ॥ अथापरः शिष्यस्तस्यैवापोदस्य धौम्यस्य वेदो नाम तमुपाध्यायः समादिदेश वत्स वेदइहास्यतां तावन्मम गृहे कंचित्कालं शुश्रूषुणा च भवितव्यं श्रेयस्ते भविष्यतीति ॥ ७८ ॥ स तथेत्युक्त्वा गुरुकुले दीर्घकालं गुरुशुश्रूषणपरोऽवसत् । गौरिव नित्यं गुरुणा धूर्षु नियोज्यमानः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादुःखसहः सर्वत्राप्रतिकूलस्तस्य महता कालेन गुरुः परितोषं जगाम ॥ ७९ ॥ तत्परितोषाच्च श्रेयः सर्वज्ञतां चावाप । एषा तस्यापि परीक्षा वेदस्य ॥ ८० ॥ स उपाध्यायेनानुज्ञातः समावृत्तस्तस्माद् गुरुकुलवासाद् गृहाश्रमं प्रत्यपद्यत तस्यापि स्वगृहे वसतस्त्रयः शिष्या बभूवुः स शिष्यान्न किंचिदुवाच कर्म वा क्रियतां गुरुशुश्रूषा चेति । दुःखाभिज्ञो हि गुरुकुलवासस्य शिष्यान्परिक्लेशेन योजयितुं नेयेष ॥ ८१ ॥ अथ कस्मिंश्चित्काले वेदं ब्राह्मणं जनमेजयः पौष्यश्च क्षत्रियावुपेत्य

दान होंगे अर्थात् तेरा गुरु अग्निनित मुख्य दुःख के रूप कर्मों को भोगने वाला होगा और तुझे सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति होगी और नेत्रवान होकर परम कल्याण को प्राप्त होगा ॥७२।७३॥

इस प्रकार अश्विनीकुमारों के वचन सुन कर उसके नेत्र खुले और गुरु के समीप आकर प्रणाम किया। उपमन्यु ने गुरु को सब हाल कहा। गुरु सुनकर उसपर बहुत प्रसन्न हुए। और शिष्य से कहा कि जैसा तुझ से अश्विनीकुमारों ने कहा वैसा ही होगा। सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र का ज्ञान होगा ॥७४।७७॥

यह दूसरे शिष्य उपमन्यु की परीक्षा हुई।

इसके उपरान्त तीसरे शिष्य वेद से गुरु ने कहा कि हे पुत्र! तुम कुछ दिन मेरे घर में रहकर गुरु सेवा करो तुम्हारा मंगल होगा। वह शिष्य गुरु के वचन को स्वीकार कर सेवा करने में तत्पर हुआ। वह जुए में नियुक्त हुए बैल की भांति गर्मी और सर्दी को सहन करता हुआ गुरु सुश्रुषा में रहने लगा। बहुत काल के व्यतीत होने पर गुरु प्रसन्न हुए। और वह अपने गुरु की कृपा से कल्याण को प्राप्त हो सर्वज्ञ हो गया। यह तीसरे शिष्य वेद की परीक्षा कही ॥७८।८०॥

वह अपने उपाध्याय की आज्ञा से गुरुकुल से लौटकर गृहस्थाश्रम में रहने लगा। उसके भी

वरयित्वोपाध्यायं चक्रतुः ॥ ८२ ॥ स कदाचिद्याज्यकार्येणाभिप्रस्थित उत्तङ्कनामानं शिष्यं नियोजयामास ॥ ८३ ॥ भो यत्किंचिदस्मद्गृहे परिहीयते तदिच्छाम्यहमपरिहीयमानं भवता क्रियमाणमिति । स एवं प्रतिसंदिश्योत्तङ्कं वेदः प्रवासं जगाम ॥ ८४ ॥ अथोत्तङ्कः शुश्रूषुर्गुरुनियोगमनुतिष्ठमानो गुरुकुले वसति स्म । स तत्र वसमान उपाध्यायस्त्रीभिः सहिताभिराहूयोक्तः ॥ ८५ ॥ उपाध्यायिनी ते ऋतुमतीउपाध्यायश्च प्रोपितोऽस्या यथाऽयमृतुर्वन्ध्यो न भवति तथा क्रियतामेषा विषीदतीति ॥ ८६ ॥ एवमुक्तस्ताः स्त्रियः प्रत्युवाच न मया स्त्रीणां वचनादिदमकार्यं करणीयं न ह्यहमुपाध्यायेन संदिष्टोऽकार्यमपि त्वया कार्यमिति ॥ ८७ ॥ तस्य पुनरुपाध्यायः कालान्तरेण गृहमाजगाम तस्मात्प्रवासात् । स तु तद्वृत्तं तस्याशेपमुपलभ्य प्रीतिमानभूत् ॥ ८८ ॥ उवाच चैनं वत्सोत्तङ्क किं ते प्रियं करवाणीति । धर्मतो हि शुश्रूपितोऽस्मि भवता तेन प्रीतिः परस्परेण नौ संवृद्धा तदनुजाने भवन्तं सर्वानेव कामानवाप्स्यसि गम्यतामिति ॥ ८९ ॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच किं ते प्रियं करवाणीति एवमाहुः ॥ ९० ॥ यश्चाधर्मेण वै ब्रूयाद्यश्चाधर्मेण पृच्छति । तयोरन्यतरः प्रैति

तीन शिष्य हुए। वह उन शिष्यों से किसी कार्य्य व सेवा को नहीं कहता था क्योंकि उसको गुरुकुल निवास के दुःख का अनुभव (ज्ञान) था। इस कारण से अपने शिष्यों को वह कष्ट देना नहीं चाहता था। कुछ काल गये पीछे राजा जनमेजय और राजा पौष्य ने वेद को अपना उपाध्याय बनाया वह वेद कदाचित् यजमान के कार्य्य में जाता हुआ उत्तंक नामक शिष्य को किसी कार्य्य में लगा गया। हे शिष्य! जो कुछ घर का काम हो उचित अनुचित समझकर जब तक हम वापस न आवें तब तक करना ऐसा कहकर, वह गुरु परदेश को चला गया तत्पश्चात् स्त्रियों ने उत्तंक को एक दिन बुला कर ऐसा कहा, तुम्हारी उपाध्यायनी ऋतुमती हुई है और गुरु तेरा परदेश में गया है ऐसा करो कि इस ऋतु का फल व्यर्थ न जाय। वह अत्यंत व्याकुल है। उत्तंक ने उत्तर दिया कि मैं स्त्रियों के वचन से यह अकार्य्य न करूंगा और ऐसा कुकर्म करने को गुरु जी ने मुझे आज्ञा भी नहीं दी है। उत्तंक का गुरु कुछ काल के पश्चात अपने घर आया और सब वृत्तान्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसको बुलाकर कहा कि हम तुम पर प्रसन्न हैं अब तू अपने घर को जा मैं आज्ञा देता हूं तेरे सब कार्य्य सिद्ध होंगे॥८१।८९॥

उत्तंक ने कहा—गुरु जी, मैं आपका क्या प्रिय कार्य्य करूं। क्योंकि इस विषय में वृद्ध लोग कहते हैं कि गुरु यदि दक्षिणा नहीं लेता और शिष्य यदि गुरु दक्षिणा नहीं देता तो गुरु शिष्य में परस्पर

विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ९१ ॥ सोऽहमनुज्ञातो भवतेच्छामीष्टं गुर्वर्थमुप-
हर्तुमिति । तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्कोष्यतां तावदिति
॥ ९२ ॥ स कदाचिदुपाध्यायमाहोत्तंक आज्ञापयतु भवान् किं ते प्रियमु-
पाहरामि गुर्वर्थमिति ॥ ९३ ॥ तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क बहुशो
मां चोदयसि गुर्वर्थमुपाहरामीति तद्गच्छैनां प्रविश्योपाध्यायिनीं पृच्छ
किमुपाहरामीति ॥ ९४ ॥ एषा यद् ब्रवीति तदुपाहरस्वेति । स एवमुक्त
उपाध्यायेनोपाध्यायिनीमपृच्छद्भगवत्युपाध्यायेनास्म्यनुज्ञातो गृहं गन्तु-
मिच्छामीष्टं ते गुर्वर्थमुपहृत्यानृणो गन्तुमिति ॥ ९५ ॥ तदाज्ञापयतु
भवती किमुपाहरामि गुर्वर्थमिति । सैवमुक्तोपाध्यायिनी मुत्तंकं प्रत्युवाच
गच्छ पौष्यं प्रति राजानं कुण्डले भिक्षितुं तस्य क्षत्रियया पिनद्धे ॥ ९६ ॥
आनयस्व चतुर्थेऽहनि पुण्यकं भविता ताभ्यामावद्धाभ्यां शोभमाना
ब्राह्मणान्परिवेष्टुमिच्छामि । तत्संपादयस्वैवं हि कुर्वतः श्रेयो भविताऽ-
न्यथा कुतः श्रेय इति ॥ ९७ ॥ स एवमुक्तस्तया प्रातिष्ठतोत्तङ्कः स
पथि गच्छन्न पश्यदृषभमतिप्रमाणं तमधिरूढं च पुरुषमतिप्रमाणमेव ।
स पुरुष उत्तङ्कमभ्यभाषत ॥ ९८ ॥ भो उत्तङ्कैतत्पुरीषमस्य ऋषभस्य
भक्षयस्वेति । स एवमुक्तो नैच्छत् ॥ ९९ ॥ तमाह पुरुषो भूयो भक्षयस्वो-

विरोध होता है और दोनों में से एक अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है । इसलिए आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं क्या गुरु दक्षिणा दूं । गुरु ने उत्तर दिया बेटा उत्तक, कुछ दिन और ठहरो, फिर कहूंगा। कुछ काल व्यतीत होने पर उत्तक ने फिर कहा कि महाराज जो कुछ आप गुरु दक्षिणा की मुझको आज्ञा दें सो मैं दूं । यह सुनकर उपाध्याय बोले कि अपनी उपाध्यायनी से पूछो वह जो कुछ मांगे सो दो । यह सुनकर उत्तक उपाध्यायनी के समीप गया और कहा कि मैं गुरु दक्षिणा देकर अपने घर जाना चाहता हूं सो गुरु जी ने कहा है कि जो तुम्हारी गुरु माता मांगे सो दो, सो जो कुछ तुम आज्ञा करो सो मैं पूरा करूं । यह सुनकर उपाध्यायनी ने कहा कि राजा पौष्य की स्त्री के कान के कुण्डल आज के चौथे दिन मुझे लाकर दो उस दिन मैं व्रत करके उन्हीं कुण्डलों को पहिर कर ब्राह्मणों को भोजन खिलाऊंगी जो तुम उस समय तक कुण्डल लाकर न दोगे तो तुम्हारा कल्याण नहीं होगा । उपाध्यायनी के वचन सुनकर उत्तक वहां से पौष्य राजा के पास चला रास्ते में क्या देखता है कि एक मनुष्य एक बड़े मोटे ताजे बैल पर चढा हुआ यह कह रहा है कि हे उत्तक ! तुम इस बैल का गोबर खालो परन्तु उसने खाने की इच्छा नहीं की ॥९०।९९॥

त्तङ्क मा विचारयोपाध्यायेनापि ते भक्षितं पूर्वमिति ॥ १०० ॥ स एवमुक्तो वाढमित्युक्त्वा तदा तदृषभस्य मूत्रं पुरीषं च भक्षयित्वोत्तङ्कः संभ्रमादुत्थित एवाप उपस्पृश्य प्रतस्थे ॥ १०१ ॥ यत्र स क्षत्रियः पौष्यस्तमुपेत्यासीनमपश्यदुत्तङ्कः । स उत्तङ्कस्तमुपेत्याशीर्भिराभिनंद्योवाच ॥ १०२ ॥ अर्थी भवन्तमुपागतोऽस्मीति स एनमभिवाद्योवाच भगवन् पौष्यः खल्वहं किं करवाणीति ॥ १०३ ॥ तमुवाच गुर्वर्थं कुण्डलयोरर्थेनाभ्यागतोऽस्मीति ये वै ते क्षत्रियया पिनद्धे कुण्डले ते भवान् दातुमर्हतीति ॥ १०४ ॥ तं प्रत्युवाच पौष्यः प्रविश्यान्तः पुरं क्षत्रिया याच्यतामिति स तेनैवमुक्तः प्रविश्यान्तः पुरं क्षत्रियां नापश्यत् ॥ १०५ ॥ स पौष्यं पुनरुवाच न युक्तं भवताऽहमनृतेनोपचरितुं न हि तेऽन्तःपुरे क्षत्रिया संनिहिता नैनां पश्यामि ॥ १०६ ॥ स एवमुक्तः पौष्यः क्षणमात्रं विमृश्योत्तङ्कं प्रत्युवाच नियतं भवानुच्छिष्टः स्मर तावन्न हि सा क्षत्रियोच्छिष्टेनाशुचिना शक्या द्रष्टुं पतिव्रतात्वात्सैषा नाशुचेर्दर्शनमुपैतीति ॥ १०७ ॥ अथैवमुक्त उत्तङ्कः स्मृत्वोवाचास्ति खलु मयोत्थितेनोपस्पृष्टं गच्छता चेति तं पौष्यः प्रत्युवाचैष ते व्यतिक्रमो नोत्थितेनोपस्पृष्टं भवतीति शीघ्रं गच्छता चेति ॥ १०८ ॥ अथोत्तङ्कस्तं तथेत्युक्त्वा

फिर वह पुरुष उत्तंक से बोला कि तेरे गुरु ने भी पहले इसे खाया था इसलिए तू भी विचार न कर और इसे खाले। उत्तंक ने बहुत अच्छा कहकर उस बैल के गोबर और मूत्र को खा शीघ्रता से उठकर हाथ मुंह धोकर चल दिया ॥१००।१०१॥

उत्तंक ने जाकर राजा पौष्य को बैठा देख उसे आशीर्वाद से प्रसन्न कर बोला कि हे राजन ! मैं कुछ मांगने के लिए आपके पास उपस्थित हुआ हूं। वह राजा प्रणाम कर बोला—हे ऋषि पुत्र ! मैं आपका सेवक हूं कहिये मुझे क्या आज्ञा है ? उत्तंक ने उत्तर दिया—गुरु की स्त्री को गुरु दक्षिणा में देने के लिए मैं कुण्डलों के लेने के लिए आप के पास आया हूं। जो कुण्डल आप की स्त्री ने पहिने हैं वह मुझे ला दीजिये। पौष्य बोला—आप अन्त पुर (रनवास) के भीतर जाकर रानी से मांग लीजिये। उत्तंक अन्तःपुर में गया और वहां रानी को न देखकर वापस आ पौष्य से बोला—कि हे राजा ! आपको झूठ बोलना उचित नहीं था। आपकी रानी रनवास में मुझे कहीं नहीं देख पड़ती। क्षणभर सोचकर राजा पौष्य उत्तंक से बोला—भगवन् ! आप अपवित्र हैं, अपवित्र पुरुष को पतिव्रता स्त्री दिखाई नहीं देती। (और उसके सन्मुख भी नहीं होती) राजा पौष्य के बचन सुनकर कुछ स्मरण करके वह उत्तंक बोला—ठीक है, मैंने उठकर चलते चलते आच-

प्राङ्मुख उपविश्य सुप्रक्षालितपाणिपादवदनो निःशब्दाभिरफेनाभिरनु-
ष्णाभिर्हृद्गताभिरद्भिस्त्रिः पीत्वा द्विःपरिमृज्य खान्यद्भिरुपस्पृश्य चान्तःपुरं
प्रविवेश ॥ १०९ ॥ ततस्तां क्षत्रियामपश्यत्सा च दृष्ट्वैवोत्तङ्कं प्रत्युत्थाया-
भिवाद्योवाच स्वागतं ते भगवन्नाज्ञापय किं करवाणीति ॥ ११० ॥ स
तामुवाचैते कुण्डले गुर्वर्थं मे भिक्षिते दातुमर्हसीति । सा प्रीता तेन
तस्य सद्भावेन पात्रमयमनतिक्रमणीयश्चेति मत्वा ते कुण्डलेऽवमुच्यास्मै
प्रायच्छदाह चैनमेते कुण्डले तक्षको नागराजः सुभृशं प्रार्थयत्यप्रमत्तो
नेतुमर्हसीति ॥ १११ ॥ स एवमुक्तस्तां क्षत्रियां प्रत्युवाच भगवति
सुनिर्वृत्ता भव न मां शक्तस्तक्षको नागराजो धर्षयितुमिति ॥ ११२ ॥
स एवमुक्त्वा तां क्षत्रियामामंत्र्य पौष्यसकाशमागच्छदाह चैनं भोः
पौष्य प्रीतोऽस्मीति । तमुत्तङ्कं पौष्यः प्रत्युवाच ॥ ११३ ॥ भगवंश्चिरेण
पात्रमासाद्यते भवांश्च गुणवानतिथिस्तदिच्छे श्राद्धं कर्तुं क्रियतां क्षण-
इति ॥ ११४ ॥ तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच कृतक्षण एवास्मि शीघ्रमिच्छामि
यथोपपन्नमन्नमुपस्कृतं भवतेति । स तथेत्युक्त्वा यथोपपन्नेनान्नेनैनं

मन किया था उससे पौष्य फिर बोला कि यह आपकी भूल है, चलते, उठते और खडे होकर आचमन करना ठीक नहीं होता। तब उत्तंक ने मुँह और हाथ पैर धो पूर्व की ओर मुख करके बैठ कर स्वच्छ, उष्णता रहित और हृदय तक पहुचते हुए जल से तीन बार चुपचाप आचमन कर दो बार मुँह शुद्ध कर जल से इन्द्रियों की शुद्धि करके रनवास मे गया। वहा जाकर उन्होंने रानी को देखा और वह रानी प्रणाम कर बोली हे भगवन्! आपका शुभ आना हो मै आपकी क्या सेवा करू ॥१०९।११०॥

उत्तंक ने कहा मै गुरु पत्नी को गुरुदक्षिणा मे देने के लिए तुम्हारे कुण्डल चाहता हु, वह उसकी गुरु भक्ति मे प्रसन्न होकर कि यह सुपात्र है और निषेध करने के योग्य नहीं है ऐसा जानकर अपने कानों से कुण्डल उतार कर दे दिये और कहा कि नागों का राजा तक्षक इन कुण्डलों को लेने की अत्यन्त इच्छा करता है इससे आप सावधानी से लेकर जावें। ॥१११॥

वह इस प्रकार वचन सुनकर बोला कि हे रानी! आप किसी प्रकार की चिन्ता न करो, नागों का राजा तक्षक उन्हें मेरे हाथ से नहीं छीन सकता है। रानी से यह कह उसकी आज्ञा ले वह राजा पौष्य के समीप आया और कहा—हे पौष्य! मै तुमपर प्रसन्न हू। पौष्य ने कहा—हे भगवन्! सदा सुपात्र ब्राह्मण नहीं मिला करते है। आप अतिथि हैं थोडी देर ठहरिए भोजन करके जावें। उत्तंक बोला—मैं शीघ्र जाना चाहता हू आप जो अन्न इस समय तैयार हो वही मँगावें। राजा पौष्य ने कहा- बहुत

भोजयामास ॥ ११५ ॥ अथोत्तङ्कः सकेशं शीतमन्नं दृष्ट्वाशुच्येतदिति मत्वा तं पौष्यमुवाच यस्मान्मेऽशुच्यन्नं ददासि तस्मादन्धो भविष्यसीति ॥ ११६ ॥ तं पौष्यः प्रत्युवाच यस्मात्त्वमप्यदुष्टमन्नं दूषयसि तस्मात्त्वमनपत्यो भविष्यसीति । तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच ॥ ११७ ॥ न युक्तं भवताऽन्नमशुचि दत्वा प्रतिशापं दातुं तस्मादन्नमेव प्रत्यक्षी कुरु । ततः पौष्यस्तदन्नमशुचि दृष्ट्वा तस्याशुचिभावमपरोक्षयामास ॥ ११८ ॥ अथ तदन्नं मुक्तकेश्या स्त्रिया यत्कृतमनुष्णं सकेशं चाशुच्येतदिति मत्वा तमृषिमुत्तङ्कं प्रसादयामास ॥ ११९ ॥ भगवन्नेतदज्ञानादन्नं सकेशमुपाहृतं शीतं तत्क्षामये भवन्तं न भवेयमन्ध इति । तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच ॥ १२० ॥ न मृषा ब्रवीमि भूत्वा त्वमन्धो न चिरादन्धो भविष्यसीति ममापि शापो भवता दत्तो न भवेदिति ॥ १२१ ॥ तं पौष्यः प्रत्युवाच न चाहं शक्तः शापं प्रत्यादातुं न हि मे मन्युरद्याप्युपशमं गच्छति किं चैतद्भवता न ज्ञायते तथा ॥ १२२ ॥ नवनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य वाचि क्षुरो निशितस्तीक्ष्णधारः । तदुभयमेतद्विपरीतं क्षत्रियस्य वाङ्नवनीतं

अच्छा ऐसा कहकर, उत्तंक के आगे तैयार भोजन लाकर परोस दिया । इसके पश्चात् उत्तक उस भोजन को ठंडा और बाल सहित देख अशुद्ध जान, पौष्य से कुपित होकर बोला, आपने मुझ को अपवित्र और ठंडा भोजन दिया है । इसलिए अन्धे हो जाओगे । पौष्य ने कहा कि, आपने शुद्ध अन्न को अपवित्र कहा है, इसलिए आप सन्तान रहित होंगे । फिर उत्तक ने कहा—आपने एक तो अपवित्र अन्न दिया और फिर उलटा मुझको शाप भी दिया, ऐसा करना आप को उचित नहीं था । तत्पश्चात् पौष्य ने उस अन्न को अपवित्र देख, अपवित्र मान लिया । वह समझकर कि, खुले केश वाली ने अपवित्र और ठंडा अन्न किया है उसकी प्रार्थना करने लगा । हे भगवन् ! यह बाल सहित ठंडा अन्न बिना जाने आप को परोसा है। इससे मैं क्षमा चाहता हूं कि, मुझे अन्धा न होना पड़े ॥११२।१२०॥

उत्तक ने कहा—मेरा वचन झूठा नहीं हो सकता । आप अन्धे अवश्य होंगे । परन्तु शीघ्र ही अच्छे हो जाओगे । मैं भी चाहता हूं कि, तुमने मुझको जो शाप दिया है, उसमें मुझे मुक्त कर दो । पौष्य राजा ने उत्तक से कहा—मैं अपने शाप को नहीं हटा सकता और मेरा क्रोध भी अभी तक शान्त नहीं हुआ । क्या आप इस बात को नहीं जानते कि, ब्राह्मण का हृदय मक्खन के समान होता है, और वाणी में छुरे के समान तीक्ष्ण धार होती है । क्षत्रिय का हृदय छुरे की धार के समान तीक्ष्ण और वाणी मक्खन के समान कोमल होती

हृदयं तीक्ष्णधारमिति ॥ १२३ ॥ तदेवं गते न शक्तोऽहं तीक्ष्णहृदयत्वात्तं शापमन्यथा कर्तुं गम्यतामिति। तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच भवताऽहमन्नस्याशुचिभावमालक्ष्य प्रत्यनुनीतः प्राक्च तेऽभिहितं ॥ १२४ यस्माददुष्टमन्नं दूषयसि तस्मादनपत्यो भविष्यसीति। दुष्टे चान्ने नैष मम शापो भविष्यतीति ॥ १२५ ॥ साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च ॥ १२६ ॥ अथोत्तङ्कस्ते कुण्डले सन्यस्य भूमावुदकार्थं प्रचक्रमे। एतास्मिन्नन्तरे स क्षपणकस्त्वरमाण उपसृत्य ते कुण्डले गृहीत्वा प्राद्रवत् ॥ १२७ ॥ तमुत्तङ्कोऽभिसृत्य कृतोदककार्यः शुचिः प्रयतो नमो देवेभ्यो गुरुभ्यश्च कृत्वा महता जवेन तमन्वयात् ॥ १२८ ॥ तस्य तक्षको दृढमासन्नः स तं जग्राह गृहीतमात्रः स तद्रूपं विहाय तक्षकस्वरूपं कृत्वा सहसा धरण्यां विवृतं महाबिलं प्रविवेश ॥ १२९ ॥ प्रविश्य च नागलोकं स्वभवनमगच्छत्। अथोत्तङ्कस्तस्याः क्षत्रियाया वचः स्मृत्वा तं तक्षकमन्वगच्छत् ॥ १३० ॥ स तद्बिलं दण्डकाष्ठेन चखान न चाशकत्। तं क्लिश्यमानमिन्द्रोऽपश्यत्स वज्रं प्रेषयामास ॥ १३१ ॥ गच्छास्य ब्राह्मणस्य

है। मेरा हृदय तीक्ष्ण होने के कारण, अपने दिये हुए शाप को अन्यथा नहीं कर सकता हूं। आप चले जावें। उत्तङ्क ऋषि बोले—आपने अन्न को अपवित्र देखकर, मुझसे क्षमा के लिए प्रार्थना की। और शाप शान्त करा लिया। उसके पहले अन्न को पवित्र समझकर, आपने मुझको शाप दिया था। अब अन्न निःसन्देह अपवित्र निकला है, इस कारण आपका यह शाप मुझको नहीं लग सकता। ऐसा कह उत्तंक दोनों कुण्डल लेकर वहां से चल दिया। रास्ते में क्या देखता है कि, एक नङ्गा पाखण्डी भिक्षुक उनके पीछे पीछे छिपता हुआ आ रहा है ॥१२३।१२६॥

उत्तंक उन कुण्डलों को पृथ्वी पर रख, एक सरोवर के किनारे शौच और आचमन को गया। इसी समय वह भिक्षुक शीघ्रता से पृथ्वी पर पड़े हुए कुण्डलों को उठा ले गया। उत्तंक शौच आदि से निपट कर गुरु और देवताओं को नमस्कार करके अति शीघ्रता से उसके पीछे दौड़ा। वह भिक्षुक नागों का राजा तक्षक था। उत्तंक ने बहुत ही समीप पहुंच कर, तक्षक को पकड़ लिया। पकड़ते ही वह भिक्षुक रूप को छोड़, तक्षक रूप से पृथ्वी के एक बिल में प्रवेश हो, नाग लोक में अपने घर पहुंच गया। इसके पश्चात् उत्तंक ने राजा पौष्य की रानी के वचन को याद कर, उस तक्षक के पीछे गया ॥१२७।१३०॥

वहां उस बिल को लकड़ी से खोदने में

साहाय्यं कुरुष्वेति। अथ वज्रं दण्डकाष्ठमनुप्रविश्य तद्बिलमदारयत्॥ १३२॥
तमुत्तङ्कोऽनु विवेश तेनैव बिलेन प्रविश्य च तं नागलोमपर्यन्तमनेक-
विधप्रासादहर्म्यवलभीनिर्यूहशतसंकुलमुच्चावचक्रीडाश्चर्य स्थानावकीर्णम-
पश्यत् ॥ १३३ ॥ स तत्र नागांस्तानस्तुवदेभिः श्लोकैः ॥

य ऐरावतराजानः सर्पाः समितिशोभनाः ।
क्षरन्त इव जीमूताः सविद्युत्पवनेरिताः ॥ १३४ ॥
सुरूपा बहुरूपाश्च तथा कल्माषकुण्डलाः ।
आदित्यवन्नाकपृष्ठे रेजुरैरावतोद्भवाः ॥ १३५ ॥
बहूनि नागवेश्मानि गङ्गायास्तीर उत्तरे ।
तत्रस्थानपि संस्तौमि महतः पन्नगानहम् ॥ १३६ ॥
इच्छेत्कोऽर्कांशुसेनायां चर्तुमैरावतं विना ।
शतान्यशीतिरष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ॥ १३७ ॥
सर्पाणां प्रग्रहा यान्ति धृतराष्ट्रो यदैजति ।
ये चैनमुपसर्पन्ति ये च दूरपथं गताः ॥ १३८ ॥
अहमैरावतज्येष्ठभ्रातृभ्योऽकरवं नमः ।
यस्य वासः कुरुक्षेत्रे खाण्डवे चाभवत्पुरा ॥ १३९ ॥

असमर्थ हुआ। फिर इन्द्र महाराज ने उसको अत्यन्त दुःखित हुआ जानकर, अपना वज्र भेजा। तब वज्र ने उस लकड़ी में प्रवेश करके बिल को खोद-कर चौड़ा कर दिया। तब उत्तङ्क ऋषि उस बिल में घुस करके नागलोक को पहुंच गये। वहां भिन्न भिन्न प्रकार के मनुष्यों और देवताओं के आश्चर्य क्रीडा के स्थान और राजमहल आदि को देखा। अनन्तर वह नागों की स्तुति करने लगा, जिनका राजा ऐरावत है जो संग्राम में बडे वीर और बादलों के समान शस्त्रों के धारण करने वाले और बिजली के समान शीघ्र गति वाले, अनेक रूप वाले और सुन्दर विचित्र कुण्डल पहिरे हुए ऐरावत की सन्तान सूर्य्य के तुल्य (समान) शोभित होते हैं। मैं गंगा के उत्तर तट पर निवास करने वाले सर्पों की भी स्तुति करता हूं ॥१३४।१३६॥

सूर्य्य की किरणों के सामने ऐरावत के सिवाय और कोई नहीं जाता है। जब ऐरावत का भाई धृतराष्ट्र नाग निकलता है तब अट्ठाइस हजार आठ सर्पों की सेना उनके पीछे चलती है। जो सर्प उस के अनुचर हैं, जो सर्प दूर रहते हैं और जो ऐरावत नाग के बडे भाई हैं, उन सब की मैं स्तुति करता हूं। जो नगराज तक्षक पहिले कुरुक्षेत्र और खाण्डव वन में था उस राजा तक्षक से कुण्डलों के लिये प्रार्थना करता हूं। इक्षुमती नदी के पास कुरुक्षेत्र

तं नागराजमस्तौषं कुण्डलार्थाय तक्षकम् ।
तक्षकश्चाश्वसेनश्च नित्यं सहचरावुभौ ॥ १४० ॥
कुरुक्षेत्रं च वसतां नदीमिक्षुमतीमनु ।
जघन्यजस्तक्षकस्य श्रुतसेनेति यः सुतः ॥ १४१ ॥
अवसद्यो महद्द्युम्नि प्रार्थयन्नागमुख्यताम् ।
करवाणि सदा चाहं नमस्तस्मै महात्मने ॥ १४२ ॥
एवं स्तुत्वा स विप्रर्षिरुत्तङ्को भुजगोत्तमान् ।
नैव ते कुण्डले लेभे ततश्चिन्तामुपागमत् ॥ १४३ ॥

एवं स्तुवन्नपि नागान्यदा ते कुण्डले नालभत्तदाऽपश्यत्स्त्रियौ तन्त्रे अधिरोप्य सुवेमे पटं वयन्त्यौ । तस्मिंस्तन्त्रे कृष्णाः सिताश्च तन्तवश्चक्रं चापश्यद्द्वादशारं षड्भिः कुमारैः परिवर्त्यमानं पुरुषं चापश्यदश्वं च दर्शनीयम् ॥ १४४ ॥

स तान्सर्वांस्तुष्टावैभिर्मन्त्रवदेव श्लोकैः ॥ १४५ ॥

त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये षष्टिश्च नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन् ।
चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति ॥ १४६ ॥
तन्त्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ वयतस्तन्तून्सततं वर्त्तमन्त्यौ ।
कृष्णान्सितांश्चैव विवर्त्तयन्त्यौ भूतान्यजस्रं भुवनानि चैव ॥ १४७ ॥

में वसने वाले, नित्य साथ रहने वाले, तक्षक और अश्वसेन नाम के दोनों नागों की मैं स्तुति करता हू । नागराज होने के लिए सूर्य्य से प्रार्थना करते हुए कुरुक्षेत्र में रहने वाले तक्षक के छोटे पुत्र श्रुतसेन की भी मै स्तुति करता हू । इस प्रकार प्रार्थना और स्तुति करने पर भी जब कुण्डलों को न पाया तब उत्तंक ऋषि को बड़ी चिन्ता हुई ॥१३७।१४३॥

उसने दो स्त्रियों को देखा, जो कि तन्त्र मे सूत को चढ़ाकर अपने वस्त्र को बुन रही थी और उसमें काला और श्वेत सूत था और वहा बारह अरों से युक्त एक सुन्दर चक्र को देखा जिसको छः कुमार घुमा रहे थे । एक उसके अधिष्ठाता को और दर्शनीय घोड़े को देखा ॥१४४॥

वह महर्षि उत्तंक सबकी इन मंत्रों से स्तुति करने लगा। इस काल–चक्र मे तीन सौ साठ दिन रात्रि रूपी डोरे लगे है। और डोरों मे मिले हुए चौबीस पर्व हैं। और छ कुमार चला रहे हैं। इस तन्त्र को विश्वरूपिणी दो स्त्रियें बुनती है। और सदैव काले और श्वेत तन्तुओं को मिलाती है। और सम्पूर्ण प्राणी और लोक इसमे युक्त है। ॥१४५।१४७॥

वज्र के धारण करने वाला, संसार का रक्षक, वृत्रासुर और नमुचि को मारने वाला इन्द्र कृष्ण-

वज्रस्य भर्त्ता भुवनस्य गोप्ता वृत्रस्य हन्ता नमुचेर्निहन्ता ।
कृष्णे वसानो वसने महात्मा सत्यानृते यो विविनक्ति लोके ॥ १४८ ॥
यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं वैश्वानरं वाहनमभ्युपैति ।
नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय लोकत्रयेशाय पुरंदराय ॥ १४९ ॥
ततः स एनं पुरुषः प्राह प्रीतोऽस्मि तेऽहमनेन स्तोत्रेण किं ते प्रियं करवा-
णीति । स तमुवाच ॥ १५० ॥ नागा मे वशमीयुरिति । स चैनं पुरुषः
पुनरुवाचैतमश्वमपाने धमस्वेति ॥ १५१ ॥ ततोऽश्वस्यापानमधमत्ततो-
ऽश्वाद्धम्यमानात्सर्वस्रोतोभ्यः पावकार्चिषः सधूमा निष्पेतुः ॥ १५२ ॥
ताभिर्नागलोक उपधूपितेऽथ संभ्रान्तस्तक्षकोऽग्नेस्तेजोभयाद्विषण्णः कुण्डले
गृहीत्वा सहसा भवनान्निष्क्रम्योत्तङ्कमुवाच ॥ १५३ ॥ इमे कुण्डले गृह्णातु
भवानिति स ते प्रतिजग्राहोत्तङ्कः प्रतिगृह्य च कुण्डलेऽचिन्तयत् ॥ १५४ ॥
अद्य तत्पुण्यकमुपाध्यायिन्या दूरं चाहमभ्यागतः स कथं संभावयेयमिति ।
तत एनं चिन्तयानमेव स पुरुष उवाच ॥ १५५ ॥ उत्तङ्कैनमेवाश्वमधिरोह
त्वां क्षणेनैवोपाध्यायकुलं प्रापयिष्यतीति ॥ १५६ ॥ स तथेत्युक्त्वा तमश्व-
मधिरुह्य प्रत्याजगामोपाध्यायकुलमुपाध्यायिनी च स्नाता केशानावापयन्त्यु-
पविष्टोत्तङ्को नागच्छतीति शापायास्य मनो दधे ॥ १५७ ॥ अथैतस्मिन्नन्तरे

वस्त्रों को धारण करके सत्य और झूठ का विचार करते हैं । जो जलों के गर्भ में, उत्पन्न हुए अग्नि के समान तेजस्वी अश्ववाहन को प्राप्त होता है, उस जगदीश्वर तीनों लोकों के स्वामी को मैं नमस्कार करता हूं । इस स्तुति से प्रसन्न होकर वह मनुष्य उत्तंक से बोला—हे उत्तंक ! मैं इस स्तुति से तुझपर अत्यंत प्रसन्न हूं । तुम क्या चाहते हो ? उत्तंक ने उत्तर दिया मैं यही चाहता हूं कि, सब नाग मेरे अधीन हो जावें । वह पुरुष फिर बोला—तुम इस घोड़े के गुदा स्थान में जोर से फूंक लगाओ ॥१४८।१५१॥

उत्तंक ने वैसा ही किया । तब उस घोड़े के शरीर के सब छिद्रों से अग्नि निकलने लगी । उस अग्नि से नागलोक जलने लगा । ऐसी दशा देख, व्याकुल और भय से उदास तक्षक नाग अपने स्थान से निकला और वे कुण्डल उत्तंक को देकर कहने लगा—इन कुण्डलों को आप ले लें । उन कुण्डलों को लेकर उत्तंक विचार करने लगा । आज मेरी गुरु की स्त्री का पुण्यकर्म का दिन है और मैं बहुत दूर पड़ा हूं। जिस प्रकार हो सके गुरु की स्त्री को यह कुण्डल पहुँचाऊँ । उत्तंक को इस प्रकार चिन्ता से व्याकुल देखकर वही पुरुष (इन्द्र) कहने लगा—हे उत्तंक ! इस घोड़े पर चढ़ जा यह तुझको क्षण भर में उपाध्याय के घर पहुँचा देगा ।

स उत्तङ्कः प्रविश्यउपाध्यायकुलमुपाध्यायिनीमभ्यवादयत्ते चास्यै कुण्डले प्रायच्छत्सा चैनं प्रत्युवाच ॥ १५८ ॥ उत्तङ्क देशे कालेऽभ्यागतः स्वागतं ते वत्स त्वमनागसि मया न शप्तः श्रेयस्तवोपस्थितं सिद्धिमाप्नुहीति ॥ १५९ ॥ अथोत्तङ्क उपाध्यायमभ्यवादयत् । तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क स्वागतंते किं चिरं कृतमिति ॥ १६० ॥ तमुत्तङ्क उपाध्यायं प्रत्युवाच भोस्तक्षकेण मे नागराजेन विघ्नः कृतोऽस्मिन्कर्माणि तेनास्मि नागलोकं गतः ॥ १६१ ॥ तत्र च मया दृष्टे स्त्रियौ तन्त्रेऽधिरोप्य पटं वयन्त्यौ तस्मिंश्च कृष्णां सिताश्च तन्तवः किं तत् ॥ १६२ ॥ तत्र च मया चक्रं दृष्टं द्वादशारं षड्चैनं कुमाराः परिवर्त्तयन्ति तदपि किम् । पुरुषश्चापि मया दृष्टः स चापि कः अश्व श्चाति प्रमाणो दृष्टः सचापिकः ॥ १६३ ॥ पथि गच्छता च मया ऋषभो दृष्टस्तं च पुरुषोऽधिरूढस्तेनास्मि सोपचारमुक्त उत्तङ्कास्यऋषभस्य पुरीषं भक्षयोपाध्यायेनापि ते भक्षितमिति ॥ १६४ ॥ ततस्तस्य वचनान्मया तदृषभस्य पुरीषमुपयुक्तं स चापि कः तदेतद्भवतापदिष्टमिच्छेयं श्रोतुं किं तदिति स तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ १६५ ॥ ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च ये च ते कृष्णाः सितास्तन्तवस्ते रात्र्यहनी यदपि तच्चक्रं

॥१५२।१५६॥

वह उत्तक उसी घोड़े पर चढ़ कर उपाध्याय के घर पहुँच गया। इधर उपाध्यायनी स्नान करके केशों को गूँथ रही थी। उत्तक को न आते देखकर शाप देने का विचार करने लगी। इसी बीच में उत्तंक ने घर पहुँच कर उन्हें प्रणाम किया और उनके आगे कुण्डल रख दिये। गुरु की स्त्री ने कहा हे पुत्र ! तुम बहुत अच्छे समय पर आगये हो। यदि तुम्हारे आने में तनिक भी देर होती तो मैं तुझ को शाप दे देती। जा, तेरा कल्याण होगा और तू सब कार्य्यों में सिद्धि को प्राप्त होगा। फिर उत्तक ने गुरु के पास जा प्रणाम किया। गुरु ने कहा—हे पुत्र ! देरी करने का क्या कारण है ? उत्तक ने उत्तर दिया—भगवन्, नागों के राजा तक्षक ने मेरे कार्य्य में विघ्न किया इस कारण मुझे नागलोक में जाना पड़ा। वहां दो स्त्रियें तंत्र में काले और श्वेत डोरों से कपड़ा बुनती देखीं वह कौन थीं ? और बारह आरे वाला एक चक्र देखा जिस को छ कुमार चला रहे थे वह क्या था ? वहां एक पुरुष और एक बड़ा घोड़ा देखा वह कौन था ? मार्ग में जाते हुए एक बैल पर एक पुरुष को देखा। उस पुरुष ने नम्रता पूर्वक मुझ से कहा—हे उत्तक ! इसके गोबर को तू खा तेरे उपाध्याय ने भी खाया था। इसके उपरान्त उस मनुष्य के

द्वादशारं षड्वै कुमाराः परिवर्तयन्ति तेपिऽषड्ऋतवः संवत्सरश्चक्रम् ॥ १६६ ॥ यः पुरुषः स पर्जन्यः योऽश्वः सोऽग्निःथ ऋषभस्त्वया पथि गच्छता दृष्टः स ऐरावतो नागराट् ॥ १६७ ॥ यश्चैनमाधिरूढः पुरुषः स चेन्द्रः यदपि ते भक्षितं तस्यऋषभस्य पुरीषं तदमृतं तेन खल्वसि तस्मिन्नागभवने न व्यापन्नस्त्वम् ॥ १६८ ॥ स हि भगवानिन्द्रो मम सखा त्वदनुक्रोशादिममनुग्रहं कृतवान् । तस्मात्कुण्डले गृहीत्वा पुनरागतोऽसि ॥ १६९ ॥ तत्सौम्य गम्यतामनुजाने भवन्तं श्रेयोऽवाप्स्यसीति स उपाध्यायेनानुज्ञातो भगवानुत्तङ्कः क्रुद्धस्तक्षकं प्रतिचिकीर्षमाणो हास्तिनपुरं प्रतस्थे ॥ १७० ॥

स हास्तिनपुरं प्राप्य न चिराद्विप्रसत्तमः ।
समागच्छत राजानमुत्तङ्को जनमेजयम् ॥ १७१ ॥
पुरा तक्षशिलासंस्थं निवृत्तमपराजितम् ।
सम्यग्विजयिनं दृष्ट्वा समन्तान्मन्त्रिभिर्वृतम् ॥ १७२ ॥
तस्मै जयाशिषः पूर्वं यथान्यायं प्रयुज्य सः ।
उवाचैनं वचः काले शब्दसंपन्नया गिरा ॥ १७३ ॥

कहने से मैंने गोबर को खाया । वह पुरुष और बैल कौन था ? मैं आप से यह सब रहस्य जानना चाहता हूं । उत्तंक के इस प्रकार प्रश्न करने पर वह इस प्रकार कहने लगे-स्त्रियां धाता और विधाता अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा थे । काले और श्वेत डोरे दिन और रात थे । छः ऋतुएँ ही वे छः कुमार थे । बारह आरे वाला वह चक्र सम्वत्सर था । और वह पुरुष पर्जन्य देव था । वह घोड़ा अग्नि था । मार्ग में जाते समय बैल पर चढ़ा हुआ जो पुरुष मिला था वह इन्द्र था । और वह बैल ऐरावत हाथी था । उस बैल का गोबर अमृत था । उस अमृत के प्रभाव से ही तुम नागलोक में जीवित रहे हो । वह इन्द्र मेरा मित्र है इसीसे तुझपर दया करके उन्होंने इस विपत्ति से छुड़ाया है । इसी कारण तुम कुण्डलों को लेकर यहां आगये हो । हे पुत्र ! मैं तुझको जाने की आज्ञा देता हूं जा, तेरा कल्याण होगा । गुरु की आज्ञा पाकर उत्तंक ऋषि वहां से चल दिये । उत्तंक को तक्षक नाग पर बड़ा क्रोध आया । उससे बदला लेने की इच्छा से वह हस्तिनापुर की ओर चल पड़े ॥१५७।१७०॥

उत्तंक ऋषि शीघ्र ही हस्तिनापुर में पहुंचे और वहां राजा जनमेजय से मिले । उस समय तक्षशिला पर चढ़ाई करके उसे जीतकर जनमेजय अपने ग्राम में आये थे और अपनी सभा में मन्त्रियों के बीच विराजमान थे । विधिपूर्वक जय का आशीर्वाद दे उत्तंक अर्थयुक्त वाणी में राजा से कहने लगा—हे राजन् ! जो कार्य्य करने योग्य है उसे

उत्तङ्क उवाच—अन्यस्मिन्करणीये तु कार्ये पार्थिवसत्तम ।
बाल्यादिवान्यदेव त्वं कुरुषे नृपसत्तम ॥ १७४ ॥

सौतिरुवाच—एवमुक्तस्तु विप्रेण स राजा जनमेजयः ।
अर्चयित्वा यथान्यायं प्रत्युवाच द्विजोत्तमम् ॥ १७५ ॥

जनमेजय उवाच—आसां प्रजानां परिपालनेन स्वं क्षत्रधर्मं परिपालयामि ।
प्रब्रूहि मे किं करणीयमद्य येनासि कार्येण समागतस्त्वम् ॥ १७६ ॥

सौतिरुवाच—स एवमुक्तस्तु नृपोत्तमेन द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
उवाच राजानमदीनसत्वं स्वमेव कार्यं नृपते कुरुष्व ॥ १७७ ॥

उत्तङ्क उवाच—तक्षकेण महीन्द्रेन्द्र येन ते हिंसितः पिता ।
तस्मै प्रतिकुरुष्व त्वं पन्नगाय दुरात्मने ॥ १७८ ॥
कार्यकालं हि मन्येऽहं विधिदृष्टस्य कर्मणः ।
तद्गच्छापचितिं राजन्पितुस्तस्य महात्मनः ॥ १७९ ॥
तेन ह्यनपराधी स दष्टो दुष्टान्तरात्मना ।
पञ्चत्वमगमद्राजा वज्राहत इव द्रुमः ॥ १८० ॥
बलदर्पसमुत्सिक्तस्तक्षकः पन्नगाधमः ।
अकार्यं कृतवान्पापो योऽदशत्पितरं तव ॥ १८१ ॥

छोड़ कर आप बालकों की तरह अन्य कार्य्य में लगे हुए हैं ॥१७१।१७४॥

सूत पुत्र उग्रश्रवा शौनक आदि ऋषियों से बोले, इस प्रकार जनमेजय उस ब्राह्मण का यथायोग्य सत्कार कर बोला—हे भगवन्! इस प्रजा का पालन करके मैं क्षत्रियों के धर्म का पालन करता हूं। आप कहें मेरा इस समय क्या कर्त्तव्य है जिसके लिये आप यहां आये हैं। इस प्रकार राजा से कहा हुआ श्रेष्ठ और पुण्य आत्मा उत्तङ्क बड़े प्रतापी राजा से बोला—हे राजन्! आप अपना ही कार्य्य कीजिये। हे पृथ्वीनाथ! तक्षक नाग ने आप के पिता का नाश किया। उससे महात्मा पिता का बदला लेना आप का सब से पहला काम है। इस कार्य्य को करके अपने पिता के ऋण से अपने को छुडाइये। राजा परीक्षित ने उसका कुछ अपराध नहीं किया था। उस दुष्ट तक्षक ने उन को डस लिया और वह वज्र के टूटे हुए वृक्ष के समान मृत्यु को प्राप्त हुआ। अपने बल के घमण्ड में फूले हुए नीच तक्षक ने अन्याय से आप के पिता को मार दिया है। कश्यप ऋषि अपने मन्त्र बल से आप के पिता को जिलाने के लिये जा रहे थे, सो उन्हें भी उस पापी तक्षक ने धन देकर लौटा दिया। हे महाराज! आप सर्पयज्ञ में उस पापी को जलती हुई अग्नि में होम करो इससे

राजर्षिवंशगोप्तारममरप्रतिमं नृपम् ।
यियासुं कश्यपं चैव न्यवर्तयत पापकृत् ॥ १८२ ॥
होतुमर्हसि तं पापं ज्वलिते हव्यवाहने ।
सर्पसत्रे महाराज त्वरितं तद्विधीयताम् ॥ १८३ ॥
एवं पितुश्चापचितिं कृतवांस्त्वं भविष्यसि ।
मम प्रियं च सुमहत्कृतं राजन् भविष्यति ॥ १८४ ॥
कर्मणः पृथिवीपाल मम येन दुरात्मना ।
विघ्नः कृतो महाराज गुर्वर्थं चरतोऽनघ ॥ १८५ ॥
सौतिरुवाच—एतच्छ्रुत्वा तु नृपतिस्तक्षकाय चुकोप ह ।
उत्तङ्कवाक्यहविषा दीप्तोऽग्निर्हविषा यथा ॥ १८६ ॥
अपृच्छत्स तदा राजा मन्त्रिणस्तान्सुदुःखितः ।
उत्तङ्कस्यैव सान्निध्ये पितुः स्वर्गगतिं प्रति ॥ १८७ ॥
तदैव हि स राजेन्द्रो दुःखशोकाप्लुतोऽभवत् ।
यदैव वृत्तं पितरमुत्तङ्कादश्रुणोत्तदा ॥ १८८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौष्यपर्वणि पौष्याख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥३॥ पौष्यपर्वसमाप्तम् ॥

शीघ्र ही उस यज्ञ का प्रारम्भ किया जावे। इस प्रकार आप अपने पिता का बदला लेने में समर्थ होंगे और मुझे भी इससे सुख होगा। हे पृथ्वीपाल! उस दुरात्मा ने गुरु के लिये कार्य करते हुए विघ्न किया है। उग्रश्रवा बोले—राजा ने उसके वाक्य को सुनकर घी डाले अग्नि के समान तक्षक नाग पर क्रोध किया। क्रोध में आकर राजा जनमेजय उत्तंक के समीप पिता के मरने का वृत्तान्त मन्त्रियों से पूछने लगा। मन्त्रियों से उसी समय सब हाल सुनकर राजा जनमेजय बहुत दुःखित हुआ ॥१७५।१८८॥

आदिपर्व का तीसरा अध्याय पौष्यपर्व नाम समाप्त हुआ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ४

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिको नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ऋषीनभ्यागतानुपतस्थे ॥ १ ॥ पौराणिकः

॥ चौथा अध्याय ४ ॥

पुराणों के विद्वान् लोमहर्षण सूत के पुत्र उग्रश्रवा नैमिषारण्य तीर्थ में कुलपति शौनक के बारह वर्ष के यज्ञ में एकत्रित हुए ऋषियों से हाथ जोड़ कर बोले—हे ऋषियो! अब आप लोग क्या

पुराणे कृतश्रमः स कृताञ्जलिस्तानुवाच किं भवन्तः श्रोतुमिच्छन्ति
किमहं ब्रवाणीति ॥ २ ॥ तमृषय ऊचुः । परमं लौमहर्षणे वक्ष्यामस्त्वां
नः प्रतिवक्ष्यसि वचः शुश्रूषतां कथायोगं नः कथायोगे ॥ तत्र भगवा-
न्कुलपतिस्तु शौनकोऽग्निशरणमध्यास्ते ॥ ४ ॥

योऽसौ दिव्याः कथा वेद देवतासुरसंश्रिताः ।
मनुष्योरगगन्धर्वकथा वेद च सर्वशः ॥ ५ ॥
स चाप्यस्मिन्मखे सौते विद्वान्कुलपतिर्द्विजः ।
दक्षो धृतव्रतो धीमाञ्छास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ६ ॥
सत्यवादी शमपरस्तपस्वी नियतव्रतः ।
सर्वेषामेव नो मान्यः स तावत्प्रतिपाल्यताम् ॥ ७ ॥
तस्मिन्नध्यासति गुरावासनं परमार्चितम् ।
ततो वक्ष्यसि यत्त्वां स प्रक्ष्यति द्विजसत्तमः ॥ ८ ॥
सौतिरुवाच—एवमस्तु गुरौ तस्मिन्नुपविष्टे महात्मनि ।
तेन पृष्टः कथाः पुण्या वक्ष्यामि विविधाश्रयाः ॥ ९ ॥
सोऽथ विप्रर्षभः सर्वं कृत्वा कार्यं यथाविधि ।
देवान्वाग्भिः पितॄनद्भिस्तर्पयित्वाऽऽजगाम ह ॥ १० ॥
यत्र ब्रह्मर्षयः सिद्धाः सुखासीना धृतव्रताः ।
यज्ञायतनमाश्रित्य सूतपुत्रपुरः सराः ॥ ११ ॥

सुनना चाहते हैं ? और मैं क्या आप से कहूँ ? ऋषियों ने कहा हे सूत ! जो हम पूछेंगे सो कहना। इस समय हमारे पूजनीय कुलपति शौनक जी अग्नि स्थान में बैठे हैं। वह देवता, असुर, मनुष्य, सर्प, गन्धर्व आदि सबकी कथाओं को अच्छी तरह जानते हैं। वह विद्वान व्रतों को धारण करने वाले, बुद्धिमान, शास्त्रों के जानकार, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, तपस्या के करने वाले और जो इस यज्ञ के अधिष्ठाता हैं, हमें उनकी इन्तजार करनी चाहिये। वह जब आकर उत्तम आसन पर विराजमान होंगे तब उन्हीं के प्रश्न के अनुसार आप कथा का वर्णन आरम्भ करें। उग्रश्रवा ने कहा—ऐसा ही होना चाहिये। जब हम सब के महात्मा गुरु आसन पर आकर बैठेंगे तब उनके प्रश्न के अनुसार मैं पवित्र कथाओं को कहूँगा। इसके उपरान्त वह श्रेष्ठ सम्पूर्ण कार्यों को विधिपूर्वक करके देवताओं को वाणी द्वारा और पितरों को जल से तृप्त कर यज्ञ स्थान में आये। वहाँ बड़े

ऋत्विक्ष्वथ सदस्येषु स वै गृहपतिस्तदा ।
उपविष्टेषूपविष्टः शौनकोऽथाब्रवीदिदम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि कथाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥ पौलोमपर्व समाप्तम् ॥

जब सिद्ध ब्रह्मर्षि लोग सभा में बैठे हुए थे। सब लोग जब सब बैठ गये तब शौनक जी ने सूत से कहा ॥४।१२॥

आदिपर्व का चौथा अध्याय पौलोमपर्व नाम समाप्त हुआ।

पञ्चमोऽध्यायः

शौनक उवाच—पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान्पुरा ।
कच्चित्त्वमपि तत्सर्वमधीषे लोमहर्षणे ॥ १ ॥
पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।
कथ्यन्ते ये पुरास्माऽभिः श्रुतपूर्वा पितुस्तव ॥ २ ॥
तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् ।
कथयस्व कथामेतां कल्याः स्म श्रवणे तव ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच—यदधीतं पुरा सम्यग्द्विजश्रेष्ठैर्महात्मभिः ।
वैशम्पायनविप्राग्र्यैस्तैश्चापि कथितं यथा ॥ ४ ॥
यदधीतं च पित्रा मे सम्यक्चैव ततो मया ।
तावच्छृणुष्व यो देवैः सेन्द्रैः सर्षिमरुद्गणैः ॥ ५ ॥
पूजितः प्रवरो वंशो भार्गवो भृगुनन्दन ।
इमं वंशमहं पूर्वं भार्गवं ते महामुने ॥ ६ ॥

॥ पाँचवाँ अध्याय ५ ॥

शौनक ऋषि बोले हे सूत पुत्र! तुम्हारे पिता सब पुराणों को जानते थे। क्या तुमने भी सब पुराण पढ़े हैं? पुराणों में बुद्धिमानों के दिव्य आदि वंश कहे गये हैं। जो कथा तुम्हारे पिता से हमने पहले भी सुनी थी उसको अब हम कहा करते हैं। इस समय पहले हम भृगुवंश का वर्णन सुनना चाहते हैं सो हमसे आप कहो। उग्रश्रवा ने कहा—पहले वैशम्पायन मुनि जो ब्राह्मणों में श्रेष्ठ और वेदपाठियों में उत्तम थे उन्होंने पुराणों को अच्छी तरह पढ़ा और सुनाया। उसके उपरान्त मेरे पिता ने भी उन पुराणों को पढ़ा था और उन्हीं पुराणों को मैंने भी पढ़ा है। अब आप भृगुवंश जो बड़ा उत्तम है जिसे सब देवता और ऋषि मानते हैं उसकी कथा सुनिये, मैं पुराणों

निगदामि यथायुक्तं पुराणाश्रयसंयुतम् ।
भृगुर्महर्षिर्भगवान्ब्रह्मणा वै स्वयंभुवा ॥ ७ ॥
वरुणस्य क्रतौ जातः पावकादिति नः श्रुतम् ।
भृगो सुदयितः पुत्रश्च्यवनो नाम भार्गवः ॥ ८ ॥
च्यवनस्य च दायादः प्रमतिर्नाम धार्मिकः ।
प्रमतेरप्यभूत्पुत्रो घृताच्यां रुरुरित्युत ॥ ९ ॥
रुरोरपि सुतो जज्ञे शुनको वेदपारगः ।
प्रमद्वरायां धर्मात्मा तव पूर्वपितामहः ॥ १० ॥
तपस्वी च यशस्वी च श्रुतवान्ब्रह्मवित्तमः ।
धार्मिकः सत्यवादी च नियतो नियताशनः ॥ ११ ॥
शौनक उवाच—सूतपुत्र यथा तस्य भार्गवस्य महात्मनः ।
च्यवनत्वं परिख्यातं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १२ ॥
सौतिरुवाच—भृगोः सुदयिता भार्या पुलोमेत्यभिविश्रुता ।
तस्यां समभवद्गर्भो भृगुवीर्यसमुद्भवः ॥ १३ ॥
तस्मिन्गर्भेऽथ संभूते पुलोमायां भृगूद्वह ।
समये समशीलिन्यां धर्मपत्न्यां यशस्विनः ॥ १४ ॥
अभिषेकाय निष्क्रान्ते भृगौ धर्मभृतां वरे ।
आश्रमं तस्य रक्षोऽथ पुलोमाऽभ्याजगाम ह ॥ १५ ॥

के अनुसार कहता हूँ । ऐसा मैंने सुना है कि महा ऋषि भृगु जी वरुण के यज्ञ में स्वयभुव ब्रह्मा जी से अग्नि में उत्पन्न हुए थे । उनके पुत्र च्यवन हुए । और च्यवन के प्रमति नामक पुत्र हुए । और धर्मारूढ़ प्रमति के घृताची स्त्री से रुरु नामक पुत्र हुए । रुरु के प्रमद्वारा स्त्री से शुनक नामक पुत्र हुए । शुनक जी तपस्वी, यशस्वी, वेदों के ज्ञाता, ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ, धर्मात्मा, सत्यवादी, समाधि नियम से युक्त और उचित आहार करने वाले थे और आप के दादा थे ॥१।११॥

शौनक ने कहा—हे सूत पुत्र ! भृगु के पुत्र च्यवन ऋषि का जिस प्रकार नाम पड़ा उस कथा को हमें सुनाओ । उग्रश्रवा ने कहा—भृगु की स्त्री का नाम पुलोमा था । भृगु के वीर्य से उसको गर्भ हुआ । उसके धारण होने पर वह भार्या यश वाले भृगु के समान थी ॥१३।१४॥

एक दिन भृगु जी अपनी स्त्री को आश्रम में अकेली छोड़ कर स्नान करने के लिये गये ।

तं प्रविश्याश्रमं दृष्ट्वा भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ।
हृच्छयेन समाविष्टो विचेताः समपद्यत ॥ १६ ॥
अभ्यागतं तु तद्रक्षः पुलोमा चारुदर्शना ।
न्यमन्त्रयत वन्येन फलमूलादिना तदा ॥ १७ ॥
तां तु रक्षस्तदा ब्रह्मन्हृच्छयेनाभिपीडितम् ।
दृष्ट्वा हृष्टमभूद्राजञ्जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥ १८ ॥
जातमित्यब्रवीत्कार्यं जिहीर्षुर्मुदितः शुभाम् ।
सा हि पूर्वं वृता तेन पुलोम्ना तु शुचिस्मिता ॥ १९ ॥
तां तु प्रादात्पिता पश्चाद्भृगवे शास्त्रवत्तदा ।
तस्य तत्किल्बिषं नित्यं हृदि वर्तति भार्गव ॥ २० ॥
इदमन्तरमित्येवं हर्तुं चक्रे मनस्तदा ।
अथाग्निशरणेऽपश्यज्ज्वलन्तं जातवेदसम् ॥ २१ ॥
तमपृच्छत्ततो रक्षः पावकं ज्वलितं तदा ।
शंस मे कस्य भार्येयमग्ने पृच्छे ऋतेन वै ॥ २२ ॥
मुखं त्वमसि देवानां वद पावक पृच्छते ।
मया हीयं वृता पूर्वं भार्यार्थे वरवर्णिनी ॥ २३ ॥

अवसर को देखकर पुलोमा नाम राक्षस भृगु के आश्रम में घुस आया। आश्रम में प्रवेश होकर उसकी भार्या पुलोमा को देख, वह राक्षस कामातुर होकर अचेत हो गया। सुन्दर स्वरूपवती पुलोमा उसे देखकर वन के फल-फूल आदि से सत्कार करने लगी। काम से अत्यत पीड़ित वह राक्षस उसे देखकर, प्रसन्न हो, उस पतिव्रता को हरणे की इच्छा करने लगा ॥१५।१८॥

उस उत्तम स्त्री की इच्छा करने वाला पुलोमा नामक राक्षस प्रसन्नता से अपने कार्य्य की सिद्धि समझने लगा। पहले पुलोमा राक्षस ने स्वरूपवती पुलोमा को उसके पिता से मागा था। किन्तु पिता ने राक्षस को न देकर अपनी कन्या भृगु को व्याह दी। वह दुःख इस राक्षस के हृदय में वर्तमान था ॥१९।२०॥

यह अवसर देखकर उस राक्षस ने उसके हरणे की इच्छा की। फिर उसने अग्निशाला में अग्नि को जलते देखा। तब वह राक्षस अग्नि से पूछने लगा कि हे अग्निदेव! तुम ठीक ठीक कहो यह भार्या किस की है? हे अग्निदेव! तुम देवताओं के मुख हो इसलिये तुम मुझ से सत्य सत्य कहो। पहले मैंने ही विवाह करने के लिये इस सुन्दरी को इसके पिता से मांगा था। पीछे से अपने वाक्य को झूठा करके इसके पिता ने भृगु

पश्चादिमां पिता प्रादाद्भृगवेऽनृतकारकः ।
सेयं यदि वरारोहा भृगोर्भार्या रहोगता ॥ २४ ॥
तथा सत्यं समाख्याहि जिहीर्षाम्याश्रमादिमाम् ।
स मन्युस्तत्र हृदयं प्रदहन्निव तिष्ठति ।
मत्पूर्वभार्यां यदिमां भृगुराप सुमध्यमाम् ॥ २५ ॥
सौतिरुवाच—एवं रक्षस्तमामन्त्र्य ज्वलितं जातवेदसम् ।
शङ्कमानं भृगोर्भार्यां पुनः पुनरपृच्छत ॥ २६ ॥
त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि नित्यदा ।
साक्षिवत्पुण्यपापेषु सत्यं ब्रूहि कवे वचः ॥ २७ ॥
मत्पूर्वाऽपहृता भार्या भृगुणाऽनृतकारिणा ।
सेयं यदि तथा मे त्वं सत्यमाख्यातुमर्हसि ॥ २८ ॥
श्रुत्वा त्वत्तो भृगोर्भार्यां हरिष्याम्याश्रमादिमाम् ।
जातवेदः पश्यतस्ते वद सत्यां गिरं मम ॥ २९ ॥
सौतिरुवाच—तस्यैतद्वचनं श्रुत्वा सप्तार्चिर्दुःखितोऽभवत् ।
भीतोऽनृताच्च शापाच्च भृगोरित्यब्रवीच्छनैः ॥ ३० ॥
अग्निरुवाच—त्वया वृता पुलोमेयं पूर्वं दानवनन्दन ।
किं त्वियं विधिना पूर्वं मंत्रवन्न वृता त्वया ॥ ३१ ॥
पित्रा तु भृगवे दत्ता पुलोमेयं यशस्विनी ।
ददाति न पिता तुभ्यं वरलोभान्महायशाः ॥ ३२ ॥

के साथ इसका विवाह कर दिया है। यदि यह भृगु की स्त्री ही है तो सच सच कहो। तुझ से सुनकर इस स्त्री को मैं इस आश्रम से हर ले जाऊंगा। उग्रश्रवा ने कहा अग्नि से वह राक्षस बार-बार पूछने लगा। उसने फिर कहा हे अग्नि देव! तुम सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में सदा पुण्य और पाप के साक्षी हो। सच-सच कहो। मेरी मांगी हुई स्त्री को भृगु ने अन्याय करके छीन लिया है। यदि यह सुंदरी वही है तो हे सर्वज्ञ! तुम ठीक-ठीक कहो। तुम से सुनकर तुम्हारे सामने मैं भृगु की भार्या को हर ले जाऊंगा। राक्षस के इन वाक्यों को सुनकर वह अग्निदेव बड़े क्लेश में पड़ गये। यदि 'नहीं' कहें तो झूठ बोलने का पाप होता है, और यदि 'हां' कहें तो भृगु ऋषि का शाप भोगना पड़ता है। ऐसा जान कर, अग्निदेव धीरे से बोले—हे राक्षस तुम ने यह

अथेमां वेददृष्टेन कर्मणा विधिपूर्वकम् ।
भार्यामृषिर्भृगुः प्राप मां पुरस्कृत्य दानव ॥ ३३ ॥
सेयमित्यवगच्छामि नानृतं वक्तुमुत्सहे ।
नानृतं हि सदा लोके पूज्यते दानवोत्तम ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि पुलोमाग्निसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥ पौलोमपर्वसमाप्तम ॥

पुलोमा वरी थी परन्तु विधिपूर्वक शास्त्रानुसार तुमने इसको ग्रहण नहीं किया । अच्छे वर के लोभ से पिता ने अपनी कन्या भृगु को दी तुझको न दी । विधिपूर्वक मुझे साक्षी करके भृगु ने ही इस स्त्री को ग्रहण किया है । यह उन्हीं की स्त्री है-यह मैं अच्छी तरह जानता हूं । और झूठ कहने को मैं असमर्थ हूं । झूठ बोलने से समाज में अपमान होता है ॥३१।३४॥

आदिपर्व का पांचवां अध्याय पौष्यपर्व समाप्त हुआ ॥

षष्ठोऽध्यायः ६

सौतिरुवाच—अग्नेरथ वचः श्रुत्वा तद्रक्षः प्रजहार ताम् ।
ब्रह्मन्वराहरूपेण मनोमारुतरंहसा ॥ १ ॥
ततः स गर्भो निवसन्कुक्षौ भृगुकुलोद्वहः ।
रोषान्मातुश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत् ॥ २ ॥
तं दृष्ट्वा मातुरुदराच्च्युतमादित्यवर्चसम् ।
तद्रक्षो भस्मसाद्भूतं पपात परिमुच्य ताम् ॥ ३ ॥
सा तमादाय सुश्रोणी ससार भृगुनन्दनम् ।
च्यवनं भार्गवं पुत्रं पुलोमा दुःखमूर्च्छिता ॥ ४ ॥

॥ छठा अध्याय ६ ॥

उग्रश्रवा ने कहा—हे ऋषियो ! अग्निदेव के वचन सुनकर पुलोमा नाम राक्षस ने वाराह (शूकर) का रूप धारण करके वहां से उस सुन्दरी को लेकर शीघ्रता से भागा । हे शौनक वह भृगु का गर्भ जो उस स्त्री की था माता की कोख से गिर गया । इसी से उस बालक का नाम च्यवन हुआ । माता के उदर से गिरे हुए सूर्य के समान तेजस्वी उस गर्भ को देखकर वह राक्षस उसे छोड़ पृथ्वी पर गिर कर भस्म हो गया । दुःखित सुन्दरी पुलोमा भृगु के पुत्र च्यवन को लेकर आश्रम की ओर चली । ब्रह्माजी भृगु की स्त्री को रोते हुए देखकर वहीं प्रगट हुए । उन्होंने उसे बहुत समझाया । उसके आंसूओं से मार्ग में एक बड़ी नदी बहने लगी । उस नदी को देखकर ब्रह्माजी ने उसका नाम वधूसरा रक्खा । वह नदी च्यवन के आश्रम के समीप बहती थी । इस प्रकार भृगु के पुत्र

तां ददर्श स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
रुदतीं बाष्पपूर्णाक्षीं भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ॥ ५ ॥
सान्त्वयामास भगवान्वधूं ब्रह्मा पितामहः ।
अश्रुबिन्दूद्भवा तस्याः प्रावर्तत महानदी ॥ ६ ॥
आवर्तन्तीं सृतिं तस्या भृगोः पत्न्यास्तपस्विनः ।
तस्या मार्गं सृतवतीं दृष्ट्वा तु सरितं तदा ॥ ७ ॥
नाम तस्यास्तदा नद्याश्चक्रे लोकपितामहः ।
वधूसरेति भगवांश्च्यवनस्याश्रमं प्रति ॥ ८ ॥
स एवं च्यवनो जज्ञे भृगोः पुत्रः प्रतापवान् ।
तं ददर्श पिता तत्र च्यवनं तां च भामिनीम् ।
स पुलोमां ततो भार्यां पप्रच्छ कुपितो भृगुः ॥ ९ ॥
भृगुरुवाच—केनासि रक्षसे तस्मै कथिता त्वं जिहीर्षते ।
न हि त्वां वेद तद्रक्षो मद्भार्यां चारुहासिनीम् ॥ १० ॥
तत्त्वमाख्याहि तं ह्यद्य शप्तुमिच्छाम्यहं रुषा ।
बिभेति को न शापान्मे कस्य चायं व्यतिक्रमः ॥ ११ ॥
पुलोमोवाच—अग्निना भगवंस्तस्मै रक्षसेऽहं निवेदिता ।
ततो मामनयद्रक्षः क्रोशन्तीं कुररीमिव ॥ १२ ॥
साऽहं तव सुतस्यास्य तेजसा परिमोक्षिता ।
भस्मीभूतं च तद्रक्षो मामुत्सृज्य पपात वै ॥ १३ ॥

प्रतापी च्यवन ऋषि हुए। इधर भृगु जी स्नान करके अपने आश्रम की ओर आकर अपने पुत्र और स्त्री को देख कुपित हो उससे पूछने लगे। किसने इस पापी राक्षस को यह बता दिया कि तुम मेरी भार्या हो? वह राक्षस इस बात को नहीं जानता था ॥९।१०॥

तुम मुझे ठीक ठीक बताओ, मैं क्रोध करके शाप देना चाहता हूं। किसने मेरे शाप से न डर कर मेरा भारी अपमान किया है? भृगु की स्त्री पुलोमा ने कहा—भगवन्, अग्नि ने उस राक्षस से मेरा हाल कहा। तिसके उपरान्त मुझको कुररी पक्षी के समान रुदन करती हुई को उसने हर लिया। परन्तु आप के पुत्र के तेज से मेरा छुटकारा हुआ और वह राक्षस मुझको छोड़कर भस्म हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। उग्रश्रवा बोले—भृगु की स्त्री पुलोमा के मुख से यह सब हाल सुनकर भृगु ने क्रोध में

सौतिरुवाच—इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान् ।
शशापाग्निमतिक्रुद्धः सर्वभक्षो भविष्यसि ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि अग्निशापे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

आकर अग्नि को शाप दिया कि, तुम सर्वभक्षी होंगे ॥११।१४॥

आदिपर्व का छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥

सप्तमोऽध्याय ७

सौतिरुवाच—शप्तस्तु भृगुणा वह्निः क्रुद्धो वाक्यमथाब्रवीत् ।
किमिदं साहसं ब्रह्मन्कृतवानसि मां प्रति ॥ १ ॥
धर्मे प्रयतमानस्य सत्यं च वदतः समम् ।
पृष्टो यदब्रुवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ॥ २ ॥
पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानानोऽप्यन्यथा वदेत् ।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात्तथाऽपरान् ॥ ३ ॥
यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानानोऽपि न भाषते ।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥ ४ ॥
शक्तोऽहमपि शप्तुं त्वां मान्यास्तु ब्राह्मणा मम ।
जानतोऽपि च ते ब्रह्मन्कथयिष्ये निबोध तत् ॥ ५ ॥
योगेन बहुधात्मानं कृत्वा तिष्ठामि मूर्तिषु ।
अग्निहोत्रेषु सत्रेषु क्रियासु च मखेषु च ॥ ६ ॥

॥ सातवां अध्याय ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो ! अग्निदेव भृगु जी के शाप को सुनकर बड़े क्रोध से बोले—कि बिना विचारे इस प्रकार से एकाएकी साहस करना आप को उचित नहीं था। धर्म वाले और कहने वाले दोनों को सत्य बोलना उचित है। इसमें जो सत्यवार्ता उसके पूछने पर मैंने कही तो मेरा इस में क्या दोष है। जो प्राणी साक्षी होकर असत्य भाषण करता है उसकी सात कुलें नीचे की और सात ऊपर की नरक में जाती हैं। और जो कोई किसी कार्य्य में जानकर सत्य या असत्य जैसा हो नहीं कहता है उसको भी यही पाप लगता है। मैं भी तुमको शाप देने को समर्थ हूँ परन्तु ब्राह्मण मेरे मान्य हैं इस कारण मैं तुमको शाप नहीं देता हूँ। आप जानते हैं कि मैं मूर्तियों में अग्नि-होत्र और उन यज्ञों में जिनमें बहुत से कर्म करने वालों से यज्ञ की क्रिया का साधन होता है गर्भाधानकर्म और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में योग द्वारा अनेक प्रकार से वास करता हूँ और दूध घी आदि जो कुछ

सौतिरुवाच—इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान् ।
शशापाग्निमतिक्रुद्धः सर्वभक्षो भविष्यसि ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि अग्निशापे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

आकर अग्नि को शाप दिया कि, तुम सर्वभक्षी होंगे ॥१३।१४॥

आदिपर्व का छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥

सप्तमोऽध्याय ७

सौतिरुवाच—शप्तस्तु भृगुणा वह्निः क्रुद्धो वाक्यमथाब्रवीत् ।
किमिदं साहसं ब्रह्मन्कृतवानसि मां प्रति ॥ १ ॥
धर्मे प्रयतमानस्य सत्यं च वदतः समम् ।
पृष्टो यदब्रुवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ॥ २ ॥
पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानानोऽप्यन्यथा वदेत् ।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात्तथाऽपरान् ॥ ३ ॥
यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानानोऽपि न भाषते ।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥ ४ ॥
शक्तोऽहमपि शप्तुं त्वां मान्यास्तु ब्राह्मणा मम ।
जानतोऽपि च ते ब्रह्मन्कथयिष्ये निबोध तत् ॥ ५ ॥
योगेन बहुधात्मानं कृत्वा तिष्ठामि मूर्तिषु ।
अग्निहोत्रेषु सत्रेषु क्रियासु च मखेषु च ॥ ६ ॥

॥ सातवां अध्याय ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो ! अग्निदेव भृगु जी के शाप को सुनकर बड़े क्रोध में बोले कि बिना विचारे इस प्रकार से एकाएक साहस करना आप को उचित नहीं था। धर्म वाले और कहने वाले दोनों को सत्य बोलना उचित है। इसमें जो सत्यवार्ता उसके पूछने पर मैंने कही तो मेरा इस में क्या दोष है। जो प्राणी साक्षी होकर असत्य भाषण करता है उसकी सात कुल नीचे की ओर सात ऊपर की नरक में जाती हैं। और जो कोई किसी कार्य में जानकर सत्य या असत्य जैसा हो नहीं कहता है उसको भी यही पाप लगता है। मैं भी तुमको शाप देने को समर्थ हूँ परन्तु ब्राह्मण मेरे मान्य हैं इस कारण मैं तुमको शाप नहीं देता हूँ। आप जानते हैं कि मैं मूर्तियों में अग्निहोत्र और उन यज्ञों में जिनमें बहुत से कर्म करने वालों से यज्ञ की क्रिया का साधन होता है गर्भाधानकर्म और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में योग द्वारा अनेक प्रकार से वास करता हूँ और दूध घी आदि जो हु-

तां ददर्श स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
रुदतीं बाष्पपूर्णाक्षीं भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ॥ ५ ॥
सांत्वयामास भगवान्वधूं ब्रह्मा पितामहः ।
अश्रुबिन्दूद्भवा तस्याः प्रावर्तत महानदी ॥ ६ ॥
आवर्तन्ती सृतिं तस्या भृगोः पत्न्यास्तपस्विनः ।
तस्या मार्गं सृतवतीं दृष्ट्वा तु सरितं तदा ॥ ७ ॥
नाम तस्यास्तदा नद्याश्चक्रे लोकपितामहः ।
वधूसरेति भगवांश्च्यवनस्याश्रमं प्रति ॥ ८ ॥
स एवं च्यवनो जज्ञे भृगोः पुत्रः प्रतापवान् ।
तं ददर्श पिता तत्र च्यवनं तां च भाविनीम् ।
स पुलोमां ततो भार्यां पप्रच्छ कुपितो भृगुः ॥ ९ ॥
भृगुरुवाच—केनासि रक्षसे तस्मै कथिता त्वं जिहीर्षते ।
न हि त्वां वेद तद्रक्षो मद्भार्यां चारुहासिनीम् ॥ १० ॥
तत्त्वमाख्याहि तं ह्यद्य शप्तुमिच्छाम्यहं रुषा ।
बिभेति को न शापान्मे कस्य चायं व्यतिक्रमः ॥ ११ ॥
पुलोमोवाच—अग्निना भगवंस्तस्मै रक्षसेऽहं निवेदिता ।
ततो मामनयद्रक्षः क्रोशन्तीं कुररीमिव ॥ १२ ॥
साऽहं तव सुतस्यास्य तेजसा परिमोक्षिता ।
भस्मीभूतं च तद्रक्षो मामुत्सृज्य पपात वै ॥ १३ ॥

प्रकटी च्यवन ऋषि हुए। इधर भृगु जी स्नान करके अपने आश्रम की ओर आकर अपने पुत्र और स्त्री को देख कुपित हो उससे पूछने लगे। किसने उस पापी राक्षस को बहका दिया कि तुम मेरी भार्या हो? वह राक्षस इस बात को नहीं जानता था ॥५-१०॥

तुम मुझे ठीक ठीक बताओ, मैं क्रोध करके शाप देना चाहता हूँ। किसने मेरे शाप से न डर कर मेरी भार्या का अपमान किया है? भृगु की स्त्री पुलोमा ने कहा–भगवन्, अग्नि ने उस राक्षस से मेरा हाल कहा। जिसके उपरान्त मुझको कुररी पक्षी के समान रुदन करती हुई को उसने हर लिया। परन्तु आप के पुत्र के तेज से मेरा छुटकारा हुआ और वह राक्षस मुझको छोड़कर भस्म हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। उग्रश्रवा बोले–भृगु की स्त्री पुलोमा के मुख से यह सब हाल सुनकर भृगु ने क्रोध में

सौतिरुवाच—इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान् ।
शशापाग्निमतिक्रुद्धः सर्वभक्षो भविष्यसि ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारत आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि अग्निशापे षष्ठोऽध्याय ॥ ६ ॥

आकर अग्नि को शाप दिया कि, तुम सर्वभक्षी होंगे ॥११।१४॥

आदिपर्व का छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥

सप्तमोऽध्याय ७

सौतिरुवाच—शप्तस्तु भृगुणा वह्निः क्रुद्धो वाक्यमथाब्रवीत् ।
किमिदं साहसं ब्रह्मन्कृतवानसि मां प्रति ॥ १ ॥
धर्मे प्रयतमानस्य सत्यं च वदतः समम् ।
पृष्टो यदब्रुवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ॥ २ ॥
पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानानोऽप्यन्यथा वदेत् ।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात्तथाऽपरान् ॥ ३ ॥
यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानानोऽपि न भाषते ।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥ ४ ॥
शक्तोऽहमपि शप्तुं त्वां मान्यास्तु ब्राह्मणा मम ।
जानतोऽपि च ते ब्रह्मन्कथयिष्ये निबोध तत् ॥ ५ ॥
योगेन बहुधात्मानं कृत्वा तिष्ठामि मूर्तिषु ।
अग्निहोत्रेषु सत्रेषु क्रियासु च मखेषु च ॥ ६ ॥

॥ सातवां अध्याय ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो ! अग्निदेव भृगु जी के शाप को सुनकर बड़े क्रोध में बोले—कि बिना विचारे इस प्रकार से एकाएकी साहस करना आप को उचित नहीं था । धर्म वाले और कहने वाले दोनों को सत्य बोलना उचित है । इसमें जो सत्यवार्ता उसके पूछने पर मैंने कही तो मेरा इस में क्या दोष है । जो प्राणी साक्षी होकर असत्य भाषण करता है उसकी सात कुलें नीचे की और सात ऊपर की नरक में जाती हैं । और जो कोई किसी कार्य में जानकर सत्य या असत्य जैसा हो नहीं कहता है उसको भी यही पाप लगता है । मैं भी तुमको शाप देने को समर्थ हूँ परन्तु ब्राह्मण मेरे मान्य हैं इस कारण मैं तुमको शाप नहीं देता हूँ । आप जानते हैं कि मैं मूर्तियों में अग्निहोत्र और उन यज्ञों में जिनमें बहुत से कर्म करने वाले हैं यज्ञ की क्रिया का साधन होता हूँ गर्भाधानकर्म और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में योग द्वारा अनेक प्रकार से वास करता हूँ और दूध घी आदि जो हु—

वेदोक्तेन विधानेन मयि यद्धूयते हविः ।
देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति वै ॥ ७ ॥
आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणास्तथा ।
दर्शश्च पौर्णमासश्च देवानां पितृभिः सह ॥ ८ ॥
देवताः पितरस्तस्मात्पितरश्चाऽपि देवताः ।
एकीभूताश्च दृश्यन्ते पृथक्त्वेन च पर्वसु ॥ ९ ॥
देवताः पितरश्चैव भुञ्जते मयि यद्धुतम् ।
देवतानां पितॄणां च मुखमेतदहं स्मृतम् ॥ १० ॥
अमावस्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः ।
मन्मुखेनैव हूयन्ते भुञ्जते च हुतं हविः ॥ ११ ॥
सर्वभक्षः कथं त्वेषां भविष्यामि मुखं त्वहम् ।
सौतिरुवाच—चिन्तयित्वा ततो वह्निश्चक्रे संहारमात्मनः ॥ १२ ॥
द्विजानामग्निहोत्रेषु यज्ञसत्रक्रियासु च ।
निरोङ्कारवषट्काराः स्वधास्वाहाविवर्जिताः ॥ १३ ॥
विनाऽग्निना प्रजाः सर्वास्तत आसन्सुदुःखिताः ।
अथर्षयः समुद्विग्ना देवान्गत्वाब्रुवन्वचः ॥ १४ ॥
अग्निनाशात्क्रियाभ्रंशाद्भ्रान्ता लोकास्त्रयोऽनघाः ।
विधध्वमत्र यत्कार्यं न स्यात्कालात्ययो यथा ॥ १५ ॥

वेदोक्त विधि से मुझमें होमा जाता है उससे देवता और पितर तृप्त होते हैं ॥१।७॥

पौर्णमासी को देवता और अमावस्या को पितर लोग जो कुछ मुझमें होमाजाता है उसे भोगते हैं तात्पर्य यह है कि मैं वेद की रीति से देवता और पितर दोनों का मुख हूँ । उन कहे हुए दोनों तिथियों में होमे हुए पदार्थ को देवता और पितर मेरे ही मुख से खाते हैं फिर इनका मुख होकर मैं सर्वभक्षी कैसे हो सकता हूँ ॥८।११॥

सूत पुत्र बोले—हे ऋषियो ! तिसके उपरान्त कुछ काल सोचकर अग्निदेव लोप हो गए । अग्निदेव के लोप हो जाने से सब संसार में अग्निहोत्र यज्ञ, सब की क्रिया में वषट्कार स्वाहा और स्वधा आदि यह सब बन्द हो गए । और इनके बन्द होने से संसार बड़ा दुःख पाने लगा । तब सब ऋषि लोग चिंता से आतुर होकर देवताओं के पास गए और कहने लगे—हे देवगण, अग्नि के न रहने से और सब कार्य्य बन्द हो जाने से तीनों

अथर्षयश्च देवाश्च ब्रह्माणमुपगम्य तु ।
अग्नेरावेदयञ्छापं क्रियासंहारमेव च ॥ १६ ॥
भृगुणा वै महाभाग शप्तोऽग्निः कारणान्तरे ।
कथं देवमुखो भूत्वा यज्ञभागाग्रभुक्तथा ॥ १७ ॥
हुतभुक्सर्वलोकेषु सर्वभक्षत्वमेष्यति ।
श्रुत्वा तु तद्वचस्तेषामग्निमाहूय विश्वकृत् ॥ १८ ॥
उवाच वचनं श्लक्ष्णं भूतभावनमव्ययम् ।
लोकानामिह सर्वेषां त्वं कर्ता चान्त एव च ॥ १९ ॥
त्वं धारयसि लोकांस्त्रीन्क्रियाणां च प्रवर्तकः ।
स तथा कुरु लोकेश नोच्छिद्येरन्यथा क्रियाः ॥ २० ॥
कस्मादेवं विमूढस्त्वमीश्वरः सन्हुताशन ।
त्वं पवित्रं सदा लोके सर्वभूतगतिश्च ह ॥ २१ ॥
न त्वं सर्वशरीरेण सर्वभक्षत्वमेष्यसि ।
अपाने ह्यर्चिषो यास्ते सर्वं भक्ष्यन्ति ताः शिखिन ॥ २२ ॥
क्रव्यादा च तनुर्या ते सा सर्वं भक्षयिष्यति ।
यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते ॥ २३ ॥

लोक अपने कर्तव्य धर्म का पालन नहीं कर सकते आप सब लोग जो कुछ उचित समझें सो शीघ्रता से करें। यह सुनकर सब देवता ऋषियों सहित ब्रह्मा जी के पास गए और कहा हे महाराज भृगु जी ने किसी कारण से अग्निदेव को सर्वभक्षी होने का शाप दिया था उस कारण से अग्निदेव यह अनुमान करके कि 'मैं देवताओं का मुख और यज्ञ की हवि के भोगने वाला होकर सर्वभक्षी क्योंकर हो सकता हूं लोप हो गए। और उनके लोप हो जाने से सब क्रिया संसार में बन्द हो गई। विश्व के कर्ता ब्रह्मा ने उनके वचन को सुनकर सम्पूर्ण भूतों के उत्पन्न करने वाले नाश रहित अग्नि को बुलाकर नम्रता से कहा—हे अग्निदेव! तुम संसार में लोकों के कर्ता और नाश करने वाले हो। तुम तीनों लोकों को धारण किए हो। सब यज्ञ आदि कर्म तुम्हीं से सिद्ध होते हैं। हे सम्पूर्ण लोक के स्वामी! तुम ऐसा करो कि जिससे क्रियायें नाश न हों। तुम ईश्वर होकर ऐसी मूर्खता क्या कर रहे हो? तुम सदा ही पवित्र हो और सम्पूर्ण प्राणियों की गति हो। तुम सम्पूर्ण शरीर से सर्वभक्षी न होगे जो तुम्हारी ज्वाला अपानी वायु में रहती है वह और तुम्हारा क्रव्यादि नाम शरीर यही सर्वभक्षी होगा। क्रव्यादि नाम शरीर वह है जिससे अनेक शरीर भस्म किए जाते हैं। हे अग्निदेव! जैसे सूर्य की

वेदोक्तेन विधानेन मयि यद्धूयते हविः ।
देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति वै ॥ ७ ॥
आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणास्तथा ।
दर्शश्च पौर्णमासश्च देवानां पितृभिः सह ॥ ८ ॥
देवताः पितरस्तस्मात्पितरश्चाऽपि देवताः ।
एकीभूताश्च दृश्यन्ते पृथक्त्वेन च पर्वसु ॥ ९ ॥
देवताः पितरश्चैव भुञ्जते मयि यद्धुतम् ।
देवतानां पितॄणां च मुखमेतदहं स्मृतम् ॥ १० ॥
अमावस्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः ।
मन्मुखेनैव हूयन्ते भुञ्जते च हुतं हविः ॥ ११ ॥
सर्वभक्षः कथं त्वेषां भविष्यामि मुखं त्वहम् ।
सौतिरुवाच—चिन्तयित्वा ततो वह्निश्चक्रे संहारमात्मनः ॥ १२ ॥
द्विजानामग्निहोत्रेषु यज्ञसत्रक्रियासु च ।
निरोङ्कारवषट्काराः स्वधास्वाहाविवर्जिताः ॥ १३ ॥
विनाऽग्निना प्रजाः सर्वास्तत आसन्सुदुःखिताः ।
अथर्षयः समुद्विग्ना देवान्गत्वाब्रुवन्वचः ॥ १४ ॥
अग्निनाशात्क्रियाभ्रंशाद्भ्रान्ता लोकास्त्रयोऽनघाः ।
निधध्वमत्र यत्कार्यं न स्यात्कालात्ययो यथा ॥ १५ ॥

वेदोक्त विधि से मुझमें होमा जाता है उससे देवता और पितर तृप्त होते हैं ॥१।७॥

पौर्णमासी को देवता और अमावस्या को पितर लोग जो वह मुझमें होमा जाता है उसे भोगते हैं इससे यह है कि मैं वेद की रीति से देवता और पितर दोनों का मुख हूँ। इन कहे हुए दोनों तिथियों में होमे हुए पदार्थ को देवता और पितर मेरे ही मुख से खाते हैं फिर इनका मुख होकर मैं सर्वभक्ष कैसे हो सकता हूँ ॥८।११॥

सूत पुत्र बोले हे ऋषियो! तिसके उपरान्त कुछ काल सोचकर अग्निदेव लोप हो गए। अग्निदेव के लोप हो जाने से सब संसार में अग्निहोत्र यज्ञ सत्र की क्रिया में वषट्कार स्वाहा और स्वधा आदि यह सब बन्द हो गए। और इनके बन्द होने से संसार बड़ा दुःख पाने लगा। तब सब ऋषि लोग चिन्ता से आतुर होकर देवताओं के पास गए और कहने लगे—हे देवगण, अग्नि के न रहने से और सब कार्य बन्द हो जाने से तीनों

अथर्पयश्च देवाश्च ब्रह्माणमुपगम्य तु ।
अग्नेरावेदयञ्छापं क्रियासंहारमेव च ॥ १६ ॥
भृगुणा वै महाभाग शप्तोऽग्निः कारणान्तरे ।
कथं देवमुखो भूत्वा यज्ञभागाग्रभुक्तथा ॥ १७ ॥
हुतभुक्सर्वलोकेषु सर्वभक्षत्वमेष्यति ।
श्रुत्वा तु तद्वचस्तेषामग्निमाहूय विश्वकृत् ॥ १८ ॥
उवाच वचनं श्लक्ष्णं भूतभावनमव्ययम् ।
लोकानामिह सर्वेषां त्वं कर्ता चान्त एव च ॥ १९ ॥
त्वं धारयसि लोकांस्त्रीन्क्रियाणां च प्रवर्तकः ।
स तथा कुरु लोकेश नोच्छिद्येरन्यथा क्रियाः ॥ २० ॥
कस्मादेवं विमूढस्त्वमीश्वरः सन्हुताशन ।
त्वं पवित्रं सदा लोके सर्वभूतगतिश्च ह ॥ २१ ॥
न त्वं सर्वशरीरेण सर्वभक्षत्वमेष्यसि ।
अपाने ह्यर्चिषो यास्ते सर्वं भक्ष्यन्ति ताः शिखिन ॥ २२ ॥
क्रव्यादा च तनुर्या ते सा सर्वं भक्षयिष्यति ।
यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते ॥ २३ ॥

लोक अपने कर्तव्य धर्म का पालन नहीं कर सकते आप सब लोग जो कुछ उचित समझें सो शीघ्रता से करें। यह सुनकर सब देवता ऋषियों सहित ब्रह्मा जी के पास गए और कहा हे महाराज भृगु जी ने किसी कारण से अग्निदेव को सर्वभक्षी होने का शाप दिया था उस कारण से अग्निदेव यह अनुमान करके कि 'मैं देवताओं का मुख और यज्ञ की हवि के भोगने वाला होकर सर्वभक्षी क्योंकर हो सकता हूँ' लोप हो गए। और उनके लोप हो जाने से सब क्रिया संसार में बन्द हो गई। विश्व के कर्ता ब्रह्मा ने उनके वचन को सुनकर सम्पूर्ण भूतों के उत्पन्न करने वाले नाश रहित अग्नि को बुलाकर नम्रता से कहा—हे अग्निदेव! तुम ससार में लोकों के कर्ता और नाश करने वाले हो। तुम तीनों लोकों को धारण किए हो। सब यज्ञ आदि कर्म तुम्हीं से सिद्ध होते हैं। हे सम्पूर्ण लोक के स्वामी! तुम ऐसा करो कि जिससे क्रियाएँ नाश न हों। तुम ईश्वर होकर ऐसी मूर्खता क्यों कर रहे हो? तुम सदा ही पवित्र हो और सम्पूर्ण प्राणियों की गति हो। तुम सम्पूर्ण शरीर से सर्वभक्षी न होगे जो तुम्हारी ज्वाला अपानी वायु में रहती है वह और तुम्हारा क्रव्यादि नाम शरीर यही सर्वभक्षी होगा। (क्रव्यादि नाम शरीर वह है जिसमें मृतक शरीर भस्म किए जाते हैं) हे अग्निदेव! जैसे सूर्य की

तथा त्वदर्चिर्निर्दग्धं सर्वं शुचि भविष्यति ।
त्वमग्ने परमं तेजः स्वप्रभावाद्विनिर्गतम् ॥ २४ ॥
स्वतेजसैव तं शापं कुरु सत्यमृषेर्विभो ।
देवानां चात्मनो भागं गृहाण त्वं मुखे हुतम् ॥ २५ ॥
सौतिरुवाच—एवमस्त्विति तं वह्निः प्रत्युवाच पितामहम् ।
जगाम शासनं कर्तुं देवस्य परमेष्ठिनः ॥ २६ ॥
देवर्षयश्च मुदितास्ततो जग्मुर्यथागतम् ।
ऋषयश्च यथापूर्वं क्रियाः सर्वाः प्रचक्रिरे ॥ २७ ॥
दिवि देवा मुमुदिरे भूतसंघाश्च लौकिकाः ।
अग्निश्च परमां प्रीतिमवाप हतकल्मषः ॥ २८ ॥
एवं स भगवाच्छापं लेभेऽग्निर्भृगुतः पुरा ।
एवमेष पुरावृत्त इतिहासोऽग्निशापजः ।
पुलोम्नश्च विनाशोऽयं च्यवनस्य च संभवः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि अग्निशाप मोचने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

किरणों से स्पर्श हुई सब वस्तुएं पवित्र समझी जाती हैं इसी प्रकार से तेरी ज्वालाओं से जली हुई सब वस्तुएं पवित्र होंगी। हे अग्निदेव ! तुम बड़े तेजस्वरूप हो। अपने प्रभाव से ऋषि के वचन को सत्य करो और देवताओं के लिए होमी हुई हवि को अपने मुख में ग्रहण करो ॥२४।२५॥

उग्रश्रवा बोले— अग्नि ने भगवान ब्रह्मा से कहा ऐसा ही होगा। इसके पश्चात अग्नि देवता ब्रह्मा की आज्ञा पालन करने के लिए फिर संसार में प्रगट हो गए। देवता और ऋषि लोग प्रसन्न होकर अपने अपने स्थान को चले गए। और ऋषि लोग पहले की तरह अपने सब कर्म करने लगे स्वर्ग के देवता और सब प्राणी प्रसन्न हुए। अग्निदेवता भी शाप से मुक्त होकर प्रसन्नता को प्राप्त हुए। इस प्रकार अग्नि ने भृगु से पहले शाप पाया। भृगु से अग्नि के शाप, पुलोमा राक्षस के नाश और च्यवन की उत्पत्ति का वृत्तान्त मैंने आप सबके आगे वर्णन किया ॥२६।२०॥

आदिपर्व का सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अष्टमोऽध्याय ८

सौतिरुवाच—स चापि च्यवनो ब्रह्मन्भार्गवोऽजनयत्सुतम् ।
सुकन्यायां महात्मानं प्रमतिं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

प्रमतिस्तु रुरुं नाम घृताच्यां समजीजनत् ।
रुरुः प्रमद्वरायां तु शुनकं समजीजनत् ॥ २ ॥
शुनकस्तु महासत्त्वः सर्वभार्गवनन्दनः ।
जातस्तपसि तीव्रे च स्थितः स्थिरयशास्ततः ॥ ३ ॥
तस्य ब्रह्मन्रुरोः सर्वं चरितं भूरितेजसः ।
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वमशेषतः ॥ ४ ॥
ऋषिरासीन्महान्पूर्वं तपोविद्यासमन्वितः ।
स्थूलकेश इति ख्यातः सर्वभूतहिते रतः ॥ ५ ॥
एतस्मिन्नेव कालेतु मेनकायां प्रजज्ञिवान् ।
गन्धर्वराजो विप्रर्षे विश्वावसुरिति स्मृतः ॥ ६ ॥
अप्सरा मेनका तस्य तं गर्भं भृगुनन्दन ।
उत्ससर्ज यथाकालं स्थूलकेशाश्रमं प्रति ॥ ७ ॥
उत्सृज्य चैव तं गर्भं नद्यास्तीरे जगाम सा ।
अप्सरा मेनका ब्रह्मन्निर्दया निरपत्रपा ॥ ८ ॥
कन्याममरगर्भाभां ज्वलन्तीमिव च श्रिया ।
तां ददर्श समुत्सृष्टां नदीतीरे महानृषिः ॥ ९ ॥
स्थूलकेशः स तेजस्वी विजने बन्धुवर्जिताम् ।
स तां दृष्ट्वा तदा कन्यां स्थूलकेशो महाद्विजः ॥ १० ॥

॥ आठवाँ अध्याय ८ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो ! भृगु के पुत्र च्यवन ने सुकन्या से बड़े तेजस्वी पुत्र प्रमति को उत्पन्न किया । प्रमति ने घृताची से रुरु नामक पुत्र उत्पन्न किया । रुरु ने प्रमद्वरा स्त्री से शुनक नामक पुत्र उत्पन्न किया । शुनक बड़ा प्रतापी, सब भृगुवंशियों को आनन्द देने वाला, तप का करने वाला और यश वाला था । बड़े तेजस्वी रुरु के सम्पूर्ण चरित्र को मैं विस्तार से कहूँगा, आप श्रवण करें । पहले समय में तपस्वी, विद्यावान, सब प्राणियों का हित चाहने वाले स्थूलकेश नामक एक महर्षि थे । उसी समय मेनका अप्सरा में गन्धर्वों के राजा विश्वावसु नाम गन्धर्व ने गर्भ स्थापित किया । हे शौनक ! दया और लज्जा से रहित वह मेनका प्रसव के समय गर्भ से उत्पन्न हुई कन्या को स्थूल-केश ऋषि के आश्रम के पास नदी के किनारे छोड़ कर आप स्नान करने गई । स्थूलकेश ऋषि उस

जग्राह च मुनिश्रेष्ठः कृपाविष्टः पुपोष च ।
ववृधे सा वरारोहा तस्याश्रमपदे शुभे ॥ ११ ॥
जातकाद्याः क्रियाश्चास्या विधिपूर्वं यथाक्रमम् ।
स्थूलकेशो महाभागश्चकार सुमहानृषिः ॥ १२ ॥
प्रमदाभ्यो वरा सा तु सत्त्वरूपगुणान्विता ।
ततः प्रमद्वरेत्यस्या नाम चक्रे महानृषिः ॥ १३ ॥
तामाश्रमपदे तस्य रुरुर्दृष्ट्वा प्रमद्वराम् ।
बभूव किल धर्मात्मा मदनोपहतस्तदा ॥ १४ ॥
पितरं सखिभिः सोऽथ श्रावयामास भार्गवम् ।
प्रमतिश्चाभ्ययाचत्तां स्थूलकेशं यशस्विनम् ॥ १५ ॥
ततः प्रादात्पिता कन्यां रुरवे तां प्रमद्वराम् ।
विवाहं स्थापयित्वाग्रे नक्षत्रे भगदैवते ॥ १६ ॥
ततः कतिपयाहस्य विवाहे समुपस्थिते ।
सखीभिः क्रीडती सार्धं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ १७ ॥
नापश्यत्संप्रसुप्तं वै भुजङ्गं तिर्यगायतम् ।
पदा चैनं समाक्रामन्मुमूर्षुः कालचोदिता ॥ १८ ॥

अत्यंत सुंदर कन्या को उस निर्जन वन में पड़ी हुई देखकर अपने आश्रम में उठा लाये और उस का पालन करने लगे। उसके शुभ आश्रम में वह कन्या दिन पर दिन बढ़ने लगी ॥९।११॥

स्थूलकेश ऋषि ने उस कन्या के जातकर्म आदि संस्कार विधिपूर्वक किये। जब वह कन्या और बड़ी हुई तब वह सब स्त्रियों से सुन्दर लगने लगी। इसी कारण ऋषि ने उसका नाम प्रमद्वरा रखा। एक दिन उस कन्या को ऋषि के आश्रम में [illegible] ने देखा और कामातुर हो गया। अपने मित्रों द्वारा अपने पिता प्रमति से सब हाल कह सुनाया। प्रमति ने स्थूलकेश ऋषि से वह कन्या अपने पुत्र रुरु के लिये मांगी। स्थूलकेश ने रुरु को अपनी कन्या का देना स्वीकार कर लिया और पूर्वाफाल्गुणि नक्षत्र में उसका विवाह निश्चय किया ॥१२।१६॥

विवाह निश्चय हुए पश्चात् एक दिन वह कन्या सखियों के साथ खेल रही थी। खेलते खेलते दैवयोग से उसका पैर बिना जाने एक सर्प पर जा पड़ा, जो रास्ते में सो रहा था। उस काल से प्रेरणा किये हुए को सर्प ने विष भरे दांतों से उसका पैर काट खाया। सर्प के काटने से प्रमद्वरा का सारा अङ्ग विष से काला पड़ गया और वह अचानक मर कर पृथ्वी पर गिर पड़ी। और उसके

स तस्याः संप्रमत्तायाश्चोदितः कालधर्मणा ।
विषोपलिप्तान्दशनान्भृशमङ्गे न्यपातयत् ॥ १९ ॥
सा दष्टा तेन सर्पेण पपात सहसा भुवि ।
विवर्णा विगतश्रीका भ्रष्टाभरणचेतना ॥ २० ॥
निरानन्दकरी तेषां बन्धूनां मुक्तमूर्धजा ।
व्यसुरप्रेक्षणीया सा प्रेक्षणीयतमाऽभवत् ॥ २१ ॥
प्रसुप्तेवाभवच्चापि भुवि सर्पविषार्दिता ।
भूयो मनोहरतरा बभूव तनुमध्यमा ॥ २२ ॥
ददर्श तां पिता चैव ये चैवाऽन्ये तपस्विनः ।
विचेष्टमानां पतितां भूतले पद्मवर्चसम् ॥ २३ ॥
ततः सर्वे द्विजवराः समाजग्मुः कृपान्विताः ।
स्वस्त्यात्रेयो महाजानुः कुशिकः शङ्खमेखलः ॥ २४ ॥
उद्दालकः कठश्चैव श्वेतश्चैव महायशाः ।
भरद्वाजः कौणकुत्स्य आर्ष्टिषेणोऽथ गौतमः ॥ २५ ॥
प्रमतिः सह पुत्रेण तथाऽन्ये वनवासिनः ।
तां ते कन्यां व्यसुं दृष्ट्वा भुजङ्गस्य विषार्दिताम् ॥ २६ ॥
रुरुदुः कृपयाविष्टा रुरुस्त्वार्तो बहिर्ययौ ।
ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठास्तत्रैवोपाविशंस्तदा ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौष्यपर्वणि प्रमद्वरासर्पदंशे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अङ्ग के गहने और कपड़े इधर उधर बिखर गये। इस सुंदरी को ऐसी मृत्यु को प्राप्त हुई देखकर सखियों को बड़ा शोक हुआ। मृत्यु के होने पर भी प्रमद्वरा के मुख की शोभा वैसी ही बनी हुई थी। ऐसा जान पड़ता था कि वह निश्चिंत आंखें बन्द किये सो रही है। उसके पिता और अन्य ऋषियों ने आकर उस कमल सदृश शरीर वाली कन्या को जमीन पर पड़े देखा। कृपा करके सब ऋषि उस स्थान पर आये स्वस्ति, आत्रेय, महाजानु कुशिक, शंखमेखल, उद्दालक, कठ, यशस्वी, श्वेत, भरद्वाज, कौणकुत्स्य, आर्ष्टिषेण, गौतम, प्रमति और उनके पुत्र रुरु आदि सब वनवासी ऋषि करुणा से आतुर होकर वहां पर उपस्थित हुए। सांप के विष से मरी हुई कन्या को देखकर सब ऋषि रोने लगे। रुरु घबरा कर बाहर चले गये और शेष ब्राह्मण उस कन्या के समीप बैठ गये ॥१९-२७॥

आदिपर्व का आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

नवमोऽध्याय ९

सौतिरुवाच—तेषु तत्रोपविष्टेषु ब्राह्मणेषु महात्मसु ।
रुरुश्चुक्रोश गहनं वनं गत्वाऽतिदुःखितः ॥ १ ॥
शोकेनाभिहतः सोऽथ विलपन्करुणं बहु ।
अब्रवीद्वचनं शोचन्प्रियां स्मृत्वा प्रमद्वराम् ॥ २ ॥
शेते सा भुवि तन्वङ्गी मम शोकविवर्धिनी ।
बान्धवानां च सर्वेषां किं नु दुःखमतःपरम् ॥ ३ ॥
यदि दत्तं तपस्तप्तं गुरवो वा मया यदि ।
सम्यगाराधितास्तेन सञ्जीवतु मम प्रिया ॥ ४ ॥
यथा च जन्मप्रभृति यतात्माऽहं धृतव्रतः ।
प्रमद्वरा तथा ह्येषा समुत्तिष्ठतु भामिनी ॥ ५ ॥
एवं लालप्यतस्तस्य भार्यार्थे दुःखितस्य च ।
देवदूतस्तदाऽभ्येत्य वाक्यमाह रुरुं वने ॥ ६ ॥
देवदूत उवाच—अभिधत्से ह यद्वाचा रुरो दुःखेन तन्मृषा ।
यतो मर्त्यस्य धर्मात्मन्नायुरस्ति गतायुषः ॥ ७ ॥
गतायुरेषा कृपणा गन्धर्वाप्सरसोः सुता ।
तस्माच्छोके मनस्तात मा कृथास्त्वं कथंचन ॥ ८ ॥

॥ नवमा अध्याय ९ ॥

उग्रश्रवा बोले—जब महात्मा ऋषि लोग सब बैठ गये तब रुरु घने वन में जाकर दुःखित होकर विलाप करने लगा । शोक से अनेक प्रकार के दीन वचनों से विलाप कर अपनी प्रिया प्रमद्वरा को याद कर बोला—यह मेरे और अपने सब बान्धवों के शोक को बढ़ाती हुई सूक्ष्म अङ्गवाली, प्राणहीन होकर पृथ्वी पर पड़ी हुई है इससे अधिक और क्या दुःख होगा । यदि मैंने तपस्या की है, दान दिया है, और गुरुओं का भली प्रकार आराधन किया है, तो यह मेरी प्रिया जी उठे । यदि मैं जन्म से जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी हूं तो मेरी स्त्री प्रमद्वरा जीती होकर खड़ी होवे । इस प्रकार दुःखित रुरु को अपनी स्त्री के लिये विलाप करते देखकर उसके समीप देवदूत ने आकर यह कहा—हे रुरु ! दुःख से जो तुम कहते हो वह सब झूठ है क्योंकि मरने वाले मनुष्य की आयु कदापि नहीं रह सकती ॥१।७॥

यह दीन गन्धर्व कन्या की आयु खतम हो चुकी है । हे तात ! यह समझकर तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करो । महात्मा देवताओं ने

उपायश्चात्र विहितः पूर्वं देवैर्महात्मभिः ।
तं यदीच्छसि कर्तुं त्वं प्राप्स्यसीह प्रमद्वराम् ॥ ९ ॥

रुरुरुवाच—क उपायः कृतो देवैर्ब्रूहि तत्वेन खेचर ।
करिष्येऽहं तथा श्रुत्वा त्रातुमर्हति मां भवान् ॥ १० ॥

देवदूत उवाच—आयुषोऽर्धं प्रयच्छ त्वं कन्यायै भृगुनन्दन ।
एवमुत्थास्यति रुरो तव भार्या प्रमद्वरा ॥ ११ ॥

रुरुरुवाच—आयुषोऽर्धं प्रयच्छामि कन्यायै खेचरोत्तम ।
श्रृङ्गाररूपाभरणा समुत्तिष्ठतु मे प्रिया ॥ १२ ॥

सौतिरुवाच—ततो गन्धर्वराजश्च देवदूतश्च सत्तमौ ।
धर्मराजमुपेत्येदं वचनं प्रत्यभाषताम् ॥ १३ ॥

धर्मराजायुषोर्धेन रुरोर्भार्या प्रमद्वरा ।
समुत्तिष्ठतु कल्याणी मृतैवं यदि मन्यसे ॥ १४ ॥

धर्मराज उवाच—प्रमद्वरां रुरोर्भार्यां देवदूत यदीच्छसि ।
उत्तिष्ठत्वायुषोऽर्धेन रुरोरेव समन्विता ॥ १५ ॥

सौतिरुवाच—एवमुक्ते ततः कन्या सोदतिष्ठत्प्रमद्वरा ।
रुरोस्तस्यायुषोऽर्धेन सुप्तेव वरवर्णिनी ॥ १६ ॥

पहले ही से इसका कुछ उपाय भी कहा है । इसे यदि तुम करना चाहते हो तो यह प्रमद्वरा तुमको जीवित होकर मिल सकती है । रुरु बोला—हे आकाशगामी देवदूत ! देवताओं ने कौनसा उपाय कहा है तुम मेरे समीप ठीक ठीक कहो ' मैं वैसा ही करूगा । तुम मेरी रक्षा करने वाले हो । देवदूत बोला—हे रुरु ! तुम अपनी आयु में से आधा भाग इसको देदो तो यह तुम्हारी प्रमद्वरा अभी जी उठेगी । रुरु बोला—हे आकाश गामियों मे श्रेष्ठ ! मैं अभी इसे अपनी आधी आयु देता हूं यह मेरी स्त्री जीवित होवे ॥८।१२॥

उग्रश्रवा बोले—तिस के उपरान्त विश्वावसु और देवदूत धर्मराज के समीप आकर कहने लगे—हे धर्मराज ! यह रुरु की मरी हुई स्त्री इस की आधी आयु से जीवित होवे यदि आप स्वीकार करें । धर्मराज बोले—यदि तुम चाहते हो तो यह इसकी प्रमद्वरा इसकी आधी आयु से जीती होवे । उग्रश्रवा बोले—धर्मराज के ऐसा कहने पर प्रमद्वरा रुरु की आधी आयु पाकर जैसे कोई सोते से उठ खडा हो वैसे ही उठकर खड़ी हो गई । बहुत बड़ी आयु का भाग उसने अपनी भार्या के लिये दिया । तिसके उपरान्त प्रमति और स्थूलकेश ने मिलकर शुभ महूर्त्त में उन दोनों का विवाह कर दिया । परस्पर हित के चाहने वाले

एतद् दृष्टं भविष्ये हि रुरोरुत्तमतेजसः ।
आयुषोऽतिप्रवृद्धस्य भार्यार्थेऽर्धमलुप्यत ॥ १७ ॥
तत इष्टेऽहनि तयोः पितरौ चक्रतुर्मुदा ।
विवाहं तौ च रेमाते परस्परहितैषिणौ ॥ १८ ॥
स लब्ध्वा दुर्लभां भार्यां पद्मकिंजल्कसुप्रभाम् ।
व्रतं चक्रे विनाशाय जिह्मगानां धृतव्रतः ॥ १९ ॥
स दृष्ट्वा जिह्मगान्सर्वांस्तीव्रकोपसमान्वितः ।
अभिहन्ति यथासत्त्वं गृह्य प्रहरणं सदा ॥ २० ॥
स कदाचिद्वनं विप्रो रुरुरभ्यागमन्महत् ।
शयानं तत्र चापश्यत्डुण्डुभं वयसाऽन्वितम् ॥ २१ ॥
तत उद्यम्य दण्डं स कालदण्डोपमं तदा ।
जिघांसुः कुपितो विप्रस्तमुवाचाऽथ डुण्डुभः ॥ २२ ॥
नापराध्यामि ते किंचिदहमद्य तपोधन ।
संरंभाच्च किमर्थं मामभिहंसि रुषाऽन्वितः ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि प्रमद्वराजीवने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दोनों स्त्री-पुरुष सुख पूर्वक रहने लगे। रुरु ने कमल के सदृश कान्ति वाली उस स्त्री को प्राप्त करके सर्पों के नाश करने के लिये व्रत धारण किया। और अति क्रोधातुर हो सर्पों को मारने लगा। एक समय वह महर्षि बडे वन को गये वहां निर्विष बूढ़े साप को सोता देखा। क्रोधातुर उस महर्षि ने उसके मारने की इच्छा से कालदण्ड के समान डण्डे को उठाकर मारना चाहा तभी वह सर्प बोला—हे ब्राह्मण ! मैंने इस समय तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं किया है। फिर तुम इतना क्रोध करके मुझे मारने के लिये क्यों तत्पर हो रहे हो ॥१३।२३॥

आदिपर्व का नवमां अध्याय समाप्त हुआ ॥

॥ अथ दशमोऽध्याय १० ॥

रुरुवाच—मम प्राणसमा भार्या दष्टासीद् भुजगेन ह ।
तत्र मे समयो घोर आत्मनोरग वै कृतः ॥ १ ॥

॥ दसवां अध्याय १० ॥

रुरु बोला- मेरी प्राणों से प्यारी स्त्री को एक सर्प ने काट खाया था। तबसे, हे सर्प ! मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं जिस सर्प को देखूंगा उसी को मार डालूंगा। इसी कारण से मैं

भुजङ्गं वै सदा हन्यां यं यं पश्येयमित्युत ।
ततोऽहं त्वां जिघांसामि जीवितेनाद्य मोक्ष्यसे ॥ २ ॥
डुण्डुभ उवाच—अन्ये ते भुजगा ब्रह्मन्ये दशन्तीह मानवान् ।
डुण्डुभानहिगन्धेन न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ३ ॥
एकानर्थान्पृथगर्थानेकदुःखान्पृथक्सुखान् ।
डुण्डुभान्धर्मविद्भूत्वा न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ४ ॥
सौतिरुवाच—इति श्रुत्वा वचस्तस्य भुजगस्य रुरुस्तदा ।
नावधीद्भयसंविग्नमृषिं मत्वाऽथ डुण्डुभम् ॥ ५ ॥
उवाच चैनं भगवान्रुरुः संशमयन्निव ।
कामं मां भुजग ब्रूहि कोऽसीमां विक्रियां गतः ॥ ६ ॥
डुण्डुभ उवाच—अहं पुरा रुरो नाम्ना ऋषिरासं सहस्रपात् ।
सोऽहं शापेन विप्रस्य भुजगत्वमुपागतः ॥ ७ ॥
रुरुरुवाच—किमर्थं शप्तवान्क्रुद्धो द्विजस्त्वां भुजगोत्तम ।
कियन्तं चैव कालं ते वपुरेतद्भविष्यति ॥ ८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि रुरुडुण्डुभसंवादे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

तुझे मारना चाहता हूं । आज तुम अपने प्राणों को अवश्य त्यागोगे । सर्प ने कहा—हे ब्राह्मण ! वोह साप और जाति के होते हैं जो मनुष्यों को काटते हैं, तुम सर्पों को एकसा जानकर डुण्डुभों को न मारो। एक के अनर्थ करने से सबको दुःख और एक के शुभ करने से सबको सुख नहीं होना चाहिये । क्योंकि आप धर्म के जानकार हैं, इसलिए डुण्डुभों को मारना धर्म के विप्रीत कार्य्य करना है। उग्रश्रवा बोले—डुण्डुभ के इन वाक्यों को सुनकर रुरु ने यह समझा कि यह डर गया है, उस सर्प को जान से न मारा । इसके पश्चात उन्होंने डुण्डुभ से कहा—हे सर्प ! तुम कौन हो ? किस कारण तुम सर्प योनि में आये हो । डुण्डुभ ने कहा- हे रुरु ! मैं पहले सहस्रपात ऋषि था । एक ब्राह्मण के शाप से मुझे यह योनि प्राप्त हुई है । रुरु ने कहा—हे सर्प ! ब्राह्मण ने किस लिए कुपित होकर तुमको शाप दिया और कितने काल तक तुम इस योनि में रहोगे ॥१।८॥

आदिपर्व का दसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ११

डुण्डुभ उवाच—सखा बभूव मे पूर्वं खगमो नाम वै द्विजः ।
भृशं संशितवाक्तात तपोबलसमन्वितः ॥ १ ॥
स मया क्रीडता बाल्ये कृत्वा तार्णं भुजङ्गमम् ।
अग्निहोत्रे प्रसक्तस्तु भीषितः प्रमुमोह वै ॥ २ ॥
लब्ध्वा स च पुनः संज्ञां मामुवाच तपोधनः ।
निर्दहन्निव कोपेन सत्यवाक्संशितव्रतः ॥ ३ ॥
यथावीर्यस्त्वया सर्पः कृतोऽयं मद्विभीषया ।
तथावीर्यो भुजङ्गस्त्वं मम शापाद्भविष्यसि ॥ ४ ॥
तस्याहं तपसो वीर्यं जानन्नासं तपोधन ।
भृशमुद्विग्नहृदयस्तमवोचमहं तदा ॥ ५ ॥
प्रणतः संभ्रमाच्चैव प्राञ्जलिः पुरतः स्थितः ।
सखेति सहसेदं ते नर्मार्थं वै कृतं मया ॥ ६ ॥
क्षन्तुमर्हसि मे ब्रह्मन्शापोऽयं विनिवर्त्यताम् ।
सोऽथ मामब्रवीद्दृष्ट्वा भृशमुद्विग्नचेतसम् ॥ ७ ॥
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य सुसंभ्रान्तस्तपोधनः ।
नानृतं वै मया प्रोक्तं भवितेदं कथंचन ॥ ८ ॥

॥ ग्यारहवां अध्याय ११ ॥

डुण्डुभ बोला—खगम नाम ऋषि एक मेरा मित्र था। हे ब्राह्मण! वह तपस्या के बल से युक्त तीक्ष्ण वचन वाला था। वह अग्निहोत्र करता था। बालकपन में खेलते हुए मैंने तृणों का एक सर्प बनाया। मेरे मित्र अग्निहोत्र कर रहे थे। मैंने जाकर उस सर्प से उनको डराया। वह डरकर बेहोश हो गए और थोड़ी देर में सावधान हो कुपित होकर बोले—जैसा बलहीन यह सर्प तुमने मेरे डराने को बनाया है वैसा ही सर्प तुम मेरे शाप से बनोगे। हे महर्षिवर! उन मुनि के तप के बल को मैं भली प्रकार जानता था। मैंने अत्यन्त व्याकुल हो शिर नीचा करके हाथ जोड़ उसके समीप खड़ा होकर कहा—हे मित्र! तुमने शाप देने में बहुत जल्दी की है, मैंने तो यह सर्प केवल क्रीड़ा करने को बनाया था, इसलिए हे मुनि! मुझ से क्षमा पूर्वक इस शाप को दूर करें। फिर मुझे अत्यन्त व्याकुल देख, गर्म लम्बी श्वास लेकर, उस खगम मुनि ने कहा—मेरा वचन कभी अन्यथा नहीं हो सकता है। जो मैं तुझ से कहता हूं उस को तुम श्रवण करो। हे अनघ! तुम मेरे इस

यत्तु वक्ष्यामि ते वाक्यं शृणु तन्मे तपोधन ।
श्रुत्वा च हृदि ते वाक्यमिदमस्तु सदाऽनघ ॥ ९ ॥
उत्पत्स्यति रुरुर्नाम प्रमतेरात्मजः शुचिः ।
तं दृष्ट्वा शापमोक्षस्ते भविता न चिरादिव ॥ १० ॥
स त्वं रुरुरिति ख्यातः प्रमतेरात्मजोऽपि च ।
स्वरूपं प्रतिपद्याहमद्य वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ११ ॥
स डौंडुभं परित्यज्य रूपं विप्रर्षभस्तदा ।
स्वरूपं भास्वरं भूयः प्रतिपेदे महायशाः ॥ १२ ॥
इदं चोवाच वचनं रुरुमप्रतिमौजसम् ।
अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वर ॥ १३ ॥
तस्मात्प्राणभृतः सर्वान्न हिंस्याद्ब्राह्मणः क्वचित् ।
ब्राह्मणः सौम्य एवेह भवतीति परा श्रुतिः ॥ १४ ॥
वेदवेदाङ्गविन्नाम सर्वभूताभयप्रदः ।
अहिंसा सत्यवचनं क्षमा चेति विनिश्चितम् ॥ १५ ॥
ब्राह्मणस्य परो धर्मो वेदानां धारणाऽपि च ।
क्षत्रियस्य हि यो धर्मः स हि नेष्येत वै तव ॥ १६ ॥
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ।
तदिदं क्षत्रियस्यासीत्कर्म वै शृणु मे रुरो ॥ १७ ॥
जनमेजयस्य यज्ञेऽस्मिन्सर्पाणां हिंसनं पुरा ।
परित्राणं च भीतानां सर्पाणां ब्राह्मणादपि ॥ १८ ॥

वचन को सदा अपने हृदय में रखना। भृगुवंश में प्रमति के पुत्र रुरु नाम को देखकर तेरा यह शाप शीघ्र छूट जायेगा ॥९।१०॥

वह रुरु नामक प्रसिद्ध प्रमति के पुत्र तुम ही हो। अब मैं इस सर्प योनि को त्यागकर असली अवस्था को प्राप्त होकर तेरे हितकारी वचनों को कहूंगा। उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो! वह श्रेष्ठ मुनि डुण्डुभ के रूप को त्यागकर अपने पहले रूप को प्राप्त हुआ और अत्यन्त बल वाले रुरु से कहने लगा—हे रुरु! अहिंसा परम धर्म है। इस-लिये ब्राह्मण को किसी जीव की हिंसा न करनी चाहिये। सदा से यही सुनने में आता है कि, ब्राह्मण सदा शुद्ध और सरल होते हैं। वेद और वेदांग के जानने वाले, सम्पूर्ण प्राणियों को अभय देने

तपोवीर्यबलोपेताद्वेदवेदाङ्गपारगात् ।
आस्तीकाद् द्विजमुख्याद्वै सर्पसत्रे द्विजोत्तम ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि डुंडुभशापमोक्षे एकादशोऽध्याय ॥ ११ ॥

वाले ब्राह्मण होते है । अहिंसा, सत्य बोलना, क्षमा और वेदों का पढ़ना यह ब्राह्मणों का परम धर्म है । ब्राह्मण क्षत्रियों जैसा धर्म न करें । हे रुरु ! दण्ड देना, उग्रभाव और प्रजा का पालन करना, यह क्षत्रियों के कर्म है । पूर्व समय में राजा जनमेजय के यज्ञ में सर्पों की हिंसा हुई थी । अन्त में तपस्वी, वेद वेदांग के पारगामी, आस्तीक नाम ब्राह्मण से उनकी रक्षा हुई थी ॥११।१९॥

आदिपर्व का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

॥ अथ द्वादशोऽध्याय ॥

रुरुरुवाच—कथं हिंसितवान्सर्पान्स राजा जनमेजयः ।
सर्पा वा हिंसितास्तत्र किमर्थं द्विजसत्तम ॥ १ ॥
किमर्थं मोक्षिताश्चैव पन्नगास्तेन धीमता ।
आस्तीकेन द्विजश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ॥ २ ॥
ऋषिरुवाच—श्रोस्यसि त्वं रुरो सर्वमास्तीकचरितं महत् ।
ब्राह्मणानां कथयतामित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच—रुरुश्चापि वनं सर्वं पर्यधावत्समन्ततः ।
तमृषिं नष्टमन्विच्छन्संश्रान्तो न्यपतद्भुवि ॥ ४ ॥
स मोहं परमं गत्वा नष्टसंज्ञ इवाभवत् ।
तदृषेर्वचनं तथ्यं चिन्तयानः पुनः पुनः ॥ ५ ॥
लब्धसंज्ञो रुरुश्चायात्तदाचख्यौ पितुस्तदा ।
पिता चास्य तदाख्यानं पृष्टः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि सर्पसत्रप्रस्तावनायां द्वादशोऽध्याय ॥ १२ ॥

॥ बारहवां अध्याय १२ ॥

रुरु ने कहा - राजा जनमेजय ने क्यों सर्पों की हिंसा की थी ? और उनकी इस प्रकार से क्यों मृत्यु हुई ? और बुद्धिमान् आस्तीक ने उस यज्ञ में सर्पों को क्यों बचाया ? यह सम्पूर्ण कथा मैं सुनना चाहता हूँ । ऋषि बोले - हे रुरु आस्तीक के सम्पूर्ण बड़े विस्तार वाले चरित्र को तुम एक ब्राह्मण के मुख से सुनोगे । ऐसा कहकर वह ऋषि अन्तर्ध्यान हो गया और रुरु उसको वन में इधर उधर ढूंढने लगा और दौड़ता दौड़ता मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा । रुरु सावधान होकर घर आया

और सब वृत्तान्त उसने अपने पिता प्रमति से कहा सुनाई ॥२६॥
और प्रमति ने आस्तीक की सब कथा उसे —

आदिपर्व का बारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

शौनक उवाच—किमर्थं राजशार्दूलः स राजा जनमेजयः ।
सर्पसत्रेण सर्पाणां गतोऽन्तं तद्वदस्व मे ॥ १ ॥
निखिलेन यथा तत्त्वं सौते सर्वमशेषतः ।
अस्तीकश्च द्विजश्रेष्ठः किमर्थं जयतां वरः ॥ २ ॥
मोक्षयामास भुजगान्प्रदीप्ताद्वसुरेतसः ।
कस्य पुत्रः स राजासीत्सर्पसत्रं य आहरत् ॥ ३ ॥
स च द्विजातिप्रवरः कस्य पुत्रोऽभिधत्स्व मे ।
सौतिरुवाच—महदाख्यानमास्तीकं यथैतत्प्रोच्यते द्विज ॥ ४ ॥
सर्वमेतदशेषेण शृणु मे वदतां वर ।
शौनक उवाच—श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण कथामेतां मनोरमाम् ॥ ५ ॥
आस्तीकस्य पुराणर्षेर्ब्राह्मणस्य यशस्विनः ।
सौतिरुवाच—इतिहासमिमं विप्राः पुराणं परिचक्षते ॥ ६ ॥
कृष्णद्वैपायनप्रोक्तं नैमिषारण्यवासिषु ।
पूर्वं प्रचोदितः सूतः पिता मे लोमहर्षणः ॥ ७ ॥
शिष्यो व्यासस्य मेधावी ब्राह्मणेष्विदमुक्तवान् ।
तस्मादहमुपश्रुत्य प्रवक्ष्यामि यथातथम् ॥ ८ ॥

॥ तेरहवां अध्याय १३ ॥

शौनक ने कहा—हे सूत पुत्र ! राजाओं में श्रेष्ठ जनमेजय ने सर्पसत्र द्वारा उनका नाश किया। यह सम्पूर्ण वृत्तान्त हम से कहो। ब्राह्मणों और जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ आस्तीक ऋषि ने जलती हुई अग्नि में से क्यों सर्पों को बचाया ? जिसने सर्पयज्ञ किया वह राजा जनमेजय किस का पुत्र था ? और आस्तीक ऋषि किस का पुत्र था ? उग्रश्रवा ने कहा—हे ब्राह्मणो ! आस्तीक का चरित्र बहुत बड़ा है। हे शौनक ! यह सम्पूर्ण मुझ से श्रवण करो। शौनक बोले—आस्तीक ऋषि की मनोहर कथा को हम सुनना चाहते हैं। उग्रश्रवा बोले—हे ब्राह्मणो ! इस इतिहास को पुराना कहते हैं। नैमिषारण्य वासी ऋषियों के पूछने पर व्यास जी के शिष्य लोमहर्षण ने इस कथा का वर्णन

इदमास्तीकमाख्यानं तुभ्यं शौनक पृच्छते ।
कथयिष्याम्यशेषेण सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ९ ॥
आस्तीकस्य पिता ह्यासीत्प्रजापतिसमः प्रभुः ।
ब्रह्मचारी यताहारस्तपस्युग्रे रतः सदा ॥ १० ॥
जरत्कारुरिति ख्यात ऊर्ध्वरेता महातपाः ।
यायावराणां प्रवरो धर्मज्ञः संशितव्रतः ॥ ११ ॥
स कदाचिन्महाभागस्तपोबलसमन्वितः ।
चचार पृथिवीं सर्वां यत्रसायं गृहो मुनिः ॥ १२ ॥
तीर्थेषु च समाप्लावं कुर्वन्नटति सर्वशः ।
चरन्दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ॥ १३ ॥
वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्ननिमिषो मुनिः ।
इतस्ततः परिचरन्दीप्तपावकसप्रभः ॥ १४ ॥
अटमानः कदाचित्स्वान्स ददर्श पितामहान् ।
लम्बमानान्महागर्ते पादैरूर्ध्वैरवाङ्मुखान् ॥ १५ ॥
तानब्रवीत्स दृष्ट्वैव जरत्कारुः पितामहान् ।
के भवन्तोऽवलम्बन्ते गर्ते ह्यस्मिन्नधोमुखाः ॥ १६ ॥
वीरणस्तम्बके लग्नाः सर्वतः परिभक्षिते ।
मूषकेन निगूढेन गर्तेऽस्मिन्नित्यवासिना ॥ १७ ॥

किया था। उसमें जिस तरह जितना यह उपाख्यान मैंने सुना है सो सब विस्तार पूर्वक तुम को सुनाता हूँ। यह उपाख्यान सम्पूर्ण पापों के नाश करने वाला है ॥९॥

प्रजापति के समान ब्रह्मचारी, अल्प आहार के करने वाला, सर्वदा उग्रतप के करने वाला, ऊर्ध्व ब्रह्मचारी, बड़ा तपस्वी, यायावरों में श्रेष्ठ, (यायावर का तात्पर्य यह है जो एक रात्रि के सिवाये किसी नगर में वास नहीं करते और पन्द्रहवें दिन होम करते हैं।) धर्मज्ञ उत्तम व्रतधारी जरत्कारु नाम आस्तीक का पिता था। वह पृथ्वी पर तीर्थ-यात्रा करता हुआ विचर रहा था। और एक रात्रि से अधिक कहीं नहीं ठहरता था। जहां सायंकाल हो जाता वहीं उसका घर था। उस तीर्थयात्रा की अवस्था में ऐसे ऐसे दीक्षित कर्म करता था कि, उनका खोटे दिल वाले मनुष्य से होना अत्यन्त कठिन है। जलती हुई अग्नि के समान तेजस्वी, वायु भक्षण करके निराहार रहता था।

पितर ऊचुः—यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ।
संतानप्रक्षयाद्ब्रह्मन्नधो गच्छाम मेदिनीम् ॥ १८ ॥
अस्माकं संततिस्त्वेको जरत्कारुरिति स्मृतः ।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एकं समास्थितः ॥ १९ ॥
न स पुत्राञ्जनयितुं दारान्मूढश्चिकीर्षति ।
तेन लम्बामहे गर्ते सन्तानस्य क्षयादिह ॥ २० ॥
अनाथास्तेन नाथेन यथा दुष्कृतिनस्तथा ।
कस्त्वं बन्धुरिवास्माकमनुशोचसि सत्तम ॥ २१ ॥
ज्ञातुमिच्छामहे ब्रह्मन्को भवानिह नः स्थितः ।
किमर्थं चैव नः शोच्याननुशोचसि सत्तम ॥ २२ ॥
जरत्कारुरुवाच—मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
ब्रूत किं करवाण्यद्य जरत्कारुरहं स्वयम् ॥ २३ ॥
पितर ऊचुः—यतस्व यत्नवांस्तात संतानाय कुलस्य नः ।
आत्मनोऽर्थेऽस्मदर्थे च धर्म इत्येव वा विभो ॥ २४ ॥
न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसंचितैः ।
तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै ॥ २५ ॥

दिन और रात्रि जागृत रहता था। और अपने शरीर को सुखाता था। उसने चारों ओर घूमते हुए कभी एक बड़े गढ़े में उलटे लटके हुए अपने पितरों को देखा और उनको देखते ही उनसे कहने लगा कि, आप कौन हो? जो चूहे से काटे हुए तिनके के सहारे लटके हुए हो। पितरों ने कहा-हे ब्राह्मण! हम उत्तम व्रत के धारण करने वाले यायावर नामक ऋषि हैं। सन्तान के क्षय होने के कारण नीचे पृथ्वी में जाते हैं। हम भाग्यहीनों का जरत्कारु नामक एक पुत्र है जो सदा तप करता है। वह मूर्ख विवाह करने की इच्छा नहीं करता तिस कारण सन्तान क्षय होने से हमारी यह गति है ॥१०।२०॥

उस पुत्र के होने पर भी हम अनाथ की तरह दुर्गति भोग रहे हैं। हे श्रेष्ठ पुरुष! तुम कौन हो? जो बन्धु की तरह हमारी यह दुर्दशा देखकर शोक प्रगट कर रहे हो? हम जानना चाहते हैं कि तुम कौन हो और किस लिये हमारे साथ सहानुभूति प्रगट कर रहे हो? जरत्कारु ने कहा—आप मेरे ही पूर्व पुरुष हो और मैं वह जरत्कारु ही हूं। आप लोग मुझे आज्ञा दें अब मैं क्या करूं। जरत्कारु के पितरों ने कहा—हे पुत्र! वंश चलाने के लिये तुम सन्तान का उद्योग करो। इससे हमारा और तुम्हारा दोनों का कल्याण होगा। साथ ही

तद्दारग्रहणे यत्नं संतत्यां च मनः कुरु ।
पुत्रकास्मन्नियोगात्त्वमेतन्नः परमं हितम् ॥ २६ ॥

जरत्कारुरुवाच—न दारान्वै करिष्येऽहं न धनं जीवितार्थतः ।
भवतां तु हितार्थाय करिष्ये दारसंग्रहम् ॥ २७ ॥
समयेन च कर्त्ताऽहमनेन विधिपूर्वकम् ।
यथा यद्युपलप्स्यामि करिष्ये नान्यथा ह्यहम् ॥ २८ ॥
सनाम्नी या भवित्री मे दित्सिता चैव बन्धुभिः ।
भैक्ष्यवत्तामहं कन्यामुपयंस्ये विधानतः ॥ २९ ॥
दरिद्राय हि मे भार्यां को दास्यति विशेषतः ।
प्रतिग्रहीष्ये भिक्षां तु यदि कश्चित्प्रदास्यति ॥ ३० ॥
एवं दारक्रियाहेतोः प्रयतिष्ये पितामहाः ।
अनेन विधिना अश्वन्न करिष्येऽहमन्यथा ॥ ३१ ॥
तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै ।
शाश्वतं स्थानमासाद्य मोदन्तां पितरो मम ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुतत्पितृसंवादे त्रयोदशोऽध्याय ॥ १३ ॥

धर्म भी बना रहेगा। किये हुए बड़े बड़े धर्मों के फल से या कठिन तपस्या करने से मनुष्यों को वह गति नहीं मिलती जो सन्तान वाले मनुष्यों को प्राप्त होती है। हे पुत्र! हमारी आज्ञा से तुम विवाह करके अपनी सन्तान उत्पन्न करने की चेष्टा करो। इसीसे हमको सुख मिलेगा। जरत्कारु बोले मैं कभी स्त्री और धन के इकट्ठा करने की इच्छा नहीं करता। हे पितरो! तुम्हारे हित के वास्ते अब मैं विवाह करूंगा परन्तु इस नियम से कि, यदि कोई मुझे उत्तम कन्या मिली। वह कन्या मेरे नाम वाली और मेरे जैसी ही तपस्विनी हो और उसके पिता-भाई आदि अपनी इच्छा के अनुसार भिक्षा के समान वह कन्या मुझको दें तो उस कन्या से मैं अवश्य विवाह करूंगा। किन्तु मुझ निर्धन को अपनी कन्या देगा ही कौन, यदि भिक्षा के समय किसी ने देदी तो मैं अवश्य ही उसे ग्रहण करलूंगा। हे पितरो! यह मैं आप से प्रतिज्ञा करता हूं कि यदि इस प्रकार ऐसी कन्या मुझे प्राप्त हुई तो मैं अवश्य उसके साथ विवाह करलूंगा। उस स्त्री से जो बालक उत्पन्न होगा वह आप को इस अधोगति से उबारकर आनन्द देने वाले स्वर्गलोक में पहुंचावेगा ॥२१।३२॥

आदिपर्व का तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

सौतिरुवाच—ततो निवेशाय तदा स विप्रः संशितव्रतः ।
महीं चचार दारार्थी न च दारानविन्दत ॥ १ ॥
स कदाचिद्वनं गत्वा विप्रः पितृवचः स्मरन् ।
चुक्रोश कन्याभिक्षार्थी तिस्रो वाचः शनैरिव ॥ २ ॥
तं वासुकिः प्रत्यगृह्णादुद्यम्य भगिनीं तदा ।
न स तां प्रतिजग्राह न सनाम्नीति चिन्तयन् ॥ ३ ॥
सनाम्नीं चोद्यतां भार्यां गृह्णीयामिति तस्य हि ।
मनो निविष्टमभवज्जरत्कारोर्महात्मनः ॥ ४ ॥
तमुवाच महाप्राज्ञो जरत्कारुर्महातपाः ।
किंनाम्नी भगिनीयं ते ब्रूहि सत्यं भुजङ्गम ॥ ५ ॥
वासुकिरुवाच—जरत्कारो जरत्कारुः स्वसेयमनुजा मम ।
प्रतिगृह्णीष्व भार्यार्थे मया दत्तां सुमध्यमाम् ।
त्वदर्थं रक्षिता पूर्वं प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ॥ ६ ॥
एवमुक्त्वा ततः प्रादाद्भार्यार्थे वरवर्णिनीम् ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुकिस्वसृवरणे चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

॥ चौदहवां अध्याय १४ ॥

उग्रश्रवा बोले—श्रेष्ठ व्रत के धारण करने वाला यह ब्राह्मण जरत्कारु स्त्री के लिए पृथ्वी में इधर उधर घूमने लगा परन्तु किसी ने भी उसको अपनी कन्या न दी। एक दिन जरत्कारु अपने पितरों का वाक्य याद करके वन में गये और तीन बेर धीरे धीरे विवाह के लिये कन्या की भिक्षा मांगी। तब वासुकि नाग अपनी बहिन को उठा लाया और उससे कहने लगा कि, मैं यह कन्या आप को देता हूं। आप कृपा करके इसे ग्रहण कीजिये। यह सुनकर जरत्कारु ने विचार किया कि मुझे अपने ही नाम वाली भार्या ग्रहण करनी योग्य है उसका नाम न जाने क्या है। वह बड़ा बुद्धिमान्, तपस्या के करने वाला ब्राह्मण उस वासुकि से बोला—हे सर्प! इस तेरी बहिन का क्या नाम है? सत्य सत्य कहो। वासुकि बोला—हे जरत्कारु! इस मेरी छोटी बहिन का नाम जरत्कारु है। और पहले से इसकी रक्षा आप ही के लिये की गई थी। आप इसे ग्रहण करें। ऐसा कहकर अपनी भगिनी जरत्कारु को देदी, उस ब्राह्मण ने भी शास्त्र की रीति से उसको ग्रहण किया ॥१।७॥

आदिपर्व का चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

सौतिरुवाच-मात्रा हि भुजगाः शप्ताः पूर्वं ब्रह्मविदां वर ।
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ॥ १ ॥
तस्य शापस्य शान्त्यर्थं प्रददौ पन्नगोत्तमः ।
स्वसारमृषये तस्मै सुव्रताय महात्मने ॥ २ ॥
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
आस्तीको नाम पुत्रश्च तस्यां जज्ञे महामनाः ॥ ३ ॥
तपस्वी च महात्मा च वेदवेदांगपारगः ।
समः सर्वस्य लोकस्य पितृमातृभयापहः ॥ ४ ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य पाण्डवेयो नराधिपः ।
आजहार महायज्ञं सर्पसत्रमिति श्रुतिः ॥ ५ ॥
तस्मिन्प्रवृत्ते सत्रे तु सर्पाणामन्तकाय वै ।
मोचयामास तान्नागानास्तीकः सुमहातपाः ॥ ६ ॥
भ्रातृंश्च मातुलांश्चैव तथैवान्यान्स पन्नगान् ।
पितृंश्च तारयामास संतत्या तपसा तथा ॥ ७ ॥
व्रतैश्च विविधैर्ब्रह्मन्स्वाध्यायैश्चानृणोऽभवत् ।
देवांश्च तर्पयामास यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥ ८ ॥

॥ पन्द्रहवां अध्याय १५ ॥

सूत जी बोले हे ब्राह्मणो ! पूर्व समय में सर्पों की माता ने सर्पों को शाप दिया था कि तुम जनमेजय के यज्ञ में अग्नि में भस्म होगे । उस शाप की शान्ति के लिये वासुकि ने उस महात्मा श्रेष्ठ मुनि को अपनी भगिनी दी । जरत्कारु ने शास्त्रानुसार उस कन्या को ग्रहण किया और उस कन्या से आस्तीक उत्पन्न हुआ । वह तपस्वी, महात्मा, वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता, सम्पूर्ण प्राणियों में समान और अपने माता पिता के दुःख को दूर करने वाला हुआ । इसके उपरान्त बहुत काल व्यतीत होने पर पाण्डवों की सन्तान राजा जनमेजय ने सर्पों का विनाश करने के लिये बड़ा सर्पयज्ञ किया ऐसा सुनने में आता है ॥१।५॥

उस यज्ञ में जब सर्प जल-जलकर मृत्यु पाने लगे तब आस्तीक ने उस यज्ञ से उनको बचाया। अपनी नम्रता और तपस्या के प्रभाव से उसने मामा और उसके पुत्र तथा अन्य सर्पों और अपने पितरों की भी रक्षा की । जरत्कारु ऋषि ने पुत्र उत्पन्न करके तथा तपस्या करके पितरों के ऋण से, अनेक यज्ञ-व्रत धारण करके, वेद पाठ करके,

ऋषींश्च ब्रह्मचर्येण संतत्या च पितामहान् ।
अपहृत्य गुरुं भारं पितॄणां संशितव्रतः ॥ ९ ॥
जरत्कारुर्गतः स्वर्गं सहितः स्वैः पितामहैः ।
आस्तीकं च सुतं प्राप्य धर्मं चानुत्तमं मुनिः ॥ १० ॥
जरत्कारुः सुमहता कालेन स्वर्गमेयिवान् ।
एतदाख्यानमास्तीकं यथावत्कथितं मया ।
प्रब्रूहि भृगुशार्दूल किमन्यत्कथयामि ते ॥ ११ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पाणामातृशापप्रस्तावे पञ्चदशोऽध्याय ॥ १५ ॥

देवताओं के ऋण से और ब्रह्मचर्य धारण करके ऋषियों के ऋण से अपना उद्धार किया। इन सब ऋणों से निवृत्ति पाकर अपने पितरों के साथ स्वर्गलोक को गये। यह बड़ा विस्तार वाला आस्तीक ऋषि का आख्यान आप से कहा। हे भृगुवंशियों में श्रेष्ठ शौनक! कहो मैं और क्या कथा आप से कहूँ ॥९।११॥

आदिपर्व का पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षोडशोऽध्याय ॥ १६ ॥

शौनक उवाच—सौते त्वं कथयस्वेमां विस्तरेण कथां पुनः ।
आस्तीकस्य कवेः साधोः शुश्रूषा परमा हि नः ॥ १ ॥
मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं त्वया ।
प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषसे ॥ २ ॥
अस्मच्छुश्रूषणे नित्यं पिता हि निरतस्तव ।
आचष्टैतद्यथाख्यानं पिता ते त्वं तथा वद ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच—आयुष्मन्निदमाख्यानमास्तीकं कथयामि ते ।
यथाश्रुतं कथयतः सकाशाद्वै पितुर्मया ॥ ४ ॥

॥ सोलहवा अध्याय १६ ॥

शौनक बोले—हे सूत पुत्र! महात्मा आस्तीक की कथा फिर विस्तार से कहो क्योंकि हमें सुनने की बड़ी इच्छा है। तुम्हारी वाणी बहुत ही मीठी है। तुम्हारे मुख से मनोहर कथाएँ सुनकर हमारा चित्त बहुत ही प्रसन्न होता है। तुम अपने पिता लोमहर्षण की तरह भाषण करते हो। तुम्हारे पिता सदा मन लगाकर हमें कथाएँ सुनाया करते थे। तुमने अपने पिता के मुख से जिस प्रकार यह कथा

पुरा देवयुगे ब्रह्मन्प्रजापतिसुते शुभे ।
आस्तां भगिन्यौ रूपेण समुपेतेऽद्भुतेऽनघ ॥ ५ ॥
ते भार्ये कश्यपस्यास्तां कद्रूश्च विनता च ह ।
प्रादात्ताभ्यां वरं प्रीतः प्रजापतिसमः पतिः ॥ ६ ॥
कश्यपो धर्मपत्नीभ्यां मुदा परमया युतः ।
वरातिसर्गं श्रुत्वैवं कश्यपादुत्तमं च ते ॥ ७ ॥
हर्षादप्रतिमां प्रीतिं प्रापतुः स्म वरस्त्रियौ ।
वव्रे कद्रूः सुतान्नागान्सहस्रं तुल्यवर्चसः ॥ ८ ॥
द्वौ पुत्रौ विनता वव्रे कद्रूपुत्राधिकौ बले ।
तेजसा वपुषा चैव विक्रमेणाधिकौ च तौ ॥ ९ ॥
तस्यै भर्ता वरं प्रादादत्यर्थं पुत्रमीप्सितम् ।
एवमस्त्विति तं चाह कश्यपं विनता तदा ॥ १० ॥
यथावत्प्रार्थितं लब्ध्वा वरं तुष्टाऽभवत्तदा ।
कृतकृत्या तु विनता लब्ध्वा वीर्याधिकौ सुतौ ॥ ११ ॥
कद्रूश्च लब्ध्वा पुत्राणां सहस्रं तुल्यवर्चसाम् ।
धार्यौ प्रयत्नतो गर्भावित्युक्त्वा स महातपाः ॥ १२ ॥

मुनी हे उसी प्रकार हमसे वर्णन करो। उग्रश्रवा बोले—आयु की वृद्धि करने वाले इस आख्यान को जिस प्रकार से मैंने अपने पिता के मुख से सुना है उसी रीति से मैं कहता हूं। हे ब्राह्मणो ! पहले सतयुग में प्रजापति की पुत्री रूपवती और बड़ी अद्भुत दो बहिनें हुईं। उनमें एक का नाम कद्रु और दूसरी का नाम विनता था। प्रजापति ने उन दोनों का विवाह कश्यप से कर दिया था। और प्रजापति के समान कश्यप ने प्रसन्न होकर अपनी स्त्रियों को वर मांगने की आज्ञा दी। इस वाक्य को सुन दोनों स्त्रियें बड़े हर्ष को प्राप्त हुईं। उन दोनों में से कद्रु ने कश्यप के समान तेजस्वी एक हजार नाग पुत्र मांगे ॥१।८॥

विनता ने दो पुत्र मांगे, परन्तु वह कद्रु के हज़ार पुत्रों से शरीर, बल और पराक्रम आदि में अधिक हों। कश्यप ने उनकी इच्छानुसार पुत्रों का वर दिया, ऐसा ही होगा विनता से कश्यप ने कहा। अपनी अपनी इच्छा के अनुसार वर पाकर दोनों बहनें अति प्रसन्न हुईं। इसके उपरान्त दोनों को गर्भ रहा और कश्यप जी यह कहकर कि, गर्भ का अच्छी तरह से यत्न करना वनमें तपस्या करने को चले गये। इसके बहुत दिन पीछे कद्रु ने हज़ार और विनता ने दो अंडे दिये। दासियों ने उन अंडों को गरम बरतनों में पान सौ वर्ष तक

ते भार्ये वरसंतुष्टे कश्यपो वनमाविशत् ।
मौतिरुवाच—कालेन महता कद्रूरण्डानां दशतीर्दश ॥ १३ ॥
जनयामास विप्रेन्द्र द्वे चाण्डे विनता तदा ।
तयोरण्डानि निदधुः प्रहृष्टाः परिचारिकाः ॥ १४ ॥
सोपस्वेदेषु भाण्डेषु पञ्चवर्षशतानि च ।
ततः पञ्चशते काले कद्रूपुत्रा विनिःसृताः ॥ १५ ॥
अण्डाभ्यां विनतायास्तु मिथुनं न व्यदृश्यत ।
ततः पुत्रार्थिनी देवी व्रीडिता च तपस्विनी ॥ १६ ॥
अण्डं बिभेद विनता तत्र पुत्रमपश्यत ।
अध्यर्धकायसंपन्नामितरेणाप्रकाशता ॥ १७ ॥
स पुत्रः क्रोधसंरब्धः शशापैनामिति श्रुतिः ।
योऽहमेवं कृतो मातस्त्वया लोभपरीतया ॥ १८ ॥
शरीरेणासमग्रेण तस्माद्दासी भविष्यसि ।
पञ्चवर्षशतान्यस्या यया विस्पर्धसे सह ॥ १९ ॥
एष च त्वां सुतो मातर्दासीत्वान्मोचयिष्यति ।
यद्येनमपि मातस्त्वं मामिवाण्डविभेदनात् ॥ २० ॥
न करिष्यस्यनङ्गं वा व्यङ्गं वापि तपस्विनम् ।
प्रतिपालयितव्यस्ते जन्मकालोऽस्य धीरया ॥ २१ ॥
विशिष्टं बलमीप्सन्त्या पञ्चवर्षशतात्परः ।
एवं शप्त्वा ततः पुत्रो विनतामन्तरिक्षगः ॥ २२ ॥

रक्खा रहने दिया। फिर कद्रु के पुत्र अंडों में से निकले और विनता के पुत्र न निकले। तब विनता ने पुत्र के देखने की इच्छा से एक अंडे को छेद-कर देखा। उसमें जो पुत्र था उसका उस समय तक आधा शरीर बना था ॥९।१७॥

वह पुत्र अपनी माता से क्रोध कर बोला कि, तुमने मुझको आधे शरीर की अवस्था में बाहर निकाला है इससे तुम अपनी सौति की पांच सौ वर्ष तक दासी होकर रहोगी। यदि तुम मेरी ही तरह दूसरे बालक के अंडे को तोडकर अङ्गहीन न कर डालेगी तो पाच सौ वर्ष पीछे इसमें से एक बड़ा बलवान् पुत्र उत्पन्न होगा और वह तुमको दासीपने से छुडावेगा। ऐसा कहकर वह बालक आकाश को उड गया और सूर्य का सारथी हुआ।

अरुणो दृश्यते ब्रह्मन्प्रभातसमये यदा ।
आदित्यरथमध्यास्ते सारथ्यं समकल्पयत् ॥ २३ ॥
गरुडोऽपि यथाकालं जज्ञे पन्नगभोजनः ।
स जातमात्रो विनतां परित्यज्य खमाविशत् ॥ २४ ॥
आदास्यन्नात्मनो भोज्यमन्नं विहितमस्य यत् ।
विधात्रा भृगुशार्दूल क्षुधितः पन्नगेश्वरः ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पादीनामुत्पत्तौ षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वही प्रात काल के समय अरुणरूप दीखता है। इसके उपरान्त सर्पों के खाने वाले गरुड़ जी उत्पन्न हुए और उसी समय अपनी माता को त्यागकर आकाश को उड़ गये। हे भृगुवंशियों में श्रेष्ठ! वह भूखे और पक्षियों में श्रेष्ठ ईश्वर के दिये भोग्य पदार्थ को पाने की चेष्टा करने लगे ॥१८।२५॥

आदिपर्व का सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तदशोऽध्याय ॥ १७ ॥

सौतिरुवाच—एतस्मिन्नेव काले तु भगिन्यौ ते तपोधन ।
अपश्यतां समायाते उच्चैः श्रवसमन्तिकात् ॥ १ ॥
यं तं देवगणाः सर्वे हृष्टरूपमपूजयन् ।
मथ्यमानेऽमृते जातमश्वरत्नमनुत्तमम् ॥ २ ॥
अमोघबलमश्वानामुत्तमं जगतां वरम् ।
श्रीमन्तमजरं दिव्यं सर्वलक्षणपूजितम् ॥ ३ ॥
शौनक उवाच—कथं तदमृतं देवैर्मथितं क्व च शंस मे ।
यत्र जज्ञे महावीर्यः सोऽश्वराजो महाद्युतिः ॥ ४ ॥
सौतिरुवाच ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः ॥ ५ ॥

॥ सत्रहवां अध्याय १७ ॥

सूत पुत्र बोले हे ऋषियो! एक समय कद्रू और विनता ने समीप आये हुए सूर्य के उच्चै श्रवा घोड़े को देखा, जिस रूपवान अश्व को सब देवताओं ने अमृत के लिये मथन किये हुए क्षीर समुद्र से निकाला था। जो अश्वों में अमोघबल, चलने वालों में श्रेष्ठ, शोभायुक्त, वृद्धभाव से रहित, सम्पूर्ण दिव्य लक्षणों से युक्त था। शौनक बोले हे सूत पुत्र! देवताओं ने कहां पर किस प्रकार

कनकाभरणं चित्रं देवगन्धर्वसेवितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मवहुलैर्जनैः ॥ ६ ॥
व्यालैरावारितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम् ।
नाकमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रयेण महागिरिम् ॥ ७ ॥
अगम्यं मनसाऽप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम् ।
नानापतङ्गसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः ॥ ८ ॥
तस्य शृङ्गमुपारुह्य वहुरत्नाचितं शुभम् ।
अनन्तकल्पमुद्विद्धं सुराः सर्वे महौजसः ॥ ९ ॥
ते मन्त्रयितुमारब्धास्तत्रासीना दिवौकसः ।
अमृताय समागम्य तपोनियमसंयुताः ॥ १० ॥
तत्र नारायणो देवो ब्रह्माणमिदमब्रवीत् ।
चिन्तयत्सु सुरेष्वेवं मन्त्रयत्सु च सर्वशः ॥ ११ ॥
देवैरसुरसङ्घैश्च मथ्यतां कलशोदधिः ।
भविष्यत्यमृतं तत्र मथ्यमाने महोदधौ ॥ १२ ॥
सर्वौषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव ह ।
मन्थध्वमुदधिं देवा वेत्स्यध्वममृतं ततः ॥ १३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमंथने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अमृत के लिये समुद्र को मथा, जिस मथन समय में वह पराक्रमी अश्व उत्पन्न हुआ ? वह सब कथा हमारे आगे विस्तार से कहो । उग्रश्रवा ने कहा कि, सुमेरु पर्वत अत्यत प्रकाशमान, अचल, उत्तम सवर्ण के समान उजली चोटियों से सूर्य के तेज को निरादर करने वाला, जो देवता और गन्धर्वों के रहने का स्थान है, उसे अधर्मी पुरुष नहीं देख सकते । जिसमें वडे वड़े सर्पो के रहने के स्थान हैं । और बडी बड़ी उत्तम औषधियां उत्पन्न होती है । और इतना ऊंचा है कि, आकाश को छूता हुआ विदित होता है । जिसपर अनेक नदिया और वृक्ष लगे हुए हैं । और जहां अनेक पक्षी तरह-तरह की बोलियां बोलते हैं। और अनेक रत्नों से अलंकृत उस पहाड के शिखर पर सम्पूर्ण बलवान् देवता बैठकर अमृत को प्राप्त करने की सलाह करने लगे ॥१।१०॥

वहां पर सबको सोच विचार में पडे देखकर भगवान् नारायण ने ब्रह्मा से कहा-देवता और असुरों ने एकत्र होकर समुद्र को मथने का विचार किया है । उसके मथन होने पर वहां से अमृत निकलेगा । उससे सब औषधियां, फिर रत्न और तिसके उपरान्त अमृत प्राप्त होवेगा ॥११।१३॥

आदिपर्व का सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

सौतिरुवाच—ततोऽभ्रशिखराकारैर्गिरिशृङ्गैरलंकृतम् ।
मन्दरं पर्वतवरं लताजालसमाकुलम् ॥ १ ॥
नाना विहङ्गसंघुष्टं नानादंष्ट्रिसमाकुलम् ।
किन्नरैरप्सरोभिश्च देवैरपि च सेवितम् ॥ २ ॥
एकादश सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रितम् ।
अधो भूमेः सहस्रेषु तावत्स्वेव प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥
तमुद्धर्तुमशक्ता वै सर्वे देवगणास्तदा ।
विष्णुमासीनमभ्येत्य ब्रह्माणं चेदमब्रुवन् ॥ ४ ॥
भवन्तावत्र कुर्वीतां बुद्धिं नैः श्रेयसीं पराम् ।
मन्दरोद्धरणे यत्नः क्रियतां च हिताय नः ॥ ५ ॥
सौतिरुवाच तथेति चाब्रवीद्विष्णुर्ब्रह्मणा सह भार्गव ।
अचोदयदमेयात्मा फणीन्द्रं पद्मलोचनः ॥ ६ ॥
ततोऽनन्तः समुत्थाय ब्रह्मणा परिचोदितः ।
नारायणेन चाप्युक्तस्तस्मिन्कर्मणि वीर्यवान् ॥ ७ ॥
अथ पर्वतराजानं तमनन्तो महाबलः ।
उज्जहार बलाद्ब्रह्मन्सवनं सवनौकसम् ॥ ८ ॥
ततस्तेन सुराः सार्धं समुद्रमुपतस्थिरे ।
तमूचुरमृतस्यार्थे निर्मथिष्यामहे जलम् ॥ ९ ॥

॥ अठारहवां अध्याय १८ ॥

सूत पुत्र बोले हे ऋषियो ! इसके उपरान्त सब देवता मन्दराचल पर्वत को उखाड़ने के लिये चले । वह पर्वत अति शोभायमान अपनी ऊंचाई से आकाश को छूता हुआ, अनेक वृक्षों की लताओं से शोभित, पक्षियों की अनेक प्रकार की मधुर बोलियों से युक्त और अनेक प्रकार के हिंसक जीवों से व्याप्त, किन्नर, अप्सरा और देवताओं से अत्यन्त शोभित ग्यारह हजार योजन ऊंचा और ग्यारह हजार योजन ही पृथ्वी में वर्तमान था। उसको देखकर देवताओं की सामर्थ्य उसे उखाड़ने की न हुई। तब सब लौटकर ब्रह्मा जी और भगवान् विष्णु से बोले—आप हमारे हित के लिए मन्दराचल को उखाड़ने की चेष्टा करें। उग्रश्रवा बोले—नारायण और ब्रह्मा ने अनन्तनाग से यह काम करने के लिए कहा। हे ब्राह्मणो ! उनकी आज्ञा से महापराक्रम वाले नागराज ने जाकर वनों सहित मन्दराचल पर्वत

अपां पतिरथोवाच ममाप्यंशा भवेत्ततः ।
सोढाऽस्मि विपुलं मर्दं मन्दरभ्रमणादिति ॥ १० ॥
ऊचुश्च कूर्मराजानमकूपारे सुरासुराः ।
अधिष्ठानं गिरेरस्य भवान्भवितुमर्हति ॥ ११ ॥
कूर्मेण तु तथेत्युक्त्वा पृष्ठमस्य समर्पितम् ।
तं शैलं तस्य पृष्ठस्थं यन्त्रेणेन्द्रो न्यपीडयत् ॥ १२ ॥
मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम् ।
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम् ॥ १३ ॥
अमृतार्थे पुरा ब्रह्मंस्तथैवासुरदानवाः ।
एकमन्तमुपाश्लिष्टा नागराज्ञो महासुराः ॥ १४ ॥
विबुधाः सहिताः सर्वे यतः पुच्छं ततः स्थिताः ।
अनन्तो भगवान्देवो यतो नारायणस्ततः ।
शिर उत्क्षिप्य नागस्य पुनः पुनरवाक्षिपत् ॥ १५ ॥
वासुकेरथ नागस्य सहसाऽऽक्षिप्यतः सुरैः ।
सधूमाः सार्चिषो वाता निष्पेतुरसकृन्मुखात् ॥ १६ ॥
ते धूमसङ्घाः संभूता मेघसंघाः सविद्युतः ।
अभ्यवर्षन्सुरगणाञ्छ्रमसंतापकर्शितान् ॥ १७ ॥

को बलपूर्वक उखाड़ लिया ॥१।८॥

फिर उस अनन्तनाग के साथ सब देवताओं ने पर्वत को उठाकर समुद्र के निकट लाकर रख दिया। तिसके उपरान्त उन्होंने समुद्र से कहा—हे सागर ! हम अमृत के लिये तेरे जल को मथेंगे। समुद्र ने देवताओं से कहा—यदि मन्दराचल से मथोगे तो मुझे कष्ट होगा। मैं कष्ट को सहने के लिये इस शर्त पर तय्यार हूं कि मुझे भी कुछ अमृत का अंश देना। देवताओं और दैत्यों ने कच्छप से कहा कि, समुद्र में इस पहाड का आधार आप होने के योग्य हैं। कच्छप ने देवता और दानवों की प्रार्थना स्वीकार करके उस पर्वत को अपनी पीठ पर रख लिया। और इन्द्र ने उसे मन्त्र से मथना प्रारम्भ किया। देवता और दैत्य मन्दराचल को मथानी और वासुकि नाग को उसकी रस्सी बनाकर समुद्र को मथने लगे। हे ब्राह्मणो ! पहले अमृत के हेतु असुर और दानव वासुकि के मुख की ओर लगे और सब देवता पूँछ की तर्फ युक्त हुए। अनन्त बार-बार नागराज के सिर को पकड कर खींचने लगे। बार-बार रगड खाने से उसके मुख से धुएँ और अग्नि से मिली हुई वायु निकलने लगी। वह धुओं के समूह बिजली सहित बादल होकर परिश्रम से दुर्बल देवताओं

तस्माच्च गिरिकूटाग्रात्प्रच्युताः पुष्पवृष्टयः ।
सुरासुरगणान्सर्वान्समन्तात्समवाकिरन् ॥ १८ ॥
बभूवात्र महानादो महामेघरवोपमः ।
उदधेर्मथ्यमानस्य मन्दरेण सुरासुरैः ॥ १९ ॥
तत्र नाना जलचरा विनिष्पिष्टा महाद्रिणा ।
विलयं समुपाजग्मुः शतशो लवणाम्भसि ॥ २० ॥
वारुणानि च भूतानि विविधानि महीधरः ।
पातालतलवासीनि विलयं समुपानयत् ॥ २१ ॥
तस्मिंश्च भ्राम्यमाणेऽद्रौ संघृष्यन्तः परस्परम् ।
न्यपतन्पतगोपेताः पर्वताग्रान्महाद्रुमाः ॥ २२ ॥
तेषां संघर्षजश्चाऽग्निरर्चिर्भिः प्रज्वलन्मुहुः ।
विद्युद्भिरिव नीलाभ्रमावृणोन्मन्दरं गिरिम् ॥ २३ ॥
ददाह कुञ्जरांस्तत्र सिंहांश्चैव विनिर्गतान् ।
विगतासूनि सर्वाणि सत्वानि विविधानि च ॥ २४ ॥
तमग्निममरश्रेष्ठः प्रदहन्तमितस्ततः ।
वारिणा मेघजेनेन्द्रः शमयामास सर्वशः ॥ २५ ॥
ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवुः सागराम्भसि ।
महाद्रुमाणां निर्यासा बहवश्चौषधीरसाः ॥ २६ ॥

पर बर्षने लगे। और उस पहाड़ से ऊपर से देवता और असुरों के समूह पर पुष्पों की वर्षा चारों ओर से होने लगी ॥१८॥

मथे हुए समुद्र में से बड़े बादलों के गरजने के समान भारी शब्द होने लगा। वहां पर अनेक प्रकार के जलचर जीव समुद्र में नष्ट हो गये। वरुणलोक और पाताल के रहने वाले भी बहुत से जीव नष्ट हो गये। पहाड़ के घूमने से परस्पर टकराकर, उमड़कर, पक्षियों सहित बड़े बड़े वृक्ष नीचे गिरने लगे। उन वृक्षों के परस्पर रगड़ने से पहाड़ के ऊपर के बन में आग लग गई और सारे पहाड़ में व्याप्त हो गई। और वहां पर हाथी, शेर जो पर्वत की कन्दराओं (गुफाओं) से निकले थे वह सब जलने लगे। इधर उधर जलती हुई अग्नि को इन्द्र देवता ने बादलों के जल से शांत किया ॥१९।२५॥

जिसके उपरान्त बड़े बड़े वृक्षों और बहुत सी औषधियों के अनेक प्रकार के रस समुद्र में गिरने लगे। उस अमृत का गुण रखने वाली औषधियों

तेषाममृतवीर्याणां रसानां पयसैव च ।
अमरत्वं सुरा जग्मुः काञ्चनस्य च निःस्रवात् ॥ २७ ॥
ततस्तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः ।
रसोत्तमैर्विमिश्रं च ततः क्षीरादभूद् घृतम् ॥ २८ ॥
ततो ब्रह्माणमासीनं देवा वरदमब्रुवन् ।
श्रान्ताः स्म सुभृशं ब्रह्मन्नोद्भवत्यमृतं च तत् ॥ २९ ॥
विना नारायणं देवं सर्वेऽन्ये देवदानवाः ।
चिरारब्धमिदं चापि सागरस्यापि मन्थनम् ॥ ३० ॥
ततो नारायणं देवं ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
विधत्स्वैषां बलं विष्णो भवानत्र परायणम् ॥ ३१ ॥
विष्णुरुवाच—बलं ददामि सर्वेषां कर्मैतद्ये समास्थिताः ।
क्षोभ्यतां कलशः सर्वैर्मन्दरः परिवर्त्यताम् ॥ ३२ ॥
सौतिरुवाच—नारायणवचः श्रुत्वा बलिनस्ते महोदधेः ।
तत्पयः सहिता भूयश्चक्रिरे भृशमाकुलम् ॥ ३३ ॥
ततः शतसहस्रांशुर्मथ्यमानात्तु सागरात् ।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः ॥ ३४ ॥
श्रीरनन्तरमुत्पन्ना घृतात्पाण्डुरवासिनी ।
सुरादेवी समुत्पन्ना तुरगः पाण्डुरस्तथा ॥ ३५ ॥

के रस से ही अमृत उत्पन्न हुआ, जिसको पीकर देवता अमर हो गये। तिसके उपरान्त उस समुद्र का जल उन उत्तम रसों के मिलने से दूध हो गया, और फिर दूध से घृत बन गया। फिर ब्रह्माजी से देवता बोले—हे भगवन्! हम मथते मथते अत्यन्त थक गये हैं और वह अमृत अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। नारायणदेव के विना हम सब थककर चूर हो गये हैं। तब ब्रह्माजी ने नारायण भगवान् से कहा—आपही इस समय इनकी सहायता करने योग्य हैं। आप इनको ऐसी शक्ति देवें जिससे यह कार्य को पूरा कर सकें। विष्णु ने कहा—इस कार्य में लगे हुए सब दानवों और देवताओं को मैं बल देता हूं। यह सब समुद्र को मन्दराचल से मथना शुरू करें ॥२६।३२॥

उग्रश्रवा बोले—नारायण के वचन सुनकर और बल की प्राप्ति करके देव, दानव फिर समुद्र को मथने लगे। फिर लाख किरणों से युक्त, शान्त आत्मा, उज्ज्वल वर्ण चन्द्रमा समुद्र से उत्पन्न हुए।

कौस्तुभस्तु मणिर्दिव्य उत्पन्नो घृतसंभवः ।
मरीचिविकचः श्रीमन्नारायणउरोगतः ॥ ३६ ॥
श्रीः सुरा चैव सोमश्च तुरगश्च मनोजवः ।
यतो देवास्ततो जग्मुरादित्यपथमाश्रिताः ॥ ३७ ॥
धन्वंतरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत ।
श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति ॥ ३८ ॥
एतदत्यद्भुतं दृष्ट्वा दानवानां समुत्थितः ।
अमृतार्थे महान्नादो ममेदमिति जल्पताम् ॥ ३९ ॥
श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु महाकायस्ततः परम् ।
ऐरावतो महानागोऽभवद्वज्रभृता धृतः ॥ ४० ॥
अतिनिर्मथनादेव कालकूटस्ततः परः ।
जगदावृत्य सहसा सधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ४१ ॥
त्रैलोक्यं मोहितं यस्य गन्धमाघ्राय तद्विषम् ।
प्राग्रसल्लोकरक्षार्थं ब्रह्मणो वचनाच्छिवः ॥ ४२ ॥
दधार भगवान्कण्ठे मन्त्रमूर्तिर्महेश्वरः ।
तदा प्रभृति देवस्तु नीलकण्ठ इति श्रुतिः ॥ ४३ ॥
एतत्तदद्भुतं दृष्ट्वा निराशा दानवाः स्थिताः ।
अमृतार्थे च लक्ष्म्यर्थे महान्तं वैरमाश्रिताः ॥ ४४ ॥

इसके उपरान्त घृत से कमलवासिनी लक्ष्मी देवी, सुरादेवी और उच्चैःश्रवा घोड़ा उत्पन्न हुए। और नारायण के हृदय में शोभायमान, किरणों के प्रकाश से युक्त, दिव्य कौस्तुभमणि उत्पन्न हुए ॥३३।३६॥

लक्ष्मी सुरादेवी चन्द्रमा सूर्य के मार्ग होकर देवताओं के पास पहुंच गये। फिर हाथ में श्वेत कलश में अमृत लिये हुए धन्वन्तरिदेव समुद्र से निकले। इस आश्चर्य को देखकर अमृत के लिये मेरा मेरा करते हुए सब दानवों ने बड़ा कोलाहल किया। इसके उपरान्त चार श्वेत दांतों वाला ऐरावत हाथी निकला जो इन्द्र ने ग्रहण कर लिया। फिर देवताओं के अत्यन्त मथने से कालकूट विष निकला। धुएँ सहित प्रज्वलित अग्नि के समान उस विष ने सम्पूर्ण पृथ्वी को व्याकुल कर डाला। कालकूट विष की गन्ध से तीनों लोक मोहित हो गये। फिर उस विष को ब्रह्माजी के कहने से शिवजी ने पी लिया और अपने कण्ठ में रक्खा। उस विष से शिवजी का कण्ठ नीला होगया। तब

ततो नारायणो मायां मोहिनीं समुपाश्रितः ।
स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वा दानवानभिसंश्रितः ॥ ४५ ॥
ततस्तदमृतं तस्यै ददुस्ते मूढचेतसः ।
स्त्रियै दानवदैतेयाः सर्वे तद्गतमानसाः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमंथने अष्टादशोऽध्याय ॥ १८ ॥

से भगवान् शिवजी का नाम नलिकण्ठ विख्यात हुआ। फिर सब दानव लक्ष्मी और अमृत को लेने के लिये देवताओं से बड़ा क्लेश करने को तत्पर हुए। नारायण ने उन दोनों का झगड़ा देखकर स्त्री का बड़ा अद्भुत मोहनीरूप धारण किया और दैत्यों के पास खड़े होकर उनके मन को मोह लिया। और उन मूढ़ दैत्य दानवों ने वह अमृत उस मोहनीरूप स्त्री को देदिया ॥३७१४६॥

आदिपर्व का अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकोनविंशतोऽध्यायः ॥ १९ ॥

सौतिरुवाच—अथावरणमुख्यानि नानाप्रहरणानि च ।
प्रगृह्याभ्यद्रवन्देवान्सहिता दैत्यदानवाः ॥ १ ॥
ततस्तदमृतं देवो विष्णुरादाय वीर्यवान् ।
जहार दानवेन्द्रेभ्यो नरेण सहितः प्रभुः ॥ २ ॥
ततो देवगणाः सर्वे पपुस्तदमृतं तदा ।
विष्णोः सकाशात्संप्राप्य संभ्रमे तुमुले सति ॥ ३ ॥
ततः पिबत्सु तत्काले देवेष्वमृतमीप्सितम् ।
राहुर्विबुधरूपेण दानवः प्रापिबत्तदा ॥ ४ ॥
तस्य कण्ठमनुप्राप्ते दानवस्यामृते तदा ।
आख्यातं चन्द्रसूर्याभ्यां सुराणां हितकाम्यया ॥ ५ ॥
ततो भगवता तस्य शिरश्छिन्नमलंकृतम् ।
चक्रायुधेन चक्रेण पिबतोऽमृतमोजसा ॥ ६ ॥

॥ उन्नीसवां अध्याय १९ ॥

उग्रश्रवा बोले-हे ऋषियो! नारायण नरदेव के साथ इस प्रकार दानवों से अमृत लेकर वहां से देवताओं के पास गये। सब दैत्य अनेक अस्त्र-शस्त्र लेकर उनके पीछे दौड़े। नारायण ने वह अमृत लाकर देवताओं को दिया और उन्होंने उसे बड़े आनन्द पूर्वक ग्रहण किया। राहु ने माया से देवताओं का रूप धारण करके अमृत को पिया। अमृत राहु के गले तक ही पहुँचा था कि,

तच्छैलश्रृङ्गप्रतिमं दानवस्य शिरो महत् ।
चक्रच्छिन्नं खमुत्पत्य ननादातिभयङ्करम् ॥ ७ ॥
तत्कबंधं पपातास्य विस्फुरद्धरणीतले ।
सपर्वतवनद्वीपां दैत्यस्याकम्पयन्महीम् ॥ ८ ॥
ततो वैरविनिर्बन्धः कृतो राहुमुखेन वै ।
शाश्वतश्चन्द्रसूर्याभ्यां ग्रसत्यद्यापि चैव तौ ॥ ९ ॥
विहाय भगवांश्चापि स्त्रीरूपमतुलं हरिः ।
नानाप्रहरणैर्भीमैर्दानवान्समकम्पयत् ॥ १० ॥
ततः प्रवृत्तः संग्रामः समीपे लवणाम्भसः ।
सुराणामसुराणां च सर्वघोरतरो महान् ॥ ११ ॥
प्रासाश्च विपुलास्तीक्ष्णा न्यपतन्त सहस्रशः ।
तोमराश्च सुतीक्ष्णाग्राः शस्त्राणि विविधानि च ॥ १२ ॥
ततोऽसुराश्चक्रभिन्ना वमन्तो रुधिरं बहु ।
असिशक्तिगदारुग्णा निपेतुर्धरणीतले ॥ १३ ॥
छिन्नानि पट्टिशैश्चैव शिरांसि युधि दारुणैः ।
तप्तकांचनमालीनि निपेतुरनिशं तदा ॥ १४ ॥

देवताओं का हित चाहने वाले चन्द्रमा और सूर्य ने कह दिया कि, यह राहु दानव है। तब नारायण ने सुदर्शन चक्र से उस दैत्य का सिर काट डाला। वह पर्वत के शिखर के समान उस दानव का सिर आकाश को गया और बड़ा भयङ्कर शब्द करने लगा। और बाकी शरीर पृथ्वी पर गिरा जिसने गिरते समय पर्वत, वन और द्वीपों सहित पृथ्वी को हिला-दिया ॥७।८॥

अमृत पीने के कारण राहु की मृत्यु नहीं हुई। तभी से, इसी कारण, शत्रु समझकर समय समय पर राहु चन्द्रमा और सूर्य को ग्रसने के लिये दौड़ता है। तदनन्तर नारायण भी स्त्री का रूप छोड़कर अनेक अस्त्र शस्त्रों से दानवों का नाश करने लगे। जिसके उपरान्त खारी समुद्र के किनारे देवता और असुरों का घोर संग्राम होने लगा। हजारों तीक्ष्ण प्रास, तोमर, तलवार आदि शस्त्र चलने लगे ॥९।१२॥

फिर चक्र से कटे हुए राक्षस रुधिर गिराते हुए तलवार आदि शस्त्रों से घायल हुए पृथ्वी पर गिरने लगे। सुवर्ण की मालाएं पहने बड़े कठोर वीरों के सिर पट्टिश आदि शस्त्रों से कटकर युद्ध भूमि में गिरने लगे। मरे हुए दैत्यों की रुधिर में सनी लाशें धातु से रंगे हुए पहाड़ों के शिखर सी जान पड़ती थीं। सूर्य अस्त होते समय वहां अनेक

रुधिरेणानुलिप्ताङ्गा निहताश्च महासुराः ।
अद्रीणामिव कूटानि धातुरक्तानि शेरते ॥ १५ ॥
हाहाकारः समभवत्तत्र तत्र सहस्रशः ।
अन्योन्यं छिन्दतां शस्त्रैरादित्ये लोहितायति ॥ १६ ॥
परिघैरायसैस्तीक्ष्णैः सन्निकर्षे च मुष्टिभिः ।
निघ्नतां समरेऽन्योन्यं शब्दो दिवमिवास्पृशत् ॥ १७ ॥
छिन्धि भिन्धि प्रधाव त्वं पातयाभिसरेति च ।
व्यश्रूयन्त महाघोराः शब्दास्तत्र समन्ततः ॥ १८ ॥
एवं सुतुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये ।
नरनारायणौ देवौ समाजग्मतुराहवम् ॥ १९ ॥
तत्र दिव्यं धनुर्दृष्ट्वा नरस्य भगवानपि ।
चिन्तयामास तच्चक्रं विष्णुर्दानवसूदनम् ॥ २० ॥
ततोऽम्बराच्चिन्तितमात्रमागतं महाप्रभं चक्रममित्रतापनम् ।
विभावसोस्तुल्यमकुण्ठमण्डलं सुदर्शनं संयति भीमदर्शनम् ॥ २१ ॥
तदागतं ज्वलितहुताशनप्रभं भयङ्करं करिकरबाहुरच्युतः ।
मुमोच वै प्रबलवदुग्रवेगवान्महाप्रभं परनगरावदारणम् ॥ २२ ॥
तदंतकज्वलनसमानवर्चसं पुनः पुनर्न्यपतत वेगवत्तदा ।
विदारयद्दितिदनुजान्सहस्रशः करेरितं पुरुषवरेण संयुगे ॥ २३ ॥

शस्त्रों के प्रहार करने वालों का बडा हाहाकार शब्द होने लगा। बड़े तीक्ष्ण लोहे के बने हुए आयुधों से और समीप होने पर मुष्टियों से संग्राम में परस्पर मारने की आवाज आकाश तक गई। और चारों तरफ से मारो, काटो आदि का घोर शब्द सुनाई देने लगा ॥१३।१८॥

इस प्रकार युद्ध ने जब भयानक रूप धारण किया तब नर और नारायणदेव दोनों वहां पर आये। नारायणदेव ने नर के दिव्य धनुष को देखकर दानवों का नाश करने वाले अपने सुदर्शन चक्र को याद किया। और वह स्मरण करते ही आ पहुँचा। भगवान ने उस शत्रु के नाश करने वाले बडे बलवान तेजयुक्त भयंकर सुदर्शन चक्र को दैत्यों की सेना में बार बार घुमाकर छोडा। भगवान के हाथ से बडे वेग से छूटे हुए उस सुदर्शन चक्र ने हजारों दैत्यों और दानवों को काटकर गिरा दिया। कहीं कहीं अग्नि के समान दैत्यों को भस्म किया, कहीं पर केवल सिर काटता,

दहत्क्वचिज्ज्वलन इवावलेलिहत्प्रसह्य तानसुरगणान्न्यकृन्तत ।
प्रवेरितं वियति मुहुः क्षितौ तथा पपौ रणे रुधिरमथो पिशाचवत् ॥ २४ ॥
तथाऽसुरा गिरिभिरदीनचेतसो मुहुर्मुहुः सुरगणमार्दयंस्तदा ।
महाबला विगलितमेघवर्चसः सहस्रशो गगनमभिप्रपद्यह ॥ २५ ॥
अथाम्बराद्भयजननाः प्रपेदिरे सपादपा बहुविधमेघरूपिणः ।
महाद्रयः परिगलिताग्रसानवः परस्परं द्रुतमभिहत्य सस्वनाः ॥ २६ ॥
ततो मही प्रविचलिता सकानना महाद्रिपाताभिहता समन्ततः ।
परस्परं भृशमभिगर्जतां मुहू रणाजिरे भृशमभिसंप्रवर्तिते ॥ २७ ॥
नरस्ततो वरकनकाग्रभूषणैर्महेषुभिर्गगनपथं समावृणोत् ।
विदारयन्गिरिशिखराणि पत्रिभिर्महाभयेऽसुरगणविग्रहे तदा ॥ २८ ॥
ततो मही लवणजलं च सागरं महासुराः प्रविविशुरर्दिताः सुरैः ।
वियद्गतं ज्वलितहुताशनप्रभं सुदर्शनं परिकुपितं निशाम्य ते ॥ २९ ॥
ततः सुरैर्विजयमवाप्य मन्दरः स्वमेव देशं गमितः सुपूजितः ।
विनाद्य खं दिवमपि चैव सर्वशस्ततो गताः सलिलधरा यथागतम् ॥ ३० ॥
ततोऽमृतं सुनिहितमेव चक्रिरे सुराः परां मुदमभिगम्य पुष्कलाम् ।
ददौ च तं निधिममृतस्य रक्षितुं किरीटिने बलभिदथामरैः सह ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमथनसमाप्तिर्नाम एकोनविंशोऽध्याय ॥ १९ ॥

और पिशाचों के समान रुधिर को पीता जाता था ॥१०।२८॥

और इसीतरह घबराये हुए दैत्य आकाश में जाकर पत्थरों की वर्षा से देवताओं को पीड़ित करने लगे। आकाश से मेघखण्ड जैसे पहाड़ गिर गिरकर देवताओं को भयभीत करने लगे। उनकी चोटियों से टूट टूटकर बड़े बड़े वृक्ष भयानक शब्द करते हुए गिरते जाते थे। बड़े बड़े पर्वतों के गिरने से यह पृथ्वी कांपने लगी। संग्राम में परस्पर गर्जना करते हुओं की ध्वनि चारों ओर फैल गई ॥२५।२७॥

तब नर ने स्वर्ण से शोभायमान बाणों से पहाड़ के शिखरों को तोड़कर आकाश को ढक दिया। उनके बाणों से पर्वतों के शिखर चूर-चूर हो गये। आकाश में नारायणदेव के चक्र ने प्रज्वलित अग्नि के समान दानवों का नाश करना शुरू किया। तब सब देवताओं से पीड़ा किये हुए असुरों ने पृथ्वी और खारी समुद्र का आश्रय लिया। देवताओं ने इस प्रकार अमृत और विजय की प्राप्ति करके मन्दराचल पर्वत को अपने स्थान में पहुँचा दिया। इसके पश्चात् आकाश और स्वर्ग में शब्द कर सब बादल अपने अपने स्थानों

को चले गये। फिर प्रसन्न होकर अमृत की रक्षा की। इन्द्र ने देवताओं के साथ उस निधिस्वरूप अमृत को रक्षा के लिये नर को दिया ॥२८।३१॥

आदिपर्व का उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

सौतिरुवाच—एतत्ते कथितं सर्वममृतं मथितं यथा ।
यत्र सोऽश्वः समुत्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ॥ १ ॥
यं निशम्य तदा कद्रूर्विनतामिदमब्रवीत् ।
उच्चैःश्रवा हि किं वर्णो भद्रे प्रब्रूहि मा चिरम् ॥ २ ॥
विनतोवाच—श्वेत एवाश्वराजोऽयं किंवा त्वं मन्यसे शुभे ।
ब्रूहि वर्णं त्वमप्यस्य ततोऽत्र विपणावहे ॥ ३ ॥
कद्रूरुवाच—कृष्णवालमहं मन्ये हयमेनं शुचिस्मिते ।
एहि सार्धं मया दीव्य दासीभावाय भामिनी ॥ ४ ॥
सौतिरुवाच—एवं ते समयं कृत्वा दासीभावाय वै मिथः ।
जग्मतुः स्वगृहानेव श्वो द्रक्ष्याव इति स्म ह ॥ ५ ॥
ततः पुत्रसहस्रं तु कद्रूर्जिह्मं चिकीर्षती ।
आज्ञापयामास तदा वाला भूत्वाञ्जनप्रभाः ॥ ६ ॥
आविशध्वं हयं क्षिप्रं दासी न स्यामहं यथा ।
नावपद्यन्त ये वाक्यं तान्शशाप भुजङ्गमान् ॥ ७ ॥
सर्पसत्रे वर्तमाने पावको वः प्रधक्ष्यति ।
जनमेजयस्य राजर्षेः पाण्डवेयस्य धीमतः ॥ ८ ॥

॥ बीसवां अध्याय २० ॥

उग्रश्रवा बोले–हे ऋषियो ! यह सब कथा अमृत मथने की तुमसे कही और जहां से बड़ा पराक्रम वाला, शोभायुक्त उच्चैःश्रवा नामक अश्व निकला था। जिस घोड़े को देखकर कद्रु ने विनता से यह वचन कहा कि, हे भद्रे ! उस घोड़े का क्या रंग है ? जल्दी बताओ। विनता ने कहा हे शुभे ! उस घोड़े का रङ्ग श्वेत जान पड़ता है। तुम ठीक बताओ कैसा रङ्ग है ? फिर हम तुम इसपर शर्त लगावेंगी। कद्रु ने कहा–मैं तो मानती हूं कि, इस घोड़े की पूंछ के बाल काले हैं। हे भामिनी ! मेरे साथ शर्त दासी होने की कर ॥१।४॥

उग्रश्रवा बोले- इस प्रकार वह दोनों बहिनें परस्पर दासी भाव की शर्त रख अपने अपने घर को चली गईं कि अच्छा, कल प्रातःकाल इस घोड़े

शापमेनं तु शुश्राव स्वयमेव पितामहः ।
अतिक्रूरं समुत्सृष्टं कद्रुवा दैवादतीव हि ॥ ९ ॥
सार्धं देवगणैः सर्वैर्वाचं तामन्वमोदत ।
बहुत्वं प्रेक्ष्य सर्पाणां प्रजानां हितकाम्यया ॥ १० ॥
तिग्मवीर्यविषा ह्येते दन्दशूका महाबलाः ।
तेषां तीक्ष्णविषत्वाद्धि प्रजानां च हिताय च ॥ ११ ॥
युक्तं मात्रा कृतं तेषां परपीडोपसर्पिणाम् ।
अन्येषामपि सत्वानां नित्यं दोषपरास्तु ये ॥ १२ ॥
तेषां प्राणान्तिको दण्डो दैवेन विनिपात्यते ।
एवं संभाष्य देवस्तु पूज्य कद्रूं च तां तदा ॥ १३ ॥
आहूय कश्यपं देव इदं वचनमब्रवीत् ।
यदेते दन्दशूकाश्च सर्पा जातास्त्वयाऽनघ ॥ १४ ॥
विषोल्बणा महाभोगा मात्रा शप्ताः परंतप ।
तत्र मन्युस्त्वया तात न कर्तव्यः कथंचन ॥ १५ ॥
दृष्टं पुरातनं ह्येतद्यज्ञे सर्पविनाशनम् ।
इत्युक्त्वा सृष्टिकृद्देवस्तं प्रसाद्य प्रजापतिम् ।
प्रादाद्विषहरीं विद्यां कश्यपाय महात्मने ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

को देखना होगा। कद्रु के अन्तःकरण में कपट था। जिसके उपरान्त कपटी कद्रु ने हजार पुत्रों को आज्ञा दी कि, तुम उच्चैःश्रवा घोड़े की पूँछ में काले बाल होकर लिपट जाओ, जिससे मुझे विनता की दासी न बनना पड़े। कद्रु के पुत्रों ने अपनी माता की आज्ञा को अस्वीकार किया। तब कद्रु ने क्रोध में होकर उनको शाप दिया कि, राजा जनमेजय के सर्पयज्ञ में तुम अग्नि में भस्म होगे। ब्रह्मा ने सब देवताओं सहित दैवयोग से कद्रु के दिये हुए अत्यन्त घोर शाप को सुनकर उसका अनुमोदन किया। ब्रह्माजी ने विचार किया कि, यह साँप तीक्ष्ण विष वाले और प्राणियों को हानि पहुँचाने वाले हैं उनको भी परमेश्वर की ओर से प्राणान्तिक दण्ड दिया जाता है। ब्रह्मा ने ऐसा कहकर कद्रु की स्तुति की। तिसके उपरान्त उन्होंने कश्यप को बुलाकर कहा यह जो काटने वाले, तीक्ष्ण विषयुक्त सर्प तुझसे उत्पन्न हुए हैं वह माता से शाप दिये गये, इसलिये हे तात! तुझे इस बारे में क्रोध करना उचित नहीं है। यज्ञ में सर्पों का नाश होना ही था। इस प्रकार वार्यों

से प्रसन्न करके प्रजापति ब्रह्मा ने कश्यप को विष दूर करने वाली विद्या बताई ॥५१६॥

आदिपर्व का बीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

सौतिरुवाच—ततो रजन्यां व्युष्टायां प्रभातेऽभ्युदिते रवौ ।
कद्रूश्च विनता चैव भगिन्यौ ते तपोधन ॥ १ ॥
अमर्षिते सुसंरब्धे दास्ये कृतपणे तदा ।
जग्मतुस्तुरगं द्रष्टुमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ २ ॥
ददृशातेऽथ ते तत्र समुद्रं निधिमम्भसाम् ।
महान्तमुदकागाधं क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ॥ ३ ॥
तिमिङ्गिलझषाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ।
सत्त्वैश्च बहुसाहस्रैर्नानारूपैः समावृतम् ॥ ४ ॥
भीषणैर्विकृतैरन्यैर्घोरैर्जलचरैस्तथा ।
उग्रैर्नित्यमनाधृष्यं कूर्मग्राहसमाकुलम् ॥ ५ ॥
आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च ।
नागानामालयं रम्यमुत्तमं सरितां पतिम् ॥ ६ ॥
पातालज्वलनावासमसुराणां च बान्धवम् ।
भयङ्करम् च सत्त्वानां पयसां निधिमर्णवम् ॥ ७ ॥
शुभं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम् ।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सुपुण्यजलमद्भुतम ॥ ८ ॥

॥ इक्कीसवां अध्याय २१ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो ! रात्रि के व्यतीत होने पर और सूर्योदय प्रभात के समय कद्रु और विनता दोनों बहनें उच्चैःश्रवा अश्व को देखने के लिए चलीं । इसके उपरान्त जलों के निधि बड़े अगाध (अथाह) जल वाले और मत्स्य आदि से भरे भयानक शब्द करते हुए तिमि, तिमिङ्गिल, मगर, कछुए आदि अनेक प्रकार के जीवों से युक्त, जिनके भय से कोई इसके भीतर प्रवेश नहीं कर सकता और सम्पूर्ण रत्नों की खान, वरुण के घर, नागों के उत्तम स्थान, बड़वानल अग्नि के निवास स्थान, असुरगण और अनेक प्रकार के भयानक जीवों के निधि, शुभ दिव्य रूप देवताओं के अमृत का निधि प्रमाण रहित, विचार शक्ति से अलग, पवित्र, जलयुक्त, विचित्र, भयानक जलचरों के शब्द से भयानक,

घोरं जलचराराचरौद्रं भैरवानिःस्वनम् ।
गम्भीरावर्तकलिलं सर्वभूतभयङ्करम् ॥ ९ ॥
वेलादोलानिलचलं क्षोभोद्वेगसमुच्छ्रितम् ।
वीचीहस्तैः प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वतः ॥ १० ॥
चन्द्रवृद्धिक्षयवशादुद्वृत्तोर्मिसमाकुलम् ।
पांचजन्यस्य जननं रत्नाकरमनुत्तमम् ॥ ११ ॥
गां विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा ।
वराहरूपिणा चान्तर्विक्षोभितजलाविलम् ॥ १२ ॥
ब्रह्मर्षिणा व्रतवता वर्षाणां शतमात्रिणा ।
अनासादितगाधं च पातालतलमव्ययम् ॥ १३ ॥
अध्यात्मयोगनिद्रां च पद्मनाभस्य सेवतः ।
युगादिकालशयनं विष्णोरमिततेजसः ॥ १४ ॥
वज्रपातनसंत्रस्तमैनाकस्याभयप्रदम् ।
डिम्वाहवार्दितानां च असुराणां परायणम् ॥ १५ ॥
वडवामुखदीप्ताग्नेस्तोयहव्यप्रदं शिवम् ।
अगाधपारं विस्तीर्णमप्रमेयं सरित्पतिम् ॥ १६ ॥
महानदीभिर्वह्वीभिः स्पर्धयेव सहस्रशः ।
अभिसार्यमाणमनिशं ददृशाते महार्णवम् ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यमानमिवोर्मिभिः ॥ १७ ॥

जिसमें गहरे भँवर पड़ा करते हैं, सब जीवों को भय देने वाला, लहरों के आने पर वायु, चंचल जल के उछलने से बड़े ऊँचे, लहर रूपी हाथों से चारों ओर से नाचते हुए की सदृश, चन्द्रमा की वृद्धि और क्षय के वश से उन्हीं लहरों से युक्त, परमपवित्र विष्णु के पाञ्चजन्य शङ्ख की उत्पत्ति करने वाले, सर्वोत्तम पृथ्वी को धारण करते हुए भगवान वराह रूप में हिलाये हुए, जल से व्याप्त, सौ वर्ष तक व्रतों के धारण करने वाले महर्षि अत्रि ने जिसकी थाह नहीं पाई ऐसे विकार से रहित, पाताल तल वाले, और आत्मा में योग निद्रा को सेवन करते हुए विष्णु के युगादिकाल की शय्या, इन्द्र के वज्र के भय से डरे हुए मैनाक पर्वत को अभय देने वाले, देवासुर सग्राम में डरने वाले और मारे हुए असुरों के विश्रामस्थान, पानी

गम्भीरं तिमिमकरोग्रसंकुलं तं गर्जन्तं जलचररावरौद्रनादैः ।
विस्तीर्णं ददृशतुरम्बरप्रकाशं तेऽगाधं निधिमुरुमम्भसामनन्तम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

पति बड़ी बड़ी बहुत सी हज़ारों नदियों के जल से भरते हुए गम्भीर, अनेक प्रकार के जन्तुओं से भरे हुए अपार, अथाह, समुद्र को देखा ॥१।१८॥

—०—

आदिपर्व का इक्कीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्याय ॥ २२ ॥

सौतिरुवाच—नागाश्च संविदं कृत्वा कर्त्तव्यमिति तद्वचः ।
निःस्नेहा वै दहेन्माता असंप्राप्तमनोरथा ॥ १ ॥
प्रसन्ना मोक्षयेदस्मांस्तस्माच्छापाच्च भामिनी ।
कृष्णं पुच्छं करिष्यामस्तुरगस्य न संशयः ॥ २ ॥
तथाहि गत्वा ते तस्य पुच्छे वाला इति स्मृतः ।
एतस्मिन्नन्तरे ते तु सपत्न्यौ पणिते तदा ॥ ३ ॥
ततस्ते पणितं कृत्वा भगिन्यौ द्विजसत्तम ।
जग्मतुः परया प्रीत्या परं पारं महोदधेः ॥ ४ ॥
कद्रूश्च विनता चैव दाक्षायण्यौ विहायसा ।
आलोकयन्त्यावक्षोभ्यं समुद्रं निधिमम्भसाम् ॥ ५ ॥
वायुनाऽतीव सहसा क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ।
तिमिंगिलसमाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ॥ ६ ॥
संयुतं बहुसाहस्रैः सत्त्वैर्नानाविधैरपि ।
घोरैर्घोरमनाधृष्यं गम्भीरमतिभैरवम् ॥ ७ ॥

॥ बाईसवां अध्याय २२ ॥

उग्रश्रवा बोले—इधर माता के दिये हुए शाप को सुनकर नागों ने परस्पर सलाह करके उसकी आज्ञा का पालन करने के लिये निश्चय कर लिया। इसमें संदेह नहीं क्योंकि हमारी माता का मनोरथ पूरा न होने पर पुत्र-स्नेह को भुलाकर हमें शाप से भस्म कर देगी और यदि वह प्रसन्न हो जावेगी तो अवश्य ही हमको शाप से बचावेगी। यह विचार कर सर्प उस घोड़े की पूंछ में काले बाल होकर चिपटे। इसी समय वह दोनों कश्यप की स्त्रियें दासीपने की शर्त रख समुद्र के पार गईं। दक्ष की पुत्री कद्रू और विनता आकाश मार्ग से जलों के निधि, वायु के वेग से उछलते हुए, बड़े शब्द वाले

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च ।
नागानामालयं चापि सुरम्यं सरितां पतिम् ॥ ८ ॥
पातालज्वलनावासमसुराणां तथालयम् ।
भयङ्कराणां सत्त्वानां पयसो निधिमव्ययम् ॥ ९ ॥
शुभ्रं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम् ।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सपुण्यजलसंमितम् ॥ १० ॥
महानदीभिर्बह्वीभिस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यंतमिव चोर्मिभिः ॥ ११ ॥
इत्येवं तरलतरोर्मिसंकुलं ते गम्भीरं विकसितमम्बरप्रकाशम् ।
पातालज्वलनशिखाविदीपिताङ्गं गर्जन्तं द्रुतमभिजग्मतुस्ततस्ते ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे समुद्रदर्शनंनाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

तिमि, तिमिङ्गल आदि अनेक प्रकार के जीवों से युक्त, गहरे अगम्य, सम्पूर्ण रत्नों के निधि, वरुणों और नागों के रहने के स्थान, मनोहर बड़वानल अग्नि और असुरों के रहने के स्थान, भयंकर जीवों के निवास स्थान, शुद्ध दिव्य रूप प्रमाण से रहित, देवताओं के अमृत स्थान, विचार शक्ति से अलग, बड़ी बड़ी नदियों से भरते हुए लहरों से नाच करते हुए के समान चंचल, तरंगों से भरे हुए आकाश के समान, बड़वानल अग्नि की ज्वालाओं से प्रकाशमान गर्जना करते हुए समुद्र के पास गईं ॥१।१२॥

आदिपर्व का बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्याय ॥ २३ ॥

सौतिरुवाच—तं समुद्रमतिक्रम्य कद्रूर्विनतया सह ।
न्यपतत्तुरगाभ्याशे न चिरादिव शीघ्रगा ॥ १ ॥
ततस्ते तं हयश्रेष्ठं ददृशाते महाजवम् ।
शशाङ्ककिरणप्रख्यं कालवालमुभे तदा ॥ २ ॥
निशाम्य च बहून्वालान्कृष्णान्पुच्छसमाश्रितान् ।
विषण्णरूपां विनतां कद्रूर्दास्ये न्ययोजयत् ॥ ३ ॥

॥ तेईसवां अध्याय २३ ॥

उग्रश्रवा बोले—इसके अनन्तर कद्रू और विनता दोनों उस समुद्र को लाँघकर उच्चैःश्रवा अश्व के पास गईं। वहां वेग वाले उस घोड़े को जो चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और काले बालों की पूंछ से युक्त था, देखा। यह देखकर विनता को बड़ा दुःख हुआ। अब कद्रू ने, शर्त के अनुसार, विनता को अपनी

ततः सा विनता तस्मिन्पणितेन पराजिता ।
अभवद्दुःखसंतप्ता दासीभावं समास्थिता ॥ ४ ॥
एतस्मिन्नन्तरे चापि गरुडः काल आगते ।
विना मात्रा महातेजा विदार्याण्डमजायत ॥ ५ ॥
महासत्त्वबलोपेतः सर्वा विद्योतयन्दिशः ।
कामरूपः कामगमः कामवीर्यो विहङ्गमः ॥ ६ ॥
अग्निराशिरिवोद्भासन्समिद्धोऽति भयङ्करः ।
विद्युद्विस्पष्टपिङ्गाक्षो युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ७ ॥
प्रवृद्धः सहसा पक्षी महाकायो नभोगतः ।
घोरो घोरस्वनो रौद्रो वह्निरौर्व इवापरः ॥ ८ ॥
तं दृष्ट्वा शरणं जग्मुर्देवाः सर्वे विभावसुम् ।
प्रणिपत्याब्रुवंश्चैनमासीनं विश्वरूपिणम् ॥ ९ ॥
अग्ने मा त्वं प्रवर्धिष्ठाः कच्चिन्नो न दिधक्षसि ।
असौ हि राशिः सुमहान्समिद्धस्तव सर्पति ॥ १० ॥
अग्निरुवाच—नैतदेवं यथा यूयं मन्यध्वमसुरार्दनाः ।
गरुडो बलवानेष मम तुल्यश्च तेजसा ॥ ११ ॥

दासी बना लिया। शर्त हार जाने के कारण विनता ने विवश होकर दुःखित भाव से अपनी सौति की दासी बनना स्वीकार कर लिया। इसके उपरान्त समय के व्यतीत होने पर दूसरे अंडे को फोडकर गरुड जी उत्पन्न हुए। उनका पराक्रम और तेज सब दिशाओं में उजेला करने वाला था। जहां चाहें तहां चले जावें और जो चाहें सो रूप धारण करने में समर्थ थे। रूप उनका अति डरावना और तेज अग्नि की राशि के समान था। बिजली के समान चमकते हुए नेत्र थे। थोडे दिनों में वह गरुड नामक महापक्षी बडे होकर आकाश में गये। उनके अत्यंत घोर शब्द करने वाले भयानक और अग्नि के समान प्रकाशित स्वरूप को देखकर सब देवता भयभीत हुए और अग्नि के पास जाकर विनयपूर्वक बोले ॥१-९॥

हे अग्निदेव ! आप अकस्मात् ऐसा भयानक रूप धारण कर हमको जलाने के लिए क्यों आ रहे हैं ? यह देखिये, पर्वत के समान अग्नि का ढेर हमारी ओर बढता चला आ रहा है। अग्निदेव बोले हे असुरों के नाश करने वाले देवताओ ! जैसे तुम समझ रहे हो वह बात नहीं है। यह मेरे समान तेजस्वी गरुड है। यह विनता को आनन्द देने वाला उत्पन्न हुआ है। इस तेज के समूह को देख तुमको यह अज्ञान क्यों प्राप्त हुआ। यह नागों का क्षय करने वाला, तथा बलवान कश्यप का पुत्र,

जातः परमतेजस्वी विनतानन्दवर्धनः ।
तेजोराशिमिमं दृष्ट्वा युष्मान्मोहः समाविशत् ॥ १२
नागक्षयकरश्चैव काश्यपेयो महाबलः ।
देवानां च हिते युक्तस्त्वहितो दैत्यरक्षसाम् ॥ १
न भीः कार्या कथं चात्र पश्यध्वं सहिता मम ।
एवमुक्तास्तदा गत्वा गरुडं वाग्भिरस्तुवन् ॥ ·
ते दूरादभ्युपेत्यैनं देवाः सर्षिगणास्तदा ।
देवा ऊचु'—त्वमृषिस्त्वं महभागस्त्वं देवः पतगेश्वरः ॥ १
त्वं प्रभुस्तपनः सूर्यः परमेष्ठी प्रजापतिः ।
त्वमिन्द्रस्त्वं हयमुखस्त्वं शरस्त्वं जगत्पतिः ॥
त्वं मुखं पद्मजो विप्रस्त्वमग्निः पवनस्तथा ।
त्वं हि धाता विधाता च त्वं विष्णुः सुरसत्तमः ॥
त्वं महानभिभूः शश्वदमृतं त्वं महद्यशः ।
त्वं प्रभास्त्वमभिप्रेतं त्वं नस्त्राणमनुत्तमम् ।
बलोर्मिमान्साधुरदीनसत्वः समृद्धिमान्दुर्विषहस्त्वमेव
त्वत्तः सृतं सर्वमहीनकीर्ते ह्यनागतं चोपगतं च सर्वम् ॥
त्वमुत्तमः सर्वमिदं चराचरं गभस्तिभिर्भानुरिवावभाससे ।
समाक्षिपन्भानुमतः प्रभांमुहुस्त्वमन्तकः सर्वमिदं ध्रुवाध्रुवम् ॥ :

देवताओं का हितकारी, दैत्य राक्षसों का शत्रु है । किसी प्रकार तुमको यहां भय न करना चाहिये और मेरे साथ इसको देखो। ऐसा कहने पर गरुड के पास जा, सम्पूर्ण देवता गरुड की वाणियों द्वारा स्तुति करने लगे ॥१०।१४॥

हे पक्षियों के राजा ! आप ऋषि हो । सब मंत्रों के जानने वाले महाभाग हो, देव हो, पक्षियों के ईश्वर हो, सम्पूर्ण जगत के प्रभु हो, सबके नाश करने वाले हो, सूर्य हो, परमेष्ठी हिरण्यगर्भ हो, प्रजापति हो, इन्द्र हो, हयग्रीव महादेव के विष्णुरूपी बाण हो, हो, ब्रह्मा हो, विज्ञानी हो, पवन विधाता हो, विष्णु हो, महातत्त्व सनातन हो, अमृत हो, यशवान तेज हो, बुद्धिवृत्ति हो, रक्षणरूप तुम बलधारी, परोपकारी, पर शाली और असह्य तेजवाले हो भविष्य, वर्तमान सब तुम्हीं से ऽ

दिवाकरः परिकुपितो यथा दहेत्प्रजास्तथा दहसि हुताशनप्रभ ।
भयङ्करः प्रलय इवाग्निरुत्थितो विनाशयन्युगपरिवर्त्तनान्तकृत् ॥ २१ ॥
खगेश्वरं शरणमुपागता वयं महौजसं ज्वलनसमानवर्चसम् ।
तडित्प्रभं वितिमिरमभ्रगोचरं महाबलं गरुडमुपेत्य खेचरम् ॥ २२ ॥
परावरं वरदमजय्यविक्रमं तवौजसा सर्वमिदं प्रतापितम् ।
जगत्प्रभो तप्तसुवर्णवर्चसा त्वं पाहि सर्वांश्च सुरान्महात्मनः ॥ २३ ॥
भयान्विता नभसि विमानगामिनो विमानिता विपथगतिं प्रयान्ति ते ।
ऋषेः सुतस्त्वमसि दयावतः प्रभो महात्मनः खगवर कश्यपस्य ह ॥ २४ ॥
स मा क्रुधः कुरु जगतो दयां परां त्वमीश्वरः प्रशममुपैहि पाहि नः ।
महाशनिस्फुरितसमस्वनेन ते दिशोऽम्बरं त्रिदिवमियं च मेदिनी ।
चलन्ति नः खग हृदयानि चानिशं निगृह्यतां वपुरिदमग्निसन्निभम् ॥ २५ ॥
तव द्युतिं कुपितकृतान्तसन्निभां निशम्य नश्चलति मनोऽव्यवस्थितम् ।
प्रसीद नः पतगपते प्रयाचतां शिवश्च नो भव भगवन्सुखावहः ॥ २६ ॥
एवं स्तुतः सुपर्णस्तु देवैः सर्षिगणैस्तदा ।
तेजसः प्रतिसंहारमात्मनः स चकार ह ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

सर्वोत्तम हो, चराचर सम्पूर्ण जगत् को सूर्य के समान प्रकाश करते हो, तुम सूर्य चर अचर जगत् के अन्त हो, जैसे सूर्य अपनी किरणों से सब जगत् को भस्म कर दे, इस प्रकार हे हुताशन प्रभु ! तुम सम्पूर्ण जगत् को भस्म कर देते हो, उठी हुई प्रलय की अग्नि के समान भयंकर हो और तुम काल के भी काल हो ॥१५।२१॥

अग्नि के समान तेजस्वी, बड़े बलवान्, बिजली के समान प्रकाशमान, अन्धकार रहित, बादलों में दीखते हुए आकाशगामी गरुड़ की हम शरण लेते है। हे जड़-चेतन-स्वरूप, वर देने वाले, अजेय, जगत् के स्वामी, तुम्हारे तेज से सब संसार तप रहा है। हे जगत् प्रभु ! तुम अपने सुवर्ण के से तेज से सब देवताओं की रक्षा करो। विमानों पर विचरने वाले देवतागण भय के मारे आकाश में इधर-उधर भाग रहे है। हे प्रभु ! तुम महर्षि कश्यप के पुत्र हो। क्रोध न करते हुए सम्पूर्ण संसार पर दया करो। तुम ईश्वर हो, इससे शांत भाव धारण करो। वज्र के शब्द के समान तुम्हारे शब्द से दिशा और आकाश स्वर्ग पृथ्वी और हमारे हृदय चलायमान होते है। हे पक्षियों के राजा। इस अग्नि तुल्य अपने शरीर को अब न बढ़ाओ। कुपित काल के समान तुम्हारे अत्यन्त भयानक रूप को देखकर हमारा हृदय कांप रहा है। हम प्रार्थना कर रहे

जातः परमतेजस्वी विनतानन्दवर्धनः ।
तेजोराशिमिमं दृष्ट्वा युष्मान्मोहः समाविशत् ॥ १२ ॥
नागक्षयकरश्चैव काश्यपेयो महाबलः ।
देवानां च हिते युक्तस्त्वहितो दैत्यरक्षसाम् ॥ १३ ॥
न भीः कार्या कथं चात्र पश्यध्वं सहिता मम ।
एवमुक्तास्तदा गत्वा गरुडं वाग्भिरस्तुवन् ॥ १४ ॥
ते दूरादभ्युपेत्यैनं देवाः सर्षिगणास्तदा ।
देवा ऊचु—त्वमृषिस्त्वं महभागस्त्वं देवः पतगेश्वरः ॥ १५ ॥
त्वं प्रभुस्तपनः सूर्यः परमेष्ठी प्रजापतिः ।
त्वमिन्द्रस्त्वं हयमुखस्त्वं शरस्त्वं जगत्पतिः ॥ १६ ॥
त्वं मुखं पद्मजो विप्रस्त्वमग्निः पवनस्तथा ।
त्वं हि धाता विधाता च त्वं विष्णुः सुरसत्तमः ॥ १७ ॥
त्वं महानभिभूः शश्वदमृतं त्वं महद्यशः ।
त्वं प्रभास्त्वमभिप्रेतं त्वं नस्त्राणमनुत्तमम् ॥ १८ ॥
बलोर्मिमान्साधुरदीनसत्त्वः समृद्धिमान्दुर्विषहस्त्वमेव ।
त्वत्तः सृतं सर्वमहीनकीर्ते ह्यनागतं चोपगतं च सर्वम् ॥ १९ ॥
त्वमुत्तमः सर्वमिदं चराचरं गभस्तिभिर्भानुरिवावभाससे ।
समाक्षिपन्भानुमतः प्रभांमुहुस्त्वमन्तकः सर्वमिदं ध्रुवाध्रुवम् ॥ २० ॥

देवताओं का हितकारी, दैत्य राक्षसों का शत्रु है। किसी प्रकार तुमको यहां भय न करना चाहिये और मेरे साथ इसको देखो। ऐसा कहने पर गरुड के पास जा, सम्पूर्ण देवता गरुड की वाणियों द्वारा स्तुति करने लगे ॥१०।१४॥

हे पक्षियों के राजा! आप ऋषि हो। सब मंत्रों के जानने वाले महाभाग हो, देव हो, पक्षियों के ईश्वर हो, सम्पूर्ण जगत् के प्रभु हो, सबके नाश करने वाले हो, सूर्य हो, परमेष्ठी हिरण्यगर्भ हो, प्रजापति हो, इन्द्र हो, हयग्रीव अवतार हो, तुम महादेव के विष्णुरूपी बाण हो, जगत्पति हो, मुख हो, ब्रह्मा हो, विज्ञानी हो, पवन हो, धाता और विधाता हो, विष्णु हो, महातत्त्व हो, अहङ्कार हो, सनातन हो, अमृत हो, यशवान् हो, सूर्य्य आदि का तेज हो, बुद्धिवृत्ति हो, रक्षणरूप हो और अनुत्तम हो। तुम बलधारी, परोपकारी, परमपराक्रमी, समृद्धिशाली और असह्य तेजवाले हो। हे यशस्वी! भूत, भविष्य, वर्त्तमान सब तुम्हीं से प्रगट हुआ है। तुम

दिवाकरः परिकुपितो यथा दहेत्प्रजास्तथा दहसि हुताशनप्रभ ।
भयङ्करः प्रलय इवाग्निरुत्थितो विनाशयन्युगपरिवर्त्तनान्तकृत् ॥ २१ ॥
खगेश्वरं शरणमुपागता वयं महौजसं ज्वलनसमानवर्चसम् ।
तडित्प्रभं वितिमिरमभ्रगोचरं महाबलं गरुडमुपेत्य खेचरम् ॥ २२ ॥
परावरं वरदमजय्यविक्रमं तवौजसा सर्वमिदं प्रतापितम् ।
जगत्प्रभो तप्तसुवर्णवर्चसा त्वं पाहि सर्वांश्च सुरान्महात्मनः ॥ २३ ॥
भयान्विता नभसि विमानगामिनो विमानिता विपथगतिं प्रयान्ति ते ।
ऋषेः सुतस्त्वमसि दयावतः प्रभो महात्मनः खगवर कश्यपस्य ह ॥ २४ ॥
स मा क्रुधः कुरु जगतो दयां परां त्वमीश्वरः प्रशममुपैहि पाहि नः ।
महाशनिस्फुरितसमस्वनेन ते दिशोऽम्बरं त्रिदिवमियं च मेदिनी ।
चलन्ति नः खग हृदयानि चानिशं निगृह्यतां वपुरिदमग्निसन्निभम् ॥ २५ ॥
तव द्युतिं कुपितकृतान्तसन्निभां निशम्य नश्चलति मनोऽव्यवस्थितम् ।
प्रसीद नः पतगपते प्रयाचतां शिवश्च नो भव भगवन्सुखावहः ॥ २६ ॥
एवं स्तुतः सुपर्णस्तु देवैः सर्षिगणैस्तदा ।
तेजसः प्रतिसंहारमात्मनः स चकार ह ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

सर्वोत्तम हो, चराचर सम्पूर्ण जगत् को सूर्य के समान प्रकाश करते हो, तुम सूर्य चर अचर जगत् के अन्त हो, जैसे सूर्य अपनी किरणों से सब जगत् को भस्म कर दे, इस प्रकार हे हुताशन प्रभु ! तुम सम्पूर्ण जगत् को भस्म कर देते हो, उठी हुई प्रलय की अग्नि के समान भयंकर हो और तुम काल के भी काल हो ॥१५-२१॥

अग्नि के समान तेजस्वी, बड़े बलवान्, बिजली के समान प्रकाशमान, अन्धकार रहित, बादलों में दीखते हुए आकाशगामी गरुड़ की हम शरण लेते हैं। हे जड़–चेतन–स्वरूप, वर देने वाले, अजेय, जगत् के स्वामी, तुम्हारे तेज से सब संसार तप रहा है। हे जगत् प्रभु ! तुम अपने सुवर्ण के से तेज से सब देवताओं की रक्षा करो। विमानों पर विचरने वाले देवतागण भय के मारे आकाश में इधर-उधर भाग रहे हैं। हे प्रभु ! तुम महर्षि कश्यप के पुत्र हो। क्रोध न करते हुए सम्पूर्ण संसार पर दया करो। तुम ईश्वर हो, इसमें शांत भाव धारण करो। वज्र के शब्द के समान तुम्हारे शब्द से दिशा और आकाश स्वर्ग पृथ्वी और हमारे हृदय चलायमान होते हैं। हे पक्षियों के राजा ! इस अग्नि तुल्य अपने शरीर को अब न बढ़ाओ। कुपित काल के समान तुम्हारे अत्यन्त भयानक रूप को देखकर हमारा हृदय कांप रहा है। हम प्रार्थना कर रहे

है। हम पर प्रसन्न होकर हमारा कल्याण करो। ॥२६।२७॥

आदिपर्व का तेईसवां अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्याय ॥ २४ ॥

सौतिरुवाच—स श्रुत्वाऽथात्मनो देहं सुपर्णः प्रेक्ष्य च स्वयम् ।
शरीरप्रतिसंहारमात्मनः संप्रचक्रमे ॥ १ ॥
सुपर्ण उवाच—न मे सर्वाणि भूतानि विभियुर्देहदर्शनात् ।
भीमरूपात्समुद्विग्नास्तस्मात्तेजस्तु संहरे ॥ २ ॥
सौतिरुवाच—ततः कामगमः पक्षी कामवीर्यो विहंगमः ।
अरुणं चात्मनः पृष्ठमारोप्य स पितुर्गृहात् ॥ ३ ॥
मातुरन्तिकमागच्छत्परं तीरं महोदधेः ।
तत्रारुणश्च निक्षिप्तो दिशं पूर्वां महाद्युतिः ॥ ४ ॥
सूर्यस्तेजोभिरत्युग्रैर्लोकान्दग्धुमना यदा ।
रुरुरुवाच—किमर्थं भगवान्सूर्यो लोकान्दग्धुमनास्तदा ॥ ५ ॥
किमस्यापहृतं देवैर्येनेम मन्युराविशत् ।
प्रमतिरुवाच—चन्द्रादित्यैर्यदा राहुराख्यातो ह्यमृतं पिबन् ॥ ६ ॥
वैरानुबन्धं कृतवांश्चन्द्रादित्ये तदाऽनघ ।
वध्यमाने ग्रहेणाथ आदित्ये मन्युराविशत् ॥ ७ ॥
सुरार्थाय समुत्पन्नो रोषो राहोस्तु मां प्रति ।

॥ चौबीसवां अध्याय २४ ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो ! गरुड़ ने देवताओं के मुख से सुनकर और स्वयं देखकर अपने शरीर और तेज को कम कर लिया। गरुड ने कहा सब प्राणी मेरे भयानक रूप को देखकर भयभीत हो गये हैं इस कारण मैंने अपने तेज को समेट लिया है। उग्रश्रवा बोले अपने तेज को समेटकर वह पराक्रमी गरुड़ बड़े भाई अरुण को पीठ पर चढ़ा कर समुद्र के पार माता के समीप आया। इसी समय सूर्य अपने उग्र तेज से तीनों लोकों को भस्म करने के लिए तय्यार हुए। यह देखकर बड़ी कान्ति वाले गरुड ने अरुण को सूर्य के आगे बैठा दिया। महातपा रुरु ने अपने पिता प्रमति से पूछा–सूर्य ने क्यों लोकों को जलाने का विचार किया है ? और देवताओं ने ही उसकी क्या हानि की है, जिससे उन्होंने देवताओं पर इतना क्रोध किया। प्रमति बोले जब चन्द्रमा और सूर्य ने देवताओं की मण्डली में बैठे हुए अमृत पीते हुए राहु को बताया, तभी से रा— और

बह्वनर्थकरं पापमेकोऽहं समवाप्नुयाम् ॥ ८ ॥
सहाय एव कार्येषु न च कृच्छ्रेषु दृश्यते ।
पश्यन्ति ग्रस्यमानं मां सहन्ते वै दिवौकसः ॥ ९ ॥
तस्माल्लोकविनाशार्थं ह्यवतिष्ठे न संशयः ।
एवं कृतमितिः सूर्यो ह्यस्तमभ्यगमद्गिरिम् ॥ १० ॥
तस्माल्लोकविनाशाय संतापयत भास्करः ।
ततो देवानुपागम्य प्रोचुरेवं महर्षयः ॥ ११ ॥
अद्यार्धरात्रसमये सर्वलोकभयावहः ।
उत्पत्स्यते महान्दाहस्त्रैलोक्यस्य विनाशनः ॥ १२ ॥
ततो देवाः सर्षिगणा उपगम्य पितामहम् ।
अब्रुवन्किमिवेहाद्य महद्दाहकृतं भयम् ॥ १३ ॥
न तावद् दृश्यते सूर्यः क्षयोऽयं प्रतिभाति च ।
उदिते भगवन्भानौ कथमेतद्भविष्यति ॥ १४ ॥
पितामह उवाच—एष लोकविनाशाय रविरुद्यन्तुमुद्यतः ।
दृश्यन्नेव हि लोकान्स भस्मराशीकरिष्यति ॥ १५ ॥
तस्य प्रतिविधानं च विहितं पूर्वमेव हि ।
कश्यपस्य सुतो धीमानरुणेत्यभिविश्रुतः ॥ १६ ॥
महाकायो महातेजाः स स्थास्यति पुरो रवेः ।

सूर्य से वैर रखकर समय-समय पर उनको ग्रसने के लिये दौड़ता है। राहु से सूर्य को दुःख होने पर सूर्य को क्रोध हो आया। उन्होंने अपने मन में यह विचार किया कि, मैंने देवताओं के हित के कारण राहु से वैर खरीद लिया है। कष्ट के समय मेरी सहायता करने वाला कोई नहीं देख पड़ता। राहु मुझे ग्रसता है और देवता उसे कुछ नहीं कहते। इस कारण सूर्य ने सम्पूर्ण संसार को नष्ट करने का यत्न किया है। और अस्ताचल में जाकर सारे विश्व को नष्ट करने के लिये अपना तेज बढ़ाया। यह देखकर सब ऋषि लोग देवताओं के समीप पहुँचे और कहने लगे ॥१।११॥

आज अर्द्धरात्रि के समय सब लोकों के लिये भयानक अग्नि-दाह देख पड़ेगा। इसमें तीनों लोक नष्ट हो जायँगे। तब सब ऋषि और देवता ब्रह्मा के पास जाकर बोले कि, हे भगवन्! आज बड़े दाह से उत्पन्न हुआ भय किस लिए है? अभी तक सूर्य उदय नहीं हुआ, तो भी ताप से तीनों लोक मानों जले जा रहे हैं। और भगवान सूर्य के उदय होने पर न जाने कैसा भय होगा। ब्रह्माजी

करिष्यति च सारथ्यं तेजश्चास्य हरिष्यति ॥ १७ ॥
लोकानां स्वस्ति चैवं स्यादृषीणां च दिवौकसाम् ।
प्रमतिरुवाच—ततः पितामहाज्ञातः सर्वं चक्रे तदाऽरुणः ॥ १८ ॥
उदितश्चैव सविता ह्यरुणेन समावृतः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्सूर्यं मन्युराविशत् ॥ १९ ॥
अरुणश्च यथैवास्य सारथ्यमकरोत्प्रभुः ।
भूय एवापरं प्रश्नं शृणु पूर्वमुदाहृतम् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

बोले—सूर्य ने क्रोध में होकर तीनों लोकों को भस्म करने का विचार किया है । उसका उपाय कश्यप के पुत्र बुद्धिमान् अरुण से होगा । बडे भारी शरीर वाले, महातेजस्वी अरुण सूर्य के आगे बैठेंगे । वह सूर्य के सारथी होकर उनके तेज को धीमा कर देंगे । इस प्रकार तीनों लोकों, देवताओं और ऋषियों का कल्याण होगा । प्रमति बोले—अरुण ने ब्रह्मा की आज्ञानुसार वैसा ही किया । प्रात काल सूर्योदय होने पर अरुण ने उनके तेज को धीमा किया और सारथी का काम करने लगे । सूर्य के क्रोधित होने का और अरुण के सारथी बनने का वृत्तान्त तुमने सुन लिया । अब पहले के अपने प्रश्न का उत्तर सुनो ॥१२।२०॥

—०—

आदिपर्व का चौबीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

सौतिरुवाच—ततः कामगमः पक्षी महावीर्यो महाबलः ।
मातुरन्तिकमागच्छत्परं पारं महोदधेः ॥ १ ॥
यत्र सा विनता तस्मिन्पणितेन पराजिता ।
अतीव दुःखसंतप्ता दासीभावमुपागता ॥ २ ॥
ततः कदाचिद्विनतां प्रणतां पुत्रसन्निधौ ।
काले चाहूय वचनं कद्रूरिदमभाषत ॥ ३ ॥

॥ पचीसवां अध्याय २५ ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो ! इसके पश्चात महावली, महापराक्रमी, अपनी इच्छा के अनुसार गमन करने वाला वह पक्षी गरुड़ समुद्र के पार माता के समीप आया । जहां उसकी माता विनता शर्त के हारने पर अति दु.खित दासीपने से रहती थी । एक समय विनता अपने पुत्र के पास बैठी हुई थी । उसी समय कद्रु ने बुलाकर कहा—हे भद्रे ! मुझे समुद्र में जहा नागों का बड़ा रमणीक

नागानामालयं भद्रे सुरम्यं चारुदर्शनम् ।
समुद्रकुक्षावेकान्ते तत्र मां विनते नय ॥ ४ ॥
ततः सुपर्णमाता तामवहत्सर्पमातरम् ।
पन्नगान्गरुडश्चापि मातुर्वचनचोदितः ॥ ५ ॥
स सूर्यमभितो याति वैनतेयो विहंगमः ।
सूर्यरश्मिप्रतप्ताश्च मूर्छिताः पन्नगाऽभवन् ॥ ६ ॥
तदवस्थान्सुतान्दृष्ट्वा कद्रूः शक्रमथास्तुवत् ।
नमस्ते सर्वदेवेश नमस्ते बलसूदन ॥ ७ ॥
नमुचिघ्न नमस्तेऽस्तु सहस्राक्ष शचीपते ।
सर्पाणां सूर्यतप्तानां वारिणा त्वं प्लवो भव ॥ ८ ॥
त्वमेव परमं त्राणमस्माकममरोत्तम ।
ईशो ह्यसि पयः स्रष्टुं त्वमनल्पं पुरंदर ॥ ९ ॥
त्वमेव मेघस्त्वं वायुस्त्वमग्निर्विद्युतोऽम्बरे ।
त्वमभ्रगणविक्षेप्ता त्वामेवाहुर्महाघनम् ॥ १० ॥
त्वं वज्रमतुलं घोरं घोषवांस्त्वं बलाहकः ।
स्रष्टा त्वमेव लोकानां संहर्ता चापराजितः ॥ ११ ॥
त्वं ज्योतिः सर्वभूतानां त्वमादित्यो विभावसुः ।
त्वं महद्भूतमाश्चर्यं त्वं राजा त्वं सुरोत्तमः ॥ १२ ॥

स्थान है वहां ले चलो। तब विनता ने कद्रु को अपने कंधे पर चढ़ा लिया और अपनी माता की आज्ञा से गरुड़जी ने सर्पों को कंधेपर रख लिया। और वहां से सूर्य के सन्मुख होकर चले। सूर्य के तेज से सब सर्प मूर्च्छित हो गये। ऐसी हालत देखकर कद्रु इन्द्र की स्तुति करने लगीं। हे इन्द्र! मैं तुझको नमस्कार करती हूं। हे बलसूदन! आप को नमस्कार हो। हे हज़ार नेत्र वाले, हे नमुचि के मारने वाले इन्द्राणि के पति! तुझको नमस्कार हो। सूर्य की किरणों से तपे हुए सर्पों की जल से रक्षा करो। हे देवताओं में श्रेष्ठ! आप ही इस समय हमारी रक्षा करने वाले हैं। हे पुरन्दर! आप बहुत से जल को वर्षाने में समर्थ हो। आकाश में आपही मेघ हो। आपही वायु हो। आपही अग्नि हो। आपही बिजली हो। आपही बादलों के समूह को चलाने वाले हो। आपही को महामेघ कहते है ॥१।१०॥

आप अद्वितीय भयानक वज्र हो और गरजने

त्वं विष्णुस्त्वं सहस्राक्षस्त्वं देवस्त्वं परायणम् ।
त्वं सर्वममृतं देव त्वं सोमः परमार्चितः ॥ १३ ॥
त्वं मुहूर्तस्तिथिस्त्वं च त्वं लवस्त्वं पुनः क्षणः ।
शुक्लस्त्वं बहुलस्त्वं च कला काष्ठा त्रुटिस्तथा ।
संवत्सरर्त्तवो मासा रजन्यश्च दिनानि च ॥ १४ ॥
त्वमुत्तमा सगिरिवना वसुंधरा सभास्करं वितिमिरमम्बरं तथा ।
महोदधिः सतिमितिमिंगिलस्तथा महोर्मिमान्बहुमकरो झपाकुलः ॥ १५ ॥
महायशास्त्वमिति सदाऽभिपूज्यसे मनीषिभिर्मुदितमना महर्षिभिः ।
अभिष्टुतः पिबसि च सोममध्वरे वषट् कृतान्यपि च हवींषि भूतये ॥ १६ ॥
त्वं विप्रैः सततमिहेज्यसे फलार्थं वेदाङ्गेष्वतुलबलौघ गीयसे च ।
त्वद्धेतोर्यजनपरायणा द्विजेन्द्रा वेदाङ्गान्यभिगमयन्ति सर्वयत्नैः ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे पञ्चविंशोऽध्याय ॥ २५ ॥

वाले बादल हो । आप तीनों लोकों को उत्पन्न और प्रलय करने वाले हो। आप अपराजित हो। आप सब प्राणियों को प्रकाश देने वाले सूर्य और अग्नि हो। आप सब के राजा और सब देवताओं में श्रेष्ठ हो । आप विष्णु, सहस्रनयन, इन्द्रदेव और सर्वोत्तम आश्रय हो। आप मोक्ष हो और परम पूजित चन्द्रमा हो । आप मुहूर्त, तिथि, पल, क्षण, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष, कला, काष्ठा, त्रुटि, संवत्सर, ऋतु, मास, रात और दिन हो। आप पर्वतों और वनों से युक्त पृथ्वी हो। आप सूर्य सहित अन्धकार रहित आकाश हो। आप तिमि, तिमिङ्गल और अनेक प्रकार के मकर और मछलियों से भरे हुए समुद्र हो। आप महायशस्वी हो और इसी से महर्षि लोग आप की आराधना करते है। यज्ञों में आप की स्तुति की जाती है। आप यज्ञ में आकर सोमबलि और हवि और संसार के ऐश्वर्य को ग्रहण करते हो । फल की प्राप्ति के लिये ब्राह्मण आप की उपासना किया करते है। आप महापराक्रमी हो और सारे वेद और वेदाङ्ग तुम्हारे ही अचिन्तनीय अनन्त महिमा का कीर्तन करते है। यज्ञ करने वाले बडे ब्राह्मण सम्पूर्ण यत्नों से वेदाङ्गों को यज्ञों में सफल कराते है ॥११।१७॥

आदिपर्व का पचीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षड्विंशोऽध्याय ॥ २६ ॥

सौतिरुवाच—एवं स्तुतस्तदा कद्रवा भगवान्हरिवाहनः ।
नीलजीमूतसंघातैः सर्वमम्बरमावृणोत् ॥ १ ॥
मेघानाज्ञापयामास वर्षध्वममृतं शुभम् ।

ते मेघा मुमुचुस्तोयं प्रभूतं विद्युदुज्ज्वलाः ॥ २ ॥
परस्परमिवात्यर्थं गर्जन्तः सततं दिवि ।
संवर्तितमिवाकाशं जलदैः सुमहाद्भुतैः ॥ ३ ॥
सृजद्भिरतुलं तोयमजस्रं सुमहारवैः ।
संप्रनृत्तमिवाकाशं धारोर्मिभिरनेकशः ॥ ४ ॥
मेघस्तनितनिर्घोषैर्विद्युत्पवनकम्पितैः ।
तैर्मेघैः सततासारं वर्षद्भिरनिशं तदा ॥ ५ ॥
नष्टचन्द्रार्ककिरणमम्बरं समपद्यत ।
नागानामुत्तमो हर्षस्तथा वर्षति वासवे ॥ ६ ॥
आपूर्यत मही चापि सलिलेन समन्ततः ।
रसातलमनुप्राप्तं शीतलं विमलं जलम् ॥ ७ ॥
तदा भूरभवच्छन्ना जलोर्मिभिरनेकशः ।
रामणीयकमागच्छन्मात्रा सह भुजंगमाः ॥ ८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे षड्विंशोऽध्याय ॥ २६ ॥

॥ छब्बीसवां अध्याय २६ ॥

उग्रश्रवा बोले—कद्रू के इस प्रकार स्तुति करने पर भगवान् इन्द्र ने नीले बादलों से आकाश ढक दिया। इन्द्र ने मेघों को उत्तम जल वर्षाने की आज्ञा दी। और विजली के प्रकाश से उज्ज्वल उन मेघों से बडा जल बर्षने लगा। गर्जते हुए बादलों ने आकाश को ढक लिया। बडे शब्दों से जल को वर्साते हुए बादलों की धाराओं से आकाश मण्डल में नृत्य सा हो गया। उन विजली और पवन से काँपते हुए बादलों से चन्द्रमा और सूर्य आकाश मण्डल में छिप गये। और इन्द्र के इस प्रकार जल वर्षाने पर सर्पों को बडा आनन्द हुआ। पृथ्वी में चारों ओर जल ही जल दीखने लगा। शीतल और निर्मल जल पृथ्वी के बिलों से रसातल तक पहुच गया। पृथ्वी तरङ्गों सहित जल से भर गई। और अपनी माता कद्रू के साथ सब साँप समुद्र के भीतर रमणीय द्वीप में पहुच गये ॥१।८॥

आदिपर्व का छब्बीसवा अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ सप्तविंशोऽध्याय ॥ २७ ॥

सौतिरुवाच—संप्रहृष्टास्ततो नागा जलधाराप्लुतास्तदा ।
सुपर्णेनोह्यमानास्ते जग्मुस्तं द्वीपमाशु वै ॥ १ ॥

तं द्वीपं मकरावासं विहितं विश्वकर्मणा ।
तत्र ते लवणं घोरं ददृशुः पूर्वमागताः ॥ २ ॥
सुपर्णसहिताः सर्पाः काननं च मनोरमम् ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तं पक्षिसङ्घनिनादितम् ॥ ३ ॥
विचित्रफलपुष्पाभिर्वनराजिभिरावृतम् ।
भवनैरावृतं रम्यैस्तथा पद्माकरैरपि ॥ ४ ॥
प्रसन्नसलिलैश्चापि ह्रदैर्दिव्यैर्विभूषितम् ।
दिव्यगन्धवहैः पुण्यैर्मारुतैरुपवीजितम् ॥ ५ ॥
उत्पतद्भिरिवाकाशं वृक्षैर्मलयजैरपि ।
शोभितं पुष्पवर्षाणि मुञ्चद्भिर्मारुतोद्धतैः ॥ ६ ॥
वायुविक्षिप्तकुसुमैस्तथाऽन्यैरपि पादपैः ।
किरद्भिरिव तत्रस्थान्नागान्पुष्पाम्बुवृष्टिभिः ॥ ७ ॥
मनःसंहर्षजं दिव्यं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
मत्तभ्रमरसंघुष्टं मनोज्ञाकृतिदर्शनम् ॥ ८ ॥
रमणीयं शिवं पुण्यं सर्वैर्जनमनोहरैः ।
नानापक्षिरुतं रम्यं कद्रूपुत्रप्रहर्षणम् ॥ ९ ॥
तत्ते वनं समासाद्य विजह्रुः पन्नगास्तदा ।
अब्रुवंश्च महावीर्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥ १० ॥

॥ सत्ताईसवां अध्याय ॥ २७ ॥

उग्रश्रवा बोले–हे ऋषियो ! इसके अनन्तर जल वर्षने से न्हाए और आनन्द के साथ सब नाग गरुड़ की पीठ पर सवार हो शीघ्र उस द्वीप में पहुंच गये। वह द्वीप विश्वकर्मा ने मकरों के रहने का स्थान बनाया था। वहा आते ही घोर लवणासुर और मनोरमकानन को देखा। और गरुड़ सहित सर्पों ने समुद्र के जल से व्याप्त और अनेक प्रकार के पक्षियों के शब्दों से युक्त मनोहर वन को देखा। यहां अनेक प्रकार के फल फूलों की पंक्ति लग रही थी। तालावों में सुन्दर कमल फूल रहे थे। शीतल मंद सुगंध वायु चल रही थी। और आकाश से मिले हुओं के समान वायु के वेग से पुष्पों की वर्षा बरसाते हुए मलयाचल के वृक्षों से शोभित था। अनेक प्रकार के वृक्षों से पुष्प गिरे हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानों नागों पर पुष्प। वह पुष्प जल की वर्षा के समान वर्षते थे। और अन्तःकरण को आनन्द देने वाले दिव्य गन्धर्व और अप्सराओं के प्रिय और उन्मत्त भ्रमरों

वहास्मानपरं द्वीपं सुरम्यं विमलोदकम् ।
त्वं हि देशान्बहून्रम्यान्व्रजन्पश्यसि खेचर ॥ ११ ॥
स विचिन्त्याब्रवीत्पक्षी मातरं विनतां तदा ।
किं कारणं मया मातः कर्तव्यं सर्प भाषितम् ॥ १२ ॥
विनतोवाच—दासीभूतास्मि दुर्योगात्सपत्न्याः पतगोत्तम ।
पणं वितथमास्थाय सर्पैरुपधिना कृतम् ॥ १३ ॥
तस्मिंस्तु कथिते मात्रा कारणे गगनेचरः ।
उवाच वचनं सर्पांस्तेन दुःखेन दुःखितः ॥ १४ ॥
किमाहृत्य विदित्वा वा किं वा कृत्वेह पौरुषम् ।
दास्याद्वो विप्रमुच्येयं तथ्यं वदत लेलिहाः ॥ १५ ॥
सौतिरुवाच—श्रुत्वातमब्रुवन्सर्पा आहरामृतमोजसा ।
ततो दास्याद्विप्रमोक्षो भविता तव खेचर ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

के शब्द से युक्त, मनोहर आकृति वाले रमणीय कल्याणरूप, पवित्र, मनको हरणे वाले अनेक प्रकार के पक्षियों के शब्द से मनोहर शब्द युक्त, कद्रू के पुत्रों को आनन्द देने वाले उस वन को पाकर वह सर्प आनन्द से रहने लगे, और बड़े पराक्रमी पक्षियों के स्वामी गरुड़ से बोले ॥१।१०॥

हे गरुड़ ! आप अनेक प्रकार के मनोहर देशों में फिरते हुए देखते है इस कारण हमको बड़े उत्तम जल वाले किसी दूसरे द्वीप में ले चलो। वह गरुड़ कुछ विचार कर अपनी माता से बोला-हे माता ! क्या कारण है जो मुझको सर्पों की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। विनता बोली-हे गरुड़ ! मेरी सौति कद्रू ने कपट से शर्त को जीत लिया है, इसीसे मैं उसकी दासी हो गई हूं। उग्रश्रवा बोले-हे ऋषियो ! माता के सब वृत्तान्त को सुनकर गरुड़ को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सर्पों को कहा-हे सर्पों ! किस वस्तु के लाने से वा किस के जानने से या किस पुरुषार्थ के करने से तुम्हारे दासीपने से मेरी माता छूटे। उग्रश्रवा बोले-यह सुनकर सर्पो ने गरुड़ से कहा-आप अमृत ले आवें। हम आप को और आप की माता विनता को दासीपने से रहित कर देंगे ११।१६॥

आदिपर्व का सत्ताईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टाविंशोऽध्याय ॥ २८ ॥

सौतिरुवाच—इत्युक्तो गरुडः सर्पैस्ततो मातरमब्रवीत् ।
गच्छाम्यमृतमाहर्तुं भक्ष्यमिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥
विनतोवाच—समुद्रकुक्षावेकान्ते निषादालयमुत्तमम् ।
निषादानां सहस्राणि तान्भुक्त्वामृतमानय ॥ २ ॥
न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथंचन ।
अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपमः ॥ ३ ॥
अग्निरर्को विषं शस्त्रं विप्रो भवति कोपितः ।
गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥
एवमादिभि रूपैस्तु सतां वै ब्राह्मणे मतः ।
स ते तात न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वथा ॥ ५ ॥
ब्राह्मणानामभिद्रोहो न कर्त्तव्यः कथंचन ।
न ह्येवमग्निर्नादित्यो भस्म कुर्यात्तथाऽनघ ॥ ६ ॥
यथा कुर्यादभिक्रुद्धो ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
तदेतैर्विविधैर्लिङ्गैस्त्वं विद्यास्तं द्विजोत्तमम् ॥ ७ ॥
भूतानामग्रभूर्विप्रो वर्णश्रेष्ठः पिता गुरुः ।
गरुड उवाच—किंरूपो ब्राह्मणो माताः किंशीलः किंपराक्रमः ॥ ८ ॥

॥ अठाईसवा अध्याय २८ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋपियो ! गरुड जी यह बात सर्पों की सुनकर अपनी माता के पास आये और कहा कि, हे माता ! मैं अमृत लेने को जाता हूँ। परन्तु मुझे इस समय भूख बहुत लगी है। बताओ मैं इस समय क्या खाऊं ? विनता बोली कि, इस समुद्र में आगे एकान्त में सहस्रों निषाद (मल्लाह) रहते हैं। तुम उनको भक्षण करके अमृत ले आओ। परन्तु देखियो, किसी ब्राह्मण को मारने या भक्षण करने का निश्चय न करना। ब्राह्मण सब प्राणियों का अवध्य है क्योंकि वह अग्नि के समान है। क्रोध होने पर ब्राह्मण अग्नि, सूर्य, विष और शस्त्र के तुल्य हो जाता है। सम्पूर्ण प्राणियों का गुरु ब्राह्मण कहा है। इसीसे सब लोग उसका बड़ा आदर करते है। हे बेटा—क्रोधातुर होकर ब्राह्मण को कभी न मारना चाहिये और उसके साथ किसी प्रकार का छल भी न करना चाहिये। जिस प्रकार शमितव्रत ब्राह्मण क्रोध के वश में भस्म कर सकता है उस प्रकार अग्नि सूर्यादि नहीं कर सकते। अनेक प्रकार के चिह्नों से तुम ब्राह्मण को जानो। ब्राह्मण सर्व वर्णों में श्रेष्ठ, अन्य

किंस्विदाग्निनि भो भाति किंस्वित्सौम्यप्रदर्शनः ।
यथाऽहमीभजानीयां ब्राह्मणं लक्षणैः शुभैः ॥ ९ ॥
तन्मे कारणतो मातः पृच्छतो वक्तुमर्हसि ।
विनतोवाच—यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं बडिशं यथा ॥ १० ॥
दहेदङ्गारवत्पुत्र तं विद्याद्ब्राह्मणर्षभम् ।
विप्रस्त्वया न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वदा ॥ ११ ॥
प्रोवाच चैनं विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ।
जठरे न च जीर्येद्यस्तं जानीहि द्विजोत्तमम् ॥ १२ ॥
पुनः प्रोवाच विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ।
जानन्त्यप्यतुलं वीर्यमाशीर्वादपरायणा ॥ १३ ॥
प्रीता परमदुःखार्त्ता नागैर्विप्रकृता सती ।
विनतोवाच—पक्षौ ते मारुतः पातु चन्द्रसूर्यौ च पृष्ठतः ॥ १४ ॥
शिरश्च पातु वह्निस्ते वसवः सर्वतस्तनुम् ।
अहं च ते सदा पुत्र शान्तिस्वस्तिपरायणा ॥ १५ ॥
इहासीना भविष्यामि स्वस्तिकारे रता सदा ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं पुत्र कार्यार्थसिद्धये ॥ १६ ॥
सौतिरुवाच—ततः स मातुर्वचनं निशम्य वितत्य पक्षौ नभ उत्पपात ।
ततो निषादान्बलवानुपागतो बुभुक्षितः काल इवान्तकोऽपरः ॥ १७ ॥

वर्णों का पिता और गुरु के समान पूजनीय है। गरुड ने कहा—हे माता ! ब्राह्मण के जानने की क्या पहिचान है। उसका रूप, शील और पराक्रम कैसा है। और वह कभी सौम्यदर्शन और कभी अग्नि के समान क्योंकर प्रतीत होता है। किस प्रकार से शुभ लक्षणों से ब्राह्मण को मैं जानूं। हे माता ! तुम इस कारण को कहने योग्य हो। विनता बोली—हे पुत्र ! भक्षण करते समय जो पुरुष तुम्हारे गले को अग्नि के समान जलावे और कठ में ऐसी पीडा करे जैसे मच्छली का काटा गले में छिद जानेसे खटकने लगता है, उसे तुम ब्राह्मण समझना। जो पेट में जाते पीछे पचे नहीं उसे श्रेष्ठ ब्राह्मण समझना ॥११।१२॥

विनता ने फिर कहा यद्यपि उसके पराक्रम को जानती थी तो भी पुत्र—स्नेह के कारण आशी-र्वाद देकर बोली—हे पुत्र ! तेरे परों की वायु, पीठ की सूर्य और चन्द्रमा रक्षा करें। अग्नि तुम्हारे मस्तक की रक्षा करें। और वसुगण तुम्हारे सब

स तान्निषादानुपसंहरंस्तदा रजः समुद्भूय नभःस्पृशं महत् ।
समुद्रकुक्षौ च विशोषयन्पयः समीपजान्भूधरजान्विचालयन् ॥ १८ ॥
ततः स चक्रे महदाननं तदा निषादमार्गं प्रतिरुध्य पक्षिराट् ।
ततो निषादास्त्वरिताः प्रवव्रजुर्यतो मुखं तस्य भुजङ्गभोजिनः ॥ १९ ॥
तदाननं विवृतमतिप्रमाणवत्समभ्ययुर्गगनमिवार्दिताः खगाः ।
सहस्रशः पवनरजोविमोहिता यथाऽनिलप्रचलितपादपे वने ॥ २० ॥
ततः खगो वदनममित्रतापनः समाहरत्परिचपलो महाबलः ।
निषूदयन्बहुविधमत्स्यजीविनो बुभुक्षितो गगनचरेश्वरस्तदा ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

शरीर की रक्षा करें। हे पुत्र! मैं तुम्हारे मङ्गल के लिये यहां पर बैठी हुई सब देवताओं की अराधना किया करूंगी। और हे पुत्र! कार्य करने के लिये तुम बेखटके चले जाओ ॥१३।१६॥

उग्रश्रवा बोले- तिसके उपरान्त गरुड़ ने माता के वचन को सुनकर और दोनों परों को फैला कर आकाश मार्ग की ओर गमन किया। भूखे काल और मृत्यु के समान बलवान् गरुड निषाधों के समीप पहुंच गये। मल्लाहों का संहार करने के लिये गरुड़ ने परों से इतनी धूल उडाई कि, वह आकाश तक पहुंच गई। और समुद्र की कोरव में जलों को सुखा और पहाड़ों को हिलाते हुए उस गरुड़ ने निषाधों के रास्ते को रोककर अपना मुख खोला। तिसके उपरान्त शीघ्र ही निषाध अपने अपने स्थानों से निकलकर गरुड़ के मुख की ओर गये। जैसे बडी आंधी से बन के बृक्ष हिलने पर व्याकुल हुए पक्षी आकाश को उडकर जाते हैं, वैसे ही गरुड के परों की हवा, और धूल से विह्वल हजारों मल्लाह गरुड़ के खोले हुए मुख में प्रवेश होगये। तब महापराक्रमी और भूख से व्याकुल गरुड हजारों मल्लाहों को खाने लगे ॥१७।२१॥

—०—

अट्ठाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥२८॥

अथ एकोनत्रिंशोऽध्याय ॥ २९ ॥

सौतिरुवाच—तस्य कण्ठमनुप्राप्तो ब्राह्मणः सह भार्यया ।
दहन्दीप्त इवाङ्गारस्तमुवाचान्तरिक्षगः ॥ १ ॥
द्विजोत्तम विनिर्गच्छ तूर्णमास्यादपावृतात् ।
न हि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा ॥ २ ॥

॥ उनतीसवाँ अध्याय २९ ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो! जब गरुड़ जी ने अपना मुख बन्द कर लिया तब उनके गले में एक ब्राह्मण अपनी स्त्री सहित अंगार के समान जलता हुआ चला गया। गरुड़ जी उसे ब्राह्मण समझकर

ब्रुवाणमेवं. गरुडं ब्राह्मणः प्रत्यभाषत ।
निषादी मम भार्येयं निर्गच्छतु मया सह ॥ ३ ॥
गरुड़ उवाच—एतामपि निषादीं त्वं परिगृह्याशु निष्पत ।
तूर्णं संभावयात्मानमजीर्णं मम तेजसा ॥ ४ ॥
सौतिरुवाच—ततः स विप्रो निष्क्रान्तो निषादीसहितस्तदा ।
वर्जयित्वा च गरुडमिष्टं देशं जगाम ह ॥ ५ ॥
सहभार्ये विनिष्क्रान्ते तस्मिन्विप्रे च पक्षिराट् ।
वितत्य पक्षावाकाशमुत्पपात मनोजवः ॥ ६ ॥
ततोऽपश्यत्स पितरं पृष्टश्चाख्यातवान्पितुः ।
यथान्यायममेयात्मा तं चोवाच महानृषिः ॥ ७ ॥
कश्यप उवाच—कच्चिद्वः कुशलं नित्यं भोजने बहुलं सुत ।
कच्चिच्च मानुषे लोके तवान्नं विद्यते बहु ॥ ८ ॥
गरुड उवाच—माता मे कुशला शश्वत्तथा भ्राता तथा ह्यहम् ।
न हि मे कुशलं तात भोजने बहुले सदा ॥ ९ ॥
अहं हि सर्पैः प्रहितः सोममाहर्तुमुत्तमम् ।
मातुर्दास्यविमोक्षार्थमाहरिष्ये तमद्य वै ॥ १० ॥
मात्रा चात्र समादिष्टो निषादान्भक्षयेति ह ।
न च मे तृप्तिरभवद्भक्षयित्वा सहस्रशः ॥ ११ ॥

बोले—हे ब्राह्मण! तुम मेरे मुख में शीघ्र बाहर निकल जाओ। यदि ब्राह्मण पापी भी हो तो भी मेरा अवध्य है। ब्राह्मण ने उत्तर दिया—हे महाराज! मेरी निषादिनी स्त्री भी है बिना उसके किस प्रकार निकलू। गरुड जी बोले—तुम उसे भी लेकर शीघ्र निकल जाओ। उग्रश्रवा बोले—इसके उपरान्त वह ब्राह्मण अपनी स्त्री सहित गरुड जी के मुखसे निकल आया और गरुड जी को आशीर्वाद देकर किसी देश को चला गया। मन के समान गति वाले गरुड ने उस ब्राह्मण के स्त्री सहित निकलने पर आकाश को गमन किया। इसके पश्चात् उसने अपने पिता कश्यप को देखा, और पिता के पूछने पर यथायोग्य उत्तर दिया। उसमे फिर महर्षि कश्यप ने पूछा हे पुत्र! तुम्हारे सब कुशल तो है, और भोजन पूर्ण रीति से मिलता है? क्या मनुष्य-लोक में अन्न बहुत होता है? गरुड बोले—हे पिता जी! मेरी माता और भाई और मैं कुशल से हूं। परन्तु मनुष्यलोक में पेट भर भोजन नहीं मिलता।

तस्माद्भक्ष्यं त्वमपरं भगवन्प्रादिशस्व मे ।
यद्भुक्त्वाऽमृतमाहर्तुं समर्थः स्यामहं प्रभो ॥ १२ ॥
क्षुत्पिपासाविघातार्थं भक्ष्यमाख्यातु मे भवान् ।
कश्यप उवाच—इदं सरो महापुण्यं देवलोकेऽपि विश्रुतम् ॥ १३ ॥
यत्र कूर्मोग्रजं हस्ती सदा कर्षत्यवाङ्मुखः ।
तयोर्जन्मान्तरे वैरं संप्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १४ ॥
तन्मे तत्त्वं निबोधस्व यत्प्रमाणौ च तावुभौ ।
आसीद्विभावसुर्नाम महर्षिः कोपनो भृशम् ॥ १५ ॥
भ्राता तस्यानुजश्चासीत्सुप्रतीको महातपाः ।
स नेच्छति धनं भ्राता सहैकस्थं महामुनिः ॥ १६ ॥
विभागं कीर्त्तयत्येव सुप्रतीको हि नित्यशः ।
अथाब्रवीच्च तं भ्राता सुप्रतीकं विभावसुः ॥ १७ ॥
विभागं बहवो मोहात्कर्तुमिच्छन्ति नित्यशः ।
ततो विभक्तास्त्वन्योऽन्यं विक्रुध्यन्तेऽर्थमोहिताः ॥ १८ ॥
ततः स्वार्थपरान्मूढान्पृथग्भूतान्स्वकैर्धनैः ।
विदित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः ॥ १९ ॥

और सर्पों ने अमृत लाने के लिये मुझे भेजा है । मैं माता को दासीपने से रहित करने के लिये अमृत लेने जाता हूं । और माता ने मुझे आज्ञा दी थी कि तुमने निषादों का भक्षण करना, परन्तु उन हजारों को भी खाकर मेरी तृप्ति नहीं हुई है । ॥१।११॥

इससे अब आप मुझे कुछ और उपाय बतावें जिसको भक्षण कर मैं अमृत लाने को समर्थ हो जाऊं । भूख और प्यास दूर करने के लिये आप मुझको भोजन बताने के योग्य हैं । कश्यप ने कहा—हे पुत्र ! पास ही यह तालाब जो देख रहे हो बड़ा पवित्र और देवलोक में भी प्रसिद्ध है । इसमें सिर नीचा किये एक हाथी कच्छप रूप अपने बड़े भाई को ऊपर की ओर खींचता है, उसके दूसरे जन्म के सम्पूर्ण वैर का वर्णन सुनो । विभावसु नाम वाला महर्षि अत्यत क्रोधी था, और उसका छोटा भाई सुप्रतीक नाम महातपस्वी था । सुप्रतीक अपने बड़े भाई के साथ नहीं रहना चाहता था । वह अपने बड़े भाई को सदैव विभाग करने को कहता था । इसके उपरान्त एक दिन विभावसु ने सुप्रतीक से कहा—सर्वदा बहुत से लोग मूर्खता से विभाग करने की इच्छा करते हैं और अलग होकर धन से मोहित हो परस्पर क्रोध करते हैं । स्वार्थी मूर्ख लोगों को जब इस प्रकार धन की प्राप्ति होजाती

विदित्वा चापरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथ ।
भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्त्तते ॥ २० ॥
तस्माद्विभागं भ्रातृणां न प्रशंसन्ति साधवः ।
गुरुशास्त्रे निबद्धानामन्योन्येनाभिशङ्किनाम् ॥ २१ ॥
नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि ।
यस्मात्तस्मात्सुप्रतीक हस्तित्वं समवाप्स्यसि ॥ २२ ॥
शप्तस्त्वेवं सुप्रतीको विभावसुमथाब्रवीत् ।
त्वमप्यन्तर्जलचरः कच्छपः संभविष्यसि ॥ २३ ॥
एवमन्योन्यशापात्तौ सुप्रतीकविभावसू ।
गजकच्छपतां प्राप्तावर्थार्थं मूढचेतसौ ॥ २४ ॥
रोषदोषानुषङ्गेण तिर्यग्योनिगतावुभौ ।
परस्परद्वेषरतौ प्रमाणबलदर्पितौ ॥ २५ ॥
सरस्यस्मिन्महाकायौ पूर्ववैरानुसारिणौ ।
तयोरन्यतरः श्रीमान्समुपैति महागजः ॥ २६ ॥
यस्य बृंहितशब्देन कूर्मोऽप्यन्तर्जलेशयः ।
उत्थितोऽसौ महाकायः कृत्स्नं विक्षोभयन्सरः ॥ २७ ॥

है। तब मित्र का रूप रखने वाले शत्रु घुसकर आपस में क्लेश डालते हैं। जब भाई आपस में अलग होते हैं तो उनका शीघ्र नाश हो जाता है ॥१२।२०॥

इस कारण महात्माओं ने बड़ों के बड़प्पन जानने वाले शास्त्र के बताने वाले परस्पर मर्यादा भङ्ग के कारण शङ्का करने वाले भाइयों का विभाग अच्छा नहीं कहा है। विभावसु के समझाने पर भी सुप्रतीक ने न माना और सदैव विभाग के लिये कहते रहे। तब एक दिन विभावसु ने क्रोध में आकर शाप दिया कि, तुमने मेरा कहना नहीं माना है इससे तुम हाथी की देह धारण करोगे। इस प्रकार सुप्रतीक विभावसु से बोला—तुम भी मेरे शाप से जलवासी कच्छप होगे ॥२१।२३॥

इस प्रकार मूर्ख सुप्रतीक और विभावसु धन के लिये परस्पर शाप देकर हाथी और कच्छप हो गये। धन के कारण उन दोनों मूर्खों की यह योनि हुई। अपने शरीर के बड़े बल के घमण्ड से दोनों परस्पर बैरी हुए। इस तालाब में बड़ी देह वाले और पूर्व बैर के अनुसार द्वेषयुक्त हैं। उन दोनों में से एक शोभायुक्त हाथी इस तालाब में आता है। उसकी आवाज को सुनकर कछुआ भी जल के अन्दर से बड़े देह के साथ उठा हुआ सारे सरोवर को हला देता है ॥२४।२७॥

यं दृष्ट्वा वेष्टितकरः पतत्येष गजो जलम् ।
दन्तहस्ताग्रलांगूलपादवेगेन वीर्यवान् ॥ २८ ॥
विक्षोभयंस्ततो नागः सरो बहुरुपाकुलम् ।
कूर्मोऽप्यभ्युद्यतशिरा युद्धायाभ्येति वीर्यवान् ॥ २९ ॥
षडुच्छ्रितो योजनानि गजस्तद्द्विगुणायतः ।
कूर्मस्त्रियोजनोत्सेधो दशयोजनमण्डलः ॥ ३० ॥
तावुभौ युद्धसंमत्तौ परस्परवधैषिणौ ।
उपयुज्याशु कर्मेदं साधयेहितमात्मनः ॥ ३१ ॥
महाभ्रघनसंकाशं तं भुक्त्वाऽमृतमानय ।
महागिरिसमप्रख्यं घोररूपं च हस्तिनम् ॥ ३२ ॥
सौतिरुवाच—इत्युक्त्वा गरुडं सोऽथ माङ्गल्यमकरोत्तदा ।
युध्यतः सह देवैस्ते युद्धे भवतु मङ्गलम् ॥ ३३ ॥
पूर्णकुम्भो द्विजा गावो यच्चान्यत्किंचिदुत्तमम् ।
शुभं स्वस्त्ययनं चापि भविष्यति तवाण्डज ॥ ३४ ॥
युध्यमानस्य संग्रामे देवैः सार्धं महाबल ।
ऋचो यजूंषि सामानि पवित्राणि हवींषि च ॥ ३५ ॥

उसको देखकर हाथी सूंड को लपेट जल के भीतर अपने शरीर के वेग से जल में दौड़ता है ॥२८॥

तिस के उपरान्त वह क्रोधातुर हो जल को हिलाता हुआ युद्ध की इच्छा करता है । और कछुआ भी युद्ध करने को सिर निकाल कर दौड़ता है । हाथी छः योजन ऊंचा और बारह योजन चौड़ा है और कछुआ तीन योजन ऊंचा और दस योजन चौड़ा है । उन दोनों परस्पर युद्ध में उनमत्त एक दूसरों के मारने की इच्छा करने वालों को खाकर अपने कार्य को सिद्धकर बड़े बादलों के समान भयानक पर्वत की सी देह वाले हाथी को खाकर अमृत लाओ ॥२०।३२॥

उग्रश्रवा बोले—इतना कहकर कश्यप ने गरुड को आशीर्वाद दिया कि, हे पुत्र ! देवताओं से युद्ध करते समय तुम्हारा कल्याण हो । पूर्ण कलश, ब्राह्मण, गायें और जो कुछ उत्तम वस्तु शुभ और कल्याणकारी हैं, हे गरुड ! वह तुम्हारा मंगल करें । देवताओं के साथ जिस समय तुम युद्ध करोगे उस समय ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद यज्ञ का पवित्र हवि और सम्पूर्ण रहस्य तुमको बल दें । इस प्रकार पिता से आशीर्वाद दिया हुआ गरुड उस सरोवर के पास गया । उस आकाश मार्ग में जाने वाले और भयानक वेग वाले अनेक प्रकार के पक्षियों से युक्त निर्मल जल वाले तालाब को

रहस्यानि च सर्वाणि सर्वे वेदाश्च ते बलम् ।
इत्युक्तो गरुडः पित्रा गतस्तं ह्रदमान्तिकात् ॥ ३६ ॥
अपश्यन्निर्मलजलं नानापक्षिसमाकुलम् ।
स तत्स्मृत्वा पितुर्वाक्यं भीमवेगोऽन्तरिक्षगः ॥ ३७ ॥
नखेन गजमेकेन कूर्ममेकेन चाक्षिपत् ।
समुत्पपात चाकाशं तत उच्चैर्विहङ्गमः ॥ ३८ ॥
सोऽलम्बं तीर्थमासाद्य देववृक्षानुपागमत् ।
ते भीताः समकंपन्त तस्य पक्षानिलाहताः ॥ ३९ ॥
न नो भंज्यादिति तदा दिव्याः कनकशाखिनः ।
प्रचलाङ्गान्स तान्दृष्ट्वा मनोरथफलद्रुमान् ॥ ४० ॥
अन्यानतुलरूपाङ्गानुपचक्राम खेचरः ।
काञ्चनै राजतैश्चैव फलैर्वैदूर्यशाखिनः ।
सागरांबुपरिक्षिप्तान्भ्राजमानान्महाद्रुमान् ॥ ४१ ॥
तमुवाच खगश्रेष्ठं तत्र रौहिणपादपः ।
अतिप्रवृद्धः सुमहानापतन्तं मनोजवम् ॥ ४२ ॥
रौहिण उवाच—येषा मम महाशाखा शतयोजनमायता ।
एतामास्थाय शाखां त्वं खादेमौ गजकच्छपौ ॥ ४३ ॥
ततो द्रुमं पतगसहस्रसेवितं महीधरप्रतिमवपुः प्रकम्पयन् ।
खगोत्तमो द्रुतमभिपत्य वेगवान्बभञ्ज तामविरलपत्रसञ्चयाम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

देखा। अपने पिता के वचनों को स्मरण करता हुआ एक पंजे में हाथी को और दूसरे में कछुए को पकड़कर वह गरुड़ आकाश में उड़ गया। वह बेसहारे सुमेरु पर्वत के तीर्थ रूप शिखर में जाकर कल्पवृक्षों के समीप बैठने को तय्यार हुआ। और वह वृक्ष उसके परों की वायु से हिलने लगा ॥३३।३९॥

गरुड़ के भय से सुमेरु पर्वत के दिव्य वृक्ष काँपने लगे। वह उन हिलते हुए फल वाले वृक्षों को देखकर दूसरे बड़े सुन्दर रूप वाले वृक्षों के पास गया। उन महावृक्षों के फल सोने और चांदी के और शाखायें वैदूर्यमणि की थीं। वह वृक्ष समुद्र के जल से सींचे हुए थे। इन वृक्षों में एक बहुत ऊंचा और पुराना रौहिण नाम बरगद

का पेड था। उसने गरुड जी को बडे वेग से आते हुए देखकर कहा—हे गरुड जी! यह मेरी शाखा सौ योजन तक फैली हुई है। इसी पर बैठकर तुम दोनों प्राणियों को खा जाओ। फिर हजारों पक्षियों से युक्त और पर्वत के समान देह वाले उस वृक्ष को हिलाते हुए उस गरुड़ ने उसपर शीघ्र बैठकर अत्यन्त पत्तों से भरी हुई उस शाखा को तोड़ दिया ॥४०।४४॥

आदिपर्व का उनत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिंशोऽध्याय ॥ ३० ॥

सौतिरुवाच—स्पृष्टमात्रा तु पद्भ्यां सा गरुडेन बलीयसा ।
अभज्यत तरोः शाखा भग्नां चैकामधारयत् ॥ १ ॥
तां भङ्क्त्वा स महाशाखां स्मयमानो विलोकयन् ।
अथात्र लम्बतोऽपश्यद्वालखिल्यानधोमुखान् ॥ २ ॥
ऋषयो ह्यत्र लम्बन्ते न हन्यामिति तानृषीन् ।
तपस्तोन्लघंमानान्ब्रह्मर्षीनभिवीक्ष्य सः ॥ ३ ॥
हन्यादेतान्संपतन्ती शाखेत्यथ विचिन्त्य सः ।
नखैर्दृढतरं वीरः संगृह्य गजकच्छपौ ॥ ४ ॥
स तद्विनाशसंत्रासादभिपत्य खगाधिपः ।
शाखामास्येन जग्राह तेपामेवान्ववेक्षया ॥ ५ ॥
अतिदैवं तु तत्तस्य कर्म दृष्ट्वा महर्षयः ।
विस्मयोत्कम्पहृदया नाम चक्रुर्महाखगे ॥ ६ ॥
गुरुं भारं समासाद्योड्डीन एप विहंगमः ।
गरुडस्तु खगश्रेष्ठस्तस्मात्पन्नगभोजनः ॥ ७ ॥

॥ तीसवा अध्याय ३० ॥

उग्रश्रवा बोले महापराक्रमी गरड़ के बैठते ही यह शाखा टूट गई। गरड़ ने उसे अपनी चोंच में पकड़ लिया। उसने उस टूटी हुई शाखा को देखकर नीचे को लटकते हुए बालखिल्य नामक ऋषियों को देखा। तपस्या करते हुए ऋषियों को शाखा में लटकते हुए देख गिरती हुई शाखा इन का नाश न करे ऐसा विचारकर अपने नखों से हाथी और कछुए को पकड़कर और उन ऋषियों के नाश के भय से गरड ने शाखा को मुख से पकड़ा ॥१।५॥

उसके इस कर्म को जो देवताओं से भी होना कठिन है देखकर उन ऋषियों ने उस आकाश

ततः शनैः पर्यपतत्पक्षैः शैलान्प्रकम्पयन् ।
एवं सोऽभ्यपतद्देशान्बहून्सगजकच्छपः ॥ ८ ॥
दयार्थं वालखिल्यानां न च स्थानमविन्दत ।
स गत्वा पर्वतश्रेष्ठं गन्धमादनमञ्जसा ॥ ९ ॥
ददर्श कश्यपं तत्र पितरं तपसि स्थितम् ।
ददर्श तं पिता चापि दिव्यरूपं विहंगमम् ॥ १० ॥
तेजोवीर्यबलोपेतं मनोमारुतरंहसम् ।
शैलशृङ्गप्रतीकाशं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ॥ ११ ॥
अचिन्त्यमनभिध्येयं सर्वभूतभयंकरम् ।
महावीर्यधरं रौद्रं साक्षादग्निमिवोद्यतम् ॥ १२ ॥
अप्रधृष्यमजेयं च देवदानवराक्षसैः ।
भेत्तारं गिरिशृङ्गाणां समुद्रजलशोषणम् ॥ १३ ॥
लोकसंलोडनं घोरं कृतान्तसमदर्शनम् ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य भगवान्कश्यपस्तदा ।
विदित्वा चास्य संकल्पमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥
कश्यप उवाच—पुत्र मा साहसं कार्षीर्मा सद्यो लप्स्यसे व्यथाम् ।
मा त्वां दहेयुः संक्रुद्धा वालखिल्या मरीचिपाः ॥ १५ ॥

में बड़े भारी बोझ को लेकर उड़ने वाले पक्षी का नाम गरुड़ रक्खा । वहां से गरुड़ जी कछुए आदि को लिये हुए पहाड़ों को हिलाते हुए अनेक देशों और देशान्तरों में फिरे परन्तु कहीं उस शाखा के रखने का स्थान गरुड़ जी को नहीं मिला । तिसके उपरान्त घूमते हुए गन्धमादन पर्वत पर जहां कश्यप जी तपस्या कर रहे थे, पहुंचे। कश्यप जी उस दिव्य रूप आकाश में मन के वेग के समान चलने वाले, बल वीर्य से परिपूर्ण, पहाड़ के तुल्य अति भयानक स्वरूप वाले, रौद्र अग्नि के समान प्रकाशमान्, देव आदि से अजेय पहाड़ों को फोड़ने वाले और समुद्र का जल सुखाने वाले मृत्यु के समान दर्शन वाले अपने पुत्र को देखकर बोले ॥६।१४॥

हे पुत्र ! साहस और जल्दी मत करियो। सूर्य की किरणों के भोजन करने वाले वालखिल्य ऋषि तुझे क्रोध से भस्म कर देंगे । उग्रश्रवा बोले कि, कश्यप ने पुत्र के कारण बड़े भागवाले तप के बल से निष्पाप वालखिल्य ऋषियों को स्तुति से प्रसन्न किया । कश्यप बोले—हे तपोधन ! गरुड़ का

सौतिरुवाच—ततः प्रसादयामास कश्यपः पुत्रकारणात् ।
वालखिल्यान्महाभागांस्तपसा हतकल्मषान् ॥ १६ ॥
कश्यप उवाच—प्रजाहितार्थमारम्भो गरुडस्य तपोधनाः ।
चिकीर्षति महत्कर्म—तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ १७ ॥
सौतिरुवाच—एवमुक्ता भगवता मुनयस्ते समभ्ययुः ।
मुक्त्वा शाखां गिरिं पुण्यं हिमवन्तं तपोऽर्थिनः ॥ १८ ॥
ततस्तेष्वपयातेषु पितरं विनतासुतः ।
शाखाव्याक्षिप्तवदनः पर्यपृच्छत कश्यपम् ॥ १९ ॥
भगवन्क विमुञ्चामि तरोः शाखामिमामहम् ।
वर्जितं मानुषैर्देशमाख्यातु भगवान्मम ॥ २० ॥
ततो निःपुरुषं शैलं हिमसंरुद्धकंदरम् ।
अगम्यं मनसाप्यन्यैस्तस्याचख्यौ स कश्यपः ॥ २१ ॥
तं पर्वतं महाकुक्षिमुद्दिश्य स महाखगः ।
जवेनाभ्यपतत्तार्क्ष्यः सशाखागजकच्छपः ॥ २२ ॥
न तां वध्री परिणहेच्छतचर्मा महातनुम् ।
शाखिनो महतीं शाखां यां प्रगृह्य ययौ खगः ॥ २३ ॥
स ततः शतसाहस्रं योजनान्तरमागतः ।
कालेन नातिमहता गरुडः पतगेश्वरः ॥ २४ ॥

प्रजा के हित के लिये कार्य का आरम्भ है और यह महान् कार्य को करना चाहता है । आप कृपा करके इसको आज्ञा देवें । इस प्रकार भगवान् कश्यप से सुनकर वालखिल्य ऋषि उस शाखा को छोड़कर तपस्या के लिये हिमालय को चले गये ॥१५।१८॥

इसके उपरान्त विनता के पुत्र गरुड ने अपने पिता कश्यप से पूछा हे भगवन् ! ऐसा स्थान बतावें जहां मैं इस शाखा को छोड़ूं । कश्यप जी बोले कि, वह बरफ से भरे हुए गुफाओं वाले पहाड जहां मनुष्य नहीं जा सकते वहां छोड़ दो । शाखा, हाथी और कछुए सहित गरुड बड़ी कोख वाले उस पर्वत के ऊपर शीघ्रता से गये ॥१९।२२॥

वह पक्षी वृक्ष की बड़ी शाखा को लेकर थोड़े ही काल में एक लाख योजन दूर चलकर उस पहाड़ पर पहुंचे । और पिता कश्यप के कहने के अनुसार उस शाखा को वहां छोड़ दिया । उस शाखा के गिरने से उस पर्वत की चोटियां जो

स तं गत्वा क्षणेनैव पर्वतं वचनात्पितुः ।
अमुञ्चन्महतीं शाखां सस्वनं तत्र खेचरः ॥ २५ ॥
पक्षानिलहतश्चास्य प्राकम्पत स शैलराट् ।
मुमोच पुष्पवर्षं च समागलितपादपः ॥ २६ ॥
शृङ्गाणि च व्यशीर्यन्त गिरेस्तस्य समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शोभयन्ति महागिरिम् ॥ २७ ॥
शाखिनो बहवश्चापि शाखयाऽभिहतास्तया ।
काञ्चनैः कुसुमैर्भान्ति विद्युत्वन्त इवाम्बुदाः ॥ २८ ॥
ते हेमविकचा भूमौ युताः पर्वतधातुभिः ।
व्यराजञ्छाखिनस्तत्र सूर्यांशुप्रतिरञ्जिताः ॥ २९ ॥
ततस्तस्य गिरेः शृङ्गमास्थाय स खगोत्तमः ।
भक्षयामास गरुडस्तावुभौ गजकच्छपौ ॥ ३० ॥
तावुभौ भक्षयित्वा तु स तार्क्ष्यः कूर्मकुञ्जरौ ।
ततः पर्वतकूटाग्रादुत्पपात महाजवः ॥ ३१ ॥
प्रावर्त्तन्ताथ देवानामुत्पाता भयशंसिनः ।
इंद्रस्य वज्रं दयितं प्रजज्वाल भयात्ततः ॥ ३२ ॥
सधूमा न्यपतत्सार्चिर्दिवोल्का नभसश्च्युता ।
तथा वसूनां रुद्राणामादित्यानां च सर्वशः ॥ ३३ ॥

मणि और कांचन के सदृश थीं फट गईं। और बहुत से सोने के प्रभाव वाले वृक्ष जिनमें अनेक प्रकार के सुनहले रुपहले फल लग रहे थे उस शाखा से टूट-टूटकर पृथ्वी पर गिरने लगे। और पहाड के हिलने से उसके ऊपर के वृक्षों के फूल गिरने से फूलों की वर्षा हुई। वह वृक्ष सुवर्ण के समान उज्ज्वल और पर्वत के धातुओं से युक्त सूर्य की किरणों के पड़ने से अति शोभायमान् प्रतीत होने लगे ॥२३।२९॥

फिर वह पक्षी पहाड के शिखर पर बैठकर हाथी और कछुए दोनों को भक्षण करने लगा। बड़े वेग वाला गरुड उन दोनों प्राणियों को खाकर आकाश को उड गया। उस समय देवताओं को भय की सूचना देने वाले अनेक उत्पात स्वर्ग में होने लगे। इन्द्र का वज्र भय से जलने लगा। धुएँ सहित जल रहे तारे आकाश से गिरने लगे। वसु, रुद्र, आदित्य, साध्य और मरुत आदि देवताओं के समूहों के अस्त्र आपस में भिडने लगे। देवासुर

साध्यानां मरुतां चैव ये चान्ये देवतागणाः ।
स्वं स्वं प्रहरणं तेषां परस्परमुपाद्रवत् ॥ ३४ ॥
अभूतपूर्वं संग्रामे तदा देवासुरेऽपि च ।
ववुर्वाताः सनिर्घाताः पेतुरुल्काः सहस्रशः ॥ ३५ ॥
निरभ्रमेव चाकाशं प्रजगर्ज महास्वनम् ।
देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम् ॥ ३६ ॥
मम्लुर्माल्यानि देवानां नेशुस्तेजांसि चैव हि ।
उत्पातमेघा रौद्राश्च ववृपुः शोणितं बहु ॥ ३७ ॥
रजांसि मुकुटान्येषामुत्थितानि व्यधर्षयन् ।
ततस्त्राससमुद्विग्नः सहदेवैः शतक्रतुः ।
उत्पातान्दारुणान्पश्यन्नित्युवाच बृहस्पतिम् ॥ ३८ ॥
इन्द्र उवाच—किमर्थं भगवन्घोरा उत्पाताः सहसोत्थिताः ।
न च शत्रुं प्रपश्यामि युधि यो नः प्रधर्षयेत् ॥ ३९ ॥
बृहस्पतिरुवाच तवापराधाद्देवेन्द्र प्रमादाच्च शतक्रतो ।
तपसा वालखिल्यानां महर्षीणां महात्मनाम् ॥ ४० ॥
कश्यपस्य मुनेः पुत्रो विनतायाश्च खेचरः ।
हर्तुं सोममभिप्राप्तो बलवान्कामरूपधृक् ॥ ४१ ॥
समर्थो बलिनां श्रेष्ठो हर्तुं सोमं विहंगमः ।

संग्राम जब हुआ था तब भी ऐसी अद्भुत बातें नहीं हुई थीं । बड़े ज़ोर से आँधी चलने लगी और उससे भयानक शब्द होने लगा । हजारों तारे आकाश से टूट-टूटकर गिरने लगे । आकाश में बादल न होने पर भी गर्जना होने लगी । देवताओं की मालाएँ मुरझा गई और तेज नष्ट हो गये । बादलों मे रुधिर की वर्षा होने लगी । और उड़ती हुई धूल मुख में जाने लगी । देवताओं सहित ग्राम मे व्याकुल हुआ इन्द्र उन डरावने उत्पातों को देखकर बृहस्पति से बोला—हे भगवन्! अकस्मात् ऐसे घोर उत्पात् होते क्यों दीख पड़ते है । इस समय मे कोई शत्रु नहीं देखता जो हमारा युद्ध में तिरस्कार करे ॥३०।३९॥

बृहस्पति जी ने कहा—तेरे अपराध और प्रमाद और वालखिल्य ऋषियों के तप के कारण से कश्यप जी का बड़ा पराक्रमी आकाश मण्डल में गमन करने वाला पुत्र तुमसे अमृत छीनने को आता है । वह बलवानों में श्रेष्ठ अमृत हरने को समर्थ है । और वह सम्पूर्ण कार्यों को जो औरों से नहीं हो

सर्वं संभावयाम्यस्मिन्नसाध्यमपि साधयेत् ॥ ४२ ॥
सौतिरुवाच—श्रुत्वैतद्वचनं शक्रः प्रोवाचामृतरक्षिणः ।
महावीर्यबलः पक्षी हर्तुं सोममिहोद्यतः ॥ ४३ ॥
युष्मान्संबोधयाम्येष यथा न स हरेद्बलात् ।
अतुलं हि बलं तस्य बृहस्पतिरुवाच ह ॥ ४४ ॥
तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं विस्मिता यत्नमास्थिताः ।
परिवार्यामृतं तस्थुर्वज्री चेन्द्रः प्रतापवान् ॥ ४५ ॥
धारयन्तो विचित्राणि कांचनानि मनस्विनः ।
कवचानि महार्हाणि वैदूर्यविकृतानि च ॥ ४६ ॥
चर्माण्यपि च गात्रेषु भानुमन्ति दृढानि च ।
विविधानि च शस्त्राणि घोररूपाण्यनेकशः ॥ ४७ ॥
शिततीक्ष्णाग्रधाराणि समुद्यम्य सुरोत्तमाः ।
सविस्फुलिंगज्वालानि सधूमानि च सर्वशः ॥ ४८ ॥
चक्राणि परिघांश्चैव त्रिशूलानि परश्वधान् ।
शक्तींश्च विविधास्तीक्ष्णाः करवालांश्च निर्मलान् ।
स्वदेहरूपाण्यादाय गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ॥ ४९ ॥
तैः शस्त्रैर्भानुमद्भिस्ते दिव्याभरणभूषिताः ।
भानुमन्तः सुरगणास्तस्थुर्विगतकल्मषाः ॥ ५० ॥
अनुपमबलवीर्यतेजसो धृतमनसः परिरक्षणेऽमृतस्य ।

सकते, कर सकता है । उग्रश्रवा बोले कि, बृहस्पति के वचन सुनकर इन्द्र महाराज ने अमृत की रक्षा करने वाले देवताओं को बुलाया और कहा कि, महा बलवान् पक्षी यहां अमृत लेने के लिए आरहा है, और गुरु जी कहते हैं कि, उस पक्षी के बल का प्रमाण नहीं है । इतना सुनकर सब देवता बड़े हैरान हुए और इन्द्र सहित अमृत को घेरकर बैठ गये । ॥४०।४५॥

मणियों से जड़ित, सुवर्ण के विचित्र कवचों को पहनने लगे । और दृढ़ प्रकाश युक्त ढालों को शरीर में बांध लिया और अनेक प्रकार के भयंकर तीक्ष्ण चक्र, बेलन, त्रिशूलें, फरसे, शक्तियां, चमकीली तलवारें और गदा आदि शस्त्रों को लेकर वहां पर एकत्र हुए । इस प्रकार अग्नि के समान प्रकाशमान् और अनुपम बल तथा तेज वाले देवता अमृत की रक्षा के लिये जमा हुए । उनके और

अहुरपुरविदारणाः सुरा ज्वलनसमिद्धवपुः प्रकाशिनः ॥ ५१ ॥
इति समरवरं सुराः स्थितास्ते परिघसहस्रशतैः समाकुलम् ।
विगलितमिव चाम्बरांतरं तपनमरीचिविकाशितं बभासे ॥ ५२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रिंशोऽध्याय ॥ ३० ॥

उनके शस्त्रों के प्रकाश से वह युद्धभूमि सूर्य की किरणों से प्रकाशमान् आकाश की तरह विदित होने लगी ॥४६।५२॥

आदिपर्व का तीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥३०॥

अथ एकत्रिंशोऽध्याय ॥ ३१ ॥

शौनक उवाच—कोऽपराधो महेन्द्रस्य कः प्रमादश्च सूतज ।
तपसा वालखिल्यानां संभूतो गरुडः कथम् ॥ १ ॥
कश्यपस्य द्विजातेश्च कथं वै पक्षिराट् सुतः ।
अधृष्यः सर्वभूतानामवध्यश्चाभवत्कथम् ॥ २ ॥
कथं च कामचारी स कामवीर्यश्च खेचरः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पुराणे यदि पठ्यते ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच विषयोऽयं पुराणस्य यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
शृणु मे वदतः सर्वमेतत्संक्षेपतो द्विज ॥ ४ ॥
यजतः पुत्रकामस्य कश्यपस्य प्रजापतेः ।
साहाय्यमृषयो देवा गन्धर्वाश्च ददुः किल ॥ ५ ॥
तत्रेध्मानयने शक्रो नियुक्तः कश्यपेन ह ।
मुनयो वालखिल्याश्च ये चान्ये देवतागणाः ॥ ६ ॥

॥ इकतीसवा अध्याय ३१ ॥

शौनक जी ने कहा हे सूत पुत्र ! इन्द्र का क्या अपराध और क्या प्रमाद था ? और गरुड़ जी वालखिल्य ऋषियों से कैसे उत्पन्न हुए ? कश्यप के पक्षिराज पुत्र कैसे हुए ? अपनी इच्छा के अनुसार उनमें की शक्ति कहां से आई ? आप ने कहा कि, गरुड़ को कोई जीत नहीं सकता, वह कैसे जीतने वाले हुए ? यह मैं आप से सुनना चाहता हूं यदि आपने इस प्रसग को पुराणों में पढ़ा हो ॥१।३॥

उग्रश्रवा बोले—हे ब्राह्मणो ! यह पुराणों का विषय ही है । मैं इसको विस्तार से कहूंगा, आप सुनो । एक समय कश्यप जी महाराज ने पुत्र उत्पन्न करने के लिये यज्ञ किया था । उस यज्ञ में देवता, ऋषि, गन्धर्व आदि सब मिलकर कश्यप की सहायता करने लगे । यज्ञ के निमित्त लकड़िया

शक्रस्तु वीर्यसदृशमिध्मभारं गिरिप्रभम् ।
समुद्यम्यानयामास नातिकृच्छ्रादिवं प्रभुः ॥ ७ ॥
अथापश्यदृषीन्ह्रस्वानंगुष्ठोदरवर्ष्मणः ।
पलाशवर्तिकामेकां वहतः सहतान्पथि ॥ ८ ॥
प्रलीनान्स्वेष्विवाङ्गेषु निराहारांस्तपोधनान् ।
क्लिश्यमानान्मंदबलान्गोष्पदे संप्लुतोदके ॥ ९ ॥
तान्सर्वान्विस्मयाविष्टो वीर्योन्मत्तः पुरन्दरः ।
अवहस्याभ्यगाच्छीघ्रं लङ्घयित्वावमन्य च ॥ १० ॥
तेऽथ रोपसमाविष्टाः सुभृशं जातमन्यवः ।
आरेभिरे महत्कर्म तदा शक्रभयङ्करम् ॥ ११ ॥
जुहुवुस्ते सुतपसो विधिवज्जातवेदसम् ।
मन्त्रैरुच्चावचैर्विप्रा येन कामेन तच्छृणु ॥ १२ ॥
कामवीर्यः कामगमो देवराजभयप्रदः ।
इन्द्रोऽन्यः सर्वदेवानां भवेदिति यतव्रताः ॥ १३ ॥
इन्द्राच्छतगुणः शौर्ये वीर्ये चैव मनोजवः ।
तपसो नः फलेनाद्य दारुणः संभवत्विति ॥ १४ ॥
तद् बुद्ध्वा भृशसंतप्ततो देवराजः शतक्रतुः ।
जगाम शरणं तत्र कश्यपं संशितव्रतम् ॥ १५ ॥

लाने की आज्ञा कश्यप ने इन्द्र आदि देवताओं को वालखिल्य ऋषियों को दी। इन्द्र अपने पराक्रम से पहाड के समान बोझ लकडियों का थोडे ही कष्ट से ले आये। वालखिल्य ऋषि जो कि अगूठे के समान छोटे थे वह भी उसी रास्ते में इकट्ठे होकर एक छोटी सी ढाक की लकडी को लिये चले आ रहे थे। उसको एक गौ के चरण जल से भरे तडाग में तरते देखकर आश्चर्य करके अपने पराक्रम के अभिमान से उन ऋषियों की अपमान सहित हँसी करके चले गये ॥४।१०॥

इस अपमान को देखकर वालखिल्य ऋषियों ने बडा क्रोध किया और अपने तप के बल से इच्छानुसार पराक्रम और गमन करने वाले इन्द्र को भय दिखाने वाले और मन के समान वेग वाले दूसरे इन्द्र उत्पन्न करने के लिये बडे बडे मन्त्रों द्वारा हवन करना प्रारम्भ किया ॥११।१४॥

इस बात को जानकर इन्द्र अत्यंत दुःखी होकर उन कश्यप जी महाराज के समीप गया जिनकी

तच्छ्रुत्वा देवराजस्य कश्यपोऽथ प्रजापतिः ।
वालखिल्यानुपागम्य कर्मसिद्धिमपृच्छत ॥ १६ ॥
एवमस्त्विति तं चापि प्रत्यूचुः सत्यवादिनः ।
तान्कश्यप उवाचेदं सान्त्वपूर्वं प्रजापतिः ॥ १७ ॥
अयमिन्द्रस्त्रिभुवने नियोगाद्ब्रह्मणऽकृतः ।
इन्द्रार्थे च भवन्तोऽपि यत्नवन्तस्तपोधनाः ॥ १८ ॥
न मिथ्या ब्रह्मणो वाक्यं कर्तुमर्हथ सत्तमाः ।
भवतां हि न मिथ्याऽयं सङ्कल्पो वै चिकीर्षितः ॥ १९ ॥
भवत्वेष पतत्त्रीणामिन्द्रोऽतिबलसत्त्ववान् ।
प्रसादः क्रियतामस्य देवराजस्य याचतः ॥ २० ॥
एवमुक्तः कश्यपेन वालखिल्यास्तपोधनाः ।
प्रत्यूचुरभिसंपूज्य मुनिश्रेष्ठं प्रजापतिम् ॥ २१ ॥
वालखिल्या ऊचु–इन्द्रार्थोऽयं समारम्भः सर्वेषां नः प्रजापते ।
अपत्यार्थं समारम्भो भवतश्चायमीप्सितः ॥ २२ ॥
तदिदं सफलं कर्म त्वयैव प्रतिगृह्यताम् ।
तथा चैवं विधत्स्वात्र यथा श्रेयोऽनुपश्यसि ॥ २३ ॥
सौतिरुवाच–एतस्मिन्नेव काले तु देवी दाक्षायणी शुभा ।
विनता नाम कल्याणी पुत्रकामा यशस्विनी ॥ २४ ॥

तपस्या बड़ी तीक्ष्ण थी। यहां जाकर उनसे सब हाल कहा। कश्यप जी इन्द्र की बात सुनकर वालखिल्य ऋषियों के पास गये और कहा कि, आप का कार्य सिद्ध हो। वालखिल्य ऋषि बोले आप का कहा सत्य हो। जिसके उपरान्त कश्यप जी ने शान्ति पूर्वक कहा कि, यह इन्द्र ब्रह्माजी की आज्ञा से तीनों लोकों पर शासन करने को नियत किया गया है। और आप भी इन्द्र ही के लिये यत्न कर रहे हैं। परन्तु आप को ब्रह्माजी का वाक्य मिथ्या करना उचित नहीं है। आप का सकल्प भी मिथ्या नहीं हो सकता। इससे आप इनपर अनुग्रह कीजिये और आप के तप रूप फल से उत्पन्न हुआ इन्द्र पक्षियों का इन्द्र हो ॥१५।२०॥

उग्रश्रवा बोले–कश्यप के समझाने से तपस्वी वालखिल्य ऋषि उनकी प्रशंसा करके कहने लगे कि, हे प्रजापति कश्यप! हम सब ने इन्द्र के उत्पन्न करने का यत्न किया है और आपने सन्तान की इच्छा से इसका आरम्भ किया जिससे इस

तपस्तप्त्वा व्रतपरा स्नाता पुंसवने शुचिः ।
उपचक्राम भर्तारं तामुवाचाथ कश्यपः ॥ २५ ॥
आरम्भः सफलो देवि भविता यस्त्वयेप्सितः ।
जनयिष्यसि पुत्रौ द्वौ वीरौ त्रिभुवनेश्वरौ ॥ २६ ॥
तपसा वालखिल्यानां मम सङ्कल्पजौ तथा ।
भविष्यतो महाभागौ पुत्रौ त्रैलोक्यपूजितौ ॥ २७ ॥
उवाच चैनां भगवान्कश्यपः पुनरेव ह ।
धार्यतामप्रमादेन गर्भोऽयं सुमहोदयः ॥ २८ ॥
एतौ सर्वपतत्रीणामिन्द्रत्वं कारयिष्यतः ।
लोकसंभावितौ वीरौ कामरूपौ विहंगमौ ॥ २९ ॥
शतक्रतुमथोवाच प्रीयमाणः प्रजापतिः ।
त्वत्सहायौ महावीर्यौ भ्रातरौ ते भविष्यतः ॥ ३० ॥
नैताभ्यां भविता दोषः सकाशात्ते पुरंदर ।
व्येतु ते शक्र संतापस्त्वमेवेन्द्रो भविष्यसि ॥ ३१ ॥
न चाप्येवं त्वया भूयः क्षेप्तव्या ब्रह्मवादिनः ।
न चावमान्या दर्पात्ते वाग्वज्रा भृशकोपनाः ॥ ३२ ॥
एवमुक्तो जगामेन्द्रो निर्विशङ्कस्त्रिविष्टपम् ।
विनता चापि सिद्धार्था बभूव मुदिता तथा ॥ ३३ ॥

सफल कर्म को आप ग्रहण करें और जिसमें कल्याण हो वैसा करें। उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो! उसी समय कश्यप जी की स्त्री विनता तप करके पुत्र की कामना से ऋतुस्नान करके अपने पति के पास आई। उसको देखकर कश्यप जी ने कहा कि, वालखिल्य ऋषियों के तप और हमारे संकल्प के प्रभाव से तेरे दो पुत्र एक गरुड़ पक्षियों का इन्द्र और दूसरा अरुण सूर्य का सारथी आकाश में चलने वाले और बड़े पराक्रमी होंगे। कश्यप ने फिर कहा—इस गर्भ को तुम बड़ी सावधानी से रखना। यह लोकों में सत्कार किये हुए इच्छा के सदृश रूप धारण करने वाले पक्षी सब पक्षियों में इन्द्र पदवी को प्राप्त होंगे ॥२१।२९॥

इसके उपरान्त प्रसन्न होता हुआ प्रजापति कश्यप, इन्द्र से बोला कि, यह दोनों तेरे भाई बड़े पराक्रमी होंगे और सदैव तेरे सहायक रहेंगे। परन्तु तुझको ब्रह्मऋषि महात्माओं का अपमान करना उचित नहीं है। ब्राह्मणों का शाप वज्र से

जनयामास पुत्रौ द्वावरुणं गरुडं तथा ।
विकलाङ्गोऽरुणास्तत्र भास्करस्य पुरःसरः ॥ ३४ ॥
पतत्रीणां च गरुडमिन्द्रत्वेनाऽभ्यषिंचयत ।
तस्यैतत्कर्म सुमहच्छ्रूयतां भृगुनन्दन ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

भी बढ़ कर होता है। उनका कोप बड़ा ही दारुण हुआ करता है। इस प्रकार कश्यप ऋषि से कहा हुआ इन्द्र स्वर्गलोक को चला गया। और सिद्ध मनोरथ वाली विनता भी अत्यन्त प्रसन्न हुई। विनता ने अरुण, गरुड़ दो पुत्रों को उत्पन्न किया। उन दोनों में अरुण अधूरे शरीर वाला हुआ जो सूर्य का सारथी बना। और गरुड़ पक्षियों का इन्द्र हुआ। हे भृगुनन्दन! उसी गरुड़ का यह बड़ा भारी कर्म सुनो ॥३०।३५॥

—०—

आदिपर्व का इकत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

सौतिरुवाच - ततस्तस्मिन्द्विजश्रेष्ठ समुदीर्णे तथाविधे ।
गरुडः पक्षिराट् तूर्णं संप्राप्तो विबुधान्प्रति ॥ १ ॥
तं दृष्ट्वाऽतिबलं चैव प्रकम्पंत सुरास्ततः ।
परस्परं च प्रत्यघ्नन्सर्वप्रहरणान्युत ॥ २ ॥
तत्र चासीदमेयात्मा विद्युदग्निसमप्रभः ।
भौमनः सुमहावीर्यः सोमस्य परिरक्षिता ॥ ३ ॥
स तेन पतगेन्द्रेण पक्षतुण्डनखक्षतः ।
मुहूर्त्तमतुलं युद्धं कृत्वा विनिहतो युधि ॥ ४ ॥

॥ बत्तीसवां अध्याय ३२ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो! देवताओं की सेना के कवच, अस्त्र, शस्त्रों को धारण कर युद्ध के लिये तय्यार होने पर पक्षियों का राजा गरुड़ बड़े वेग से देवताओं के निकट पहुँचा। उस अत्यन्त बलवान् को देखते ही सब देवता डर के मारे कांपने लगे और व्याकुल होकर आपस में ही एक दूसरे पर शस्त्र चलाने लगे। अति पराक्रमी, अग्नि के समान तेजस्वी विश्वकर्मा ही अमृत की रक्षा करने वाले देवताओं के मुखिया थे। वह विश्वकर्मा उन पक्षियों के राजा गरुड़ के परों और चोंच से घायल होकर महूर्त भर घोर युद्ध करके मरे हुए के समान पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥१।४॥

—०—

रजश्चोद्धूय सुमहत्पक्षवातेन खेचरः ।
कृत्वा लोकान्निरालोकांस्तेन देवानवाकिरत् ॥ ५ ॥
तेनावकीर्णा रजसा देवा मोहमुपागमन् ।
न चैवं ददृशुश्छन्ना रजसाऽमृतरक्षिणः ॥ ६ ॥
एवं संलोडयामास गरुडस्त्रिदिवालयम् ।
पक्षतुण्डप्रहारैस्तु देवान्स विददार ह ॥ ७ ॥
ततो देवः सहस्राक्षस्तूर्णं वायुमचोदयत् ।
विक्षिपेमां रजोवृष्टिं तवेदं कर्म मारुत ॥ ८ ॥
अथ वायुरपोवाह तद्रजस्तरसा बली ।
ततो वितिमिरे जाते देवाः शकुनिमार्दयन् ॥ ९ ॥
ननाद चोच्चैः स बलवान्महामेघ इवाम्बरे ।
वध्यमानः सुरगणैः सर्वभूतानि भीषयन् ॥ १० ॥
उत्पपात महावीर्यः पक्षिराट् परवीरहा ।
समुत्पत्यान्तरिक्षस्थं देवानामुपरिस्थितम् ॥ ११ ॥
वर्मिणो विबुधाः सर्वे नानाशस्त्रैरवाकिरन् ।
पट्टिशैः परिघैः शूलैर्गदाभिश्च सवासवाः ॥ १२ ॥

इसके पश्चात् उस पक्षी ने उन परों की वायु से धूलि को उड़ाकर चारों ओर अन्धेरा कर दिया। उस धूल में सब देवता अज्ञान को प्राप्त हुए। और अमृत की रक्षा करने वाले देवताओं को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। इस प्रकार स्वर्गलोक में हलचल मच गई। और गरुड़ ने चोंच और परों के प्रहार से अनेक देवताओं को घायल किया। तिसके उपरान्त सहस्र नेत्र वाले इन्द्र ने शीघ्र वायु को आज्ञा दी कि, हे मारुत ! इस धूलि की वर्षा को उड़ाकर दूर कर दो। यह तुम्हारा ही काम है। वायु ने उसी समय धूल को उड़ाकर दूर कर दिया। अन्धकार के दूर होने पर देवताओं ने उस गरुड़ पर प्रहार किया ॥५।९॥

उनके प्रहार करने पर बलवान् गरुड़ सब प्राणियों को डराते हुए आकाश मण्डल में बादलों के समान गर्जने लगा। और शत्रुओं के नाश करने वाला बड़ा बलवान् पक्षियों का राजा गरुड़ आकाश को उड़ गया। आकाश में वर्तमान गरुड़ के ऊपर कवच पहिरे हुए सब देवता आकाश में जाकर शस्त्रों की वर्षा करने लगे। इन्द्र सहित सम्पूर्ण देवताओं के पट्टिस, परिघ, शूल, गदा और चक्र जो कि सूर्य के समान चमकदार थे और नाना प्रकार के अस्त्रों की वर्षा से पीड़ित वह गरुड़ घोर युद्ध को करता हुआ न डरा। वह प्रतापशाली

क्षुरप्रैर्ज्वलितैश्चापि चक्रैरादित्यरूपिभिः ।
नानाशस्त्रविसर्गैस्तैर्वध्यमानः समन्ततः ॥ १३ ॥
कुर्वन्सुतुमुलं युद्धं पक्षिराट् नव्यकम्पत ।
निर्दहन्निव चाकाशे वैनतेयः प्रतापवान् ।
पक्षाभ्यामुरसा चैव समन्ताद्व्यक्षिपत्सुरान् ॥ १४ ॥
ते विक्षिप्तास्ततो देवा दुद्रुवुर्गरुडार्दिताः ।
नखतुण्डक्षताश्चैव सुस्रवुः शोणितं बहु ॥ १५ ॥
साध्याः प्राचीं सगन्धर्वा वसवो दक्षिणां दिशम् ।
प्रजग्मुः सहिता रुद्राः पतगेन्द्रप्रधर्षिताः ॥ १६ ॥
दिशं प्रतीचीमादित्या नासत्यावुत्तरां दिशम् ।
मुहुर्मुहुः प्रेक्षमाणा युध्यमाना महौजसः ॥ १७ ॥
अश्वक्रन्देन वीरेण रेणुकेन च पक्षिराट् ।
क्रथनेन च शूरेण तपनेन च खेचरः ॥ १८ ॥
उलूकश्वसनाभ्यां च निमेषेण च पक्षिराट् ।
प्ररुजेन च संग्रामं चकार पुलिनेन च ॥ १९ ॥
तान्पक्षनखतुण्डाग्रैरभिनद्विनतासुतः ।
युगान्तकाले संक्रुद्धः पिनाकीव परंतप ॥ २० ॥
महाबला महोत्साहास्तेन ते बहुधा क्षताः ।
रेजुरभ्रघनप्रख्या रुधिरौघप्रवर्षिणः ॥ २१ ॥

गरुड़ आकाश में देवताओं को भस्म करने लगा। उसके परों की चोट और हृदय की चपेट से चूर होकर देवता गिरने लगे। अन्त को वह इधर उधर भागने लगे। नख और चोंच के घावों से देवताओं के शरीरों से बहुत सा रुधिर बहने लगा ॥१०।१५॥

साध्य, देवता और गन्धर्व पूर्व दिशा की ओर भागे। वसुगण और रुद्रगण गरुड़ के भय से दक्षिण दिशा को भागे। बारहों आदित्य पश्चिम दिशा को और अश्विनीकुमार उत्तर दिशा को भागे। और बार बार गरुड़ की ओर देखते हुए जाते थे। अब वीर अश्वक्रन्द, रेणुक, शूरवीर क्रथन, तपन, उलूक, श्वसन, निमेष, प्ररुज, पुलिन आदि से गरुड़ का घोर युद्ध हुआ। शत्रुओं के नाश करने वाले गरुड़ ने प्रलयकाल के समय क्रोध में होकर रुद्र की तरह महापराक्रम वाले देवताओं को

तान्कृत्वा पतगश्रेष्ठः सर्वानुत्क्रान्तजीवितान् ।
अतिक्रान्तोऽमृतस्यार्थे सर्वतोऽग्निमपश्यत ॥ २२ ॥
आवृण्वानं महाज्वालमर्चिर्भिः सर्वतोऽम्बरम् ।
दहन्तमिव तीक्ष्णांशुं चण्डवायुसमीरितम् ॥ २३ ॥
ततो नवत्या नवतीर्मुखानां कृत्वा महात्मा गरुडस्तपस्वी ।
नदीः समापीय मुखैस्ततस्तैः सुशीघ्रमागम्य पुनर्जवेन ॥ २४ ॥
ज्वलन्तमग्निं तममित्रतापनः समास्तरत्पत्ररथो नदीभिः ।
ततः प्रचक्रे वपुरन्यदल्पं प्रवेष्टुकामोऽग्निमभिप्रशाम्य ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

नख, चोंच और परों के प्रहार से घायल किया। उनके शरीरों से रक्त वह रहा था। और वह रुधिर की वर्षा करने वाले बादलों के समान जान पड़ते थे ॥१६।२१॥

सब देवताओं को प्राणरहित सा करके गरुड़ जी अमृत के कलश के समीप पहुचे। वहां चारों ओर उन्होंने प्रज्वलित अग्नि को देखा। वायु के चलने से बढ़ रही उस अग्नि की ज्वालाएँ आकाश तक पहुच रही थीं मानो सूर्य को भस्म कर डालेंगीं। यह देखकर गरुड वहां से चले गये। उन्होंने उस समय आठ हजार एक सौ मुख करके बहुत सी नदियों का जल पीकर शीघ्र उसी स्थान पर आकर अग्नि को शात किया। इसके पश्चात् अमृत को पाने के लिये अपना स्वरूप छोटा कर लिया ॥२२।२५॥

आदिपर्व का बत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३३ ॥'

सौतिरुवाच—जाम्बूनदमयो भूत्वा मरीचिनिकरोज्ज्वलः ।
प्रविवेश बलात्पक्षी वारिवेग इवार्णवम् ॥ १ ॥
स चक्रं क्षुरपर्यन्तमपश्यदमृतान्तिके ।
परिभ्रमन्तमनिशं तीक्ष्णधारमयस्मयम् ॥ २ ॥
ज्वलनार्कप्रभं घोरं छेदनं सोमहारिणाम् ।
घोररूपं तदत्यर्थं यन्त्रं देवैः सुनिर्मितम् ॥ ३ ॥

॥ तेंतीसवां अध्याय ३३ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो! इसके उपरान्त गरुड़ जी जिनके शरीर की चमक सूर्य की किरणों के समान थी अमृत लेने को ऐसे वेग से चले जैसे नदियां समुद्र में गिरती है। और वहां पहुंचकर देखा कि, अमृत के चारों तरफ एक लोहे का बडा तीक्ष्ण चक्र चल रहा है। उस चक्र की प्रभा

तस्यान्तरं स दृष्ट्वैव पर्यवर्त्तत खेचरः ।
अरान्तरेणाभ्यपतत्संक्षिप्याङ्गं क्षणेन ह ॥ ४ ॥
अधश्चक्रस्य चैवात्र दीप्तानलसमद्युती ।
विद्युज्जिह्वौ महावीर्यौ दीप्तास्यौ दीप्तलोचनौ ॥ ५ ॥
चक्षुर्विषौ महाघोरौ नित्यं क्रुद्धौ तरस्विनौ ।
रक्षार्थमेवामृतस्य ददर्श भुजगोत्तमौ ॥ ६ ॥
सदा संरब्धनयनौ सदा चानिमिषेक्षणौ ।
तयोरेकोऽपि यं पश्येत्स तूर्णं भस्मसाद्भवेत् ॥ ७ ॥
तयोश्चक्षूंषि रजसा सुपर्णः सहसावृणोत् ।
ताभ्यामदृष्टरूपोऽसौ सर्वतः समताडयत् ॥ ८ ॥
तयोरङ्गे समाक्रम्य वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ।
आच्छिनत्तरसा मध्ये सोममभ्यद्रवत्ततः ॥ ९ ॥
समुत्पाट्यामृतं तत्र वैनतेयस्ततो बली ।
उत्पपात जवेनैव यन्त्रमुन्मथ्य वीर्यवान् ॥ १० ॥
अपीत्वैवामृतं पक्षी परिगृह्याशुनिःसृतः ।
आगच्छदपरिश्रान्त आवार्यार्कप्रभां ततः ॥ ११ ॥
विष्णुना च तदाकाशे वैनतेयः समेयिवान् ।
तस्य नारायणस्तुष्टस्तेनालौल्येन कर्मणा ॥ १२ ॥

सूर्य के समान थी। उसको देखकर गरुड जी उसके चारों ओर घूमने लगे। और अत्यन्त छोटा सा रूप धारण करके उस चक्र के आरों की संधि में से होकर भीतर चले गये ॥३।४॥

उस चक्र के नीचे दो सर्पों को जिनकी प्रभा अग्नि के समान, जिह्वा बिजली के समान, मुख और नेत्रों से प्रज्वलित, बड़े वीर्यो, पराक्रमी और विष वाले जो अमृत की रक्षा के हेतु निवास करते थे, देखा। सदा क्रोधयुक्त और पलकों को न लगाने वाले उनमें से एक भी जिसको देख ले वह शीघ्र ही भस्म हो जावे। गरुड ने परों से धूल उड़ाकर उन साँपों को अंधा कर दिया और अवसर पाकर उनके टुकड़े कर दिये। उस बलवान् गरुड ने उस चक्र को तोड़-फोड़कर अमृत का कलश उठा लिया। उस अमृत को लेकर वहाँ से गरुड़ पक्षी बड़े वेग से आकाश की ओर उड़े। इतना परिश्रम करने पर भी उन्होंने अमृत नहीं पिया। गरुड के इतना परिश्रम करने पर भी उसको कुछ

तमुवाचाव्ययो देवो वरदोऽस्मीति खेचरम् ।
स वव्रे तव तिष्ठेयमुपरीत्यन्तरिक्षगः ॥ १३ ॥
उवाच चैनं भूयोऽपि नारायणमिदं वचः ।
अजरश्चामरश्च स्याममृतेन विनाऽप्यहम् ॥ १४ ॥
एवमस्त्विति तं विष्णुरुवाच विनतासुतम् ।
प्रतिगृह्य वरौ तौ च गरुडो विष्णुमब्रवीत् ॥ १५ ॥
भवतेऽपि वरं दद्यां वृणोतु भगवानपि ।
तं वव्रे वाहनं विष्णुर्गरुत्मन्तं महाबलम् ॥ १६ ॥
ध्वजं च चक्रे भगवानुपरि स्थास्यसीति तम् ।
एवमस्त्विति तं देवमुक्त्वा नारायणं खगः ॥ १७ ॥
वव्राज तरसा वेगाद्वायुं स्पर्धन्महाजवः ।
तं व्रजन्तं खगश्रेष्ठं वज्रेणेन्द्रोऽभ्यताडयत् ॥ १८ ॥
हरन्तममृतं रोषाद्गरुडं पक्षिणां वरम् ।
तमुवाचेन्द्रमाक्रन्दे गरुडः पततां वरः ॥ १९ ॥
प्रहसन्श्लक्ष्णया वाचा तथा वज्रसमाहतः ।
ऋषेर्मानं करिष्यामि वज्रं यस्यास्थिसंभवम् ॥ २० ॥
वज्रस्य च करिष्यामि तवैव च शतक्रतो ।
एतत्पत्रं त्यज्याम्येकं यस्यान्तं नोपलप्स्यसे ॥ २१ ॥

मालूम नहीं हुआ । वह सूर्य की किरणों को कुछ न मानकर सन्मुख होकर चले ॥५।११॥

थोड़ी दूरी पर आकाश में विष्णु भगवान् मिले और गरुड़ जी को लोभ रहित देख अति प्रसन्न हो उससे कहा कि, मैं तुझको वर देता हूं । गरुड़ ने उत्तर दिया कि, मैं आपकी ध्वजा में रहूं यही वर मागता हूं । फिर भी भगवान् से कहने लगा कि, मैं बिना अमृत पिये अजर अमर हो जाऊं । विष्णु भगवान् ने कहा–ऐसा ही होगा । तब गरुड़ जी बोले कि, हे महाराज! मुझसे भी आप वर मागें, विष्णु भगवान् बोले कि, तुम हमारे वाहन हो । गरुड़ जी ने कहा–ऐसा ही होगा । इसके उपरान्त विष्णु भगवान् ने गरुड़ जी को अपनी ध्वजा में रक्खा और गरुड़ जी नारायण के वाहन हुए । तदनन्तर गरुड़ जी उस अमृत के घड़े को लिये हुए आगे बड़े वेग से चले । इन्द्र ने उनको अमृत लिये हुए जाता देखकर अपना वज्र मारा । उसके प्रहार को सहनकर गरुड़ जी

न च वज्रनिपातेन रुजा मेऽस्तीह काचन ।
एवमुक्त्वा ततः पत्रमुत्ससर्ज स-पक्षिराट् ॥ २२ ॥
तदुत्सृष्टमभिप्रेक्ष्य तस्य पर्णमनुत्तमम् ।
हृष्टानि सर्वभूतानि नाम चक्रुर्गरुत्मतः ॥ २३ ॥
सुरूपं पत्रमालक्ष्य सुपर्णोऽयं भवत्विति ।
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं सहस्राक्षः पुरंदरः ।
खगो महदिदं भूतमिति मत्वाऽभ्यभाषत ॥ २४ ॥

शक्र उवाच—बलं विज्ञातुमिच्छामि यत्ते परमनुत्तमम् ।
सख्यं चानन्तमिच्छामि त्वया सह खगोत्तम ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रयस्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३३ ॥

हंसते हुए मधुर वाणी से बोले—मुझे इस वज्रपात से कुछ भी कष्ट नहीं हुआ है। परन्तु हे इन्द्र ! तेरे वज्र का और उस ऋषि की हड्डियों का जिससे यह वज्र बना है मान रखने के लिये अपना एक पर छोड़ता हूं । ऐसा कहकर गरुड जी ने अपना एक पर छोड दिया । उस पर की सुन्दरता को देखकर सम्पूर्ण प्राणियों ने प्रसन्न होकर गरुड का नाम सुपर्ण रक्खा । हजार नेत्र वाले इन्द्र ने इस बडे आश्चर्य को देखकर कहा कि, मैं तेरे पराक्रम को जानना चाहता हूं और तेरे साथ मित्रता करना चाहता हूं ॥२२।२५॥

—०—

आदिपर्व का तेतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३४ ॥

गरुड उवाच—सख्यं मेऽस्तु त्वया देव यथेच्छसि पुरन्दर ।
बलं तु मम जानीहि महच्चासह्यमेव च ॥ १ ॥
कामं नैतत्प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
गुणसंकीर्तनं चापि स्वयमेव शतक्रतो ॥ २ ॥
सखेति कृत्वा तु सखे पृष्टो वक्ष्याम्यहं त्वया ।
न ह्यात्मस्तवसंयुक्तं वक्तव्यमनिमित्ततः ॥ ३ ॥

॥ चौंतीसवां अध्याय ॥ ३४ ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो ! गरुड जी यह बात सुनकर बोले कि, हे इन्द्र ! तुम्हारी इच्छा के अनुसार मैं तुम से मित्रता करता हूं । मेरा बल अधिक होने के कारण कोई सह नहीं सकता । हे इन्द्र ! अपने बल और गुणों की प्रशंसा करना महात्माओं ने अच्छा नहीं कहा है । तुमको अपना मित्र

स पर्वतवनामुर्वीं ससागरजलामिमाम् ।
वहे पक्षेण वै शक्र त्वामप्यत्रावलम्बिनम् ॥ ४ ॥
सर्वान्संपिंडितान्वापि लोकान्सस्थाणुजङ्गमान् ।
वहेयमपरिश्रान्तो विद्धीदं मे महद्बलम् ॥ ५ ॥
सौतिरुवाच—इत्युक्तवचनं वीरं किरीटी श्रीमतां वरः ।
आह शौनक देवेन्द्रः सर्वलोकहितः प्रभुः ॥ ६ ॥
एवमेव यथात्थ त्वं सर्वं संभाव्यते त्वयि ।
संगृह्यतामिदानीं मे सख्यमत्यन्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥
न कार्यं यदि सोमेन मम सोमः प्रदीयताम् ।
अस्मांस्ते हि प्रबाधेयुर्येभ्यो दद्याद्भवानिमम् ॥ ८ ॥
गरुड़ उवाच—किंचित्कारणमुद्दिश्य सोमोऽयं नीयते मया ।
न दास्यामि समादातुं सोमं कस्मैचिदप्यहम् ॥ ९ ॥
यत्रेमं तु सहस्राक्ष निक्षिपेयमहं स्वयम् ।
त्वमादाय ततस्तूर्णं हरेथास्त्रिदिवेश्वर ॥ १० ॥
शक्र उवाच—वाक्येनानेन तुष्टोऽहं यत्त्वयोक्तमिहाण्डज ।
यमिच्छसि वरं मत्तस्तं गृहाण खगोत्तम ॥ ११ ॥
सौतिरुवाच—इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं कद्रूपुत्राननुस्मरन् ।
स्मृत्वा चैवोपधिकृतं मातुर्दास्यनिमित्ततः ॥ १२ ॥

जानकर मैं कहता हूं। बिना कारण अपनी स्तुति के बचन न कहने चाहिये। हे इन्द्र! पर्वत, वन और समुद्र के जल से युक्त और तेरे सहित इस पृथ्वी को अपने ऊपर उठा सकता हूं। स्थावर और जंगम सहित एकत्रित सम्पूर्ण लोकों को भी बिना परिश्रम किये उठा सकता हूं। इतना बल मुझमें है ॥१।५॥

उग्रश्रवा बोले—इस प्रकार गरुड़ के बचन सुनकर मुकुट पहिरे हुए सारे लोक का हितकारक देवताओं का इन्द्र बोला—तुम्हारा वाक्य सत्य है। तुम सब कुछ कर सकते हो। अब तुम सदा के लिये मेरे साथ मित्रता कर लो। यदि अमृत से तुमको कुछ मतलब न हो तो मुझको देदो। क्योंकि जिनको तुम यह अमृत दोगे वह हमको बड़ा कष्ट पहुंचावेंगे। गरुड़ बोला कि, मैं अपने प्रयोजन से अमृत लिये जा रहा हूं। परन्तु अमृत किसी को पीने नहीं दूंगा। हे हजार नेत्र वाले, इन्द्र! जहां मैं इस अमृत को रक्खूंगा वहां से तुम

ईशोऽहमपि सर्वस्य करिष्यामि तु तेऽर्थिताम् ।
भवेयुर्भुजगाः शक्र मम भक्ष्या महाबलाः ॥ १३ ॥
तथेत्युक्त्वाऽन्वगच्छत्तं ततो दानवसूदनः ।
देवदेवं महात्मानं योगिनामीश्वरं हरिम् ॥ १४ ॥
स चान्वमोदत्तं चार्थं यथोक्तं गरुडेन वै ।
इदं भूयो वचः प्राह भगवांस्त्रिदशेश्वरः ॥ १५ ॥
हरिष्यामि विनिक्षिप्तं सोममित्यनुभाष्यतम् ।
आजगाम ततस्तूर्णं सुपर्णो मातुरन्तिकम् ॥ १६ ॥
अथ सर्पानुवाचेदं सर्वान्परमहृष्टवत् ।
इदमानीतममृतं निक्षेप्स्यामि कुशेषु वः ॥ १७ ॥
स्नाता मङ्गलसंयुक्तास्ततः प्राश्नीत पन्नगाः ।
भवद्भिरिदमासीनैर्यदुक्तं तद्वचस्तदा ॥ १८ ॥
अदासी चैव मातेयमद्यप्रभृति चास्तु मे ।
यथोक्तं भवतामेतद्वचो मे प्रतिपादितम् ॥ १९ ॥
ततः स्नातुं गताः सर्पाः प्रत्युक्त्वा तं तथेत्युत ।
शक्रोऽप्यमृतमाक्षिप्य जगाम त्रिदिवं पुनः ॥ २० ॥

शीघ्र उठाकर ले आना। इन्द्र बोला कि, हे पक्षिराज! तुम्हारे इस वचन से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूं। तुम अपनी इच्छानुसार वर मांगो ॥६।११॥

उग्रश्रवा बोले इस प्रकार इन्द्र के वचन को सुनकर और सर्पों को स्मरण कर उन रचित कारण माता के दासी भाव को यादकर गरुड़ इन्द्र से बोला मैं सर्पों के मारने में समर्थ हूं तुम्हारे से यही वर मांगता हूं कि, सभी सांप मेरा आहार हो जावें। "ऐसा ही होगा" कहकर दानवों के शत्रु इन्द्र योगियों के ईश्वर के पास गये और वहां जाकर गरुड़ जी के साथ जो बातचीत हुई थी वह सब कह सुनाई। गरुड़ ने जो कहा था उसका अनुमोदन नारायण ने भी किया। फिर इन्द्र भगवान् से बोला कि, गरुड़ के रक्खे हुए अमृत को मैं हर कर ले जाऊंगा। तिसके उपरान्त वह गरुड़ शीघ्र अपनी माता के पास पहुंचा। उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक सर्पों से कहा कि, हे सर्पो! यह अमृत मैं तुम्हारे कहने से ले आया हूं और यह कुशा पर रक्खा है। तुम सब स्नान और मंगल करके इसको ग्रहण करना। और आज के दिन से मेरी माता दासीपने से रहित होवे ॥१२।१०॥

"ऐसा ही होगा" गरुड़ से कहकर सब सर्प स्नान करने को गये। और इन्द्र भी अमृत का कलश लेकर स्वर्ग को चला गया। इसके उपरान्त

अथागतास्तमुद्देशं सर्पाः सोमार्थिनस्तदा ।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च प्रहृष्टाः कृतमङ्गलाः ॥ २१ ॥
यत्रैतदमृतं चापि स्थापितं कुशसंस्तरे ।
तद्विज्ञाय हृतं सर्पाः प्रतिमायाकृतं च तत् ॥ २२ ॥
सोमस्थानमिदं चेति दर्भांस्ते लिलिहुस्तदा ।
ततो द्विधाकृता जिह्वाः सर्पाणां तेन कर्मणा ॥ २३ ॥
अभवंश्चामृतस्पर्शाद्दर्भास्तेऽथ पवित्रिणः ।
एवं तदमृतं तेन हृतमाहृतमेव च ।
द्विजिह्वाश्च कृताः सर्पा गरुडेन महात्मना ॥ २४ ॥
ततः सुपर्णः परमप्रहर्षवान्विहृत्य मात्रा सह तत्र कानने ।
भुजङ्गभक्षः परमार्चितः खगैरहीनकीर्तिर्विनतामनन्दयत् ॥ २५ ॥
इमां कथां यः शृणुयान्नरः सदा पठेत वा द्विजगणमुख्यसंसदि ।
असंशयं त्रिदिवमियात्स पुण्यभाङ्महात्मनः पतगपतेः प्रकीर्तनात् ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अस्तीकपर्वणि सौपर्णे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

सर्प स्नान, जप, मंगल किये हुए प्रसन्नचित्त अमृत पीने को उस स्थान पर आये जहां कुशों पर वह अमृत रक्खा गया था। सर्पों ने उसे वहां न देखकर, और यह जानकर कि, इन्द्र हर ले गया है और यह हमारे छल का बदला है उन कुशाओं को जिनपर अमृत रक्खा था चाटने लगे। उसके चाटने से और कुशा के लगने से उनकी जिह्वा कट गई, और दो फांकें हो गई ॥२०।२३॥

वह कुशा अमृत के स्पर्श से पवित्र हो गई। इस प्रकार गरुड़ स्वर्ग से अमृत सर्पों के समीप लाया और उनकी दो जिह्वा हो गईं। सर्पों का भक्षण करने वाला, पक्षियों से पूजा किया हुआ, बड़ी कीर्ति वाला वह गरुड़ अपनी माता विनता के साथ उसी वन में सुख से रहने लगा। जो मनुष्य इस कथा को सुनता वा पढ़ता है अथवा ब्राह्मणों के मध्य में कहता है वह महात्मा गरुड़ के चरित्र का कीर्तन करने से पुण्यभागी होता है। और निःसंदेह स्वर्गलोक को जावेगा ॥२४।२६॥

आदिपर्व का चौतीसवां अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

शौनक उवाच—भुजङ्गमानां शापस्य मात्रा चैव सुतेन च ।
विनतायास्त्वया प्रोक्तं कारणं सूतनन्दन ॥ १ ॥

वरप्रदानं भर्त्रा च कद्रूविनतयोस्तथा ।
नामनी चैव ते प्रोक्ते पक्षिणोर्वैनतेययोः ॥ २ ॥
पन्नगानां तु नामानि न कीर्तयसि सूतज ।
प्राधान्येनापि नामानि श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच—बहुत्वान्नामधेयानि पन्नगानां तपोधन ।
न कीर्तयिष्ये सर्वेषां प्राधान्येन तु मे शृणु ॥ ४ ॥
शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम् ।
ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटकधनंजयौ ॥ ५ ॥
कालियो मणिनागश्च नागश्चापूरणस्तथा ।
नागस्तथा पिञ्जरक एलापत्रोऽथ वामनः ॥ ६ ॥
नीलानीलौ तथा नागौ कल्माषशबलौ तथा ।
आर्यकश्चोग्रकश्चैव नागः कलशपोतकः ॥ ७ ॥
सुमनाख्यो दधिमुखस्तथा विमलपिण्डकः ।
आप्तः कर्कोटकश्चैव शङ्खो वालिशिखस्तथा ॥ ८ ॥
निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा ।
बाह्यकर्णो हस्तिपदस्तथा मुद्गरपिण्डकः ॥ ९ ॥
कम्बलाश्वतरौ चापि नागः कालीयकस्तथा ।
वृत्तसंवर्तकौ नागौ द्वौ च पद्माविति श्रुतौ ॥ १० ॥

अथ पैंतीसवां अध्याय ॥ ३५ ॥

शौनक ऋषि बोले हे सूत पुत्र! माता से सर्पों को शाप होने का कारण और विनता को अरुण से शाप का कारण आपने कह दिया। कश्यप से कद्रू और विनता के वर पाने का वृत्तान्त भी आपने सुनाया। अरुण और गरुड़ का नाम भी हमको मालूम हो गया। किन्तु हे सूत पुत्र! सब सर्पों के नामों को आप नहीं कहते तो हम प्रधान प्रधान नामों को सुनने की अभिलाषा करते हैं। उग्रश्रवा बोले हे तपोधन! सर्पों के बहुत होने से सब नाम नहीं कह सकता हूं। जो मुख्य और प्रधान प्रधान हैं उनके नाम कहता हूं तुम सुनो। सब से पहले शेष जी उत्पन्न हुए उसके पीछे वासुकि, ऐरावत, करकोटक, धनञ्जय, कालिय, मणि, आप्त, शङ्ख, वालिशिख, निष्टानक, हेमगुह, नहुष, पिंगल, बाह्यकर्ण, हस्तिपद, मुद्गरपिण्डक, अपूर्ण, पिञ्जरक, एलापत्र, वामन, नील, अनील, कल्माष, शबल, आर्य, उग्र, कलशपोत, सुमना, दधिमुख, विमल पिण्ड, कम्बल, अश्वतर, कालीयक, वृत्त, संवर्तक,

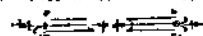
नागः शङ्खमुखश्चैव तथा कूश्माण्डकोऽपरः ।
क्षेमकश्च तथा नागो नागः पिण्डारकस्तथा ॥ ११ ॥
करवीरः पुष्पदंष्ट्रो विल्वको विल्वपाण्डुरः ।
मूषकादः शङ्खशिराः पूर्णभद्रो हरिद्रकः ॥ १२ ॥
अपराजितो ज्योतिकश्च पन्नगः श्रीवहस्तथा ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च शङ्खपिण्डश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
विरजाश्च सुवाहुश्च शालिपिण्डश्च वीर्यवान् ।
हास्तिपिण्डः पिठरकः सुमुखः कौणपाशनः ॥ १४ ॥
कुठरः कुञ्जरश्चैव तथा नागः प्रभाकरः ।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च तित्तिरिर्हलिकस्तथा ॥ १५ ॥
कर्दमश्च महानागो नागश्च बहुमूलकः ।
कर्कराकर्करौ नागौ कुण्डोदरमहोदरौ ॥ १६ ॥
एते प्राधान्यतो नागाः कीर्तिता द्विजसत्तम ।
बहुत्वान्नामधेयानामितरे नानुकीर्तिताः ॥ १७ ॥
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः ।
असंख्येयेति मत्वा तान्न ब्रवीमि तपोधन ॥ १८ ॥
बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अशक्यान्येव संख्यातुं पन्नगानां तपोधन ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पनामकथने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

पद्म, महापद्म, शङ्खमुख, कूष्माण्डक, क्षेमक, पिण्डारक करवीर, पुष्पदंष्ट्र, विल्वक, विल्वपाण्डुर, मूषकाद, शंखशिरा, पूर्णभद्र, हरिद्रक, अपराजित, ज्योतिक श्रीवह, कौरव्य, धृतराष्ट्र, शङ्खपिण्ड, विरजा, सुवाहु, शालिपिण्ड, हस्तिपिण्ड, पिठरक, सुमुख, कौणपाशन, कुठर, कुञ्जर, प्रभाकर, कुमुद, कुमुदाक्ष, तित्तिरि, हलिक, कर्दम, बहमूलक, कर्कर, अकर्कर, कुण्डोदर, महोदर आदि नाग क्रम से उत्पन्न हुए। यह मुख्य मुख्य नाग मैंने तुमसे कह दिये। बहुत होने के कारण और नाम नहीं कह सकता। इन की सन्तान और सन्तान की सन्तान को असंख्य समझकर वह मैं नहीं कह सकता। हे तपोधन ! इस संसार में अगणित सर्प हैं ॥१।१९॥

—०—

आदिपर्व का पैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥



अथ षट्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३६ ॥

शौनक उवाच—आख्याता भुजगास्तात वीर्यवन्तो दुरासदाः ।
शापं तं तेऽभिविज्ञाय कृतवन्तः किमुत्तरम् ॥ १ ॥
सौतिरुवाच—तेषां तु भगवाञ्छेषः कद्रूं त्यक्त्वा महायशाः ।
उग्रं तपः समातस्थे वायुभक्षो यतव्रतः ॥ २ ॥
गंधमादनमासाद्य बदर्यां च तपोरतः ।
गोकर्णे पुष्करारण्ये तथा हिमवतस्तटे ॥ ३ ॥
तेषु तेषु च पुण्येषु तीर्थेष्वायतनेषु च ।
एकान्तशीलो नियतः सततं विजितेन्द्रियः ॥ ४ ॥
तप्यमानं तपो घोरं तं ददर्श पितामहः ।
संशुष्कमांसत्वक्स्नायुं जटाचीरधरं मुनिम् ॥ ५ ॥
तमब्रवीत्सत्यधृतिं तप्यमानं पितामहः ।
किमिदं कुरुषे शेष प्रजानां स्वस्ति वै कुरु ॥ ६ ॥
त्वं हि तीव्रेण तपसा प्रजास्तापयसेऽनघ ।
ब्रूहि कामं च मे शेष यस्ते हृदि व्यवस्थितः ॥ ७ ॥
शेष उवाच—सोदर्या मम सर्वे हि भ्रातरो मन्दचेतसः ।
सह तैर्नोत्सहे वस्तुं तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ८ ॥

॥ छत्तीसवा अध्याय ३६ ॥

शौनक बोले हे सूत पुत्र ! बड़े पराक्रमयुक्त सर्पों के नाम तो तुमने कहे । सर्पों ने अपनी माता कद्रू के दिये हुए शाप को जानकर फिर क्या किया ? उग्रश्रवा बोले उन सर्पों मे बड़े यश वाला शेष अपनी माता कद्रू को त्यागकर वायु भक्षण कर नियम पूर्वक व्रतों को करने लगा । प्रथम शेष जी ने गंधमादन पर्वत पर तप किया फिर बदरि आश्रम में किया । उपरान्त गोकर्ण और पुष्करण्य में और हिमालय के तट में और पुण्यतीर्थों, प्रसिद्ध स्थानों, और एकान्त में रहता हुआ नियम पूर्वक जितेंद्रिय होकर घोर तप करते हुए, और सूखे मांस और गर्दन वाला, जटा और भोज पत्रादि को पहिरे हुए मुनि रूप मे शेष नाग को ब्रह्मा ने देखा ॥१।५॥

पितामह ब्रह्मा ने सत्य धैर्ययुक्त तप में बैठे हुए शेष से कहा कि, तुम क्या कर रहे हो ! तुम्हारी इस कठोर तपस्या से सब प्रजा तप रही है । ऐसा करो जिसमें संसार का कल्याण हो । हे शेष ! जो तुम्हारी इच्छा हो सो हम से मांगो । यह सुनकर शेष जी बोले–हे पितामह ! मेरे सब

अभ्यसूयन्ति सततं परस्परममित्रवत् ।
ततोऽहं तप आतिष्ठे नैतान्पश्येयमित्युत ॥ ९ ॥
न मर्षयन्ति ससुतां सततं विनतां च ते ।
अस्माकं चापरो भ्राता वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ॥ १० ॥
तं च द्विषन्ति सततं स चापि बलवत्तरः ।
वरप्रदानात्स पितुः कश्यपस्य महात्मनः ॥ ११ ॥
सोऽहं तपः समास्थाय मोक्ष्यामीदं कलेवरम् ।
कथं मे प्रेत्यभावेऽपि न तैः स्यात्सह संगमः ॥ १२ ॥
तमेवं वादिनं शेषं पितामह उवाच ह ।
जानामि शेष सर्वेषां भ्रातॄणां ते विचेष्टितम् ॥ १३ ॥
मातुश्चाप्यपराधाद्वै भ्रातॄणां ते महद्भयम् ।
कृतोऽत्र परिहारश्च पूर्वमेव भुजङ्गम ॥ १४ ॥
भ्रातॄणां तव सर्वेषां न शोकं कर्तुमर्हसि ।
वृणीष्व च वरं मत्तः शेष यत्तेऽभिकाङ्क्षितम् ॥ १५ ॥
दास्यामि हि वरं तेऽद्य प्रीतिर्मे परमा त्वयि ।
दिष्ट्या बुद्धिश्च ते धर्मे निविष्टा पन्नगोत्तम ।
भूयो भूयश्च ते बुद्धिर्धर्मे भवतु सुस्थिरा ॥ १६ ॥
शेष उवाच—एष एव वरो देव काङ्क्षितो मे पितामह ।

भाई मन्दबुद्धि हैं। आपस में परस्पर द्वेष और ईर्षा रखते हैं। विनता माता से भी वह शत्रुता रखते हैं। और हमारा आकाश में चलने वाला भाई बड़ा बलवान गरुड़ है उसे भी नहीं देख सकते। इस कारण से मैं चाहता हूं कि, उनके दर्शन भी न करूं। यह समझकर तपस्या में बैठ गया हूं। यह मेरी इच्छा है कि, इस शरीर को छोड़ने पर मेरा उनसे किसी तरह समागम न हो ॥८।१२॥

यह सुनकर ब्रह्मा जी बोले कि, मैं तेरे भाइयों की कुरीति को जानता हूं। और तेरी माता के शाप से तेरे भाइयों को बड़ा भय प्राप्त हुआ है, इस विषय में मैंने पहले ही उपाय कर दिया है। इन सब भाइयों के लिये तुम शोक न करो जो कुछ अब तुम्हारी इच्छा हो सो वर मांगो। मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूं और तुम्हारी इच्छानुसार वर दूंगा। हे सर्पों में श्रेष्ठ! मुझको अति प्रसन्नता है कि, तुम्हारी बुद्धि धर्म कार्य में लगी हुई है और बारम्बार तुम्हारी बुद्धि धर्म में स्थिर हो। शेष बोला-हे

धर्मे मे रमतां बुद्धिः शमे तपसि चेश्वर ॥ १७ ॥

ब्रह्मोवाच—प्रीतोऽस्म्यनेन ते शेष दमेन च शमेन च ।
त्वया त्विदं वचः कार्यं मन्नियोगात्प्रजाहितम् ॥ १८ ॥
इमां महीं शैलवनोपपन्नां ससागरग्रामविहारपत्तनाम् ।
त्वं शेष सम्यक्चलितां यथावत्संगृह्य तिष्ठस्व यथाऽचलास्यात् ॥ १९ ॥

शेष उवाच—यथाह देवो वरदः प्रजापतिर्महीपतिर्भूतपतिर्जगत्पतिः ।
तथा महीं धारयिताऽस्मि निश्चलां प्रयच्छतां मे शिरसि प्रजापते ॥२०॥

ब्रह्मोवाच—अधो महीं गच्छ भुजङ्गमोत्तम स्वयं तवैषा विवरं प्रदास्यति ।
इमां धरां धारयता त्वया हि मे महत्प्रियं शेष कृतं भविष्यति ॥२१॥

सौतिरुवाच—तथैव कृत्वा विवरं प्रविश्य स प्रभुर्भुवो भुजगवराग्रज स्थितः ।
बिभर्ति देवीं शिरसा महीमिमां समुद्रनेमिं परिगृह्य सर्वतः ॥२२॥

ब्रह्मोवाच—शेषोसि नागोत्तम धर्मदेवो महीमिमां धारयसे यदेकः ।
अनन्तभोगैः परिगृह्य सर्वां यथा हमेवं वलभिद्यथा वा ॥२३॥

सौतिरुवाच—अधोभूमौ वसत्येवं नागोऽनन्तः प्रतापवान् ।
धारयन्वसुधामेकः शासनाद्ब्रह्मणो विदुः ॥ २४ ॥

देव ब्रह्मा ! यह मुझको प्रिय वरदान है कि, मेरी बुद्धि सदा इसी तरह धर्म से शांति और तपस्या में लगी रहे। ब्रह्मा बोले हे शेष ! तुम्हारे शांत स्वभाव से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूं। मै तुमको प्रजा के हित के लिये एक कार्य करने की आज्ञा देता हूं। तुम पहाड़, वन, समुद्र, ग्राम, नगर विहार स्थान सहित इस चचल पृथ्वी को यथार्थ रीति से ग्रहण करो जिससे यह चलायमान न हो। शेष नाग बोला-जिस प्रकार वरों का देने वाला, प्रजा, पृथ्वी, जगत, प्राणि और सबका पति देव ब्रह्मा कहता है उसी प्रकार निश्चल पृथ्वी को मैं धारण करूगा। हे प्रजापति ! आप पृथ्वी को मेरे शिर के ऊपर रखदो ॥१७।२०॥

ब्रह्मा बोले हे सर्पों में श्रेष्ठ शेष ! तुम पृथ्वी के अधो भाग में चले जाओ वह तुमको मार्ग दे देगी। इस पृथ्वी को धारण करके तुम मेरा बहुत ही प्रिय कार्य करोगे। उग्रश्रवा बोले-तब शेष नाग बिल की राह से पृथ्वी के नीचे पहुचे और पृथ्वी को समुद्र आदि सहित अपने शिर पर धारण कर लिया। ब्रह्मा बोले हे नरोत्तम ! तुम शेष और धर्म के जानने वाले हो क्योंकि अकेले अपने अनन्त फनों से इस पृथ्वी को उठाकर इस प्रकार धारण करते हो जैसे मैं और इन्द्र। पाताल लोक में रहता हुआ प्रतापवान् अनन्तनाग अकेला ब्रह्मा की आज्ञा से पृथ्वी को धारण करके रहता है ऐसा सब जानते हैं। भगवान् ब्रह्मा ने अनन्त की

सुपर्णं च सहायं वै भगवानमरोत्तमः ।
प्रादादनन्ताय तदा वैनतेयं पितामहः ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि शेषवृत्तकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

सहायता के लिये पक्षी गरुड़ को दिया ॥२१।२५॥

—०—

आदिपर्व का छतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

सौतिरुवाच—मातुः सकाशात्तं शापं श्रुत्वा वै पन्नगोत्तमः ।
वासुकिश्चिन्तयामास शापोऽयं न भवेत्कथम् ॥ १ ॥
ततः स मन्त्रयामास भ्रातृभिः सह सर्वशः ।
ऐरावतप्रभृतिभिः सर्वधर्मपरायणैः ॥ २ ॥
वासुकिरुवाच—अयं शापो यथोद्दिष्टो विदितं वस्तथाऽनघाः ।
तस्य शापस्य मोक्षार्थं मन्त्रयित्वा यतामहे ॥ ३ ॥
सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते ।
न तु मात्राभिशप्तानां मोक्षः क्वचन विद्यते ॥ ४ ॥
अव्ययस्याऽप्रमेयस्य सत्यस्य च तथाऽग्रतः ।
शप्ता इत्येव मे श्रुत्वा जायते हृदि वेपथुः ॥ ५ ॥
नूनं सर्वविनाशोऽयमस्माकं समुपागतः ।
न ह्येतां सोऽव्ययो देवः शपन्तीं प्रत्यषेधयत् ॥ ६ ॥
तस्मात्संमन्त्रयामोऽद्य भुजङ्गानामनामयम् ।
यथा भवेद्धि सर्वेषां मा नः कालोऽत्यगादयम् ।

॥ सैंतीसवां अध्याय ३७ ॥

उग्रश्रवा बोले-हे ऋषियो ! वासुकि नाग ने अपनी माता का शाप सुनकर ऐरावत आदि सब भाइयों को एकत्रित करके कहा कि, कोई ऐसा उपाय सोचो जिससे यह शाप हमको बाधा न करे। सब शापों के दूर करने को तो बहुत से यत्न हैं परन्तु माता का शाप किसी तरह दूर नहीं हो सकता। माता ने यह शाप हमको जरामरण रहित, अनन्त महिमा वाले, लोकों के स्वामि ब्रह्मा जी के सन्मुख दिया है। और ब्रह्मा जी ने भी माता को ऐसा शाप देने से रोका नहीं है। इससे हम निश्चय जानते हैं कि, यह शाप हम सब का नाश करेगा ॥१।६॥

सर्व एव हि नस्तावद्बुद्धिमन्तो विचक्षणाः ॥ ७ ॥
अपि मन्त्रयमाणा हि हेतुं पश्याम मोक्षणे ।
यथा नष्टं पुरा देवा गूढमग्निं गुहागतम् ॥ ८ ॥
तथा स यज्ञो न भवेद्यथा वाऽपि पराभवः ।
जनमेजयस्य सर्पाणां विनाशकरणाय वै ॥ ९ ॥
सौतिरुवाच—तथेत्युक्त्वा ततः सर्वे काद्रवेयाः समागताः ।
समयं चक्रिरे तत्र मन्त्रबुद्धिविशारदाः ॥ १० ॥
एके तत्राऽब्रुवन्नागा वयं भूत्वा द्विजर्षभाः ।
जनमेजयं तु भिक्षामो यज्ञस्ते न भवेदिति ॥ ११ ॥
अपरे त्वब्रुवन्नागास्तत्र पण्डितमानिनः ।
मन्त्रिणोऽस्य वयं सर्वे भविष्यामः सुसंमताः ॥ १२ ॥
स नः प्रक्ष्यति सर्वेषु कार्येष्वर्थविनिश्चयम् ।
तत्र बुद्धिं प्रदास्यामो यथा यज्ञो निवर्त्स्यति ॥ १३ ॥
स नो बहुमतान्राजा बुद्ध्या बुद्धिमतां वरः ।
यज्ञार्थं प्रक्ष्यति व्यक्तं नेति वक्ष्यामहे वयम् ॥ १४ ॥
दर्शयन्तो बहून्दोषान्प्रेत्य चेह च दारुणान् ।
हेतुभिः कारणैश्चैव यथा यज्ञो भवेन्न सः ॥ १५ ॥

इस कारण हम सब विलम्ब न करके, ऐसा उपाय सोचें जिससे सब नागों का भला हो। हम सब बुद्धिमान् और चतुर हैं, परस्पर विचार करने पर कोई न कोई भलाई का उपाय अवश्य निकल आवेगा। जैसे पूर्व समय में अग्नि के लिये देवताओं ने विचार किया था और वे सफलता को प्राप्त हुए थे। इसी प्रकार आओ. हम भी कोई ऐसा उपाय सोचें, जिससे राजा जनमेजय का सर्प यज्ञ न हो, यदि हो भी तो सफल न हो ॥७।९॥

उग्रश्रवा बोले—वासुकि के ऐसा कहने पर सब बुद्धिमान् नाग शाप से अपने उद्धार का उपाय सोचने लगे। उनमें से कुछ एक नागों ने कहा कि, हम ब्राह्मण बनकर राजा जनमेजय के पास जावेंगे और उनसे सर्प यज्ञ न करने की याचना करेंगे। दूसरे अपने को अति बुद्धिमान् समझने वाले नागों ने कहा कि, हम राजा के मंत्री बनकर उसको ऐसी सलाह देवेंगे जिससे वह यज्ञ न करे ॥१०।१३॥

वह श्रेष्ठ राजा हमसे यज्ञ के लिये जब पूछेगा तब हम स्पष्ट स्पष्ट कह देवेंगे कि, यह यज्ञ न होना

अथवा य उपाध्यायः क्रतोस्तस्य भविष्यति ।
सर्पसत्रविधानज्ञो राजकार्यहिते रतः ॥ १६ ॥
तं गत्वा दशतां कश्चिद्भुजङ्गः स मरिष्यति ।
तस्मिन्मृते यज्ञकारे क्रतुः स न भविष्यति ॥ १७ ॥
ये चान्ये सर्पसत्रज्ञा भविष्यन्त्यस्य चर्त्विजः ।
तांश्च सर्वान्दशिष्यामः कृतमेवं भविष्यति ॥ १८ ॥
अपरे त्वब्रुवन्नागा धर्मात्मानो दयालवः ।
अबुद्धिरेषा भवतां ब्रह्महत्या न शोभनम् ॥ १९ ॥
सम्यक्सद्धर्ममूला वै व्यसने शान्तिरुत्तमा ।
अधर्मोत्तरता नामकृत्स्नं व्यापादयेज्जगत् ॥ २० ॥
अपरे त्वब्रुवन्नागाः समिद्धं जातवेदसम् ।
वर्षैर्निर्वापयिष्यामो मेघा भूत्वा सविद्युतः ॥ २१ ॥
स्रुग्भाण्डं निशि गत्वा च अपरे भुजगोत्तमाः ।
प्रमत्तानां हरन्त्वाशु विघ्न एवं भविष्यति ॥ २२ ॥
यज्ञे वा भुजगास्तस्मिञ्छतशोऽथ सहस्रशः ।
जनान्दशन्तु वै सर्वे नैवं त्रासो भविष्यति ॥ २३ ॥

चाहिये । इस लोक और परलोक में यज्ञ के बहुत से दोषों को दिखाते हुए जिससे वह यज्ञ न हो वही उपाय करेंगे ॥१४।१५॥

इस सर्पयज्ञ का जानने वाला जो श्रेष्ठ उपाध्याय यज्ञ कराने के लिये आवे उसे कोई साँप जाकर काट खाये । वह मर जावेगा । इसके पश्चात् जो-जो सर्पयज्ञ के जानने वाले ब्राह्मण यज्ञ कराने के लिये उपस्थित होंगे उन्हें हम सब इसी तरह काट खायेंगे । यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों के मरने पर वह यज्ञ न होगा । उनमें जो सर्प धर्मात्मा और दयालु थे वे बोले—तुम्हारा यह कहना युक्तिपूर्वक नहीं है । ब्राह्मणों की हत्या करनी तुमको उचित नहीं है । आपत्ति काल में ऐसा कार्य करना चाहिये जिस का फल धर्म हो अधर्म न हो । अधर्म सम्पूर्ण जगत् का नाश करता है । दूसरे सर्प बोले—हम बिजली और बादल बनकर ऐसी वर्षा करें कि, यज्ञ की जलती हुई अग्नि शान्त हो जावे ॥१६।२१॥

दूसरे सर्पों में उत्तम सर्प बोले—रात्रि में कुछ सर्प जाकर स्रुवादि यज्ञ के पात्रों को ब्राह्मणों के सोने पर उठा लावें जिससे यज्ञ में विघ्न हो । और सैकड़ों हजारों सर्प यज्ञ में आये हुए मनुष्यों को काटें ऐसा करने पर यज्ञ न होगा क्योंकि उनको त्रास हो जावेगा । या सर्पयज्ञ में शुद्ध किये अन्न

अथवा संस्कृतं भोज्यं दूषयन्तु भुजङ्गमाः ।
स्वेन मूत्रपुरीषेण सर्वभोज्यविनाशिना ॥ २४ ॥
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र ऋत्विजोऽस्य भवामहे ।
यज्ञविघ्नं करिष्यामो दीयतां दक्षिणा इति ॥ २५ ॥
वश्यतां च गतोऽसौ नः करिष्यति यथेप्सितम् ।
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र जले प्रक्रीडितं नृपम् ॥ २६ ॥
गृहमानीय बध्नीमः क्रतुरेवं भवेन्न सः ।
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र नागाः पण्डितमानिनः ॥ २७ ॥
दशामस्तं प्रगृह्याशु कृतमेव भविष्यति ।
छिन्नं मूलमनर्थानां मृते तस्मिन्भविष्यति ॥ २८ ॥
एषा नो नैष्ठिकी बुद्धिः सर्वेषामीक्षणश्रवः ।
अथ यन्मन्यसे राजन्द्रुतं तत्संविधीयताम् ॥ २९ ॥
इत्युक्त्वा समुदैक्षन्त वासुकिं पन्नगोत्तमम् ।
वासुकिश्चापि संचिन्त्य तानुवाच भुजङ्गमान् ॥ ३० ॥
नैषा वो नैष्ठिकी बुद्धिर्मता कर्तुं भुजङ्गमाः ।
सर्वेषामेव मे बुद्धिः पन्नगानां न रोचते ॥ ३१ ॥
किं तत्र संविधातव्यं भवतां स्याद्धितं तु यत् ।
श्रेयः प्रसादनं मन्ये कश्यपस्य महात्मनः ॥ ३२ ॥

और सब भोज्य पदार्थों को अपने मल-मूत्र से खराब करो। इससे भी यज्ञ में विघ्न हो जावेगा। और सर्पों ने कहा राजा के यहां ऋत्विज् बनकर चलेंगे और यज्ञ को उल्टा करके उससे दक्षिणा मांगेंगे। और हमारे वश में होकर राजा जैसा हम चाहेंगे वैसा करेगा। यह सुनकर और नागों ने कहा-जब राजा जल में स्नान करने जावेगा उस समय उसको पकड़कर अपने लोक में बांधकर ले आवेंगे। जो अपने को पण्डित मानते थे वे सर्प बोले हम राजा को पकड़कर शीघ्र काट खावेंगे उसके मरने पर यह सब अनर्थ मिट जावेगा। अन्त में सब नाग वासुकि से बोले-अब आगे आप का जो कुछ विचार हो सो किया जावे ॥२०।२९॥

ऐसा कह सब वासुकि की ओर देखने लगे और उसने भी विचार कर उन सर्पों से कहा-हे सर्पो! यह तुम्हारी बुद्धि उत्तम नहीं है और मुझ को अच्छी नहीं प्रतीत होती। इस विषय में ऐसा

ज्ञातिवर्गस्य सौहार्दादात्मनश्च भुजङ्गमाः ।
न च जानाति मे बुद्धिः किंचित्कर्तुं वचो हि वः ॥ ३३ ॥
मया हीदं विधातव्यं भवतां यद्धितं भवेत् ।
अनेनाहं भृशं तप्ये गुणदोषौ मदाश्रयौ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुक्यादिमन्त्रणे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

उपाय करना चाहिये जिससे तुम्हारा सबका हित हो और महात्मा कश्यप को प्रसन्न करके पूछना योग्य है, इसी को मैं श्रेष्ठ समझता हूँ। अपनी *जाति की और अपनी भलाई के हित में ही मैं* तुम्हारे बनाये उपायों में से कोई भी उपाय करना नहीं चाहता, और मैं तुम्हारा हितकारी कार्य करना चाहता हूँ। इससे मैं अत्यन्त दुःखी हूँ क्योंकि बड़ा होने के कारण भलाई और बुराई मेरे *सिर पर है ॥३०।३४॥*

—०—

आदिपर्व का सैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

सौतिरुवाच—सर्पाणां तु वचः श्रुत्वा सर्वेषामिति चेति च ।
वासुकेश्च वचः श्रुत्वा एलापत्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥
न स यज्ञो न भविता न स राजा तथाविधः ।
जनमेजयः पाण्डवेयो यतोऽस्माकं महद्भयम् ॥ २ ॥
दैवेनोपहतो राजन्यो भवेदिह पूरुषः ।
स दैवमेवाश्रयते नान्यत्तत्र परायणम् ॥ ३ ॥
तदिदं दैवमस्माकं भयं पन्नगसत्तमाः ।
दैवमेवाश्रयामोऽत्र शृणुध्वं च वचो मम ॥ ४ ॥
अहं शापे समुत्सृष्टे समश्रौषं वचस्तदा ।
मातुरुत्सङ्गमारूढो भयात्पन्नगसत्तमाः ॥ ५ ॥

॥ अड़तीसवाँ अध्याय ३८ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो! एलापत्र ने सब सर्पों की और वासुकि नाग की सलाह सुनकर कहा—हे नागराज! यह सर्पयज्ञ अवश्य होगा। आप का परिश्रम करना व्यर्थ है। पाण्डवों की सन्तान वैसे नहीं है जिसको हम दुःख दे सकें। दैवहत प्राणी को चाहिये कि, दैव ही का आश्रय लेकर दूसरा यत्न करने से कुछ नहीं हो सकता। हम लोग सब दैवहत हैं। इससे हमको भी दैव का ही आश्रय लेना चाहिये। सुनो, जिस समय माता ने शाप दिया था उस समय मैं माता की

देवानां पन्नगश्रेष्ठास्तीक्ष्णास्तीक्ष्णा इति प्रभो ।
पितामहमुपागम्य दुःखार्त्तानां महाद्युते ॥ ६ ॥
देवा ऊचु—का हि लब्ध्वा प्रियान्पुत्राञ्छपेदेवं पितामह ।
ऋते कद्रूं तीक्ष्णरूपां देव देव तवाग्रतः ॥ ७ ॥
तथेति च वचस्तस्यास्त्वयाऽप्युक्तं पितामह ।
एतदिच्छाम विज्ञातुं कारणं यन्न वारिता ॥ ८ ॥
ब्रह्मोवाच—बहवः पन्नगास्तीक्ष्णा घोररूपा विषोल्बणाः ।
प्रजानां हितकामोऽहं न च वारितवांस्तदा ॥ ९ ॥
ये दन्दशूकाः क्षुद्राश्च पापाचारा विषोल्बणाः ।
तेषां विनाशो भविता न तु ये धर्मचारिणः ॥ १० ॥
यन्निमित्तं च भविता मोक्षस्तेषां महाभयात् ।
पन्नगानां निबोधध्वं तस्मिन्काले समागते ॥ ११ ॥
यायावरकुले धीमान्भविष्यति महानृषिः ।
जरत्कारुरिति ख्यातस्तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥ १२ ॥
तस्य पुत्रो जरत्कारोर्भविष्यति तपोधनः ।
आस्तीको नाम यज्ञं स प्रतिपेत्स्यति तं तदा ।
तत्र मोक्ष्यन्ति भुजगा ये भविष्यन्ति धार्मिकाः ॥ १३ ॥
देवा ऊचु—स मुनिप्रवरो ब्रह्मञ्जरत्कारुर्महातपाः ।

गोद में था । उसके शाप को सुनकर सब देवता माता को यह नाम धरते कि, कद्रू बड़ी तीक्ष्ण है ब्रह्मा जी के पास गये और कहा महाराज कद्रू के सिवाय इस संसार में ऐसा कौन कठोर होगा जो अपने प्यारे पुत्रों को ऐसा शाप देगा परन्तु आपने भी पास होने पर उसको ऐसा शाप देने से निषेध नहीं किया और यह कहा कि, ऐसा ही होगा । यह बड़े आश्चर्य की बात है इसका क्या कारण है ? ॥१।८॥

ब्रह्मा बोले बहुत से सर्प तीक्ष्ण भयानक और विष से भरे हुए हैं इस कारण से मैंने प्रजा के हित के लिये, शाप देती हुई कद्रू को निषेध नहीं किया । जो सर्प नीच, पापी और विष से भरे हुए हैं उनका नाश इस शाप से होगा और जो धर्मात्मा हैं उनका नाश न होगा । जिससे उन सर्पों का भय से मोक्ष होगा उसको सुनो । ययावरों के कुल में बुद्धिमान प्रसिद्ध तपस्वी, जितेन्द्रिय जरत्कारु उत्पन्न होगा । उसका पुत्र तपस्वी आस्तीक नाम

कस्यां पुत्रं महात्मानं जनयिष्यति वीर्यवान् ॥ १४ ॥

ब्रह्मोवाच—सनामायां सनामा स कन्यायां द्विजसत्तमः ।
अपत्यं वीर्यसंपन्नं वीर्यवाञ्जनयिष्यति ॥ १५ ॥
वासुकेः सर्पराजस्य जरत्कारुः स्वसा किल ।
स तस्यां भविता पुत्रः शापान्नागांश्च मोक्ष्यति ॥ १६ ॥

एलापत्र उवाच—एवमस्त्विति तं देवाः पितामहमथाब्रुवन् ।
उक्त्वैवं वचनं देवान्विरिञ्चिस्त्रिदिवं ययौ ॥ १७ ॥
सोऽहमेवं प्रपश्यामि वासुके भगिनीं तव ।
जरत्कारुरिति ख्यातां तां तस्मै प्रतिपादय ॥ १८ ॥
भैक्षवद्भिक्षमाणाय नागानां भयशान्तये ।
ऋषये सुव्रतायैनामेष मोक्षः श्रुतो मया ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे अष्टत्रिंशोऽध्याय ॥ ३८ ॥

का होगा। वह उस यज्ञ को रोकेगा। जो धार्मिक सर्प हैं वह इस प्रकार छूट जावेंगे। देवता बोले—हे ब्राह्मण! मुनियों में श्रेष्ठ बड़ा तपस्वी जरत्कारु किस स्त्री से उस आस्तीक पुत्र को उत्पन्न करेगा? ब्रह्मा बोले—वह मुनियों में श्रेष्ठ वह तपोबल जरत्कारु अपने ही नाम वाली स्त्री में तपोबलयुक्त पुत्र को उत्पन्न करेगा ॥१४।१५॥

सर्पों के राजा वासुकि की बहिन जरत्कारु नाम वाली है उसीसे पुत्र को उत्पन्न करेगा। और वह पुत्र शाप से सर्पों को मोक्ष देगा। इसके उपरान्त एलापत्र बोला—सब देवताओं ने 'ऐसा ही हो' ब्रह्मा से कहा। इसके पश्चात् ब्रह्मा अपने लोक को चले गये ॥१६।१७॥

इसलिये मेरी यह सम्मति है कि, तुम सर्पों का भय दूर करने के लिये अपनी जरत्कारु नाम बहिन को भिक्षा मांगते हुए जरत्कारु नाम मुनि ऋषि को देदो। ऐसा करने से नागों का उद्धार हो जावेगा ॥१८।१९॥

आदिपर्व का अड़तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकोनचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ३९ ॥

सौतिरुवाच—एलापत्रवचः श्रुत्वा ते नागा द्विजसत्तम ।
सर्वे प्रहृष्टमनसः साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ १ ॥

॥ उनतालीसवां अध्याय ३९ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो! एलापत्र नाग के यह वचन सुनकर सब सर्प प्रसन्न हुए और बहुत अच्छा, बहुत अच्छा कहने लगे। वासुकि नाग भी प्रसन्न होकर उस जरत्कारु नाम कन्या को

तत: प्रभृति तां कन्यां वासुकिः पर्यरक्षत ।
जरत्कारुं स्वसारं वै परं हर्षमवाप च ॥ २ ॥
ततो नातिमहान्कालः समतीत इवाभवत् ।
अथ देवासुराः सर्वे ममन्थुर्वरुणालयम् ॥ ३ ॥
तत्र नेत्रमभून्नागो वासुकिर्बलिनां वरः ।
समाप्यैव च तत्कर्म पितामहमुपागमन् ॥ ४ ॥
देवा वासुकिना सार्धं पितामहमथाब्रुवन् ।
भगवञ्छापभीतोऽयं वासुकिस्तप्यते भृशम् ॥ ५ ॥
अस्यैतन्मानसं शल्यं समुद्धर्तुं त्वमर्हसि ।
जनन्याः शापजं देव ज्ञातीनां हितमिच्छतः ॥ ६ ॥
हितो ह्ययं सदाऽस्माकं प्रियकारी च नागराट् ।
प्रसादं कुरु देवेश शमयास्य मनोज्वरम् ॥ ७ ॥
ब्रह्मोवाच—मयैव तद्वितीर्णं वै वचनं मनसाऽमराः ।
एलापत्रेण नागेन यदस्याभिहितं पुरा ॥ ८ ॥
तत्करोत्वेष नागेन्द्रः प्राप्तकालं वचः स्वयम् ।
विनाशिष्यन्ति ये पापा न तु ये धर्मचारिणः ॥ ९ ॥
उत्पन्नः स जरत्कारुस्तपस्युग्रे रतो द्विजः ।
तस्यैष भगिनीं काले जरत्कारुं प्रयच्छतु ॥ १० ॥

अपनी रक्षा में रखने लगा। कुछ काल व्यतीत होने पर देवता और दैत्यों ने वासुकि नाग को रस्सी बनाकर समुद्र को मथा। उसके मथने में बलवानों में श्रेष्ठ वासुकि मथने की रस्सी बनाया गया और उस कार्य के समाप्त होने पर सब देवता वासुकि नाग को ब्रह्मा जी के पास ले गये और कहा कि, हे भगवन! यह वासुकि शाप से अत्यन्त तापयुक्त है। हे देव! अपनी जाति के हित चाहने वाले इस वासुकि को माता के शाप से उत्पन्न हुए भय से छुड़ाओ। हे देवताओं के पति! यह वासुकि हमारा सदा हितकारी और प्रियकारी है। आप इसपर प्रसन्न होकर इसके दुःख को शांत करें ॥१।७॥

यह सुनकर ब्रह्मा जी बोले कि, जो एलापत्र नाग ने वासुकि से पहले कहा था वह वाक्य मेरे ही मुख से निकले हुए थे। समय आने पर उसी के अनुसार नगराज वासुकि कार्य करे। वैसा करने पर पापी सर्पों का नाश हो जायेगा और धर्मात्मा

एलापत्रेण यत्प्रोक्तं वचनं भुजगेन ह ।
पन्नगानां हितं देवास्तत्तथा न तदन्यथा ॥ ११ ॥

सौतिरुवाच—एतच्छ्रुत्वा तु नागेन्द्रः पितामहवचस्तदा ।
सन्दिश्य पन्नगान्सर्वान्वासुकिः शापमोहितः ॥ १२ ॥
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ।
सर्पान्बहूञ्जरत्कारौ नित्ययुक्तान्समादधत् ॥ १३ ॥
जरत्कारुर्यदा भार्यामिच्छेद्वरयितुं प्रभुः ।
शीघ्रमेत्य तदाख्येयं तन्नः श्रेयो भविष्यति ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कार्वन्वेषणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

सर्प बच जावेंगे । जरत्कारु नाम ब्राह्मण संसार में उत्पन्न होकर उग्रतप कर रहा है । समय आने पर वासुकि अपनी जरत्कारु बहिन उसको दे देवे । एलापत्र नाग ने जो कुछ कहा है हे देवताओ! वह सर्पों का हितकारी है और वैसा ही होगा ॥८।११॥

उग्रश्रवा बोले वासुकि नाग ब्रह्मा जी की यह बात सुनकर अपने स्थान को आया और सब सर्पों से उक्त वृत्तान्त कहकर बहुत से सर्पों को जरत्कारु ऋषि के खोजने को नियत किया और कहा कि, जब उस ब्राह्मण को विवाह करने की इच्छा होवे तभी हमको खबर देना । इसमें हमारा कल्याण होगा ॥१२।१४॥

—०—

आदिपर्व का उनतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

शौनक उवाच—जरत्कारुरिति ख्यातो यस्त्वया सूतनन्दन ।
इच्छामि तदहं श्रोतुमृषेस्तस्य महात्मनः ॥ १ ॥
किंकारणं जरत्कारोर्नामैतत्प्रथितं भुवि ।
जरत्कारुनिरुक्तिं त्वं यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

सौतिरुवाच—जरेति क्षयमाहुर्वै दारुणं कारुसंज्ञितम् ।
शरीरं कारु तस्यासीत्तत्स धीमाञ्छनैः शनैः ॥ ३ ॥

॥ चालीसवां अध्याय ४० ॥

शौनक ऋषि बोले-हे सूतपुत्र ! जो तुमने जरत्कारु ऋषि का नाम लिया उसको मैं सुनने की इच्छा करता हूं । उसका नाम पृथ्वी में जरत्कारु क्यों पड़ा ? हम सुनना चाहते हैं । उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो ! जरत शब्द का अर्थ शरीर और इन्द्रियों की शक्ति का क्षय होना है और कारु

क्षपयामास तीव्रेण तपसेत्यत उच्यते ।
जरत्कारुरिति ब्रह्मन्वासुकेर्भगिनी तथा ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा शौनकः प्राहसत्तदा ।
उग्रश्रवसमामन्त्र्य उपपन्नमिति ब्रुवन् ॥ ५ ॥
शौनक उवाच—उक्तं नाम यथापूर्वं सर्वं तच्छ्रुतवानहम् ।
यथा तु जातो ह्यास्तीक एतदिच्छामि वेदितुम् ।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सूतः प्रोवाच शास्त्रतः ॥ ६ ॥
सौतिरुवाच—संदिश्य पन्नगान्सर्वान्वासुकिः सुसमाहितः ।
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ॥ ७ ॥
अथ कालस्य महतः स मुनिः संशितव्रतः ।
तपस्यभिरतो धीमान्स दारान्नाभ्यकाङ्क्षत ॥ ८ ॥
स तूर्ध्वरेतास्तपसि प्रसक्तः स्वाध्यायवान्वीत भयः कृतात्मा ।
चचार सर्वां पृथिवीं महात्मा न चापि दारान्मनसाऽप्यकाङ्क्षत ॥ ९ ॥
ततोऽपरस्मिन्संप्राप्ते काले कस्मिंश्चिदेव तु ।
परीक्षिन्नाम राजासीद्ब्रह्मन्कौरववंशजः ॥ १० ॥
यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि ।
बभूव मृगयाशीलः पुराऽस्य प्रपितामहः ॥ ११ ॥

शब्द का अर्थ दारुण है अर्थात् उसका शरीर जो कामबल से दारुण हो रहा था उसको उसने धीरे धीरे तीव्र तपस्या करके दुर्बल कर दिया और वासुकि की बहिन भी ऐसी ही थी । इस प्रकार धर्मात्मा शौनक ने सूत के वचन को सुनकर उससे पुकार कर कहा कि, यह अति योग्य विवाह हुआ । शौनक बोले हे सूतपुत्र ! तुमने जरत्कारु नाम का अर्थ हमसे कहा अब जिस प्रकार आस्तीक ऋषि का जन्म हुआ सो हम सुनना चाहते हैं । यह वचन सुनकर शास्त्रानुसार सूत ने शौनक से कहा । उग्रश्रवा बोले—सब सर्पों से कहकर वासुकि सावधानता के साथ अपनी बहिन को लेकर सर्वदा उस ऋषि के आने की आकाक्षा (इच्छा) करने लगा ॥१।७॥

बहुत समय व्यतीत होने पर भी तपस्या में लगे हुए जरत्कारु ऋषि ने विवाह करने की इच्छा नहीं की । वह अखण्डित ब्रह्मचारी तपस्या में लगा हुआ भय रहित, जितेन्द्रिय, महात्मा सारी पृथ्वी में विचरता था । परन्तु स्त्री की इच्छा कभी नहीं करता था । इसके उपरान्त किसी समय में कौरववंश में परीक्षित नाम राजा उत्पन्न हुआ । वह धनुषधारियों में श्रेष्ठ बड़ी भुजा वाला

मृगान्विध्यन्वराहांश्च तरक्षून्महिषांस्तथा ।
अन्यांश्च विविधान्वन्यांश्चचार पृथिवीपतिः ॥ १२ ॥
स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा बाणेना नतपर्वणा ।
पृष्ठतो धनुरादाय ससार गहने वने ॥ १३ ॥
यथैव भगवान्रुद्रो विद्ध्वा यज्ञमृगं दिवि ।
अन्वगच्छद्धनुष्पाणिः पर्यन्वेष्टुमितस्ततः ॥ १४ ॥
न हि तेन मृगो विद्धो जीवन्गच्छति वै वने ।
पूर्वरूपं तु तत्तूर्णं सोऽगात्स्वर्गगतिं प्रति ॥ १५ ॥
परीक्षितो नरेन्द्रस्य विद्धो यन्नष्टवान्मृगः ।
दूरं चा पहृतस्तेन मृगेण स महीपतिः ॥ १६ ॥
परिश्रान्तः पिपासार्त्त आससाद मुनिं वने ।
गवां प्रचारेष्वासीनं वत्सानां मुखनिःसृतम् ॥ १७ ॥
भूयिष्ठमुपयुञ्जानं फेनमापिबतां पयः ।
तमभिद्रुत्य वेगेन स राजा संशितव्रतम् ॥ १८ ॥
अपृच्छद्धनुरुद्यम्य तं मुनिं क्षुच्छ्रमान्वितः ।
भो भो ब्रह्मन्नहं राजा परीक्षिदभिमन्युजः ॥ १९ ॥

और शिकारी अपने राजा पाण्डु पिता के समान हुआ । पृथ्वी का स्वामी राजा परीक्षित मृग, बाराह तेंदुए और भैंसे और भी अनेक प्रकार के जीवों को मारता हुआ वन में फिरता था ॥८।१२॥

इस राजा ने किसी समय एक मृग को तिरछे अग्रभाग वाले बाण से बेधकर और धनुष को हाथ में लेकर उस मृग के पीछे बड़े वन में भागना प्रारम्भ किया । जैसे भगवान् रुद्र ने यज्ञरूप मृग को बेधनकर और आकाश में धनुष को हाथ में लेकर उस मृग को ढूंढने के लिये इधर-उधर गमन किया था । राजा परीक्षित का बाण खाकर कोई भी मृग जीता नहीं बचता था । वह राजा परीक्षित स्वर्गगति को गया और वह मृग का अदर्शन होना ही राजा को स्वर्गगति का पहिला ही कारण है । उस भागे हुए मृग को देखता देखता वह राजा वन में दूर निकल गया । भूख और प्यास से व्याकुल हुआ थोड़ी दूर पर उसने एक आश्रम देखा उसमें एक बड़े तपस्वी ऋषि जो बछड़ों के दूध पीते में मुख से निकले हुए झागों को चाटकर रहते थे, वास करते थे। राजा भूखा प्यासा जल्दी से उन मुनि के आश्रम में चला गया और कहा-- हे भगवन्' मैं अभिमन्यु का पुत्र राजा परीक्षित हूं। मैंने एक मृग को बाण से बेधा है आपने उसको देखा है ? वह मुनि मौनव्रत में था इस कारण

मया विद्धो मृगो नष्टः कच्चित्तं दृष्टवानसि ।
स मुनिस्तं तु नोवाच किंचिन्मौनव्रते स्थितः ॥ २० ॥
तस्य स्कंधे मृतं सर्पं क्रुद्धो राजा समासजत् ।
समुत्क्षिप्य धनुष्कोट्या स चैनं समुपैक्षत ॥ २१ ॥
न स किंचिदुवाचैनं शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
स राजा क्रोधमुत्सृज्य व्यथितस्तं तथागतम् ॥ २२ ॥
दृष्ट्वा जगाम नगरमृषिस्त्वासीत्तथैव सः ।
न हि तं राजशार्दूलं क्षमाशीलो महामुनिः ॥ २३ ॥
स्वधर्मनिरतं भूपं समाक्षिप्तोऽप्यधर्षयत् ।
न हि तं राजशार्दूलस्तथा धर्मपरायणम् ॥ २४ ॥
जानाति भरतश्रेष्ठस्तत एनमधर्षयत् ।
तरुणस्तस्य पुत्रोऽभूत्तिग्मतेजा महातपाः ॥ २५ ॥
शृङ्गी नाम महाक्रोधो दुष्प्रासादो महाव्रतः ।
स देवं परमासीनं सर्वभूतहिते रतम् ॥ २६ ॥
ब्रह्माणमुपतस्थे वै काले काले सुसंयतः ।
स तेन समनुज्ञातो ब्रह्मणा गृहमेयिवान् ॥ २७ ॥
सख्योक्तः क्रीडमानेन स तत्र हसता किल ।
संरम्भात्कोपनोऽतीव विषकल्पो मुनेः सुतः ॥ २८ ॥

राजा को कुछ उत्तर न दिया ॥१३।२०॥

उस कारण क्रोध में होकर राजा ने उस मुनि के कंधे पर धनुष की नोक से मरे हुए सर्प को डाल दिया और फिर उस मुनि ने उसको देखा। उस ऋषि ने भला या बुरा कुछ भी न कहा, तब राजा उस ऋषि को शांत स्वभाव देखकर मन में दुःखी होकर नगर को चला गया और वह ऋषि वैसे ही बैठा रहा। उस क्षमाशील मुनि ने उस कठोर हृदय वाले राजाओं में श्रेष्ठ राजा परीक्षित को अपराध करने पर भी कुछ न कहा ॥२१।२३॥

उस भारत वंशियों में श्रेष्ठ राजाओं में बड़े राजा परीक्षित ने उस धर्म में तत्पर मुनि को नहीं जाना इस कारण उसका तिरस्कार किया। उस ऋषि का शृंगी नामक पुत्र तरुण और कठोर स्वभाव वाला, बड़ा तपस्वी, बड़ा क्रोधी और कठिनता से प्रसन्न होने वाला था। वह शृंगी ऋषि सब प्राणियों के हित चाहने वाला और ब्रह्मलोक में बैठे हुए ब्रह्मा जी के समीप समय समय पर

उद्दिश्य पितरं तस्य यच्छ्रुत्वा रोषमाहरत् ।
ऋषिपुत्रेण धर्मार्थे कृशेन द्विजसत्तम ॥ २९ ॥
कृश उवाच—तेजस्विनस्तव पिता तथैव च तपस्विनः ।
शवं स्कंधेन वहति मा शृङ्गिन्गर्वितो भव ॥ ३० ॥
व्याहरत्स्वृषिपुत्रेषु मा स्म किंचिद्वचो वद ।
अस्मद्विधेषु सिद्धेषु ब्रह्मवित्सु तपस्विषु ॥ ३१ ॥
क्व ते पुरुषमानित्वं क्व ते वाचस्तथाविधाः ।
दर्पजाः पितरं द्रष्ट्वा यस्त्वं शवधरं तथा ॥ ३२ ॥
पित्रा च तव तत्कर्म नानुरूपमिवात्मनः ।
कृतं मुनिजनश्रेष्ठ येनाहं भृशदुःखितः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि परीक्षिदुपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

स्तुती करने को जाता था। वह शृंगी ऋषि ब्रह्मा जी की आज्ञा पाकर घर को आता था। मार्ग में उसके कृश नाम मित्र ने हँसते खिलते किसी बात पर क्रोध करके ताना देकर कहा—तुम क्या अहंकार करते हो। तुम्हारा पिता कैसा तेजस्वी और तपस्वी है जो मरे हुए सर्प को कन्धे पर धारण किये हुए है ॥२४।२९॥

तुम हमारे से सिद्ध और ब्रह्मज्ञानी ऋषि पुत्रों के मध्य में कुछ मत कहो। तुम्हारा वह पराक्रम और गर्व के वचन कहां गये जो अपने पिता को इस अवस्था में देख रहे हो और मुझको बड़ा दुःख इस बात में हुआ है ॥३०।३३॥

आदिपर्व का चालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

सौतिरुवाच—एवमुक्तः स तेजस्वी शृङ्गी कोपसमन्वितः ।
मृतधारं गुरुं श्रुत्वा पर्यतप्यत मन्युना ॥ १ ॥
स तं कृशमभिप्रेक्ष्य सूनृतां वाचमुत्सृजन् ।
अपृच्छत्तं कथं तातः स मेऽद्य मृतधारकः ॥ २ ॥

॥ इकतालीसवां अध्याय ४१ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो! शृंगी ऋषि कृश से अपने पिता के कंधे पर मरा हुआ सर्प धरे जाने का वृत्तांत सुनकर बड़ा क्रोधित हुआ और पूछने लगा कि, मेरा पिता कैसे है? कृश बोला कि उसके कंधे पर मरा हुआ सर्प अभी तक रक्खा हुआ है। शृंगी ऋषि बोला कि, मेरे पिता ने उस पापी राजा का क्या बिगाड़ा था जो उसने ऐसा अकार्य किया। तुम मेरे आगे ठीक ठीक कहो और मेरे तप का

कृश उवाच—राज्ञा परीक्षिता तात मृगयां परिधावता ।
अवसक्तः पितुस्तेऽद्य मृतः स्कंधे भुजङ्गमः ॥ ३ ॥
शृङ्ग्युवाच—किं मे पित्रा कृतं तस्य राज्ञोऽनिष्टं दुरात्मनः ।
ब्रूहि तत्कृश तत्त्वेन पश्य मे तपसो बलम् ॥ ४ ॥
कृश उवाच स राजा मृगयां यातः परीक्षिदभिमन्युजः ।
ससार मृगमेकाकी विद्ध्वा बाणेन शीघ्रगम् ॥ ५ ॥
न चापश्यन्मृगं राजा चरंस्तस्मिन्महावने ।
पितरं ते स दृष्ट्वैव पप्रच्छानभिभाषिणम् ॥ ६ ॥
तं स्थाणुभूतं तिष्ठंतं क्षुत्पिपासाश्रमातुरः ।
पुनः पुनर्मृगं नष्टं पप्रच्छ पितरं तव ॥ ७ ॥
स च मौनव्रतोपेतो नैव तं प्रत्यभाषत ।
तस्य राजा धनुष्कोट्या सर्पं स्कंधे समासजत् ॥ ८ ॥
शृङ्गिंस्तव पिता सोऽपि तथैवास्ते यतव्रतः ।
सोऽपि राजा स्वनगरं प्रास्थितो गजसाह्वयम् ॥ ९ ॥
सौतिरुवाच—श्रुत्वैवमृषिपुत्रस्तु शवं स्कन्धे प्रतिष्ठितम् ।
कोपसंरक्तनयनः प्रज्वलन्निव मन्युना ॥ १० ॥
आविष्टः स हि कोपेन शशाप नृपतिं तदा ।
वार्युपस्पृश्य तेजस्वी क्रोधवेगबलात्कृतः ॥ ११ ॥

बल देखो। यह सुनकर कृश बोला कि, अभिमन्यु का पुत्र राजा परीक्षित शिकार खेलने को आया था। उसने एक मृग के बाण मारा। वह मृग उस तीर को खाकर वन की ओर दौड़ा और राजा भी उसके पीछे पीछे भागा। जब वहां पहुंचा तब तेरे आश्रम में जब तेरे पिता को बैठे हुए देखकर राजा ने उस मृग का हाल कई बार पूछा। परन्तु तेरे पिता ने मौन रखने के कारण से कुछ उत्तर नहीं दिया। तब राजा ने भूख प्यास और श्रम से दुःखी होने से क्रोध में आकर एक मरा हुआ सर्प अपनी धनुष की नोक से उठाकर तेरे पिता के कंधे पर रख दिया ॥१।८॥

तेरा पिता व्रतयुक्त होने के कारण सर्प सहित वहीं बैठा रहा और वह राजा अपने ग्राम हस्तिनापुर में आया। उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो! शृंगी ऋषि ने अपने पिता के कंधे पर मरे सर्प को सुनकर क्रोधरूपी अग्नि से जलते हुए की सदृश क्रोध से लाल नेत्र किये। क्रोध के वेग से भरा हुआ तेजस्वी

शृंग्युवाच—योऽसौ वृद्धस्य तातस्य तथा कृच्छ्रगतस्य ह ।
स्कन्धे मृतं समास्राक्षात्पन्नगं राजकिल्बिषी ॥ १२ ॥
तं पापमतिसंक्रुद्धस्तक्षकः पन्नगेश्वरः ।
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ॥ १३ ॥
सप्तरात्रादितो नेता यमस्य सदनं प्रति ।
द्विजानामवमन्तारं कुरूणामयशस्करम् ॥ १४ ॥
सौतिरुवाच—इति शप्त्वाऽतिसंक्रुद्धः शृङ्गी पितरमभ्यगात् ।
आसीनं गोव्रजे तस्मिन्वहन्तं शवपन्नगम् ॥ १५ ॥
स तमालक्ष्य पितरं शृङ्गी स्कन्धगतेन वै ।
शवेन भुजगेनासीद्भूयः क्रोधसमाकुलः ॥ १६ ॥
दुःखाच्चाश्रूणि मुमुचे पितरं चेदमब्रवीत् ।
श्रुत्वेमां धर्षणां तात तव तेन दुरात्मना ॥ १७ ॥
राज्ञा परीक्षिता कोपादशपं तमहं नृपम् ।
यथाऽर्हति स एवोग्रं शापं कुरुकुलाधमः ।
सप्तमेऽहनि तं पापं तक्षकः पन्नगोत्तमः ॥ १८ ॥
वैवस्वतस्य सदनं नेता परमदारुणम् ।

और क्रोध के अधीन हुए उस शृंगी ने आचमन कर राजा को शाप दिया ॥१०।११॥

शृंगी बोला—जिस पापी राजा ने वृद्ध और मौनव्रत धारण किये हुए मेरे पिता के गले में मरा हुआ सर्प डाला है । उस पापी को अत्यन्त क्रोध में भरा हुआ और दाढ़ में विष को रखने वाला और तीक्ष्ण तेजयुक्त और मेरे वचन से प्रेरणा किया हुआ सर्पों का राजा तक्षक आज से सातवें दिन उसको यमलोक को पहुँचावेगा, जो राजा कुरुओं के यश को नाश करने वाला और ब्राह्मणों का अपमान करने वाला है । उग्रश्रवा बोले—इस प्रकार अत्यन्त क्रोध में हो शृंगी शाप देकर गऊशाला में बैठे हुए पिता के समीप गया । वह शृंगी ऋषि कंधे पर मरे हुए सर्प से युक्त अपने पिता को देख अत्यन्त क्रोध से व्याकुल हो गया । और दुःख से आँसु बहाता हुआ अपने पिता से बोला—हे तात ! इस दुष्ट राजा परीक्षित से तुम्हारे इस तिरस्कार को सुनकर क्रोध से मैंने उसको शाप दे दिया । और जैसा वह राजा कठोर था वैसा ही मैंने शाप दे दिया । उस कठोर पापी राजा को सातवें दिन सर्पों में उत्तम तक्षक उसको यमलोक को पहुँचावेगा । शृंगी के वचन सुनकर शमीक ऋषि बोले हे पुत्र ! उसने मेरा कुछ बिगाड़ नहीं किया है, और यह शाप देना तपस्वियों का धर्म नहीं। है

तमब्रवीत्पिता ब्रह्मंस्तथा कोपसमन्वितम् ॥ १९ ॥

शमीक उवाच—न मे प्रियं कृतं तात नैष धर्मस्तपस्विनाम् ।
वयं तस्य नरेन्द्रस्य विषये निवसामहे ॥ २० ॥
न्यायतो रक्षितास्तेन तस्य पापं न रोचये ।
सर्वथा वर्त्तमानस्य राज्ञो ह्यस्मद्विधैः सदा ॥ २१ ॥
क्षन्तव्यं पुत्र धर्मो हि हतो हन्ति न संशयः ।
यदि राजा न संरक्षेत्पीडा नः परमा भवेत् ॥ २२ ॥
न शक्नुयाम चरितुं धर्मं पुत्र यथासुखम् ।
रक्षमाणा वयं तात राजभिर्धर्मदृष्टिभिः ॥ २३ ॥
चरामो विपुलं धर्मं तेषां भागोऽस्ति धर्मतः ।
सर्वथा वर्त्तमानस्य राज्ञः क्षन्तव्यमेव हि ॥ २४ ॥
परीक्षित्तु विशेषेण यथाऽस्य प्रपितामहः ।
रक्षत्यस्मांस्तथा राज्ञा रक्षितव्याःप्रजा विभो ॥ २५ ॥
तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना ।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतादिदं मम ॥ २६ ॥
अराजके जनपदे दोषा जायंति वै सदा ।
उद्वृत्तं सततं लोकं राजा दण्डेन शास्ति वै ॥ २७ ॥

हम उस राजा के देश में रहते है ॥१९।२०॥

उसने न्याय से हमारी रक्षा की है। उसका और मुझको अच्छा नहीं लगा परन्तु हमारे जैसे तपस्वियों को सदा अपने अपराध करते हुए राजा को भी क्षमा करनी चाहिए। जो मनुष्य धर्म को मिटा देता है उसे धर्म भी मिटा देता है। इस में सन्देह नहीं। यदि राजा न हो तो प्रजा को बड़ी पीड़ा होती है। और हे पुत्र! राजा के न होने पर हम धर्म नहीं कर सकते। धर्म की दृष्टि से उसमें उनका भी अंश है। इस कारण पाप करते हुए भी राजा को क्षमा करना योग्य है। यह राजा परीक्षित जैसा इसका पिता हमारी रक्षा करता था वैसे ही वह रक्षा करता है। इसलिये राजा को शाप देकर नाश करने से तुझको प्रजा का पाप हुआ। मार्ग से थकित और क्षुधा से व्याकुल उस तपस्वी राजा ने मेरे मौनव्रत को न जानकर यह कर्म किया है ऐसा मैं जानता हूं ॥२१।२६॥

हे पुत्र! जिस देश में राजा नहीं होता वहां चोरी आदि बड़े बड़े दोष निरन्तर हुआ करते हैं। राजा ही केवल दंड देकर उन उपाधियों को दूर करता है। जब राजा के दंड देने से शान्ति हो जाती है, तब सब लोग निर्विघ्न धर्म करते हैं। इससे

दण्डात्प्रतिभयं भूयः शान्तिरुत्पद्यते तदा ।
नोद्विग्नश्चरते धर्मं नोद्विग्नश्चरते क्रियाम् ॥ २८ ॥
राज्ञा प्रतिष्ठितो धर्मो धर्मात्स्वर्गः प्रतिष्ठितः ।
राज्ञो यज्ञक्रियाः सर्वा यज्ञाद्देवाः प्रतिष्ठिताः ॥ २९ ॥
देवाद्वृष्टिः प्रवर्तेत वृष्टेरोषधयः स्मृताः ।
ओषधिभ्यो मनुष्याणां धारयन्सततं हितम् ॥ ३० ॥
मनुष्याणां च यो धाता राजा राज्यकरः पुनः ।
दशश्रोत्रियसमो राजा इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥ ३१ ॥
तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना ।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम ॥ ३२ ॥
कस्मादिदं त्वया बाल्यात्सहसा दुष्कृतं कृतम् ।
न ह्यर्हति नृपः शापमस्मत्तः पुत्र सर्वथा ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि परीक्षिच्छापे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

धर्म का होना राजा ही के होने से होता है। और धर्म ही से स्वर्गलोक मिलता है। धर्मात्मा राजा होने ही से यज्ञ होते हैं और यज्ञों से देवता प्रसन्न होते हैं। देवताओं के प्रसन्न होने से वर्षा होती है। और वर्षा के होने से अन्नादि उत्पन्न होते हैं। और अन्नादि के होने से सब जीवों का पालन होता है। मनुजी ने कहा है कि, जो राजा मनुष्यों का पालन करे और धर्म से राज्य करे वह दश वेदपाठियों के बराबर है। उस मार्ग के श्रम से थकित और क्षुधा से व्याकुल तपस्वी राजा ने मेरे व्रत को न जानकर यह कर्म किया। तुमने बालकपन के अज्ञान से शीघ्र ऐसा अकार्य किया सो हे पुत्र! वह राजा अपराध करता हुआ भी हमसे शाप देने योग्य नहीं है ॥२७।३३॥

आदिपर्व का इकतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४२ ॥

शृङ्ग्युवाच—यद्येतत्साहसं तात यदि वा दुष्कृतं कृतम् ।
प्रियं वाप्यप्रियं वा ते वागुक्ता न मृषा भवेत् ॥ १ ॥

॥ बयालीसवां अध्याय ४२ ॥

शृंगी बोला—हे तात ! यदि मैंने उचित कार्य नहीं किया, और वह आप को रुचता हो या न रुचता हो, जो मैं कह चुका हूं वह अन्यथा नहीं हो सकता। क्योंकि मैं हंसी में भी कभी असत्य

नैवान्यथेदं भविता पितरेष ब्रवीमि ते ।
नाहं मृषा ब्रवीम्येवं स्वैरेष्वपि कुतः शपन् ॥ २ ॥
शमीक उवाच—जानाम्युग्रप्रभावं त्वां तात सत्यगिरं तथा ।
नानृतं चोक्तपूर्वं ते नैतन्मिथ्या भविष्यति ॥ ३ ॥
पित्रा पुत्रो वयःस्थोऽपि सततं वाच्य एव तु ।
यथा स्याद् गुणसंयुक्तः प्राप्नुयाच्च महद्यशः ॥ ४ ॥
किं पुनर्बाल एव त्वं तपसा भावितः सदा ।
वर्धते च प्रभवतां कोपोऽतीव महात्मनाम् ॥ ५ ॥
सोऽहं पश्यामि वक्तव्यं त्वयि धर्मभृतां वर ।
पुत्रत्वं बालतां चैव तवावेक्ष्य च साहसम् ॥ ६ ॥
स त्वं शमपरो भूत्वा वन्यमाहारमाचरन् ।
चर क्रोधमिमं हत्वा नैवं धर्मं प्रहास्यसि ॥ ७ ॥
क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम् ।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ॥ ८ ॥
शम एव यतीनां हि क्षमिणां सिद्धिकारकः ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥ ९ ॥
तस्माच्चरेथाः सततं क्षमाशीलो जितेन्द्रियः ।
क्षमया प्राप्स्यसे लोकान्ब्रह्मणः समनन्तरान् ॥ १० ॥

नहीं कहता हूं यह तो शाप था। शमीक बोले हे पुत्र ! यह मैं जानता हूं कि, तुम उग्रप्रभाव वाले और सत्यवादी हो। और पहले भी कभी तुमने झूठ नहीं बोला और न ही तुम्हारा कहा झूठ होगा। परन्तु हे पुत्र ! ऐसा करने से श्रेष्ठ गुण और यश प्राप्त होता है, इस विषय में पिता अपने जवान लड़के को भी उपदेश दे सकता है। तुम तो अभी बालक ही हो। और तपस्या से तुमने सदा अपनी आत्मा को पवित्र किया है। तपस्या के प्रभाव से गर्वित होकर वृद्ध महात्मा भी प्रायः क्रोध के वशीभूत नहीं रहते। हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ ! मैं तुमसे कुछ कहना योग्य समझता हूं। तुम्हारे बालकपन और इस न करने योग्य कार्य को और अपने पुत्रत्व को भी देखकर शिक्षा देना उचित समझता हूं ॥१-६॥

अब तुम क्रोध के स्वभाव को छोड़कर शांतिपूर्वक वन के फल मूल खाकर तपस्या किया करो। इस प्रकार फिर धर्म क्षय न करना क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों का बड़े कष्ट से संचय किया हुआ धर्म क्रोध

मया तु शममास्थाय यच्छक्यं कर्तुमद्य वै ।
तत्करिष्याम्यहं तात प्रेषयिष्ये नृपाय वै ॥ ११ ॥
मम पुत्रेण शप्तोसि बालेन कृशबुद्धिना ।
ममेमां धर्षणां त्वत्तः प्रेक्ष्य राजन्नमर्षिणा ॥ १२ ॥
सौतिरुवाच—एवमादिश्य शिष्यं स प्रेषयामास सुव्रतः ।
परीक्षिते नृपतये दयापन्नो महातपाः ॥ १३ ॥
संदिश्य कुशलप्रश्नं कार्यवृत्तान्तमेव च ।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं समाहितम् ॥ १४ ॥
सोऽभिगम्य ततः शीघ्रं नरेन्द्रं कुरुवर्धनम् ।
विवेश भवनं राज्ञः पूर्वं द्वाःस्थैर्निवेदितः ॥ १५ ॥
पूजितस्तु नरेन्द्रेण द्विजो गौरमुखस्तदा ।
आचख्यौ च परिश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः ॥ १६ ॥
शमीकवचनं घोरं यथोक्तं मन्त्रिसन्निधौ ।
गौरमुख उवाच—शमीको नाम राजेन्द्र वर्त्तते विषये तव ॥ १७ ॥
ऋषिः परमधर्मात्मा दान्तः शान्तो महातपाः ।
तस्य त्वया नरव्याघ्र सर्पः प्राणैर्वियोजितः ॥ १८ ॥

से नष्ट हो जाता है। धर्म के लोप होने से अच्छी गति नहीं मिलती। जो क्षमा रखते हैं उनका यह लोक और परलोक दोनों बन जाते हैं। तुम सदा क्षमाशील और जितेन्द्रिय होकर तपस्या करते रहो। क्षमा से ही तुम्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी। हे पुत्र ! मैं शांति का आश्रय लेकर जो कुछ कर्त्तव्य है उसको करूंगा और राजा के पास एक पुरुष को भेजूंगा। जो कहे कि हे राजन् ! थोड़ी बुद्धि वाले मेरे क्रोधी पुत्र ने तुमसे मेरे इस अपमान को देखकर शाप दिया है ॥७।१२॥

उग्रश्रवा बोले-ऐसा कहकर उस उत्तम मनों के रखने वाले बड़े तपस्वी शमीक ऋषि ने शिष्य को राजा परीक्षित के पास भेजा। उस शिष्य का नाम गौरमुख था। वह बड़ा सावधान और शीलवान था। उसको कुशल प्रश्नादिक और कार्य समझाकर राजा परीक्षित के समीप भेजा। वह शिष्य मुनि की आज्ञा पाकर वहां से तुरंत कौरवों के कुल को बढ़ाने वाले महाराज परीक्षित के राजमन्दिर में पहुंचा और द्वारपालों से अपनी खबर कराई। मार्ग के परिश्रम से थकित उस ब्राह्मण का राजा ने सत्कार किया और उसने सब घोर वृत्तांत राजा से कहा। मंत्रियों ने भी उस शिष्य के भयानक वृत्तांत को

नैवान्यथेदं भविता पितरेष ब्रवीमि ते ।
नाहं मृषा ब्रवीम्येवं स्वैरेष्वपि कुतः शपन् ॥ २ ॥

शमीक उवाच—जानाम्युग्रप्रभावं त्वां तात सत्यगिरं तथा ।
नानृतं चोक्तपूर्वं ते नैतन्मिथ्या भविष्यति ॥ ३ ॥
पित्रा पुत्रो वयःस्थोऽपि सततं वाच्य एव तु ।
यथा स्याद् गुणसंयुक्तः प्राप्नुयाच्च महद्यशः ॥ ४ ॥
किं पुनर्बाल एव त्वं तपसा भावितः सदा ।
वर्धते च प्रभवतां कोपोऽतीव महात्मनाम् ॥ ५ ॥
सोऽहं पश्यामि वक्तव्यं त्वयि धर्मभृतां वर ।
पुत्रत्वं बालतां चैव तवावेक्ष्य च साहसम् ॥ ६ ॥
स त्वं शमपरो भूत्वा वन्यमाहारमाचरन् ।
चर क्रोधमिमं हत्वा नैवं धर्मं प्रहास्यसि ॥ ७ ॥
क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम् ।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ॥ ८ ॥
शम एव यतीनां हि क्षमिणां सिद्धिकारकः ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥ ९ ॥
तस्माच्चरेथाः सततं क्षमाशीलो जितेन्द्रियः ।
क्षमया प्राप्स्यसे लोकान्ब्रह्मणः समनन्तरान् ॥ १० ॥

नहीं कहता हूं यह तो शाप था। शमीक बोला—हे पुत्र ! यह मैं जानता हूं कि, तुम उग्रप्रभाव वाले और सत्यवादी हो और पहले भी कभी तुमने झूठ नहीं बोला और न ही तुम्हारा कहा झूठ होगा। परन्तु हे पुत्र ! यश करने से श्रेष्ठ गुण और यश प्राप्त होता है, इस विषय में पिता अपने जवान लड़के को भी उपदेश दे सकता है। तुम तो अभी बालक ही हो। और तपस्या से तुमने सदा अपनी आत्मा को पवित्र किया है। तपस्या के प्रभाव से गर्वित होकर वृद्ध महात्मा भी प्रायः क्रोध के वशीभूत नहीं रहते। हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ ! मैं तुमसे कुछ कहना योग्य समझता हूं। तुम्हारे बालकपन और इस न करने योग्य कार्य को और अपने पुत्रत्व को भी देखकर शिक्षा देना उचित समझता हूं ॥१।६॥

अब तुम क्रोध के स्वभाव को छोड़कर शांतिपूर्वक वन के फल—मूल खाकर तपस्या किया करो। इस प्रकार फिर धर्म क्षय न करना क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों का बड़े कष्ट से सञ्चय किया हुआ धर्म क्रोध

मया तु शममास्थाय यच्छक्यं कर्तुमद्य वै ।
तत्करिष्याम्यहं तात प्रेषयिष्ये नृपाय वै ॥ ११ ॥
मम पुत्रेण शप्तोसि बालेन कृशबुद्धिना ।
ममेमां धर्षणां त्वत्तः प्रेक्ष्य राजन्नमर्षिणा ॥ १२ ॥
सौतिरुवाच—एवमादिश्य शिष्यं स प्रेषयामास सुव्रतः ।
परीक्षिते नृपतये दयापन्नो महातपाः ॥ १३ ॥
संदिश्य कुशलप्रश्नं कार्यवृत्तान्तमेव च ।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं समाहितम् ॥ १४ ॥
सोऽभिगम्य ततः शीघ्रं नरेन्द्रं कुरुवर्धनम् ।
विवेश भवनं राज्ञः पूर्वं द्वाःस्थैर्निवेदितः ॥ १५ ॥
पूजितस्तु नरेन्द्रेण द्विजो गौरमुखस्तदा ।
आचख्यौ च परिश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः ॥ १६ ॥
शमीकवचनं घोरं यथोक्तं मन्त्रिसन्निधौ ।
गौरमुख उवाच—शमीको नाम राजेन्द्र वर्त्तते विषये तव ॥ १७ ॥
ऋषिः परमधर्मात्मा दान्तः शान्तो महातपाः ।
तस्य त्वया नरव्याघ्र सर्पः प्राणैर्वियोजितः ॥ १८ ॥

से नष्ट हो जाता है । धर्म के लोप होने से अच्छी गति नहीं मिलती । जो क्षमा रखते है उनका यह लोक और परलोक दोनों बन जाते हैं । तुम सदा क्षमाशील और जितेन्द्रिय होकर तपस्या करते रहो । क्षमा से ही तुम्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी । हे पुत्र ! मैं शांति का आश्रय लेकर जो कुछ कर्त्तव्य है उसको करूंगा और राजा के पास एक पुरुष को भेजूंगा । जो कहे कि हे राजन् ! थोड़ी बुद्धि वाले मेरे क्रोधी पुत्र ने तुमसे मेरे इस अपमान को देखकर शाप दिया है ॥७।१२॥

उग्रश्रवा बोले–ऐसा कहकर उस उत्तम मनों के रखने वाले बड़े तपस्वी शमीक ऋषि ने शिष्य को राजा परीक्षित के पास भेजा । उस शिष्य का नाम गौरमुख था । वह बड़ा सावधान और शीलवान था । उसको कुशल प्रश्नादिक और कार्य समझाकर राजा परीक्षित के समीप भेजा । वह शिष्य मुनि की आज्ञा पाकर वहां से तुरंत कौरवों के कुल को बढाने वाले महाराज परीक्षित के राजमन्दिर में पहुंचा और द्वारपालों से अपनी खबर कराई । मार्ग के परिश्रम से थकित उस ब्राह्मण का राजा ने सत्कार किया और उसने सब घोर वृत्तांत राजा से कहा । मंत्रियों ने भी उस शिष्य के भयानक वृत्तांत को

अवसक्तो धनुष्कोट्या स्कन्धे मौनान्वितस्य च ।
क्षान्तवांस्तव तत्कर्म पुत्रस्तस्य न चक्षमे ॥ १९ ॥
तेन शप्तोऽसि राजेन्द्र पितुरज्ञातमद्य वै ।
तक्षकः सप्तरात्रेण मृत्युस्तत्र भविष्यति ॥ २० ॥
तत्र रक्षां कुरुष्वेति पुनः पुनरथाऽब्रवीत् ।
तदन्यथा न शक्यं च कर्त्तुं केनचिदप्युत ॥ २१ ॥
न हि शक्नोति तं यन्तुं पुत्रं कोपसमन्वितम् ।
ततोऽहं प्रेषितस्तेन तव राजन्हितार्थिना ॥ २२ ॥
सौतिरुवाच—इति श्रुत्वा वचो घोरं स राजा कुरुनन्दनः ।
पर्यतप्यत तत्पापं कृत्वा राजा महातपाः ॥ २३ ॥
तं च मौनव्रतं श्रुत्वा वने मुनिवरं तदा ।
भूय एवाभवद्राजा शोकसंतप्तमानसः ॥ २४ ॥
अनुक्रोशात्मतां तस्य शमीकस्यावधार्य च ।
पर्यतप्यत भूयोऽपि कृत्वा तत्किल्विषं मुनेः ॥ २५ ॥
न हि मृत्युं तथा राजा श्रुत्वा वै सोऽन्वतप्यत ।
अशोचदमरप्रख्यो यथा कृत्वेह कर्म तत् ॥ २६ ॥

विस्तारपूर्वक सुना । गौरमुख बोला हे राजेन्द्र ! बड़ा धर्मात्मा, चतुर, शांत स्वभाव वाला, तपस्वी शमीक नाम ऋषि आपके राज्य मे रहता है । हे नरव्याघ्र ' जिस मौनव्रत धारण किये हुए के कंधे पर आप मरा हुआ सर्प रख आये थे उन्होंने मुझे यह कहने को आप के पास भेजा है कि, हमने आप के अपराध को क्षमा किया था परन्तु हमारे पुत्र ने क्षमा न करके आप को यह शाप दिया है कि, राजा को आज से सातवें रोज तक्षक सर्प काटेगा और वह मृत्यु को प्राप्त होगा ॥१३।२०॥

सो आप की मृत्यु निश्चय होगी । आप रक्षा का यत्न कीजिये ऐसा बार बार आपसे कहा है । उसके पुत्र के शाप को लौटाने में कोई समर्थ नहीं है । वह ऋषि भी क्रोध में भरे हुए अपने पुत्र को नहीं रोक सकता है । आपके साथ हित रखने वाले महात्मा ने मुझको आपके पास भेजा है । उग्रश्रवा बोले वह कुरुकुल का आनन्द देने वाला महा तपस्वी राजा परीक्षित उस पाप को करके और उस भयानक वचन को सुनकर अत्यन्त तापयुक्त हुआ । उस मुनियों में श्रेष्ठ को वन में मौनव्रत वाला जानकर अत्यन्त शोक से पीड़ित हुआ । उस महात्मा शमीक की दयालुता को विचारकर और उस बड़े

ततस्तं प्रेषयामास राजा गौरमुखं तदा ।
भूयः प्रसादं भगवान्करोत्विह ममेति वै ॥ २७ ॥
तस्मिंश्च गतमात्रेऽथ राजा गौरमुखे तदा ।
मन्त्रिभिर्मन्त्रयामास सह संविग्नमानसः ॥ २८ ॥
संमन्त्र्य मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित् ।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् ॥ २९ ॥
रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च ।
ब्राह्मणान्मंत्रसिद्धांश्च सर्वतो वैन्ययोजयत् ॥ ३० ॥
राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः ।
मंत्रिभिः सह धर्मज्ञः समन्तात्परिरक्षितः ॥ ३१ ॥
न चैनं कश्चिदारूढं लभते राजसत्तमम् ।
वातोऽपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशे विनिवार्यते ॥ ३२ ॥
प्राप्ते च दिवसे तस्मिन्सप्तमे द्विजसत्तमः ।
काश्यपोऽभ्यागमाद्विद्वांस्तं राजानं चिकित्सितुम् ॥ ३३ ॥
श्रुतं हि तेन तदभूद्यथा तं राजसत्तमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठो नेष्यते यमसादनम् ॥ ३४ ॥

मारी मुनि के अपराध को करके अति सन्तप्त हुआ । उस देवताओं के तुल्य राजा ने मृत्यु को सुनकर ऐसा विचार नहीं किया जैसा उस अकार्य को करके सोच किया ॥२१।२६॥

इसके पश्चात् राजा ने गौरमुख को विदा किया और कहा कि, भगवान् शमीक ऋषि मुझपर फिर कृपा करें । उसके जाने पर विकल मन वाले राजा ने मन्त्रियों को बुलाकर सलाह ली और सलाह करके एक मन्दिर एक स्तंभ का ऐसा बनवाया कि, और चोर की तो क्या गति है वायु भी वहां नहीं जा सकती थी । राजा उसमें स्थित हुआ और चारों ओर से रक्षा के लिये बड़े बड़े रक्षक नियत कर दिये और बड़े बड़े वैद्य और नाना प्रकार की विष दूर करने वाली औषधियां और बड़े बड़े मंत्र सिद्ध ब्राह्मणों को रक्षा के लिये एकत्रित किये । उस स्थान पर बैठा हुआ राजा धर्मज्ञ और चारों तरफ से मन्त्रियों से युक्त सब राज्य कार्यों को करने लगा । और उस स्थान में चढ़े हुए राजा के समीप कोई नहीं जा सकता था ॥२७।३२॥

उस सातवें दिन के आने पर विद्वान् काश्यप ब्राह्मण राजा की चिकित्सा के लिये आता था । उसने सब वृत्तान्त उस राजा का सुन लिया था कि, तक्षक नाग उसे सातवें दिन जाकर के गर्लित करेगा उस राजा को मैं निर्विष करूंगा । उससे

तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण करिष्येऽहमपज्वरम् ।
तत्र मेऽर्थश्च धर्मश्च भवितेति विचिन्तयन् ॥ ३५ ॥
तं ददर्श स नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं पथि ।
गच्छन्तमेकमनसं द्विजो भूत्वा वयोऽतिगः ॥ ३६ ॥
तमब्रवीत्पन्नगेन्द्रः काश्यपं मुनिपुङ्गवम् ।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ॥ ३७ ॥
काश्यप उवाच—नृपं कुरुकुलोत्पन्नं परीक्षितमरिंदमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठस्तेजसाऽद्य प्रधक्ष्यति ॥ ३८ ॥
तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण तेनाग्निसमतेजसम् ।
पाण्डवानां कुलकरं राजानममितौजसम् ।
गच्छामि त्वरितं सौम्य सद्यः कर्त्तुमपज्वरम् ॥ ३९ ॥
तक्षक उवाच—अहं स तक्षको ब्रह्मंस्तं धक्ष्यामि महीपतिम् ।
निवर्त्तस्व न शक्तस्त्वं मया दष्टं चिकित्सितुम् ॥ ४० ॥
काश्यप उवाच—अहं तं नृपतिं गत्वा त्वया दष्टमपज्वरम् ।
करिष्यामीति मे बुद्धिर्विद्याबलसमन्विता ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि काश्यपागमने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

मुझको धन और धर्म की प्राप्ति होगी, यह विचारने लगा। उस काश्यप ब्राह्मण को तक्षक ने रास्ते में देखा जो कि एकान्तचित्त किये चला जाता था। तब तक्षक नाग वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारणकर मुनियों में श्रेष्ठ उस काश्यप से बोला हे ब्राह्मण! तुम शीघ्रता से कहां जा रहे हो और क्या कार्य करना चाहते हो? काश्यप बोला शत्रुओं के नाश करने वाले कुरुकुल में उत्पन्न राजा परीक्षित को सर्पों में श्रेष्ठ राजा तक्षक आज अपने तेज से भस्म करेगा। हे ब्राह्मण—अग्नि के समान तेजस्वी पाडवों के कुल को बढ़ाने वाले और बड़े बलवान् उस तक्षक से काटे हुए राजा को निर्विष करने को मैं शीघ्र जारहा हूं। तक्षक बोला—हे ब्राह्मण! वह तक्षक नाग मै हूं और राजा परीक्षित को अपने विष से भस्म करूंगा। तुम वापस जाओ क्योंकि मेरे काटे हुए की तुम चिकित्सा नहीं कर सकते। काश्यप बोला-मैं उस राजा को जिसको तुम काटोगे अपने विद्याबल से निर्विष करदूंगा ॥३३।४१॥

आदिपर्व का बयालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

तक्षक उवाच—यदि दष्टं मयेह त्वं शक्तः किंचिच्चिकित्सितुम् ।
ततो वृक्षं मया दष्टमिमं जीवय काश्यप ॥ १ ॥
परं मन्त्रबलं यत्ते तद्दर्शय यतस्व च ।
न्यग्रोधमेनं धक्ष्यामि पश्यतस्ते द्विजोत्तम ॥ २ ॥
काश्यप उवाच—दश नागेन्द्र वृक्षं त्वं यद्येतदभिमन्यसे ।
अहमेनं त्वया दष्टं जीवयिष्ये भुजङ्गम ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच—एवमुक्तः स नागेन्द्रः काश्यपेन महात्मना ।
अदशद्वृक्षमभ्येत्य न्यग्रोधं पन्नगोत्तमः ॥ ४ ॥
स वृक्षस्तेन दष्टस्तु पन्नगेन महात्मना ।
आशीविषविषोपेतः प्रजज्वाल समन्ततः ॥ ५ ॥
तं दग्ध्वा स नगं नागः काश्यपं पुनरब्रवीत् ।
कुरु यत्नं द्विजश्रेष्ठ जीवयैनं वनस्पतिम् ॥ ६ ॥
सौतिरुवाच—भस्मीभूतं ततो वृक्षं पन्नगेन्द्रस्य तेजसा ।
भस्म सर्वं समाहृत्य काश्यपो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
विद्याबलं पन्नगेन्द्र पश्य मेऽद्य वनस्पतौ ।
अहं संजीवयाम्येनं पश्यतस्ते भुजङ्गम ॥ ८ ॥

॥ तेतालीसवां अध्याय ४३ ॥

तक्षक बोला—यदि तुम मेरे काटे हुए की चिकित्सा करने को समर्थ रखते हो तो मेरे काटे हुए वृक्ष को फिर हरा करदो। और अपने विद्याबल दिखाने का यत्न करो। हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ! तेरे देखते हुए मैं इस गूलर के वृक्ष को भस्म करता हूं। काश्यप ने कहा—हे सर्पों में श्रेष्ठ तक्षक! यदि तुम ऐसा समझते हो कि तुम्हारे भस्म किये हुए को नहीं जिला सकता हूं तो इस वृक्ष को काटो। उग्रश्रवा बोले—उस काश्यप महात्मा के इस वचन को सुनकर उस तक्षक नाग ने वृक्ष के समीप जाकर उसे काटा। उस सर्प से काटा हुआ वह वृक्ष विष की अग्नि से जलने लगा। जब जलकर भस्म हो गया फिर तक्षक नाग ने काश्यप से कहा—हे ब्राह्मण! अब अपने यत्न से इस वृक्ष को जिलाओ ॥१।६॥

उग्रश्रवा बोले—उस सर्प के तेज से भस्म हुए वृक्ष की सब राख को इकट्ठा करके काश्यप ने तक्षक से कहा—हे सर्पों में श्रेष्ठ तक्षक! तेरे देखते ही मैं अपने विद्याबल से इस वृक्ष को जलाता हूं। इसके पश्चात् भगवान् काश्यप ने उस राख के ढेर

ततः स भगवान्विद्वान्काश्यपो द्विजसत्तमः ।
भस्मराशीकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत् ॥ ९ ॥
अङ्कुरं कृतवांस्तत्र ततः पर्णद्वयान्वितम् ।
पलाशिनं शाखिनं च तथा विटपिनं पुनः ॥ १० ॥
तं दृष्ट्वा जीवितं वृक्षं काश्यपेन महात्मना ।
उवाच तक्षको ब्रह्मन्नैतदित्यद्भुतं त्वयि ॥ ११ ॥
द्विजेन्द्र यद्विषं हन्या मम वा मद्विधस्य वा ।
कं त्वमर्थमभिप्रेप्सुर्यासि तत्र तपोधन ॥ १२ ॥
यत्तेऽभिलषितं प्राप्तुं फलं तस्मान्नृपोत्तमात् ।
अहमेव प्रदास्यामि तत्ते यद्यपि दुर्लभम् ॥ १३ ॥
विप्रशापाभिभूते च क्षीणायुषि नराधिपे ।
घटमानस्य ते विप्र सिद्धिः संशयिता भवेत् ॥ १४ ॥
ततो यशः प्रदीप्तं ते त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
निरंशुरिव घर्मांशुरन्तर्धानमितो व्रजेत् ॥ १५ ॥
काश्यप उवाच—धनार्थी याम्यहं तत्र तन्मे देहि भुजङ्गम ।
ततोऽहं विनिवर्तिष्ये स्वापतेयं प्रगृह्य वै ॥ १६ ॥
तक्षक उवाच – यावद्धनं प्रार्थयसे तस्माद्राज्ञस्ततोऽधिकम् ।
अहमेव प्रदास्यामि निवर्तस्व द्विजोत्तम ॥ १७ ॥

को अपनी विद्या से जिला दिया । पहले अंकुर उत्पन्न हुआ फिर दो पत्ते हुए, फिर बहुत से पत्ते और बड़ी बड़ी शाखायें उत्पन्न हुईं । इसके उपरान्त जैसा वृक्ष था वैसा ही हो गया । महात्मा काश्यप ने जब उस वृक्ष को हरा कर दिया उसको देखकर तक्षक बोला आप सामर्थ्यवान हैं । यह काम आपको कुछ अद्भुत नहीं है । आप मेरे अथवा हमारे सदृश के विष को निश्चय अच्छा कर सकते हैं । हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! अब तुम्हारी क्या इच्छा है सो प्रगट करो ॥७।१२॥

जिस वस्तु की तुम्हें राजा परीक्षित से मिलने की इच्छा हो मैं तुमको वही दूंगा चाहे दुर्लभ पदार्थ क्यों न हो । ब्राह्मण के शाप से उस राजा की आयु क्षीण हो चुकी है इस कारण से जो आपकी विद्या ने वहां काम न दिया तो आपका तीनों लोकों में प्रसिद्ध और प्रकाशमान् यश राहु से ग्रसे हुए सूर्य के समान अस्त हो जावेगा । इससे आपको जो कुछ राजा से मांगना हो वह मुझसे ही

सौतिरुवाच—तक्षकस्य वचः श्रुत्वा काश्यपो द्विजसत्तमः ।
प्रदध्यौ सुमहातेजा राजानं प्रति बुद्धिमान् ॥ १८ ॥
दिव्यज्ञानः स तेजस्वी ज्ञात्वा तं नृपतिं तदा ।
क्षीणायुषं पाण्डवेयमपावर्तत काश्यपः ॥ १९ ॥
लब्ध्वा वित्तं मुनिवरस्तक्षकाद्यावदीप्सितम् ।
निवृत्ते काश्यपे तस्मिन्समयेन महात्मनि ॥ २० ॥
जगाम तक्षकस्तूर्णं नगरं नागसाह्वयम् ।
अथ शुश्राव गच्छन्स तक्षको जगतीपतिम् ॥ २१ ॥
मन्त्रैर्गदैर्विषहरै रक्ष्यमाणं प्रयत्नतः ।
सौतिरुवाच—स चिन्तयामास तदा मायायोगेन पार्थिवः ॥ २२ ॥
मया वञ्चयितव्योऽसौ क उपायो भवेदिति ।
ततस्तापसरूपेण प्राहिणोत्स भुजङ्गमान् ॥ २३ ॥
फलदर्भोदकं गृह्य राज्ञे नागोऽथ तक्षकः ।
तक्षक उवाच—गच्छध्वं यूयमव्यग्रा राजानं कार्यवत्तया ॥ २४ ॥
फलपुष्पोदकं नाम प्रतिग्राहयितुं नृपम् ।
सौतिरुवाच—ते तक्षकसमादिष्टास्तथा चक्रुर्भुजङ्गमाः ॥ २५ ॥
उपनिन्युस्तथा राज्ञे दर्भानापः फलानि च ।
तच्च सर्वं स राजेन्द्रः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ॥ २६ ॥

लेकर लौट जावें ॥१३।१६॥

उग्रश्रवा बोले–तक्षक के वाक्य को सुनकर ब्राह्मणों में श्रेष्ठ बड़े तेजस्वी बुद्धिमान् काश्यप ने राजा के विषय में ध्यान किया। वह दिव्य ज्ञान वाले तेजस्वी ब्राह्मण ने पाण्डव राजा की क्षीण आयु जानकर अपनी इच्छानुसार धन तक्षक से ले लिया और अपने स्थान पर लौट आया। महात्मा काश्यप के गुप्तरूप से लौट जाने पर तक्षक नाम शीघ्रता से हस्तिनापुर नगर को गया। और राजा को बड़े बड़े मंत्र और विष हरने वाली औषधियों से रक्षित सुनकर उपाय सोचने लगा। उग्रश्रवा बोले–थोड़ी देर में उपाय सोचकर उसने नागों को बुलाकर कहा कि, तुम तपस्वियों का रूप धारण करके राजा को आशीर्वाद देकर जलकुश और फल दो। और उनसे कहा कि, हे सर्पों! तुम सावधानी के साथ कार्य करना। उग्रश्रवा बोले कि, सर्पों ने तक्षक के कहने से वैसा ही किया ॥१७।२५॥

कृत्वा तेषां च कार्याणि गम्यतामित्युवाच तान् ।
गतेषु तेषु नागेषु तापसच्छद्मरूपिषु ॥ २७ ॥
अमात्यान्सुहृदश्चैव प्रोवाच स नराधिपः ।
भक्षयन्तु भवन्तो वै स्वादूनीमानि सर्वशः ॥ २८ ॥
तापसैरुपनीतानि फलानि सहिता मया ।
ततो राजा ससचिवः फलान्यादातुमैच्छत ॥ २९ ॥
विधिना संप्रयुक्तो वै ऋषिवाक्येन तेन तु ।
यस्मिन्नेव फले नागस्तमेवाभक्षयत्स्वयम् ॥ ३० ॥
ततो भक्षयतस्तस्य फलात्क्रिमिरभूदणुः ।
ह्रस्वकः कृष्णनयनस्ताम्रवर्णोऽथ शौनक ॥ ३१ ॥
स तं गृह्य नृपश्रेष्ठः सचिवानिदमब्रवीत् ।
अस्तमभ्येति सविता विषादद्य न मे भयम् ॥ ३२ ॥
सत्यवागस्तु स मुनिः क्रिमिर्मां दशतामयम् ।
तक्षको नाम भूत्वा वै तथा परिहृतं भवेत् ॥ ३३ ॥
ते चैनमन्ववर्तन्त मन्त्रिणः कालचोदिताः ।
एवमुक्त्वा स राजेन्द्रो ग्रीवायां संन्निवेश्य ह ॥ ३४ ॥
क्रिमिकं प्राहसत्तूर्णं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः ।
प्रहसन्नेव भोगेन तक्षकेण त्ववेष्ट्यत ॥ ३५ ॥

बड़े पराक्रमी राजा ने वह जलकुश और फल लेकर अपने पास रखलिये। और उन तपस्वीरूप नागों को धन देकर विदा किया। तिसके उपरान्त राजा ने अपने भाई बन्धु और मंत्रियों को बुलाकर कहा देखो, यह तपस्वियों के लाये हुए फल कैसे सुन्दर प्रतीत होते हैं। आप इन फलों को मेरे साथ खाओ। इसके उपरान्त राजा ने मंत्रियों सहित फलों के उठाने की इच्छा की। दैवयोग और मुनि के शाप से राजा ने वही फल लिया जिसमें तक्षक छिपा था। राजा ने जब उस फल को तोडा तब उसमें से एक लाल रंग का कीड़ा जिसकी आंखें काली काली थीं निकला। उसको हाथ में लेकर राजा परीक्षित बोला कि, सूर्य अस्त होने का समय है अब मुझे विष से भय नहीं रहा। यही कीड़ा तक्षक नाग होकर मुझे काटे और मुनि के वचन को सत्य करे। मंत्रियों ने भी काल से प्रेरित होकर इस बात को पुष्ट किया। उपरान्त राजा ने भी उस कीड़े को अपनी गर्दन पर रखकर उसको

तस्मात्फलाद्विनिष्क्रम्य यत्तद्राज्ञे निवेदितम् ।
वेष्टयित्वा च वेगेन विनद्य च महास्वनम् ।
अदशत्पृथिवीपालं तक्षकः पन्नगेश्वरः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि तक्षकदंशे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

देखकर हमने लगा। उसी समय तक्षक ने भा अपना स्वरूप धारकर राजा को लपेट लिया और बड़ा शब्द करके काट खाया ॥२६।३६॥

आदिपर्व का तेतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

सौतिरुवाच—ते तथा मन्त्रिणो दृष्ट्वा भोगेन परिवेष्टितम् ।
विषण्णवदनाः सर्वे रुरुदुर्भृशदुःखिताः ॥ १ ॥
तं तु नादं ततः श्रुत्वा मन्त्रिणस्ते प्रदुद्रुवुः ।
अपश्यन्त तथा यान्तमाकाशे नागमद्भुतम् ॥ २ ॥
सीमन्तमिव कुर्वाणं नभसः पद्मवर्चसम् ।
तक्षकं पन्नगश्रेष्ठं भृशं शोकपरायणाः ॥ ३ ॥
ततस्तु ते तद्गृहमग्निना वृतं प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिनः ।
भयात्परित्यज्य दिशः प्रपेदिरे पपात राजाऽशनिताडितो यथा ॥ ४ ॥
ततो नृपे तक्षकतेजसा हते प्रयुज्य सर्वाः परलोकसत्क्रियाः ।
शुचिर्द्विजो राजपुरोहितस्तदा तथैव ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ॥ ५ ॥
नृपं शिशुं तस्य सुतं प्रचक्रिरे समेत्य सर्वे पुरवासिनो जनाः ।
नृपं यमाहुस्तममित्रघातिनं कुरुप्रवीरं जनमेजयं जनाः ॥ ६ ॥

॥ चौवालीसवाँ अध्याय ४४ ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो! मन्त्रियों ने सर्प को राजा के शरीर से लिपटा हुआ देखकर अत्यन्त दुःखी होकर रोने लगे। सर्प का शब्द सुनकर सब मन्त्री भाग गये। अत्यन्त शोक से भरे हुए मन्त्रियों ने अद्भुत कमल के रंग वाले सर्पों में श्रेष्ठ तक्षक नाग को लाल रेखा के समान आकाश मार्ग में जाते देखा। इसके उपरान्त वह मन्त्री सर्प के विष से उत्पन्न हुई अग्नि से घर जलता हुआ देखकर चारों दिशाओं को भाग गये और राजा वज्र से मरे हुए के समान गिर पड़ा ॥१।४॥

तक्षक के तेज से मरे हुए राजा की सब क्रियाओं को करके पवित्र राजपुरोहित ब्राह्मण और

स बाल एवार्यमतिर्नृपोत्तमः सहैव तैर्मन्त्रिपुरोहितैस्तदा ।
शशास राज्यं कुरुपुङ्गवाग्रजो यथाऽस्य वीरः प्रपितामहस्तथा ॥ ७ ॥
ततस्तु राजानममित्रतापनं समीक्ष्य ते तस्य नृपस्य मान्त्रिणः ।
सुवर्णवर्माणमुपेत्य काशिपं वपुष्टमार्थं वरयांप्रचक्रमुः ॥ ८ ॥
ततः स राजा प्रददौ वपुष्टमां कुरुप्रवीराय परीक्ष्य धर्मतः ।
स चापितां प्राप्य मुदायुतोऽभवन्न चान्यनारीषु मनोदधे क्वचित् ॥ ९ ॥
सरःसु फुल्लेषु वनेषु चैव प्रसन्नचेता विजहार वीर्यवान् ।
तथा स राजन्यवरो विजह्रिवान्यथोर्वशीं प्राप्य पुरा पुरूरवाः ॥ १० ॥
वपुष्टमा चापि वरं पतिव्रता प्रतीतरूपा समवाप्य भूपतिम् ।
भावेन रामा रमयाम्बभूव तं विहारकालेष्ववरोधसुन्दरी ॥ ११ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जनमेजयराज्याभिषेके चतुश्चत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४४ ॥

सब मन्त्रियों और नगर वासियों ने मिलकर उसके पुत्र का राजतिलक किया। उस शत्रुनाशी कौरव श्रेष्ठ पुत्र का नाम जनमेजय था। वह बुद्धिमान् कुरुवंशी राजाओं में श्रेष्ठ बालक अपने प्रपितामह राजा युधिष्ठिर के समान राज्यशासन करने लगा। मन्त्रियों ने उसके तेज को देखकर काशी के सुवर्णवर्मा नाम राजा से उसकी वपुष्टमा नाम कन्या जनमेजय से विवाह करने को मांगी। और काशी के राजा सुवर्णवर्मा ने भी वर को उत्तम जानकर उस कन्या का विवाह जनमेजय से कर दिया। और जनमेजय ने भी उस उत्तम स्त्री को पाकर दूसरी स्त्री की तरफ कभी दृष्टि न की। वह क्षत्रियों में उत्तम राजा जनमेजय खिले हुए कमल वाले तालाबों और वनों में उस स्त्री सहित ऐसे विहार करने लगा जैसे पहिले राजा पुरूरवा ने उर्वशी के साथ किया था। पतिव्रता और प्रसिद्ध रूपवाली बड़ी सुन्दरी वपुष्टमा रनवास में उस उत्तम पति जनमेजय को पाकर अनुराग से उसके चित्त को प्रसन्न रखने लगी ॥५।११॥

—०—

आदिपर्व का चौवालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४५ ॥

सौतिरुवाच—एतस्मिन्नेव काले तु जरत्कारुर्महातपाः ।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां यत्रसायंगृहो मुनिः ॥ १ ॥

पैंतालीसवां अध्याय ॥ ४५ ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो! इसी समय में महातपस्वी जरत्कारु नाम ऋषि पृथ्वी पर उस नियम को लिये हुए जो अजितेन्द्रिय पुरुषों से दुष्कर है पुण्य तीर्थों में स्नान करता हुआ विचर

चरन्दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ।
तीर्थेष्वाप्लवनं कृत्वा पुण्येषु विचचार ह ॥ २ ॥
वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्नहरहर्मुनिः ।
स ददर्श पितॄन्गर्ते लम्बमानानधोमुखान् ॥ ३ ॥
एकतन्त्ववशिष्टं वै वीरणस्तम्बमाश्रितान् ।
तं तन्तुं च शनैराखुमाददानं बिलेशयम् ॥ ४ ॥
निराहारान्कृशान्दीनान्गर्ते स्वत्राणमिच्छतः ।
उपसृत्य स तान्दीनान्दीनरूपोऽभ्यभाषत ॥ ५ ॥
के भवन्तोऽवलम्बन्ते वीरणस्तम्बमाश्रिताः ।
दुर्बलं खादितैर्मूलैराखुना बिलवासिना ॥ ६ ॥
वीरणस्तम्बके मूलं यदप्येकमिह स्थितम् ।
तदप्ययं शनैराखुरादत्ते दशनैः शितैः ॥ ७ ॥
छेत्स्यतेऽल्पावशिष्टत्वादेतदप्यचिरादिव ।
ततस्तु पतितारोऽत्र गर्ते व्यक्तमधोमुखाः ॥ ८ ॥
तस्य मे दुःखमुत्पन्नं दृष्ट्वा युष्मानधोमुखान् ।
कृच्छ्रमापदमापन्नान्प्रियं किं करवाणि वः ॥ ९ ॥
तपसोऽस्य चतुर्थेन तृतीयेनाथवा पुनः ।
अर्धेन वापि निस्तर्तुमापदं ब्रूत मा चिरम् ॥ १० ॥

रहा था। वह जरत्कारु वायु का भक्षणकर निराहार अपने शरीर को सुखाता था। उस ऋषि ने एक बड़े गढ़े में उलटे लटकते हुए अपने पितरों को देखा जो एक तिनके के सहारे लटके हुए थे और चूहे जिस जड़ को काट रहे थे। भोजन न करने से दुर्बल और दीन दुःखी जो उस गढ़े में अपने रक्षक की इच्छा कर रहे थे उनके निकट जाकर दुःखित होकर उनसे बोला—तुम कौन हो? जो इस तिनके के सहारे लटक रहे हो जिसका डंठल चूहों के खाने से बहुत कमज़ोर हो गया है ॥१।६॥

और इसका जो एक तन्तु शेष रह गया है उसको भी यह चूहा धीरे धीरे अपने तीक्ष्ण दांतों से काट रहा है। उसके काटे जाने पर तुम इस गढ़े में गिर पड़ोगे। तुमको नीचे की ओर मुख किये हुए और बड़ी कठिन आपत्ति में देखकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है सो मैं इस समय तुम्हारी क्या सेवा करूं। यदि मेरी तपस्या के चौथाई तीसरे अथवा आधे हिस्से से या पूर्ण तपस्या से आपका

अथवाऽपि समग्रेण तरंतु तपसा मम ।
भवंतः सर्व एवेह काममेवं विधीयताम् ॥ ११ ॥
पितर ऊचु—वृद्धो भवान्ब्रह्मचारी यो नस्त्रातुमिहेच्छसि ।
न तु विप्राग्र्य तपसा शक्यते तद्व्यपोहितुम् ॥ १२ ॥
अस्ति नस्तात तपसः फलं प्रवदतांवर ।
संतानप्रक्षयाद्ब्रह्मन्पताम निरयेऽशुचौ ॥ १३ ॥
संतानं हि परो धर्म एवमाह पितामहः ।
लम्बतामिह नस्तात न ज्ञानं प्रतिभाति वै ॥ १४ ॥
येन त्वां नाभिजानीमो लोके विख्यातपौरुषम् ।
वृद्धो भवान्महाभागो यो नः शोच्यान्सुदुःखितान् ॥ १५ ॥
शोचते चैव कारुण्याच्छृणु ये वै वयं द्विज ।
यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ॥ १६ ॥
लोकात्पुण्यादिह भ्रष्टाः संतानप्रक्षयान्मुने ।
प्रनष्टं नस्तपस्तीव्रं न हि नस्तन्तुरस्ति वै ॥ १७ ॥
अस्ति त्वेकोऽद्य नस्तन्तुः सोऽपि नास्ति यथा तथा ।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एकं समास्थितः ॥ १८ ॥

जरत्कारुरिति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः ।
नियतात्मा महात्मा च सुव्रतः सुमहातपाः ॥ १९ ॥
तेन स्म तपसो लोभात्कृच्छ्रमापादिता वयम् ।
न तस्य भार्या पुत्रो वा बान्धवो वाऽस्ति कश्चन ॥ २० ॥
तस्माल्लम्बामहे गर्ते नष्टसंज्ञा ह्यनाथवत् ।
स वक्तव्यस्त्वया दृष्टो ह्यस्माकं नाथवत्तया ॥ २१ ॥
पितरस्तेऽवलम्बन्ते गर्ते दीना अधोमुखाः ।
साधुदारान्कुरुष्वेति प्रजामुत्पादयेति च ॥ २२ ॥
कुलतन्तुर्हि नः शिष्टस्त्वमेवैकस्तपोधन ।
यस्त्वं पश्यसि नो ब्रह्मन्वीरणस्तम्बमाश्रितान् ॥ २३ ॥
एषोऽस्माकं कुलस्तम्ब आस्ते स्वकुलवर्धनः ।
यानि पश्यसि वै ब्रह्मन्मूलानीहास्य वीरुधः ॥ २४ ॥
एते नस्तन्तवस्तात कालेन परिभक्षिताः ।
यत्त्वेतत्पश्यसि ब्रह्मन्मूलमस्यार्धभक्षितम् ॥ २५ ॥
यत्र लम्बामहे गर्ते सोऽप्येकस्तप आस्थितः ।
यमाखुं पश्यसि ब्रह्मन्काल एष महाबलः ॥ २६ ॥
स तं तपोरतं मन्दं शनैः क्षपयते तुदन् ।
जरत्कारुं तपोलुब्धं मन्दात्मानमचेतसम् ॥ २७ ॥

उसका नाम जरत्कारु है । वह बड़ा तपस्वी वेद और वेदाङ्गों का जानने वाला है परन्तु उसके स्त्री नहीं और न कोई पुत्र या भाई है । इस कारण हम अनाथ के समान ज्ञान से रहित इस गढे में लटक रहे हैं । हे ब्राह्मण ! कहीं तुमको जरत्कारु मिले तो दया करके हमारा सब वृत्तान्त कहना और कहना कि तुम्हारे पिता गढे में नीचे की ओर मुख किये हुए लटक रहे हैं इस कारण तुम विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने का यत्न करो । हे ब्राह्मण ! यह मैंठे की जड़ जिसके सहारे हम लटके हुए हैं हमारे कुल को बढ़ाने वाला वंश है । उसको भी चूहारूपी महाकाल दिन रात्रि भक्षण करता चला जाता है । और जिसके सहारे से हम इसमें लटक रहे हैं वह हमारा पुत्र जरत्कारु है जो तपस्या में निमग्न है । वहां एक तार है और चूहा जिसको तुम देख रहे हो वह बड़ा बलवान् काल है । वह कालरूपी चूहा तपस्या में लगे हुए, बुद्धि से रहित और तपस्या के लोभ में युक्त और विचार रहित

अथवाऽपि समग्रेण तरंतु तपसा मम ।
भवंतः सर्व एवेह काममेवं विधीयताम् ॥ ११ ॥
पितर ऊचु—वृद्धो भवान्ब्रह्मचारी यो नस्त्रातुमिहेच्छसि ।
न तु विप्राग्र्य तपसा शक्यते तद्व्यपोहितुम् ॥ १२ ॥
अस्ति नस्तात तपसः फलं प्रवदतांवर ।
संतानप्रक्षयाद्ब्रह्मन्पताम निरयेऽशुचौ ॥ १३ ॥
संतानं हि परो धर्म एवमाह पितामहः ।
लम्बतामिह नस्तात न ज्ञानं प्रतिभाति वै ॥ १४ ॥
येन त्वां नाभिजानीमो लोके विख्यातपौरुषम् ।
वृद्धो भवान्महाभागो यो नः शोच्यान्सुदुःखितान् ॥ १५ ॥
शोचते चैव कारुण्याच्छृणु ये वै वयं द्विज ।
यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ॥ १६ ॥
लोकात्पुण्यादिह भ्रष्टाः संतानप्रक्षयान्मुने ।
प्रनष्टं नस्तपस्तीव्रं न हि नस्तन्तुरस्ति वै ॥ १७ ॥
अस्ति त्वेकोऽद्य नस्तन्तुः सोपि नास्ति यथा तथा ।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एकं समास्थितः ॥ १८ ॥

दुःख दूर होसके तो मैं देने को तय्यार हूं ॥७।१२॥

पितर बोले आप ब्रह्मचारी हैं और हमारी आपत्ति को देखकर हमारी रक्षा करनी चाहते हैं। हे ब्राह्मण ! तपस्या से यह हमारा दुःख दूर नहीं हो सकता। हे तात ! हमारे पास भी तपस्या का फल है हम केवल सन्तान के क्षय होने से अपवित्र नरक में जा रहे हैं। क्योंकि भगवान ब्रह्मा ने कहा है कि, सन्तान का होना बड़ा भारी कर्म है और इसमें लटकते हुए हमारा ज्ञान नष्ट हो गया है। तुम अवश्य कोई प्रसिद्ध पुरुष हो। किन्तु हम ऐसी अवस्था में इस गड्ढे के भीतर उल्टे लटके हैं, इसीसे तुमको पहचान नहीं सकते। तुम वृद्ध और महात्मा हो, इससे हमारी यह शोचनीय दशा देखकर तुमको दया आई है। हम तुमको अपना वृत्तांत सुनाते हैं—सुनो। हम उत्तम व्रतों के रखने वाले ययावर नाम ऋषि हैं। और हे मुनि ! पुण्यलोक में सन्तान क्षय होने के कारण हम यहां गिराये गये हैं। और आगे को सन्तान न होने से हमारी घोर तपस्या का फल नष्ट हो गया है। एक हमारे वंश का चलाने वाला पुत्र है हम भाग्यहीनों का वह भाग्यहीन जैसा हुआ वैसा न हुआ बराबर है क्योंकि वह तपस्या ही में लीन रहता है ॥१३।१८॥

—०—

जरत्कारुरिति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः ।
नियतात्मा महात्मा च सुव्रतः सुमहातपाः ॥ १९ ॥
तेन स्म तपसो लोभात्कृच्छ्रमापादिता वयम् ।
न तस्य भार्या पुत्रो वा बान्धवो वाऽस्ति कश्चन ॥ २० ॥
तस्माल्लम्बामहे गर्त्ते नष्टसंज्ञा ह्यनाथवत् ।
स वक्तव्यस्त्वया दृष्टो ह्यस्माकं नाथवत्तया ॥ २१ ॥
पितरस्तेऽवलम्बन्ते गर्ते दीना अधोमुखाः ।
साधुदारान्कुरुष्वेति प्रजामुत्पादयेति च ॥ २२ ॥
कुलतन्तुर्हि नः शिष्टस्त्वमेवैकस्तपोधन ।
यस्त्वंपश्यसि नो ब्रह्मन्वीरणस्तम्बमाश्रितान् ॥ २३ ॥
एषोऽस्माकं कुलस्तम्ब आस्ते स्वकुलवर्धनः ।
यानि पश्यसि वै ब्रह्मन्मूलानीहास्य वीरुधः ॥ २४ ॥
एते नस्तन्तवस्तात कालेन परिभक्षिताः ।
यत्त्वेनत्पश्यसि ब्रह्मन्मूलमस्यार्धभक्षितम् ॥ २५ ॥
यत्र लम्बामहे गर्ते सोऽप्येकस्तप आस्थितः ।
यमाखुं पश्यसि ब्रह्मन्काल एष महाबलः ॥ २६ ॥
स तं तपोरतं मन्दं शनैः क्षपयते तुदन् ।
जरत्कारुं तपोलब्धं मन्दात्मानमचेतसम् ॥ २७ ॥

उसका नाम जरत्कारु है । वह बड़ा तपस्वी वेद और वेदाङ्गों का जानने वाला है परन्तु उसके स्त्री नहीं और न कोई पुत्र या भाई है । इस कारण हम अनाथ के समान ज्ञान से रहित इस गढ़े में लटक रहे हैं । हे ब्राह्मण ! कहीं तुमको जरत्कारु मिले तो दया करके हमारा सब वृत्तान्त कहना और कहना कि तुम्हारे पिता गढ़े में नीचे की ओर मुख किये हुए लटक रहे हैं इस कारण तुम विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने का यत्न करो । हे ब्राह्मण ! यह मैंठ की जड़ जिसके सहारे हम लटके हुए हैं हमारे कुल को बढ़ाने वाला वंश है । उसको भी चूहारूपी महाकाल दिन रात्रि भक्षण करता चला जाता है । और जिसके सहारे से हम इसमें लटक रहे हैं वह हमारा पुत्र जरत्कारु है जो तपस्या में निमग्न है । यही एक तार है और चूहा जिसको तुम देख रहे हो वह बड़ा बलवान काल है । यह कालरूपी चूहा तपस्या में लगे हुए, बुद्धि से रहित और तपस्या के लोभ से युक्त और विचार रहित

न हि नस्तत्तपस्तस्य तारयिष्यति सत्तम ।
छिन्नमूलान्परिभ्रष्टान्कालोपहतचेतसः ॥ २८ ॥
अधः प्रविष्टान्पश्यास्मान्यथा दुष्कृतिनस्तथा ।
अस्मासु पतितेष्वत्र सह सर्वैः सबान्धवैः ॥ २९ ॥
छिन्नः कालेन सोऽप्यत्र गन्ता वै नरकं ततः ।
तपो वाऽप्यथवा यज्ञो यच्चान्यत्पावनं महत् ॥ ३० ॥
तत्सर्वमपरं तात न संतत्या समं मतम् ।
स तात दृष्ट्वा ब्रूयास्तं जरत्कारुं तपोधन ॥ ३१ ॥
यथा दृष्टमिदं चात्र त्वयाऽऽख्येयमशेषतः ।
यथा दारान्प्रकुर्यात्स पुत्रानुत्पादयेद्यथा ॥ ३२ ॥
तथा ब्रह्मंस्त्वया वाच्यः सोऽस्माकं नाथवत्तया ।
बान्धवानां हि तस्येह यथा चात्मकुलं तथा ॥ ३३ ॥
कस्त्वं बन्धुमिवास्माकमनुशोचसि सत्तम ।
श्रोतुमिच्छाम सर्वेषां को भवानिह तिष्ठति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुपितृदर्शने पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

पाषाण के सदृश उस जरत्कारु को काट रहा है ॥१०।२७॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! उसकी तपस्या हमको नहीं तारेगी जिनकी जड़ कट गई और काल जिसका ज्ञान नष्ट हो गया पापियों के समान अधोगति को जाते हुए हमको देख और हमारे सब बान्धवों सहित नरक में जाने पर काल से खाया हुआ यह भी नरक को जावेगा। तप यज्ञ या और कुछ पवित्र कर्म यह सब सन्तान के बराबर नहीं है। हे तात ! हमको ऐसा देखकर हमारे पुत्र जरत्कारु से हमारी दशा ठीक रीति से कह देना। जैसा तुमने यहां देखा है सब वार्त्ता कहनी योग्य है और जिस प्रकार वह विवाह कर पुत्रों को उत्पन्न करे। हे ब्राह्मण ! हमारे ऊपर दया करके यह वचन हमारे पुत्र से कहना। आपने हमारे ऊपर दया करके जैसे कोई भाई बान्धव करता है हमारा दुःख पूछा। तुम कौन हो हम सुनना चाहते हैं ॥२८।३४॥

—०—

आदिपर्व का पैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

सौतिरुवाच—एतच्छ्रुत्वा जरत्कारुर्भृशं शोकपरायणः ।
उवाच तान्पितॄन्दुःखाद्बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ १ ॥

जरत्कारुरुवाच—मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
तद्ब्रूत यन्मया कार्यं भवतां प्रियकाम्यया ॥ २ ॥
अहमेव जरत्कारुः किल्बिषी भवतां सुतः ।
ते दण्डं धारयत मे दुष्कृतेरकृतात्मनः ॥ ३ ॥
पितर ऊचुः—पुत्र दिष्ट्याऽसि संप्राप्त इमं देशं यदृच्छया ।
किमर्थं च त्वया ब्रह्मन्न कृतो दारसंग्रहः ॥ ४ ॥
जरत्कारुरुवाच—ममायं पितरो नित्यं हृद्यर्थः परिवर्त्तते ।
ऊर्ध्वरेताः शरीरं वै प्रापयेयममुत्र वै ॥ ५ ॥
न दारान्वै करिष्येऽहमिति मे भावितं मनः ।
एवं दृष्ट्वा तु भवतः शकुन्तानिव लम्बतः ॥ ६ ॥
मया निवर्त्तिता बुद्धिर्ब्रह्मचर्यात्पितामहाः ।
करिष्ये वः प्रियं कामं निवेक्ष्येऽहसंशयम् ॥ ७ ॥
सनाम्नीं यद्यहं कन्यामुपलप्स्ये कदाचन ।
भविष्यति च या काचिद्भैक्ष्यवत्स्वयमुद्यता ॥ ८ ॥
प्रतिग्रहीता तामस्मि न भरेयं च यामहम् ।
एवंविधमहं कुर्यां निवेशं प्राप्नुयां यदि ।
अन्यथा न करिष्येऽहं सत्यमेतत्पितामहाः ॥ ९ ॥

॥ छियालीसवां अध्याय ४६ ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो ! पितरों के मुख से यह हाल सुनकर जरत्कारु को बड़ा दुःख और शोक हुआ। आंसुओं से गद्गद् होकर अपने पितरों से बोला—मेरे आप पितर हैं, कहो मैं आपके लिये क्या प्रिय कार्य करूं। आपका पुत्र पापयुक्त मैं ही जरत्कारु हूं और मैं दण्ड देने के योग्य हूं। पितर बोले हे पुत्र ! तुम इच्छानुसार घूमते हुए हमारे सौभाग्य से इस देश में आगये हो, कहो तो सही, तुमने क्यों विवाह नहीं किया। जरत्कारु बोला हे पितरो ! मेरे हृदय में यह वार्त्ता सदा है कि, अखण्डित ब्रह्मचारी रहूंगा और मन ही मन में ऐसा निश्चय किया था कि कभी विवाह नहीं करूंगा। परन्तु अब मैं आपको यहां पक्षियों के समान इस प्रकार लटकते हुए देखकर ब्रह्मचर्य को छोड़ता हूं। मैं आपका प्रिय कार्य करूंगा किन्तु शर्त यह है कि, यदि मेरे ही नाम वाली कन्या मिलेगी और उसके भाई पिता आदि स्वजन भिक्षा के तौर आपही मुझे देंगे तभी मैं

न हि नस्तत्तपस्तस्य तारयिष्यति सत्तम ।
छिन्नमूलान्परिभ्रष्टान्कालोपहतचेतसः ॥ २८ ॥
अधः प्रविष्टान्पश्यास्मान्यथा दुष्कृतिनस्तथा ।
अस्मासु पतितेष्वत्र सह सर्वैः सबान्धवैः ॥ २९ ॥
छिन्नः कालेन सोऽप्यत्र गन्ता वै नरकं ततः ।
तपो वाऽप्यथवा यज्ञो यच्चान्यत्पावनं महत् ॥ ३० ॥
तत्सर्वमपरं तात न संतत्या समं मतम् ।
स तात दृष्ट्वा ब्रूयास्तं जरत्कारुं तपोधन ॥ ३१ ॥
यथा दृष्टमिदं चात्र त्वयाऽऽख्येयमशेषतः ।
यथा दारान्प्रकुर्यात्स पुत्रानुत्पादयेद्यथा ॥ ३२ ॥
तथा ब्रह्मंस्त्वया वाच्यः सोऽस्माकं नाथवत्तया ।
बान्धवानां हि तस्येह यथा चात्मकुलं तथा ॥ ३३ ॥
कस्त्वं बन्धुमिवा स्माकमनुशोचसि सत्तम ।
श्रोतुमिच्छाम सर्वेषां को भवानिह तिष्ठति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुपितृदर्शने पञ्चचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४५ ॥

पाषाण के सदृश उस जरत्कारु को काट रहा है ॥१०।२७॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! उसकी तपस्या हमको नहीं तारेगी जिनकी जड़ कट गई और काल जिसका ज्ञान नष्ट हो गया पापियों के समान अधोगति को जाते हुए हमको देख और हमारे सब बान्धवों सहित नरक में जाने पर काल से खाया हुआ यह भी नरक को जावेगा। तप यज्ञ या और कुछ पवित्र कर्म यह सब सन्तान के बराबर नहीं है। हे तात ! हमको ऐसा देखकर हमारे पुत्र जरत्कारु से हमारी दशा ठीक रीति से कह देना। जैसा तुमने यहा देखा है सब वार्त्ता कहनी योग्य है और जिस प्रकार वह विवाह कर पुत्रों को उत्पन्न करे। हे ब्राह्मण ! हमारे ऊपर दया करके यह बचन हमारे पुत्र से कहना। आपने हमारे ऊपर दया करके जैसे कोई भाई बांधव करता है हमारा दुःख पूछा। तुम कौन हो ? हम सुनना चाहते है ॥२८।३४॥

—०—

आदिपर्व का पैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४६ ॥

सौतिरुवाच—एतच्छ्रुत्वा जरत्कारुर्भृशं शोकपरायणः ।
उवाच तान्पितॄन्दुःखाद्बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ १ ॥

ततस्ते पन्नगा ये वै जरत्कारौ समाहिताः ।
तामादाय प्रवृत्तिं ते वासुकेः प्रत्यवेदयन ॥ १९ ॥
तेषां श्रुत्वा स नागेन्द्रस्तां कन्यां समलंकृताम् ।
प्रगृह्यारण्यमगमत्समीपं तस्य पन्नगः ॥ २० ॥
तत्र तां भैक्ष्यवत्कन्यां प्रादात्तस्मै महात्मने ।
नागेन्द्रो वासुकिर्ब्रह्मन्न स तां प्रत्यगृह्णत ॥ २१ ॥
असनामेति वै मत्वा भरणे चाविचारिते ।
मोक्षभावे स्थितश्चापि द्वन्द्वभूतः परिग्रहे ॥ २२ ॥
ततो नाम स कन्यायाः पप्रच्छ भृगुनन्दन ।
वासुकिं भरणं चास्या न कुर्यामित्युवाच ह ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुकिजरत्कारुसमागमे षट्चत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४६ ॥

आये और कहने लगे कि हे महाराज ! जरत्कारु विवाह के लिये अब कन्या की तलाश में फिरते हैं । यह सुनकर वासुकि अपनी बहिन को वस्त्रादि पहिराकर उस ब्राह्मण के समीप जङ्गल में गया । हे ब्राह्मण शौनक ! सर्पों के स्वामि वासुकि ने वहां जाकर वह कन्या उस महात्मा को भिक्षा के समान दी । और उसने अपने नाम वाली न जान कर और पालन के विचार के न होने से और विवाह का करना दुःख का कारण है इत्यादि बातों को सोचकर उसको ग्रहण न किया । इसके पश्चात् हे भृगुनन्दन ! उस ऋषि ने वासुकि से कन्या का नाम पूछा और कहा कि, मैं इसका पालन न करूंगा ॥१९।२३॥

—०—

आदिपर्व का छियालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

सौतिरुवाच—वासुकिस्त्वब्रवीद्वाक्यं जरत्कारुमृषिं तदा ।
सनाम्नी तव कन्येयं स्वसा मे तपसान्विता ॥ १ ॥
भरिष्यामि च ते भार्यां प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ।
रक्षणं च करिष्येऽस्याः सर्वशक्त्या तपोधन ।
त्वदर्थं रक्ष्यते चैषा मया मुनिवरोत्तम ॥ २ ॥

॥ सैंतालीसवां अध्याय ४७ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो ! जरत्कारु की यह बात सुनकर वासुकि बोला यह मेरी बहिन तपस्विनी जरत्कारु नाम की है । हे ब्राह्मण ! मैं अपनी बहिन का पालन पोषण करूंगा, आप इस बात की चिन्ता

तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै ।
शाश्वताश्चाव्ययाश्चैव तिष्ठन्तु पितरो मम ॥ १० ॥

सौतिरुवाच—एवमुक्त्वा तु स पितॄंश्चचार पृथिवीं मुनिः ।
न च स्म लभते भार्यां वृद्धोऽयमिति शौनक ॥ ११ ॥
यदा निर्वेदमापन्नः पितृभिश्चोदितस्तथा ।
तदाऽरण्यं स गत्वोच्चैश्चुक्रोश भृशदुःखितः ॥ १२ ॥
स त्वरण्यगतः प्राज्ञः पितॄणां हितकाम्यया ।
उवाच कन्यां याचामि तिस्रो वाचः शनैरिमाः ॥ १३ ॥
यानि भूतानि सन्तीह स्थावराणि चराणि च ।
अंतर्हितानि वा यानि तानि शृण्वन्तु मे वचः ॥ १४ ॥
उग्रे तपसि वर्त्तन्ते पितरश्चोदयन्ति माम् ।
निविशस्वेति दुःखार्ताः संतानस्य चिकीर्षया ॥ १५ ॥
निवेशायाखिलां भूमिं कन्या भैक्ष्यं चरामि भोः ।
दरिद्रो दुःखशीलश्च पितृभिः संनियोजितः ॥ १६ ॥
यस्य कन्यास्ति भूतस्य ये मयेह प्रकीर्तिताः ।
ते मे कन्यां प्रयच्छन्तु चरतः सर्वतो दिशम् ॥ १७ ॥
मम कन्या सनाम्नी या भैक्ष्यवच्चोदिता भवेत् ।
भरेयं चैव यां नाहं तां मे कन्यां प्रयच्छत ॥ १८ ॥

विवाह करूंगा। उस कन्या का भरण-पोषण भी मुझे न करना पड़े। हे पितरो! इस प्रकार यदि कन्या प्राप्त हुई तो मैं विवाह करूंगा अन्यथा नहीं। उस स्त्री से जो सन्तान उत्पन्न होगी वही आपका उद्धार करेगी और फिर आप सदा सुख से निवास करो ॥९।१०॥

उस मुनि ने पितरों से यह कहकर फिर वहां से गमन किया। उसको वृद्ध जानकर किसी ने कन्या न दी तब दुःखी होकर वन में चले गये और धीरे धीरे कहा कि, मैं अपने पितरों का दुःख दूर करने को अपना विवाह पितरों के कहने से करना चाहता हूं। जो स्थावर या जंगम जो छिपे हुए या प्रगट जीव है वह मेरे इस वचन को सुनें। मुझ दरिद्री को कोई अपनी कन्या जिसका भरण-पोषण मुझे न करना पड़े और जिसका नाम मेरा जैसा हो भिक्षा में दे ॥११।१८॥

इसके उपरान्त जरत्कारु के ऐसा कहने पर वासुकि नाग के भेजे हुए सर्प वासुकि के पास

ततस्ते पन्नगा ये वै जरत्कारौ समाहिताः ।
तामादाय प्रवृत्तिं ते वासुकेः प्रत्यवेदयन् ॥ १९ ॥
तेषां श्रुत्वा स नागेन्द्रस्तां कन्यां समलंकृताम् ।
प्रगृह्यारण्यमगमत्समीपं तस्य पन्नगः ॥ २० ॥
तत्र तां भैक्ष्यवत्कन्यां प्रादात्तस्मै महात्मने ।
नागेन्द्रो वासुकिर्ब्रह्मन्न स तां प्रत्यगृह्णत ॥ २१ ॥
असनामेति वै मत्वा भरणे चाविचारिते ।
मोक्षभावे स्थितश्चापि द्वन्द्वभूतः परिग्रहे ॥ २२ ॥
ततो नाम स कन्यायाः पप्रच्छ भृगुनन्दन ।
वासुकिं भरणं चास्या न कुर्यामित्युवाच ह ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुकिजरत्कारुसमागमे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

आये और कहने लगे कि, हे महाराज ! जरत्कारु विवाह के लिये अब कन्या की तलाश में फिरते हैं । यह सुनकर वासुकि अपनी बहिन को वस्त्रादि पहिराकर उस ब्राह्मण के समीप जंगल में गया । हे ब्राह्मण शौनक ! सर्पों के स्वामि वासुकि ने वहां जाकर यह कन्या उस महात्मा को भिक्षा के समान दी । और उसने अपने नाम वाली न जान कर और पालन के विचार के न होने से और विवाह का करना दुःख का कारण है इत्यादि बातों को सोचकर उसको ग्रहण न किया । इसके पश्चात् हे भृगुनन्दन ! उस ऋषि ने वासुकि से कन्या का नाम पूछा और कहा कि, मैं इसका पालन न करूंगा ॥१९।२३॥

—०—

आदिपर्व का छेतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

सौतिरुवाच—वासुकिस्त्वब्रवीद्वाक्यं जरत्कारुमृषिं तदा ।
सनाम्नी तव कन्येयं स्वसा मे तपसान्विता ॥ १ ॥
भरिष्यामि च ते भार्यां प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ।
रक्षणं च करिष्येऽस्याः सर्वशक्त्या तपोधन ।
त्वदर्थं रक्ष्यते चैषा मया मुनिवरोत्तम ॥ २ ॥

॥ सैंतालीसवां अध्याय ४७ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो ! जरत्कारु की यह बात सुनकर वासुकि बोला यह मेरी बहिन तपस्विनी जरत्कारु नाम की है । हे ब्राह्मण ! मैं अपनी बहिन का पालन पोषण करूंगा, आप इस बात की चिन्ता

ऋषिरुवाच—न भरिष्येऽहमेतां वै एष मे समयः कृतः ।
अप्रियं च न कर्त्तव्यं कृते चैनां त्यजाम्यहम् ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच—प्रतिश्रुते तु नागेन भरिष्ये भगिनीमिति ।
जरत्कारुस्तदा वेश्म भुजगस्य जगाम ह ॥ ४ ॥
तत्र मन्त्रविदां श्रेष्ठस्तपोवृद्धो महाव्रतः ।
जग्राह पाणिं धर्मात्मा विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥
ततो वासगृहं रम्यं पन्नगेन्द्रस्य संमतम् ।
जगाम भार्यामादाय स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ६ ॥
शयनं तत्र संक्लृप्तं स्पर्ध्यास्तरणसंवृतम् ।
तत्र भार्यासहायो वै जरत्कारुरुवास ह ॥ ७ ॥
स तत्र समयं चक्रे भार्यया सह सत्तमः ।
विप्रियं मे न कर्त्तव्यं न च वाच्यं कदाचन ॥ ८ ॥
त्यजेयं विप्रिये च त्वां कृते वासं च ते गृहे ।
एतद्गृहाण वचनं मया यत्समुदीरितम् ॥ ९ ॥
ततः परमसंविग्ना स्वसा नागपतेस्तदा ।
अतिदुःखान्विता वाक्यं तमुवाचैवमस्त्विति ॥ १० ॥
तथैव सा च भर्त्तारं दुःखशीलमुपाचरत् ।
उपायैः श्वेतकाकीयैःप्रियकामा यशस्विनी ॥ ११ ॥

न करे। जरत्कारु बोला हे मुनिवर! यह कन्या तेरे ही लिये रक्खी है। जरत्कारु बोला परन्तु यदि यह तेरी बहिन किसी प्रकार मेरी आज्ञा का पालन न करेगी तो मैं इसको त्याग दूंगा। उग्रश्रवा बोले यह सुनकर जरत्कारु वासुकि के साथ घर को गया। वहां जाकर वेदों के जानने वालों मे श्रेष्ठ तपोवृद्ध बड़े यश वाले सर्पों का राजा वासुकि की सम्मति के अनुसार एक बहुत सुन्दर रमणीय घर में ऋषियों से स्तुति किया हुआ जरत्कारु स्त्री सहित चला गया। उस घर में बड़े श्रेष्ठ बिछौने बिछे हुए पलंगो पर जरत्कारु ऋषि अपनी स्त्री के साथ बड़े सुख से रहने लगा ॥१।७॥

अपनी स्त्री से कहा कि, इच्छा के विपरीत न करना यदि ऐसा करोगी तो मैं तुमको छोड़कर चला जाऊंगा। इस मेरे कहे हुए वाक्य को तुम ग्रहण करो। वासुकि की बहिन दुःख से व्याकुल होकर बोली कि, ऐसे ही होगा। उसी प्रकार वह अपने पति की आज्ञानुसार चलने लगी। वह अपने

ऋतुकाले ततः स्नाता कदाचिद्वासुकेः स्वसा ।
भर्त्तारं वै यथान्यायमुपतस्थे महामुनिम् ॥ १२ ॥
तत्र तस्याः समभवद्गर्भो ज्वलनसन्निभः ।
अतीव तेजसा युक्तो वैश्वानरसमद्युतिः ॥ १३ ॥
शुक्लपक्षे यथा सोमो व्यवर्धत तथैव सः ।
ततः कतिपयाहस्य जरत्कारुर्महायशाः ॥ १४ ॥
उत्सङ्गेऽस्याः शिरः कृत्वा सुष्वाप परिखिन्नवत् ।
तस्मिंश्च सुप्ते विप्रेन्द्रे सवितास्तमियाद्गिरिम् ॥ १५ ॥
अह्नः परिक्षये ब्रह्मंस्ततः साऽचिन्तयत्तदा ।
वासुकेर्भगिनी भीता धर्मलोपान्मनस्विनी ॥ १६ ॥
किं नु मे सुकृतं भूयाद्भर्तुरुत्थापनं न वा ।
दुःखशीलो हि धर्मात्मा कथं नास्यापराध्नुयाम् ॥ १७ ॥
कोपो वा धर्मशीलस्य धर्मलोपोऽथ वा पुनः ।
धर्मलोपो गरीयान्वै स्यादित्यत्राकरोन्मतिम् ॥ १८ ॥
उत्थापयिष्ये यद्येनं ध्रुवं कोपं करिष्यति ।
धर्मलोपो भवेदस्य सन्ध्यातिक्रमणे ध्रुवम् ॥ १९ ॥

पति को प्रसन्न रखने की इच्छा करने वाली वह यशवाली वासुकि की बहिन कुत्ते और बगुले के जो आचरण हैं उन उपायों से अपने स्वामी की सेवा करने लगी। इसके पश्चात् ऋतुस्नान के आने पर वह वासुकि की बहिन योग्यता से महामुनि पति के पास गई और वहां अग्नि के समान तेजस्वी और बड़ा प्रतापशाली और बड़ा प्रतापी गर्भ उसको स्थित हुआ ॥८।१३॥

वह गर्भ दिन दिन ऐसे बढ़ता था जैसे शुक्ल-पक्ष में चन्द्रमा बढ़ता है। इसके उपरान्त एक दिन जरत्कारु अपनी स्त्री की गोद में सिर रखकर सो गया। जब सायंकाल हुआ और सूर्य अस्त होने लगा तब उस समय वह संध्या करने का समय जानकर वासुकि की बहिन भयभीत होकर विचारने लगी, "यदि मैं मुनि को जगाती हूं तो मुनीश्वर मुझपर क्रोध करेंगे और जो नहीं जगाती हूं तो सन्ध्या समय के बीत जाने पर धर्म का लोप होगा" और इस प्रकार से कुछ सङ्कल्प विकल्प करके अन्त में धर्म का लोप होना बड़ा दोष समझकर उस तपस्या से प्रकाशमान् और अग्नि के समान तेजस्वी से अत्यन्त मधुर बोली से बोलने लगी कि, हे महा-भाग ! अब सायकाल हो गया है, सूर्य अस्त होने वाला है, आप उठ करके हे भगवन्! आचमन कर, नियम से सन्ध्या करो। जलती हुई अग्नि में हवन

इति निश्चित्य मनसा जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
तमृषिं दीप्ततपसं शयानमनलोपमम् ॥ २० ॥
उवाचेदं वचः श्लक्ष्णं ततो मधुरभाषिणी ।
उत्तिष्ठ त्वं महाभाग सूर्योऽस्तमुपगच्छति ॥ २१ ॥
सन्ध्यामुपास्व भगवन्नपः स्पृष्ट्वा यतव्रतः ।
प्रादुष्कृताऽग्निहोत्रोऽयं मुहूर्तो रम्यदारुणः ॥ २२ ॥
सन्ध्या प्रवर्त्तते चेयं पश्चिमायां दिशि प्रभो ।
एवमुक्तः स भगवाञ्जरत्कारुर्महातपाः ॥ २३ ॥
भार्यां प्रस्फुरमाणौष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
अवमानः प्रयुक्तोऽयं त्वया मम भुजङ्गमे ॥ २४ ॥
समीपे तेन वत्स्यामि गमिष्यामि यथागतम् ।
शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः ॥ २५ ॥
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्त्तते ।
न चाऽप्यवमतस्येह वासो रोचेत कस्यचित् ॥ २६ ॥
किं पुनर्धर्मशीलस्य मम वा मद्विधस्य वा ।
एवमुक्ता जरत्कारुर्भर्त्रा हृदयकम्पनम् ॥ २७ ॥
अब्रवीद्भगिनी तत्र वासुकेः संनिवेशने ।
नाऽवमानात्कृतवती तवाऽहं विप्र बोधनम् ॥ २८ ॥

करो। यह मुहूर्त मनोहर और दारुण है और हे स्वामी! सन्ध्या समय प्रवृत्त है ऐसा कहने पर वह बड़ा तपस्वी जरत्कारु क्रोधयुक्त होकर उठा और अपनी भार्या से बोला कि, तुमने मेरा अपमान किया है ॥ २१-२४ ॥

अब मैं तुम्हारे पास न रहकर अपनी इच्छा के अनुसार देश को चला जाऊंगा। और सूर्य मेरी आज्ञा लिये बिना अस्ताचल को जाने की शक्ति नहीं रखता यह मुझको निश्चय है। जहां हमारे जैसे मनुष्यों का अपमान होता है वहां हम रहना उचित नहीं समझते हैं मुझ जैसे धर्मात्मा को कैसे अच्छा लग सकता है। वह वासुकि की बहिन इस प्रकार पति के हृदय को कँपाने वाले वचन सुनकर उसी स्थान में बैठी हुई बोली—हे ब्राह्मण! अपमानार्थ मैंने आपको नहीं जगाया है। आपके धर्म का लोप न हो यह समझकर मैंने आपको जगाया है। ऐसा कहने पर जरत्कारु अपनी भार्या से बोला—मेरा कहना कभी अन्यथा नहीं होता और अब मैं

धर्मलोपो न ते विप्रस्यादित्येतन्मया कृतम् ।
उवाच भार्यामित्युक्तो जरत्कारुर्महातपाः ॥ २९ ॥
ऋषिः कोपसमाविष्टस्त्यक्तुकामो भुजङ्गमाम् ।
न मे वागनृतं प्राह गमिष्येऽहं भुजङ्गमे ॥ ३० ॥
समयो ह्येष मे पूर्वं त्वया सह मिथः कृतः ।
सुखमस्म्युषितो भद्रे ब्रूयास्त्वं भ्रातरं शुभे ॥ ३१ ॥
इतो मयि गते भीरु गतः स भगवानिति ।
त्वं चापि मयि निष्क्रान्ते न शोकं कर्तुमर्हसि ॥ ३२ ॥
इत्युक्ता साऽनवद्याङ्गी प्रत्युवाच मुनिं तदा ।
जरत्कारुं जरत्कारुश्चिन्ताशोकपरायणा ॥ ३३ ॥
बाष्पगद्गदया वाचा मुखेन परिशुष्यता ।
कृताञ्जलिर्वरारोहा पर्यश्रुनयना ततः ॥ ३४ ॥
धैर्यमालम्ब्य वामोरुर्हृदयेन प्रवेपता ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ॥ ३५ ॥
धर्मे स्थितां स्थितो धर्मे सदा प्रियहिते रताम् ।
प्रदाने कारणं यच्च मम तुभ्यं द्विजोत्तम ॥ ३६ ॥
तदलब्धवतीं मन्दां किं मां वक्ष्यति वासुकिः ।
मातृशापाभिभूतानां ज्ञातीनां मम सत्तम ॥ ३७ ॥

तुमको त्यागकर जाऊँगा ॥२५।३०॥

मैंने तुमसे पहले यह नियम कर लिया था मैं यहां बहुत सुख से रहा। मेरे चले जाने पर तुम अपने भाई से कहना कि, वह ब्राह्मण चला गया है। मेरे जाने पर तुम शोक न करना। ऐसा कहने पर चिन्ता और शोक में भरी हुई वह वासुकि की बहिन जरत्कारु आंसुओं के बहने से गद्‌गद् कण्ठयुक्त और सूखे मुख से हाथ जोड़कर, काँपते हुए हृदय से, धैर्य्य धारण करके उस मुनि से बोली—

हे धर्मज्ञ! आप मुझ निरपराधिनी को छोड़ने के योग्य नहीं हो जो मैं धर्मस्थिति और आपकी हित-चिंतिका हूं और आप भी धर्मज्ञ हैं। हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ! जिस प्रयोजन से मुझे आपको दिया वह भी मुझ मन्दभागवाली को न प्राप्त हुआ। अब मेरा भाई वासुकि मुझको क्या कहेगा और माता के शाप से युक्त जो सर्प हैं उनको आपसे मेरे सन्तान होने की इच्छा थी सो वह कार्य मुझको अभी प्रतीत नहीं होता है और आपसे जो सन्तान का

अपत्यमीप्सितं त्वत्तस्तच्च तावन्न दृश्यते ।
त्वत्तो ह्यपत्यलाभेन ज्ञातीनां मे शिवं भवेत् ॥ ३८ ॥
संप्रयोगो भवेन्नाऽयं मम मोघस्त्वया द्विज ।
ज्ञातीनां हितमिच्छन्ती भगवंस्त्वां प्रसादये ॥ ३९ ॥
इममव्यक्तरूपं मे गर्भमाधाय सत्तम ।
कथं त्यक्त्वा महात्मा सन्गन्तुमिच्छस्यनागसम् ॥ ४० ॥
एवमुक्तस्तु स मुनिर्भार्या वचनमब्रवीत् ।
यद्युक्तमनुरूपं च जरत्कारुं तपोधनः ॥ ४१ ॥
अस्त्ययं सुभगे गर्भस्तव वैश्वानरोपमः ।
ऋषिः परमधर्मात्मा वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ४२ ॥
एवमुक्त्वा स धर्मात्मा जरत्कारुर्महानृषिः ।
उग्राय तपसे भूयो जगाम कृतनिश्चयः ॥ ४३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुकिजरत्कारुसमागमे सप्तचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४७ ॥

मुझको लाभ होगा वह मेरे जाति के सर्पों का कल्याणकारी है ॥३१।३८॥

हे भगवन ! अपने बान्धवों के हित की इच्छा करती हुई मैं आपके और अपने सम्बन्ध के सफल होने की इच्छा से प्रार्थना करती हू कि, आप प्रसन्न हों। हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! जिसका निश्चय नहीं कि, क्या होगा ऐसे गर्भ को और मुझ निरपराधिनी को छोडकर आप क्यों जाने की इच्छा करते है। इस प्रकार उसके वचन को सुनकर वह जरत्कारु अपनी भार्या से बोला—हे शुभगे ! मुझ से तुम्हारे गर्भ स्थापन हुआ है। वह बडा तपस्वी और तेजस्वी वेद और वेदाङ्गों के जानने वाला ऋषि उत्पन्न होगा। वह जरत्कारु से महात्मा महर्षि ऐसा कहकर और तपस्या का निश्चय करके उग्रतप करने को चले गये ॥३९।४३॥

— ० —

आदिपर्व का सैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४८ ॥

सौतिरुवाच—गतमात्रं तु भर्तारं जरत्कारुरवेदयत् ।
भ्रातुः सकाशमागत्य याथातथ्यं तपोधन ॥ १ ॥

अड़तालीसवा अध्याय ॥ ४८ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो ! पति के जाते ही जरत्कारु ने अपने भाई वासुकि के समीप जाकर यथार्थ रीति से पति के जाने का हाल कहा। वासुकि ने यह वचन सुनकर अत्यन्त दीन होकर

ततः स भुजगश्रेष्ठः श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
उवाच भगिनीं दीनां तदा दीनतरः स्वयम् ॥ २ ॥

वासुकिरुवाच—जानासि भद्रे यत्कार्यं प्रदाने कारणं च यत् ।
पन्नगानां हितार्थाय पुत्रस्ते स्यात्ततो यदि ॥ ३ ॥
स सर्पसत्रात्किल नो मोक्षयिष्यति वीर्यवान् ।
एवं पितामहः पूर्वमुक्तवांस्तु सुरैः सह ॥ ४ ॥
अप्यस्ति गर्भः सुभगे तस्मात्ते मुनिसत्तमात् ।
न चेच्छाम्यफलं तस्य दारकर्म मनीषिणः ॥ ५ ॥
कामं च मम न न्याय्यं प्रष्टुं त्वां कार्यमीदृशम् ।
किं तु कार्यगरीयस्त्वात्ततस्त्वाऽहमचूचुदम् ॥ ६ ॥
दुर्वार्यतां विदित्वा च भर्तुस्तेऽतितपस्विनः ।
नैनमन्वागमिष्यामि कदाचिद्धि शपेत्स माम् ॥ ७ ॥
आचक्ष्व भद्रे भर्तुः स्वं सर्वमेव विचेष्टितम् ।
उद्धरस्व च शल्यं मे घोरं हृदि चिरस्थितम् ॥ ८ ॥
जरत्कारुस्ततो वाक्यमित्युक्त्वा प्रत्यभाषत ।
आश्वासयन्ती संतप्तं वासुकिं पन्नगेश्वरम् ॥ ९ ॥

जरत्कारुरुवाच पृष्टो मयापत्यहेतोः स महात्मा महातपाः ।
अस्तीत्युत्तरमुद्दिश्य ममेदं गतवांश्च सः ॥ १० ॥

उसने अपनी बहिन जरत्कारु से कहा कि, हे भद्रे! तू जानती है कि, किसलिये तुझे मैंने जरत्कारु को दिया था जो उस महात्मा से तेरे एक पुत्र उत्पन्न हो तो वह हम सबकी सर्पों के यज्ञ में रक्षा करे। और पहले यही बात देवताओं से ब्रह्मा जी ने कही थी। हे शुभगे! यद्यपि यह बात तुझसे पूछनी अयोग्य है परन्तु बड़ा काम होने से मुझे यह बात तुझसे पूछनी पड़ी कि, तुझे उस महात्मा से गर्भ भी हुआ है या नहीं। तेरे उस तपस्वी पति के लौटाने को कठिन समझकर मैं नहीं जाऊँगा कदापि मुझको शाप दे देवे। हे भद्रे! तू अपने पति की सम्पूर्ण चेष्टाओं को कह और मेरे हृदय में से इस घोर क्लेश को दूर कर ॥१।८॥

वह वासुकि की बहिन जरत्कारु इस प्रकार वासुकि के वचन सुनकर उसके हृदय को आनन्द देती हुई बोली—उस महात्मा से सन्तान के लिये मैंने पूछा था और वह मुझसे ऐसा कहकर चला गया। हँसी के समय भी उसके झूठ बोलने का स्मरण

स्वैरेष्वपि न तेनाहं स्मरामि वितथं वचः ।
उक्तपूर्वं कुतो राजन्सांपराये स वक्ष्यति ॥ ११ ॥
न संतापस्त्वया कार्यः कार्यं प्रति भुजङ्गमे ।
उत्पत्स्यति च ते पुत्रो ज्वलनार्कसमप्रभः ॥ १२ ॥
इत्युक्त्वा स हि मां भ्रातर्गतो भर्ता तपोधनः ।
तस्माद्व्येतु परं दुःखं तवेदं मनसि स्थितम् ॥ १३ ॥
सौतिरुवाच—एतच्छ्रुत्वा स नागेन्द्रो वासुकिः परया मुदा ।
एवमस्त्विति तद्वाक्यं भगिन्याः प्रत्यगृह्णत ॥ १४ ॥
सान्त्वमानार्थदानैश्च पूजया चारुरूपया ।
सोदर्यां पूजयामास स्वसारं पन्नगोत्तमः ॥ १५ ॥
ततः प्रववृधे गर्भो महातेजा महाप्रभः ।
यथा सोमो द्विजश्रेष्ठ शुक्लपक्षोदितो दिवि ॥ १६ ॥
अथ काले तु सा ब्रह्मन्प्रजज्ञे भुजगस्वसा ।
कुमारं देवगर्भाभं पितृमातृभयापहम् ॥ १७ ॥
ववृधे स तु तत्रैव नागराजनिवेशने ।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान्भार्गवाच्च्यवनान्मुने ॥ १८ ॥
चीर्णव्रतो बाल एव बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः ।
नाम चास्याभवत्ख्यातं लोकेष्वास्तीक इत्युत ॥ १९ ॥

नहीं है तो इस संकट में वह झूठ क्यों कहता और मुझसे कहा है वासुकि की बहिन! तुम अपने मन में संदेह न करना। तेरा अग्नि के समान पुत्र उत्पन्न होगा। हे भाई! ऐसा मुझसे कहकर वह तपस्वी चला गया इस कारण तुम अपने मन के दुःख को दूर करो ॥११-१३॥

सौति बोले इस प्रकार अपनी बहिन के वचन को सुनकर अति प्रसन्नता से ऐसे ही हो कहकर उसने अपनी बहिन के वचन को ग्रहण किया। मधुर वचन और मान धन देना और बहुत प्रकार से वासुकि ने अपनी बहिन का सत्कार किया। जिस प्रकार शुक्लपक्ष का चन्द्रमा बढ़ता है उसी प्रकार वह तेजस्वी गर्भ बढ़ने लगा। इसके उपरान्त समय के आने पर वासुकि की बहिन के देवताओं के पुत्र सा कान्तिमान अपने माता पिताओं के भय को दूर करने वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बालक उसी घर में वृद्धि को प्राप्त हुआ और अङ्ग सहित वेदों का उसने च्यवन मुनि से अध्ययन

अस्तीत्युक्त्वा गतो यस्मात्पिता गर्भस्थमेव तम् ।
वनं तस्मादिदं तस्य नामास्तीकेति विश्रुतम् ॥ २० ॥
स बाल एव तत्रस्थश्चरन्नमितबुद्धिमान् ।
गृहे पन्नगराजस्य प्रयत्नात्परिरक्षितः ॥ २१ ॥
भगवानिव देवेशः शूलपाणिर्हिरण्मयः ।
विवर्धमानः सर्वांस्तान्पन्नगानभ्यहर्षयत ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि आस्तीकोत्पत्ता अष्टचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४८ ॥

किया ॥१४।१८॥

यह बालक व्रतों का धारण करने वाला, बुद्धि और सत्वगुण से युक्त हुआ और उसका नाम लोक में "अस्ति" प्रचलित हुआ क्योंकि उसका पिता आस्तीक कहकर इसके गर्भ में रहते ही पर वन को चला गया था। इस कारण उसका नाम आस्तीक प्रसिद्ध हुआ। वह बालक वहा रहता हुआ बड़ा बुद्धिमान था और सर्पों के राजा वासुकि के यहा बड़े यत्न से उसकी रक्षा होती थी और देवताओं के स्वामी शिवजी के समान बड़ा तेजस्वी था और उन सब सर्पों को अपने शरीर की वृद्धि से उसने प्रसन्न किया ॥१९।२२॥

आदिपर्व का अड़तालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ४९ ॥

शौनक उवाच—यदपृच्छत्तदा राजा मन्त्रिणो जनमेजयः ।
पितुः स्वर्गगतिं तन्मे विस्तरेण पुनर्वद ॥ १ ॥
सौतिरुवाच—शृणु ब्रह्मन्यथापृच्छन्मन्त्रिणो नृपतिस्तदा ।
यथा चाख्यानवन्तस्ते निधनं तत्परीक्षितः ॥ २ ॥
जनमेजय उवाच—जानन्ति स्म भवन्तस्तद्यथावृत्तं पितुर्मम ।
आसीद्यथा स निधनं गतः काले महायशाः ॥ ३ ॥
श्रुत्वा भवत्सकाशाद्धि पितुर्वृत्तमशेषतः ।
कल्याणं प्रतिपत्स्यामि विपरीतं न जातुचित् ॥ ४ ॥

॥ उञ्चासवां अध्याय ४९ ॥

शौनक बोले कि, राजा जनमेजय ने पिता के परलोक में जाने के पश्चात अपने मन्त्रियों से जो कुछ पूछा था, उसे फिर विस्तारपूर्वक कहो। उग्रश्रवा बोले—हे ब्राह्मण ! राजा ने मन्त्रियों से जैसा पूछा था और मन्त्रियों ने परीक्षित की स्वर्ग प्राप्ति के विषय में जैसा वर्णन किया था वह सुनो ! जनमेजय ने कहा हे मन्त्रियो ! मेरे पिता का जैसा चरित्र था और वह महायशा नरेश काल के वशीभूत होकर

सौतिरुवाच – मन्त्रिणोऽथाब्रुवन्वाक्यं पृष्टास्तेन महात्मना ।
सर्वे धर्मविदः प्राज्ञा राजानं जनमेजयम् ॥ ५ ॥
मन्त्रिण ऊचु – शृणु पार्थिव यद्ब्रूषे पितुस्तव महात्मनः ।
चरितं पार्थिवेन्द्रस्य यथा निष्ठां गतश्च सः ॥ ६ ॥
धर्मात्मा च महात्मा च प्रजापालः पिता तव ।
आसीदिह यथावृत्तः स महात्मा शृणुष्व तत् ॥ ७ ॥
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं स कृत्वा पर्यरक्षत ।
धर्मतो धर्मविद्राजा धर्मो विग्रहवानिव ॥ ८ ॥
ररक्ष पृथिवीं देवीं श्रीमानतुलविक्रमः ।
द्वेष्टारस्तस्य नैवासन्स च द्वेष्टि न कंचन ॥ ९ ॥
समः सर्वेषु भूतेषु प्रजापतिरिवाभवत् ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव स्वकर्मसु ॥ १० ॥
स्थिताः सुमनसो राजंस्तेन राज्ञास्वधिष्ठिताः ।
विधवा अनाथविकलान्कृपणांश्च बभार सः ॥ ११ ॥
सुदर्शः सर्वभूतानामासीत्सोम इवापरः ।
तुष्टपुष्टजनः श्रीमान्सत्यवाग्दृढविक्रमः ॥ १२ ॥
धनुर्वेदे तु शिष्योऽभून्नृपः शारद्वतस्य सः ।
गोविन्दस्य प्रियश्चासीत्पिता ते जनमेजय ॥ १३ ॥

जिस प्रकार नाश हुए, वह तुम भली प्रकार जानते हो। मैं तुमसे पिता का सम्पूर्ण चरित्र सुनकर जैसे मगन होमके यही राय करूंगा कदापि विपरीत न करूंगा ॥१४॥

उग्रश्रवा बोले- सब धर्मों को जानने वाले बुद्धिमान् मंत्रियों ने राजा के वचन को सुनकर जनमेजय से कहा कि, हे राजन ! आपने अपने पिता महात्मा परीक्षित के चरित्र के विषय में जो कुछ पूछा और जिस प्रकार वह स्वर्गलोक को गये वह श्रवण करो। आपके पिता जैसे धर्मात्मा, महात्मा तथा प्रजापालक थे, वह कहता हूं। उस धर्म के जानने वाले राजा ने चारों वर्णों को अपने धर्म में स्थापनकर, धर्म से उनकी रक्षा की। वे बडे पराक्रमी थे। पृथ्वी-देवी की रक्षा करते थे। उनके न बहुत शत्रु थे और न ही वे किसी से शत्रुता रखते थे। वे प्रजापति के समान थे और सबसे एकसा भाव रखते थे। उनके राज्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपना अपना कर्म सावधान होकर करते थे।

लोकस्य चैव सर्वस्य प्रिय आसीन्महायशाः ।
परिक्षीणेषु कुरुषु सोत्तरायामजीजनत् ॥ १४ ॥
परीक्षिद्भवत्तेन सौभद्रस्यात्मजो बली ।
राजधर्मार्थकुशलो युक्तः सर्वगुणैर्वृतः ॥ १५ ॥
जितेन्द्रियश्चात्मवांश्च मेधावी धर्मसेविना ।
षड्वर्गजिन्महाबुद्धिर्नीतिशास्त्रविदुत्तमः ॥ १६ ॥
प्रजा इमास्तव पिता षष्टिवर्षाण्यपालयत् ।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन् ॥ १७ ॥
ततस्त्वं पुरुषश्रेष्ठ धर्मेण प्रतिपेदिवान् ।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कुरुकुलागतम् ।
बाल एवा भिषिक्तस्त्वं सर्वभूतानुपालकः ॥ १८ ॥

जनमेजय उवाच—नास्मिन्कुले जातु बभूव राजा यो न प्रजानां प्रियकृत्प्रियश्च ।
विशेषतः प्रेक्ष्य पिता महानां वृत्तं महद्वृत्तपरायणानाम् ॥ १९ ॥
कथं निधनमापन्नः पिता मम तथाविधः ।
आचक्षध्वं यथावन्मे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २० ॥

विधवा स्त्री, दीन, अनाथ, अङ्गहीन पुरुषों का पालन पोषन करते थे ॥५।१२॥

उनको देखकर मनुष्य ऐसे प्रसन्न होते थे जैसे चन्द्रमा को देखकर चकोर प्रसन्न होता है। उसके राज्य में मनुष्य अति हृष्टपुष्ट रहते थे। और वे शोभायुक्त, सत्यवादी और दृढपराक्रमी थे। हे जनमेजय! आपके पिता ने कृपाचार्य से धनुष-विद्या ग्रहण की थी। और वे भगवान् गोविन्द के बड़े प्रिय थे। वे महायशस्वी सम्पूर्ण लोक के प्रिय थे और कुरुवंश के क्षय होने पर वे उत्तरा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इसी कारण वे बलवान् अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित नाम से प्रसिद्ध हुए। राजधर्म में निपुण, सर्व गुणों से भूषित, जितेन्द्रिय, मेधायुक्त, बुद्धिमान् धर्म के सेवन करने वाले, काम क्रोधादि के जीतने वाले, बड़ी बुद्धियुक्त और नीतिशास्त्र के जानने वालों में श्रेष्ठ आपके पिता इस प्रजा को साठ वर्ष तक पालकर सब लोगों को दुःख के समुद्र में डुबोकर परलोक को सिधारे हैं ॥१३।१७॥

इसके उपरान्त हे पुरुषों में श्रेष्ठ! हजारों वर्षों से कुरुकुल से पालन किये हुए राज्य को आपने प्राप्त किया है और बालपन ही में अभिषिक्त होकर सम्पूर्ण प्रजा को पालन कर रहे हैं। जनमेजय बोले—इस कुरुकुल में ऐसा राजा कदापि नहीं हुआ जो प्रजा को प्रिय न हो और जो प्रजा को प्रिय-कारी न हो और जो कि श्रेष्ठों के आचरणों के

सौतिरुवाच—एवं संचोदिता राज्ञा मन्त्रिणस्ते नराधिपम् ।
ऊचुः सर्वे यथावृत्तं राज्ञः प्रियहितैषिणः ॥ २१ ॥
मन्त्रिण ऊचु—स राजा पृथिवीपालः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
बभूव मृगयाशीलस्तव राजन्पिता सदा ॥ २२ ॥
यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि ।
अस्मास्वासज्य सर्वाणि राजकार्याण्यशेषतः ॥ २३ ॥
स कदाचिद्वनगतो मृगं विव्याध पत्रिणा ।
विद्ध्वा चान्वसरत्तूर्णं तं मृगं गहने वने ॥ २४ ॥
पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशस्ततायुधकलापवान् ।
न चाससाद गहने मृगं नष्टं पिता तव ॥ २५ ॥
परिश्रान्तो वयस्थश्च षष्टिवर्षो जरान्वितः ।
क्षुधितः स महारण्ये ददर्श मुनिसत्तमम् ॥ २६ ॥
स तं पप्रच्छ राजेंद्रो मुनिं मौनव्रते स्थितम् ।
न च किंचिदुवाचेदं पृष्टोऽपि स मुनिस्तदा ॥ २७ ॥
ततो राजा क्षुच्छ्रमार्तस्तं मुनिं स्थाणुवत्स्थितम् ।
मौनव्रतधरं शान्तं सद्यो मन्युवशं गतः ॥ २८ ॥
न बुबोध च तं राजा मौनव्रतधरं मुनिम् ।
स तं क्रोधसमाविष्टो धर्षयामास ते पिता ॥ २९ ॥

करने वाले मेरे पितामह थे, उनके व्रत को देखकर विशेषतः यह बात प्रतीत होती है। ऐसा धर्मात्मा वह मेरा पिता जिस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हुआ वह कथा मुझसे कहो। मैं आदि से अन्त तक सुनना चाहता हूं। इस प्रकार राजा से पूछे हुए और हितचिन्तक मंत्रियों ने जिस प्रकार राजा की मृत्यु हुई थी उसी प्रकार राजा जनमेजय से कहने लगे ॥१८।२१॥

मंत्रियों ने कहा-जिस प्रकार बड़ी भुजा वाला राजा पाण्डु शस्त्रधारियों में उत्तम था उसीतरह वह पृथ्वी का पालन करने वाला वह आपका पिता राजा परीक्षित मन्त्रियों को राज्यकार्य सौंपकर मृगया के निमित्त वन में गया। उसने एक समय वन में मृग को बाण से मारा और बड़े घने वन में शीघ्र उसके पीछे गया। राजा ने पैदल शस्त्रधारी तीरों से भरा हुआ तर्कश बांधे हुए मृग का पीछा किया, परन्तु मृग को न पाया। वह वृद्ध शरीर मार्ग से थकित भूखे और प्यासे राजा ने उस जंगल में एक मुनि

मृतं सर्पं धनुष्कोट्या समुत्क्षिप्य धरातलात् ।
तस्य शुद्धात्मनः प्रादात्स्कन्धे भरतसत्तम ॥ ३० ॥
न चोवाच स मेधावी तमथो साध्वसाधु वा ।
तस्थौ तथैव चाक्रुद्धः सर्पं स्कन्धेन धारयन् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि पारीक्षितीये एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

को देखा। राजा ने उससे भागे हुए मृग का समाचार पूछा। वे मुनि मौनव्रत में थे, इस कारण कोई उत्तर न दे सके। वह भूख और परिश्रम से घबराया हुआ राजा उस सूखे हुए वृक्ष के समान बैठे हुए मौनव्रतधारी मुनि पर क्रोधित हुआ। उसका मौनव्रत न जानकर क्रोधवश आपके पिता ने उसका तिरस्कार किया ॥२२।२९॥

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ ! उस राजा ने मरे हुए सर्प को धनुष से उठाकर उस शुद्धात्मा मुनि के कंधे पर रख दिया। उस बुद्धिमान् ऋषि ने भला बुरा कुछ न कहा और क्रोध रहित उसी प्रकार सर्प को कंधे पर डाल वहीं बैठा रहा ॥३०।३१॥

आदिपर्व का उनचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

मन्त्रिण ऊचु —ततः स राजा राजेन्द्र स्कन्धे तस्य भुजङ्गमम् ।
मुनेः क्षुत्क्षाम आसज्य स्वपुरं प्रययौ पुनः ॥ १ ॥
ऋषेस्तस्य तु पुत्रोऽभूद्गवि जातो महायशाः ।
शृङ्गी नाम महातेजास्तिग्मवीर्योऽतिकोपनः ॥ २ ॥
ब्रह्माणं समुपागम्य मुनिः पूजां चकार ह ।
सोऽनुज्ञातस्ततस्तत्र शृङ्गी शुश्राव तं तदा ॥ ३ ॥
सख्युः सकाशात्पितरं पित्रा ते धर्षितं पुरा ।
मृतं सर्पं समासक्तं स्थाणुभूतस्य तस्य तम् ॥ ४ ॥
वहन्तं राजशार्दूल स्कन्धेनानपकारिणम् ।
तपस्विनमतीवाथ तं मुनिप्रवरं नृप ॥ ५ ॥

॥ पचासवां अध्याय ५० ॥

मंत्रि बोले-तत्पश्चात् भूख से घबराया हुआ राजा परीक्षित उस मुनि के कंधे पर सर्प डालकर अपने स्थान को गया। उसके पुत्र का नाम शृंगी था, जो बड़ा तेजस्वी तीक्ष्ण बल वाला, अत्यंत क्रोधी और बड़ा यश वाला था। वह शृंगी ब्रह्माजी की पूजा किया करता था। जब वह ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर घर को आता था उसने अपने मित्र से सुना कि, राजा ने मुनि का तिरस्कार किया है अर्थात्

जितेन्द्रियं विशुद्धं च स्थितं कर्मण्यथाद्भुतम् ।
तपसा द्योतितात्मानं स्वेष्वङ्गेषु यतं तदा ॥ ६ ॥
शुभाचारं शुभकथं सुस्थितं तमलोलुपम् ।
अक्षुद्रमनसूयं च वृद्धं मौनव्रते स्थितम् ।
शरण्यं सर्वभूतानां पित्रा विनिकृतं तव ॥ ७ ॥
शशापाथ महातेजाः पितरं ते रुषान्वितः ।
ऋषेः पुत्रो महातेजा बालोऽपि स्थविरद्युतिः ॥ ८ ॥
स क्षिप्रमुदकं स्पृष्ट्वा रोषादिदमुवाच ह ।
पितरं तेऽभिसंधाय तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ९ ॥
अनागसि गुरौ यो मे मृतं सर्पमवासृजत् ।
तं नागस्तक्षकः क्रुद्धस्तेजसा प्रदहिष्यति ॥ १० ॥
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ।
सप्तरात्रादितः पापं पश्य मे तपसो बलम् ॥ ११ ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र पिता यत्रास्य सोऽभवत् ।
दृष्ट्वा च पितरं तस्मै तं शापं प्रत्यवेदयत् ॥ १२ ॥
स चापि मुनिशार्दूलः प्रेरयामास ते पितुः ।

सूखे हुए वृक्ष की नाईं बैठे हुए मुनि के कंधे पर सर्प डाला है ॥१।४॥

कंधे पर सर्प धारण किये हुए, किसी का बुरा न करने वाले, तपस्वी, मुनियों में श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय, शुद्ध अद्भुत कर्मों में स्थित, जिसका आत्मा तपस्या में प्रकाशमान है, इन्द्रियों को वश में किये हुए, शुभ आचरण वाले, जिसकी कोई बुराई नहीं करता, सावधान, चञ्चलता से रहित, गंभीर, किसी की निन्दा न करने वाले, वृद्ध मौनव्रतधारी, सब प्राणियों की रक्षा करने वाले मुनि का राजा ने अपमान किया। तब क्रोध में आकर उस बड़े तेजस्वी पुत्र ने जो कि, बालक होने पर भी वृद्ध के समान था, राजा को शाप दिया ॥५।८॥

शीघ्र आचमनकर और राजा को स्मरण करके तेज से प्रज्वलित हो वह शृंगी क्रोध से बोला कि, जिस पापात्मा ने बिना अपराध मेरे पिता के गले में मरा हुआ सर्प डाला है उसको महातेज विषधारी तक्षक सर्प मेरे तपोबल के प्रभाव से भेजे जाकर आज से सातवें दिन अपने तेज से जला देगा। हे मित्र! वह मेरे तपोबल को देखे यह कहकर अपने पिता के समीप आया और अपने पिता को शाप का वृत्तान्त सुनाया ॥९।१२॥

उस श्रेष्ठ मुनि ने शीलगुणयुक्त गौरमुख शिष्य को आपके पिता के पास भेजा। उसने

शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं गुणान्वितम् ॥ १३ ॥
आचख्यौ स च विश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः ।
शप्तोऽसि मम पुत्रेण यत्तो भव महीपते ॥ १४ ॥
तक्षकस्त्वां महाराज तेजसाऽसौ दहिष्यति ।
श्रुत्वा च तद्वचो घोरं पिता ते जनमेजय ॥ १५ ॥
यत्तोऽभवत्परित्रस्तस्तक्षकात्पन्नगोत्तमात् ।
ततस्तस्मिंस्तु दिवसे सप्तमे समुपस्थिते ॥ १६ ॥
राज्ञः समीपं ब्रह्मर्षिः काश्यपो गन्तुमैच्छत ।
तं ददर्शाथ नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं तदा ॥ १७ ॥
तमब्रवीत्पन्नगेन्द्रः काश्यपं त्वरितं द्विजम् ।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ॥ १८ ॥
काश्यप उवाच—यत्र राजा कुरुश्रेष्ठः परिक्षिन्नाम वै द्विज ।
तक्षकेण भुजङ्गेन धक्ष्यते किल सोऽद्य वै ॥ १९ ॥
गच्छाम्यहं तं त्वरितः सद्यः कर्तुमपज्वरम् ।
मयाभिपन्नं तं चापि न सर्पो धर्षयिष्यति ॥ २० ॥
तक्षक उवाच—किमर्थं तं मया दष्टं संजीवयितुमिच्छसि ।
अहं स तक्षको ब्रह्मन्पश्य मे वीर्यम तम् ॥ २१ ॥

सावधान होकर राजा से गुरु का सदेश कहा कि, हे राजन ! मेरे पुत्र ने तुमको शाप दिया है, सावधान होजाओ । हे महाराज ! तक्षकनाग तुमको अपने तेज द्वारा जलावेगा । हे जनमेजय ! आपके पिता यह कठोर बात सुनकर नागों में उत्तम तक्षक का भय खाकर सावधान हो रहे । अनन्तर उस सातवें दिन के आने पर महर्षि काश्यप राजा के समीप आरहे थे परन्तु उसको तक्षक ने देखकर कहा कि, हे ब्राह्मण ! तुम शीघ्रता से किस कार्य के हेतु जारहे हो । काश्यप ने कहा—हे ब्राह्मण ! कुरुवंशियों में श्रेष्ठ राजा परीक्षित को तक्षक आज अपने तेज से भस्म करेगा । मैं शीघ्रता से उस राजा को निर्विष करने के लिये जाता हूं । मेरी रक्षा से सर्प उसको नहीं मार सकेगा ॥१३।२०॥

तक्षक ने कहा कि, हे ब्राह्मण ! मेरे काटे हुए को जिलाने की किसलिये इच्छा करता है । मैं ही उस राजा का काटने वाला तक्षकनाग हूं, मेरे अद्भुत वीर्य को देखो । मेरे काटे हुए "राजा को तुम जिलाने के समर्थ नहीं हो यह कहकर, तक्षक ने एक वृक्ष को काटा । काटते ही वह

न शक्तस्त्वं मया दष्टं तं संजीवयितुं नृपम् ।
इत्युक्त्वा तक्षकस्तत्र सोऽदशद्वै वनस्पतिम् ॥ २२ ॥
स दष्टमात्रो नागेन भस्मीभूतोऽभवन्नगः ।
काश्यपश्च ततो राजन्नजीवयत तं नगम् ॥ २३ ॥
ततस्तं लोभयामास कामं ब्रूहीति तक्षकः ।
स एवमुक्तस्तं प्राह काश्यपस्तक्षकं पुनः ॥ २४ ॥
धनलिप्सुरहं तत्र यामीत्युक्तश्च तेन सः ।
तमुवाच महात्मानं तक्षकः श्लक्ष्णया गिरा ॥ २५ ॥
यावद्धनं प्रार्थयसे राज्ञस्तस्मात्ततोऽधिकम् ।
गृहाण मत्त एव त्वं संनिवर्तस्व चानघ ॥ २६ ॥
स एवमुक्तो नागेन काश्यपो द्विपदां वरः ।
लब्ध्वा वित्तं निववृते तक्षकाद्यावदीप्सितम् ॥ २७ ॥
तस्मिन्प्रतिगते विप्रे छद्मनोपेत्य तक्षकः ।
तं नृपं नृपतिश्रेष्ठं पितरं धार्मिकं तव ॥ २८ ॥
प्रासादस्थं यत्तमपि दग्धवान्विषवह्निना ।
ततस्त्वं पुरुषव्याघ्र विजयायाभिषेचितः ॥ २९ ॥
एतद्दृष्टं श्रुतं चापि यथावन्नृपसत्तम ।
अस्माभिर्निखिलं सर्वं कथितं तेऽतिदारुणम् ॥ ३० ॥

वृक्ष भस्म हो गया। हे राजन्! तब काश्यप ने उस वृक्ष को जिला दिया। इसके उपरान्त तक्षक ने उसे लोभ दिखाकर कहा कि, तुम अपनी इच्छा प्रगट करो। उस ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि, मैं राजा के पास धनकी इच्छा से जाता हूं। तक्षक ने उस महात्मा को मीठी बातों से कहा हे अनघ! तुमने राजा से जितना धन पाने की आशा की है, मैं उससे भी अधिक धन तुमको देता हूं, लौट जाओ। इस प्रकार तक्षक के कहने पर मनुष्यों मे श्रेष्ठ काश्यप उससे अपनी इच्छानुसार धन लेकर लौट आया ॥२१।२७॥

उस ब्राह्मण के चले जाने पर कपटरूप बनाकर तक्षक ने सुरक्षित गृह पर बैठे हुए श्रेष्ठ धर्मात्मा और सावधान आपके पिता को विषरूपी आग से भस्म किया। इसके उपरान्त संसार की रक्षा के हेतु आपको अभिषेक किया गया है। हे नृपश्रेष्ठ! यह वृत्तान्त अत्यन्त दारुण देखा और सुना हुआ सब आपके आगे कह दिया है ॥२८।३०॥

श्रुत्वा चैनं नरश्रेष्ठ पार्थिवस्य पराभवम् ।
अस्य चर्षेरुत्तङ्कस्य विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ३१ ॥
सौतिरुवाच—एतस्मिन्नेव काले तु स राजा जनमेजयः ।
उवाच मन्त्रिणः सर्वानिदं वाक्यमरिंदमः ॥ ३२ ॥
जनमेजय उवाच—अथ तत्कथितं केन यद्वृत्तं तद्वनस्पतौ ।
आश्चर्यभूतं लोकस्य भस्मराशीकृतं तदा ॥ ३३ ॥
यद्वृक्षं जीवयामास काश्यपस्तक्षकेण वै ।
नूनं मन्त्रैर्हतविषो न प्रणश्येत काश्यपात् ॥ ३४ ॥
चिन्तयामास पापात्मा मनसा पन्नगाधमः ।
दष्टं यदि मया विप्रः पार्थिवं जीवयिष्यति ॥ ३५ ॥
तक्षकः संहतविषो लोके यास्यति हास्यताम् ।
विचिन्त्यैवं कृता तेन ध्रुवं तुष्टिर्द्विजस्य वै ॥ ३६ ॥
भविष्यति ह्युपायेन यस्य दास्यामि यातनाम् ।
एकं तु श्रोतुमिच्छामि तद्वृत्तं निर्जने वने ॥ ३७ ॥
संवादं पन्नगेन्द्रस्य काश्यपस्य च कस्तदा ।
श्रुतवान्दृष्टवांश्चापि भवत्सु कथमागतम् ।
श्रुत्वा तस्य विधास्येऽहं पन्नगान्तकरीं मतिम् ॥ ३८ ॥

उग्रश्रवा बोले कि, शत्रुओं के नाश करने वाला राजा जनमेजय सब मन्त्रियों से बोला—तुमको वृक्ष का वृत्तान्त कैसे विदित हुआ कि, आश्चर्य-रूप तक्षक ने वनस्पति को जलाया और काश्यप ने उसको जीवन दिया ? मुझे यह प्रतीत होता है कि, सर्पों के अधम पापात्मा तक्षक ने उस समय सोचा था कि, उस ब्राह्मण के मन्त्र द्वारा विष से मुक्त होकर वृक्ष को जीवन मिला है, सो मेरे राजा को काटने से यह ब्राह्मण जाकर यदि उनको जिला दे; तो लोग यह कहकर मेरी हँसी करेंगे कि, तक्षक का अब वैसा विष न रहा यह जानकर तक्षक ने अवश्य ब्राह्मण की प्रसन्नता की होगी ॥३१।३६॥

यदि उपाय हो सका तो यत्न करके उसका बदला उसको दूंगा परन्तु मैं एक बात पूछता हूं कि, उस निर्जन वन में काश्यप और तक्षक में बातों का होना किसने सुना और देखा है और तुमसे किसने कहा। यह सुनकर उस सर्प के नाश करने का विचार करूंगा। मन्त्री बोले—हे राजन ! काश्यप और तक्षक का वृत्तान्त जिसने हमसे जिस प्रकार से कहा था, वह कहता हूं, सुनो ! वन में

मन्त्रिण ऊचुः—शृणु राजन्यथाऽस्माकं येन तत्कथितं पुरा ।
समागतं द्विजेन्द्रस्य पन्नगेन्द्रस्य चाध्वनि ॥ ३९ ॥
तस्मिन्वृक्षे नरः कश्चिदिन्धनार्थाय पार्थिव ।
विचिन्वन्पूर्वमारूढः शुष्कशाखा वनस्पतौ ॥ ४० ॥
न बुध्येतामुभौ तौ च नगस्थं पन्नगद्विजौ ।
सह तेनैव वृक्षेण भस्मीभूतोऽभवन्नृप ॥ ४१ ॥
द्विजप्रभावाद्राजेन्द्र व्यजीवत्स वनस्पतिः ।
तेनागम्य द्विजश्रेष्ठ पुंसास्मासु निवेदितम् ॥ ४२ ॥
यथावृत्तं तु तत्सर्वं तक्षकस्य द्विजस्य च ।
एतत्ते कथितं राजन्यथा दृष्टं श्रुतं च यत् ।
श्रुत्वा च नृपशार्दूल विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ४३ ॥
सौतिरुवाच—मन्त्रिणां तु वचः श्रुत्वा स राजा जनमेजयः ।
पर्यतप्यत दुःखार्त्तः प्रत्यपिंपत्करं करे ॥ ४४ ॥
निःश्वासमुष्णमसकृद्दीर्घं राजीवलोचनः ।
मुमोचाश्रूणि च तदा नेत्राभ्यां प्ररुदन्नृपः ॥ ४५ ॥
उवाच च महीपालो दुःखशोकसमन्वितः ।
दुर्धरं बाष्पमुत्सृज्य स्पृष्ट्वा चापो यथाविधि ॥ ४६ ॥

उसी वृक्ष की सूखी शाखा पर एक मनुष्य इंधन के लिये पहले से चढ़ा था । तक्षक और ब्राह्मण ने उस वृक्ष पर चढ़े हुए उस मनुष्य को देखा नहीं था । वह वृक्ष उस मनुष्य सहित भस्म हो गया । उस काश्यप के प्रताप से वृक्ष के साथ वह मनुष्य जी उठा । उस पुरुष ने आकर यह समाचार हमसे कहा ॥३७।४२॥

तक्षक और ब्राह्मण का वृत्तान्त जैसा हमने सुना और देखा वैसा आपके आगे कह दिया । हे राजाओं में श्रेष्ठ ! इसको सुनकर जैसा आप उचित समझें वैसा करें । उग्रश्रवा बोले—मन्त्रियों के वचन को सुनकर राजा ने बडा दुःख माना और हाथ मे हाथ मसने लगा । कमल सदृश नेत्र वाले राजा जनमेजय ने रोते हुए बड़े बड़े लम्बे श्वास लेकर आसु गिराये । दुःख और शोक से युक्त बहुत आसु गिराकर और विधिपूर्वक आचमनकर एक मुहूर्त तक ध्यान किया और मनमें कार्य ठहराकर क्रोधित होकर राजा ने सब मंत्रियों से यह वचन कहा मेरे पिता के परलोक सिधारने के विषय में तुमने जो कहा, उसे सुनकर मैंने मन ही मनमें

मुहूर्त्तमिव च ध्यात्वा निश्चित्य मनसा नृपः ।
अमर्षी मन्त्रिणः सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

जनमेजय उवाच—श्रुत्वैतद्भवतां वाक्यं पितुर्मे स्वर्गतिं प्रति ।
निश्चितेयं मम मतिर्या च तां मे निबोधत ।
अनन्तरं च मन्येऽहं तक्षकाय दुरात्मने ॥ ४८ ॥
प्रतिकर्त्तव्यमित्येवं येन मे हिंसितः पिता ।
शृङ्गिणं हेतुमात्रं यः कृत्वा दग्ध्वा च पार्थिवम् ॥ ४९ ॥
इयं दुरात्मता तस्य काश्यपं यो न्यवर्त्तयत् ।
यद्यागच्छेत्स वै विप्रो ननु जीवेत्पिता मम ॥ ५० ॥
परिहीयेत किं तस्य यदि जीवेत्स पार्थिवः ।
काश्यपस्य प्रसादेन मन्त्रिणां विनयेन च ॥ ५१ ॥
स तु वारितवान्मोहात्काश्यपं द्विजसत्तमम् ।
संजिजीवयिषुं प्राप्तं राजानमपराजितम् ॥ ५२ ॥
महानतिक्रमो ह्येष तक्षकस्य दुरात्मनः ।
द्विजस्य योऽदद्द्रव्यं मा नृपं जीवयेदिति ॥ ५३ ॥
उत्तङ्कस्य प्रियं कर्त्तुमात्मनश्च महत्प्रियम् ।
भवतां चैव सर्वेषां गच्छाम्यपचितिं पितुः ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि परीक्षिन्मन्त्रिसंवादे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

जैसा निश्चय किया है कि, दुरात्मा तक्षक को इसका बदला देना उचित ही है । तक्षक ने शृंगी ऋषि के मिस से मेरे पिता को जीवित से रहित किया है । और अपनी दुष्टता से काश्यप को लौटा दिया है यदि वह ब्राह्मण आया होता तो मेरा पिता अवश्य जी उठता ॥४७।५०॥

यदि काश्यप के प्रसाद और मन्त्रियों की नम्रता से मेरा पिता जीता तो तक्षक की क्या हानि थी । उसने मेरे बल को न जानकर काश्यप को जो ब्राह्मणों में श्रेष्ठ और राजा को जिलाने की इच्छा करके आया था, लौटा दिया । यह सोचकर कि, ब्राह्मण राजा को जीवन न दे, उसको धन देना उस दुराचारी तक्षक का बड़ा अत्याचार प्रगट करता है । अतएव मैं उत्तङ्क ऋषि और तुम सबों को प्रिय करने को अपने पिता का बदला लूंगा ॥५१।५४॥

—०—

आदिपर्व का पचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५१ ॥

सौतिरुवाच—एवमुक्त्वा ततः श्रीमान्मन्त्रिभिश्चानुमोदितः ।
आरुरोह प्रतिज्ञां स सर्पसत्राय पार्थिवः ॥ १ ॥
ब्रह्मन्भरतशार्दूलो राजा पारीक्षितस्तदा ।
पुरोहितमथाहूय ऋत्विजो वसुधाधिपः ॥ २ ॥
अब्रवीद्वाक्यसंपन्नः कार्यसंपत्करं वचः ।
यो मे हिंसितवांस्तातं तक्षकः स दुरात्मवान् ॥ ३ ॥
प्रतिकुर्यां तथा तस्य तद्भवन्तो ब्रुवन्तु मे ।
अपि तत्कर्म विदितं भवतां येन पन्नगम् ॥ ४ ॥
तक्षकं संप्रदीप्तेऽग्नौ प्रक्षिपेयं सबान्धवम् ।
यथा तेन पिता मह्यं पूर्वं दग्धो विषाग्निना ।
तथाऽहमपि तं पापं दग्धुमिच्छामि पन्नगम् ॥ ५ ॥
ऋत्विज ऊचु—अस्ति राजन्महत्सत्रं त्वदर्थं देवनिर्मितम् ।
सर्पसत्रमिति ख्यातं पुराणे परिपठ्यते ॥ ६ ॥
आहर्त्ता तस्य सत्रस्य त्वन्नान्योऽस्ति नराधिप ।
इति पौराणिकाः प्राहुरस्माकं चास्ति स क्रतुः ॥ ७ ॥
एवमुक्तः स राजर्षिर्मेने दग्धं हि तक्षकम् ।
हुताशनमुखे दीप्ते प्रविष्टमिति सत्तम ॥ ८ ॥

॥ इक्यावनवां अध्याय ५१ ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो! राजा जनमेजय ने मंत्रियों से प्रसन्न होकर सर्पसत्र यज्ञ करने की प्रतिज्ञा की। भरतवंशियों में श्रेष्ठ राजा ने अपने पुरोहित ऋत्विजों को बुलाकर कहा कि, तक्षक ने अपनी दुष्टता से हमारे पिता को बिना अपराध अपनी विष की अग्नि में काटकर भस्म कर दिया है। इससे मेरी भी यह इच्छा है कि, अपने पिता का बदला लेने के लिये उस तक्षक नाग को भाई बन्धुओं सहित जलती हुई अग्नि में जलाऊं। आप लोगों को ऐसा कर्म कराने की विधि मालूम है या नहीं। यह सुनकर ऋत्विज बोले कि, इस काम के करने के लिये सर्पसत्र यज्ञ पुराणों में विख्यात है ॥१।६॥

हे राजन्! उस यज्ञ का करने वाला आपके सिवाय और कोई नहीं है, यह वार्ता पौराणिक लोग कहते हैं और हम उस यज्ञ को जानते हैं।

ततोऽब्रवीन्मन्त्रविदस्तान्राजा ब्राह्मणांस्तदा ।
आहरिष्यामि तत्सत्रं संभाराः संभ्रियन्तु मे ॥ ९ ॥
ततस्त ऋत्विजस्तस्य शास्त्रतो द्विजसत्तम ।
तं देशं मापयामासुर्यज्ञायतनकारणात् ॥ १० ॥
यथावद्वेदविद्वांसः सर्वे बुद्धेः परंगताः ।
ऋद्ध्या परमया युक्तमिष्टं द्विजगणैर्युतम् ॥ ११ ॥
प्रभूतधनधान्याढ्यमृत्विग्भिः सुनिषेवितम् ।
निर्माय चापि विधिवद्यज्ञायतनमीप्सितम् ॥ १२ ॥
राजानं दीक्षयामासुः सर्पसत्रातये तदा ।
इदं चासीत्तत्र पूर्वं सर्पसत्रे भविष्यति ॥ १३ ॥
निमित्तं महदुत्पन्नं यज्ञविघ्नकरं तदा ।
यज्ञस्यायतने तस्मिन्क्रियमाणे वचोऽब्रवीत् ॥ १४ ॥
स्थपतिर्बुद्धिसंपन्नो वास्तुविद्याविशारदः ।
इत्यब्रवीत्सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तदा ॥ १५ ॥
यस्मिन्देशे च काले च मापनेयं प्रवर्त्तिता ।
ब्राह्मणं कारणं कृत्वा नायं संस्थास्यते क्रतुः ॥ १६ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु राजाऽसौ प्राग्दीक्षाकालमब्रवीत् ।
क्षत्तारं न हि मे कश्चिदज्ञातः प्रविशेदिति ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

हे शौनक ! यह सुनकर राजा जनमेजय प्रसन्न हुए और उसी समय से तक्षक को भस्म हुआ मानकर ऋत्विजों से बोले कि, मैं उस यज्ञ को करूंगा तुम उसकी सामग्री इकट्ठी करो। इसके उपरान्त ऋत्विजों ने शास्त्रानुसार उस राजा के यज्ञ के लिये यज्ञशाला बनाने के लिये स्थान को नापा ॥९।१०॥

बुद्धि के पारगामी और वेदगामी ऋत्विजों ने बड़ी समृद्धि से युक्त और इच्छा के सदृश ब्राह्मणों के समूह से युक्त और बहुत धन से भरे हुए और ऋत्विजों से युक्त यथार्थ रीति से मनोहर यज्ञशाला को बनाकर राजा के सर्पसत्र यज्ञ का फल पाने के लिये राजा को दीक्षा दी। और आगे सर्पसत्र में यह होगा इस प्रकार जानि के सूत और शिल्प-विद्या के जानने वालों ने कहा कि, एक ब्राह्मण के कारण से यह यज्ञ समाप्त न होगा। वह विघ्न यज्ञशाला के बनाते समय विदित हुआ। इस प्रकार

बुद्धिमान् और शालाओं के बनाने में चतुर एक शिल्पविद्या के जानने वाले ने कहा–जिस देश और काल में इस शाला को नापा था उससे प्रतीत होता है कि, ब्राह्मण को निमित्त बिना यह यज्ञ समाप्त नहीं होगा। यह सुनकर राजा जनमेजय ने दीक्षा लेने के पहले द्वारपालों से कहा कि, मेरी आज्ञा बिना कोई इस यज्ञ के भीतर न आने पावे ॥११।१७॥

—०—

आदिपर्व का एकावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५२ ॥

सौतिरुवाच—ततः कर्म प्रववृते सर्पसत्रविधानतः ।
पर्यक्रामंश्च विधिवत्स्वे स्वे कर्मणि याजकाः ॥ १ ॥
प्रावृत्य कृष्णवासांसि धूम्रसंरक्तलोचनाः ।
जुहुवुर्मन्त्रवच्चैव समिद्धं जातवेदसम् ॥ २ ॥
कम्पयन्तश्च सर्वेषामुरगाणां मनांसि च ।
सर्पानाजुहुवुस्तत्र सर्वानग्निमुखे तदा ॥ ३ ॥
ततः सर्पाः समापेतुः प्रदीप्ते हव्यवाहने ।
विचेष्टमानाः कृपणमाह्वयन्तः परस्परम् ॥ ४ ॥
विस्फुरन्तः श्वसन्तश्च वेष्टयन्तः परस्परम् ।
पुच्छैः शिरोभिश्च भृशं चित्रभानुं प्रपेदिरे ॥ ५ ॥
श्वेताः कृष्णाश्च नीलाश्च स्थविराः शिशवस्तथा ।
नदन्तो विविधान्नादान्पेतुर्दीप्ते विभावसौ ॥ ६ ॥
क्रोशयोजनमात्रा हि गोकर्णस्य प्रमाणतः ।
पतन्त्यजस्रं वेगेन वह्नावग्निमतां वर ॥ ७ ॥

॥ बावनवां अध्याय ५२ ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो! इसके उपरान्त नियम अनुसार सर्पयज्ञ आरम्भ हुआ और सब ब्राह्मण अपने अपने कार्यों को करने लगे। और ऋत्विजों ने जिनके धूम से कपड़े काले और आंखे लाल हो गई थीं, सब द्वारा अग्नि में होम किया। अग्नि के मुख में सर्पों का आवाहन किया। इसके उपरान्त उस प्रज्वलित अग्नि में तड़पते हुए और एक एक को दीन शब्द से पुकारते हुए सर्प गिरने लगे ॥१।४॥

काँपते और श्वास लेते और एक दूसरे को लिपटते हुए उस अग्निकुण्ड में गिरने लगे। श्वेत, काले, नीले, वृद्ध, बालक सर्प अनेक प्रकार के शब्दों को करते हुए अग्नि में गिरे। कोई छोटे कोई बड़े और कोई गौ के कान के बराबर लंबे बड़े वेग

एवं शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अवशानि विनष्टानि पन्नगानां तु तत्र वै ॥ ८ ॥
तुरगा इव तत्रान्ये हस्तिहस्ता इवापरे ।
मत्ता इव च मातङ्गा महाकाया महाबलाः ॥ ९ ॥
उच्चावचाश्च बहवो नानावर्णा विषोल्बणाः ।
घोराश्च परिघप्रख्या दन्दशूका महाबलाः ।
प्रपेतुरग्नावुरगा मातृवाग्दण्डपीडिताः ॥ १० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५२ ॥

मे अग्नि में गिरने लगे । इस प्रकार सैकड़ों हजारों अर्बों सर्प उस यज्ञ में परवश होकर मृत्यु को प्राप्त हुए । कोई घोड़े कोई हाथी की सूड़ और कोई मतवाले हाथियों के समान बड़ी देह वाले और बड़े बलवान और कोई बड़े और छोटे अनेक रङ्ग वाले बड़े विषैले भयानक सर्प माता के शापरूपी दण्ड से अग्नि में जलकर भस्म हो गये ॥५।१०॥

—०—

आदिपर्व का बावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५३ ॥

शौनक उवाच—सर्पसत्रे तदा राज्ञः पाण्डवेयस्य धीमतः ।
जनमेजयस्य के त्वासन्नृत्विजः परमर्षयः ॥ १ ॥
के सदस्या बभूवुश्च सर्पसत्रे सुदारुणे ।
विषादजननेऽत्यर्थं पन्नगानां महाभये ॥ २ ॥
सर्वं विस्तरशस्तात भवाञ्छंसितुमर्हति ।
सर्पसत्रविधानज्ञविज्ञेयाः के च सूतज ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच—हन्त ते कथयिष्यामि नामानीह मनीषिणाम् ।
ये ऋत्विजः सदस्याश्च तस्यासन्नृपतेस्तदा ॥ ४ ॥

॥ तिरपनवां अध्याय ५३ ॥

शौनक बोले हे सूतपुत्र ! पाण्डवों के समान बुद्धिमान राजा जनमेजय के सर्पयज्ञ में कौन परमर्षि ऋत्विज बने । और सर्पों को खेद और महाभय के उत्पन्न करने वाले उस यज्ञ में कौन सदस्य बनाये गये । हे तात सूतपुत्र ! इस सम्पूर्ण कथा को आप विस्तारपूर्वक कहें और सर्पसत्र के विधि के जानने वाले कौन थे । उग्रश्रवा बोले—मैं उस सर्पयज्ञ में जो विद्वान् ऋत्विज थे उनके नामों को कहूंगा

तत्र होता बभूवाथ ब्राह्मणश्चण्डभार्गवः ।
च्यवनस्याऽन्वये ख्यातो जातो वेदविदां वरः ॥ ५ ॥
उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान्कौत्सोऽथ जैमिनिः ।
ब्रह्माभवच्छार्ङ्गरवोऽथाध्वर्युश्चापि पिङ्गलः ॥ ६ ॥
सदस्यश्चाभवद्व्यासः पुत्रशिष्यसहायवान् ।
उद्दालकः प्रमतकः श्वेतकेतुश्च पिङ्गलः ॥ ७ ॥
असितो देवलश्चैव नारदः पर्वतस्तथा ।
आत्रेयः कुण्डजठरौ द्विजः कालघटस्तथा ॥ ८ ॥
वात्स्यः श्रुतश्रवा वृद्धो जपस्वाध्यायशीलवान् ।
कोहलो देवशर्मा च मौद्गल्यः समसौरभः ॥ ९ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणा वेदपारगः ।
सदस्याश्चाभवंस्तत्र सत्रे पारीक्षितस्य ह ॥ १० ॥
जुह्वत्स्वृत्विक्ष्वथ तदा सर्पसत्रे महाक्रतौ ।
अहयः प्रापतंस्तत्र घोराः प्राणिभयावहाः ॥ ११ ॥
वसामेदोवहाः कुल्या नागानां संप्रवर्तिताः ।
ववौ गन्धश्च तुमुलो दह्यतामनिशं तदा ॥ १२ ॥
पततां चैव नागानां धिष्ठितानां तथाऽम्बरे ।
अश्रूयताऽनिशं शब्दः पच्यतां चाग्निना भृशम् ॥ १३ ॥

और जो सदस्य थे उनके भी नामों को कहता । च्यवनवंशी प्रसिद्ध वेद जानने वालों में श्रेष्ठ चण्ड-भार्गव नाम ब्राह्मण उस यज्ञ में होता था । कुकुत्स-वंश में उत्पन्न जैमिनि जी बड़े विद्वान और वृद्ध थे। वह सामवेदी ऋत्विज थे, शांगरव जी ब्रह्मा और पिंगल ऋषि यजुर्वेदी ऋत्विज थे ॥५।६॥

पुत्र और शिष्यों के साथ व्यास जी महाराज, उद्दालक, प्रमतक, श्वेतकेतु, पिंगल, असित, देवल, नारद, पर्वत, आत्रेय, कुण्ड, जठर, कालघट, वात्स्य, जप, स्वाध्याय और शीलयुक्त तथा वृद्ध श्रुतश्रवा, कोहल, देवशर्मा, मौद्गल्य, समसौरभ, यह और इनके सिवाये बहुत से वेद के जानने वाले ब्राह्मण उस यज्ञ के सदस्य थे ॥७।१०॥

वह बड़े सर्पयज्ञ में ऋषियों के आहुति के डालने पर प्राणियों के भयदायी और भयानक सर्प अग्नि में गिरने लगे । सर्पों की चर्बी से छोटी छोटी नदिया उस अग्निकुण्ड से बहने लगीं । और उनके जलने का बड़ा घोर शब्द चारों दिशाओं में फैल

तक्षकस्तु स नागेन्द्रः पुरन्दरनिवेशनम् ।
गतः श्रुत्वैव राजानं दीक्षितं जनमेजयम् ॥ १४ ॥
ततः सर्वं यथावृत्तमाख्याय भुजगोत्तमः ।
अगच्छच्छरणं भीत आगस्कृत्वा पुरन्दरम् ॥ १५ ॥
तमिन्द्रः प्राह सुप्रीतो न तवास्तीह तक्षक ।
भयं नागेन्द्र तस्माद्वै सर्पसत्रात्कदाचन ॥ १६ ॥
प्रसादितो मया पूर्वं तवार्थाय पितामहः ।
तस्मात्तव भयं नास्ति व्येतु ते मानसोज्वरः ॥ १७ ॥
सौतिरुवाच—एवमाश्वासितस्तेन ततः स भुजगोत्तमः ।
उवास भवने तस्मिन्शक्रस्य मुदितः सुखी ॥ १८ ॥
अजस्रं निपतत्स्वग्नौ नागेषु भृशदुःखितः ।
अल्पशेषपरीवारो वासुकिः पर्यतप्यत ॥ १९ ॥
कश्मलं चाविशद्धोरं वासुकिं पन्नगोत्तमम् ।
स घूर्णमानहृदयो भगिनीमिदमब्रवीत् ॥ २० ॥
दह्यन्त्यङ्गानि मे भद्रे न दिशः प्रतिभान्ति च ।
सीदामीव च संमोहात् घूर्णतीव च मे मनः ॥ २१ ॥
दृष्टिर्भ्राम्यति मेऽतीव हृदयं दीर्यतीव च ।
पतिष्याम्यवशोऽद्याहं तस्मिन्दीप्ते विभावसौ ॥ २२ ॥

गया। गिरते हुए और आकाश में वर्त्तमान और अग्नि में जलते हुओं का घोर शब्द सुनाई देने लगा। और सर्पों के राजा तक्षक ने जनमेजय को यज्ञ की दीक्षा में बैठे हुए सुनकर स्वर्ग में इन्द्र के समीप गमन किया। इसके उपरान्त तक्षकनाग ने अपना सब वृत्तान्त और अपराध इन्द्र से कहा, और इन्द्र की शरण ली ॥१४।१५॥

इन्द्र ने प्रसन्न होकर कहा कि, हे तक्षक! इस यज्ञ में तुमको किसी प्रकार का भय न होगा। और मैंने पहले ही तुम्हारे लिये ब्रह्मा को प्रसन्न किया था, इस कारण तुमको किसी प्रकार का भय नहीं है। यह सुनकर तक्षक सुखपूर्वक इन्द्र के स्थान में रहने लगा ॥१६।१७॥

उग्रश्रवा बोले इसके उपरान्त सर्पों के बहुत से जलने पर वासुकिनाग जिसका परिवार थोड़ा सा रह गया था, खेद करने लगा और अत्यन्त भय को प्राप्त हुआ और हृदय कंपित वासुकि ने अपनी बहिन से कहा कि, हे भद्रे! मेरे अंग

पारीक्षितस्य यज्ञोऽसौ वर्ततेऽस्मज्जिघांसया ।
व्यक्तं मयाऽपि गन्तव्यं प्रेतराजनिवेशनम् ॥ २३ ॥
अयं स कालःसंप्राप्तो यदर्थमसि मे स्वसः ।
जरत्कारौ मया दत्ता त्रायस्वास्मान्सबान्धवान् ॥ २४ ॥
आस्तीकः किल यज्ञं तं वर्तन्तं भुजगोत्तमे ।
प्रतिपत्स्यति मां पूर्वं स्वयमाह पितामहः ॥ २५ ॥
तद्वत्से ब्रूहि वत्सं स्वं कुमारं वृद्धसंमतम् ।
ममाद्य त्वं सभृत्यस्य मोक्षार्थं वेदवित्तमम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पमन्त्रेवासुकिवाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

जलते हैं, मुझको दिशा नहीं सूझती, मोह से *अन्धा हो रहा हूं और मेरा हृदय कांपता है।* मुझे कुछ दिखाई भी नहीं देता, हृदय फटा जाता है और अब मैं परवश पराधीन हूं अवश्य ही इस जलती हुई अग्नि में गिरूंगा ॥१८।२२॥

जनमेजय का यह यज्ञ हमारे मारने की इच्छा से हो रहा है, अवश्य मैं भी यमराज के स्थानों को जाऊंगा। हे मेरी बहिन ! अब यह वही समय आगया है जिसके लिये मैंने तुमको जरत्कारु को *दिया था, इसलिये अब तुम अपने पुत्र को* जो वेद और वेदाङ्ग के जानकार है; बुलाकर हमारे कुटुम्ब सहित रक्षा करो। हे सर्पनियों में श्रेष्ठ ! तुम्हारा आस्तीक पुत्र उस यज्ञ को बन्द करा सकता है। यह निश्चय है क्योंकि ब्रह्माजी ने यह बात मुझसे पहले कही थी ॥२३।२६॥

—०—

आदिपर्व का त्रिपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

सौतिरुवाच ततः आहूय पुत्रं स्वं जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
वासुकेर्नागराजस्य वचनादिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
अहं तव पितुः पुत्र भ्रात्रा दत्ता निमित्ततः ।
कालः स चायं संप्राप्तस्तत्कुरुष्व यथातथम् ॥ २ ॥

॥ चौवनवां अध्याय ५४ ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो ! वासुकि की बहिन ने अपने भाई की बात सुनकर अपने पुत्र आस्तीक को बुलाया और उससे कहा हे पुत्र ! तुम्हारे मामा ने मुझे तुम्हारे पिता को जिस कारण दिया था उस काम का समय अब आगया है। इस समय में तुमको भी उचित कर्म करना चाहिये। यह सुनकर आस्तीक बोला मेरे मामा ने तुमको क्यों मेरे पिता को दिया था और वह अब क्या काम है, जो मुझे

आस्तीक उवाच—किंनिमित्तं मम पितुर्दत्ता त्वं मातुलेन मे ।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन श्रुत्वा कर्ताऽस्मि तत्तथा ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच—तत आचष्ट सा तस्मै बान्धवानां हितैषिणी ।
भगिनी नागराजस्य जरत्कारुरविक्लवा ॥ ४ ॥

जरत्कारुरुवाच—पन्नगानामशेषाणां माता कद्रूरिति श्रुता ।
तया शप्ता रुषितया सुता यस्मान्निबोध तत् ॥ ५ ॥
उच्चैःश्रवाः सोऽश्वराजो यन्मिथ्या न कृतो मम ।
विनतार्थाय पणिते दासभावाय पुत्रकाः ॥ ६ ॥
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ।
तत्र पञ्चत्वमापन्नाः प्रेतलोकं गमिष्यथ ॥ ७ ॥
तां च शप्तवतीं देवः साक्षाल्लोकपितामहः ।
एवमस्त्विति तद् वाक्यं प्रोवाचानुमुमोद च ॥ ८ ॥
वासुकिश्चापि तच्छ्रुत्वा पितामहवचस्तदा ।
अमृते मथिते तात देवाञ्छरणमीयिवान ॥ ९ ॥
सिद्धार्थाश्च सुराः सर्वे प्राप्यामृतमनुत्तमम् ।
भ्रातरं मे पुरस्कृत्य पितामहमुपागमन ॥ १० ॥
ते तं प्रसादयामासुः सुराः सर्वेऽब्जसंभवम् ।
राज्ञा वासुकिना सार्धं शापोऽसौ न भवेदिति ॥ ११ ॥

करना चाहिये । उग्रश्रवा बोले—इसके उपरान्त अपने कुटुम्बियों का हित चाहने वाले जरत्कारु ने शान्ति पूर्वक अपने पुत्र आस्तीक से कहा—सर्पों की माता कद्रू ने अपने पुत्रों को आज्ञा न मानने के कारण से जिस प्रकार यह शाप दिया था सो मुझसे सुन । हे पुत्र ! उच्चैःश्रवा नाम अश्वों के राजा को विनता से शर्त दासीभाव में जो तुमने मेरे कहने से मिथ्या न किया इस कारण तुमको जनमेजय के यज्ञ में अग्नि भस्म करेगा और वहां मृत्यु को प्राप्त होकर तुम यमलोक को जाओगे । शाप देती हुई उस कद्रू से सम्पूर्ण लोक के पितामह ब्रह्मा ने ऐसा ही होगा कहकर उस वचन का अनुमोदन किया ॥५।८॥

इसके उपरान्त मेरे मामा वासुकि ने उस वचन को सुनकर अमृत के मथन समय देवताओं की शरण ली । और सिद्धप्रयोजन वाले सब देवता उत्तम अमृत को लेकर तेरे मामा को ब्रह्माजी के पास ले गये । सब देवताओं ने वासुकि के साथ ब्रह्माजी को प्रसन्न किया कि, यह शाप सर्पों को न लगे ।

देवा ऊचु—वासुकिर्नागराजोऽयं दुःखितो ज्ञातिकारणात् ।
अभिशापः समाप्तुस्तु भगवन्न भवेत्कथम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मोवाच—जरत्कारुर्जरत्कारुं यां भार्यां समवाप्स्यति ।
तत्र जातो द्विजः शापान्मोक्षयिष्यति पन्नगान् ॥ १३ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं वासुकिः पन्नगोत्तमः ।
प्रादान्माममरप्रख्य तव पित्रे महात्मने ॥ १४ ॥
प्रागेवानागते काले तस्मात्त्वं मय्यजायथाः ।
अयं स कालः संप्राप्तो भयान्नस्त्रातुमर्हसि ॥ १५ ॥
भ्रातरं चापि मे तस्मात्त्रातुमर्हसि पावकात् ।
न मोघं तु कृतं तत्स्याद्यदहं तव धीमते ।
पित्रे दत्ता विमोक्षार्थं कथं वा पुत्र मन्यसे ॥ १६ ॥

सौतिरुवाच—एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा साऽऽस्तीको मातरं तदा ।
अब्रवीद्दुःखसंतप्तं वासुकिं जीवयन्निव ॥ १७ ॥
अहं त्वां मोक्षयिष्यामि वासुके पन्नगोत्तम ।
तस्माच्छापान्महासत्त्व सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥
भव स्वस्थमना नाग न हि ते विद्यते भयम् ।
प्रयतिष्ये तथा राजन्यथा श्रेयोभविष्यति ॥ १९ ॥

देवता बोले हे भगवन्! यह सर्पों का राजा वासुकि जाति के कारण अत्यन्त दुःखी है। माता का शाप किसी प्रकार इसको न हो ॥१०।१२॥

तब ब्रह्माजी ने कहा कि, वासुकि की बहिन जरत्कारु नाम जरत्कारु ऋषि ही ग्रहण करेगा। उसमें जो पुत्र उत्पन्न होगा वह सर्पों के शाप से छुड़ावेगा। हे पुत्र! इस कारण से तुम्हारे मामा ने मुझे तुम्हारे बड़े तपस्वी पिता जरत्कारु को दिया था। अब वही समय आगया है राजा जनमेजय सर्पयज्ञ कर रहा है तुम्हें चाहिये कि, अपने मामा आदि के कुटुम्ब को उस यज्ञ की अग्नि से बचाओ और उस निमित्त को पूरा करो, जिस निमित्त मेरा दान तुम्हारे पिता को हुआ था ॥१३।१६॥

यह सुनकर आस्तीक अपनी माता से बोला कि, बहुत अच्छा मैं ऐसा ही करूंगा और फिर अपने मामा वासुकि से कहा कि, मैं तुमको शाप से छुड़ाऊंगा, तुम निश्चिन्त होकर बैठो और भय को छोड़ दो। मैं कभी हंसी में भी कुछ नहीं कहता हूं। मेरे कहे को तुम सत्य मानो। मैं अभी जनमेजय के पास जाता हूं और उसे अपनी वाणी द्वारा प्रसन्न

न मे वागनृतं प्राह स्वैरेष्वपि ततोऽन्यथा ।
तं वै नृपवरं गत्वा दीक्षितं जनमेजयम् ॥ २० ॥
वाग्भिर्मङ्गलयुक्ताभिस्तोषयिष्येऽद्य मातुल ।
यथा स यज्ञो नृपतेर्निवर्तिष्यति सत्तम ॥ २१ ॥
स संभावय नागेन्द्र मयि सर्वं महामते ।
न ते मयि मनो जातु मिथ्या भवितुमर्हति ॥ २२ ॥
वासुकिरुवाच—आस्तीक परिघूर्णामि हृदयं मे विदीर्यते ।
दिशो न प्रतिजानामि ब्रह्मदण्डनिपीडितः ॥ २३ ॥
आस्तीक उवाच—न संतापस्त्वया कार्यः कथंचित्पन्नगोत्तम ।
प्रदीप्ताग्नेः समुत्पन्नं नाशयिष्यामि ते भयम् ॥ २४ ॥
ब्रह्मदण्डं महाघोरं कालाग्निसमतेजसम् ।
नाशयिष्यामि माऽत्र त्वं भयं कार्षीः कथंचन ॥ २५ ॥
सौतिरुवाच—ततः स वासुकेर्घोरमपनीय मनोज्वरम् ।
आधाय चात्मनोऽङ्गेषु जगाम त्वरितो भृशम् ॥ २६ ॥
जनमेजयस्य तं यज्ञं सर्वैः समुदितं गुणैः ।
मोक्षाय भुजगेन्द्राणामास्तीको द्विजसत्तमः ॥ २७ ॥
स गत्वापश्यदास्तीको यज्ञायतनमुत्तमम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिः सूर्यवह्निसमप्रभैः ॥ २८ ॥

करके उसका यज्ञ बंद कराता हूं। वासुकि यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ मानो किसी ने जीवदान दिया और यह बोला कि, मेरा शरीर घूम रहा है हृदय फटा जाता है। मुझे ब्रह्मदण्ड की पीडा से दिशा दिखाई नहीं देती है। यह सुनकर आस्तीक ने कहा कि, आप किसी प्रकार का भय और संताप न करें। मैं तुम्हारा भय दूर करके अग्नि के समान तेज रखने वाले ब्रह्मदण्ड के ताप को नाश करूंगा ॥१७।२५॥

इसके उपरान्त उग्रश्रवा बोले ऐसा कहकर आस्तीक ने वासुकि के दुःख को उसकी देह से उतार कर अपने शरीर पर रख लिया, और सर्पों की रक्षा के लिये वहां से गया जनमेजय के पास चले। उसने जाकर बडे उत्तम यज्ञशाला को जो कि, सूर्य के समान तेज वाले सदस्यों से भरी हुई थी, देखा। वह उस यज्ञ में प्रवेश करने की इच्छा वाला तपस्वी आस्तीक यज्ञशाला में प्रवेश करते समय द्वारपालों से निषेध किया हुआ यज्ञ की स्तुति करने लगा।

स तत्र वारितो द्वाःस्थैः प्रविशन्द्विजसत्तमः ।
अभितुष्टाव तं यज्ञं प्रवेशार्थी परंतपः ॥ २९ ॥
स प्राप्य यज्ञायतनं वरिष्ठं द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
तुष्टाव राजानमनन्तकीर्तिमृत्विक्सदस्यांश्च तथैव चाग्निम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रेआस्तीकागमने चतु पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ, ब्राह्मणों मे उत्तम आस्तीक ने यज्ञशाला के समीप जाकर अनन्त कीर्तिवाले राजा और सभासदों और ऋत्विज् और अग्नि की स्तुति की ॥२९।३०॥

आदिपर्व का चौवनवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५५ ॥

आस्तीक उवाच—सोमस्य यज्ञो वरुणस्य यज्ञः प्रजापतेर्यज्ञ आसीत्प्रयागे ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ १ ॥
शक्रस्य यज्ञः शतसंख्य उक्तस्तथा परं तुल्यसंख्यं शतं वै ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ २ ॥
यमस्य यज्ञो हरिमेधसश्च यथा यज्ञो रन्तिदेवस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ३ ॥
गयस्य यज्ञः शशबिन्दोश्च राज्ञो यज्ञस्तथा वैश्रवणस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ४ ॥
नृगस्य यज्ञस्त्वजमीढस्य चासीद्यथा यज्ञो दाशरथेश्च राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ५ ॥

। पचपनवा अध्याय ५५ ॥

आस्तीक बोला हे राजन् ! तेरा यह यज्ञ ऐसा हुआ है जैसे पूर्वकाल में चन्द्रमा, वरुण, प्रजापति का यज्ञ प्रयाग में हुआ था और हमारे और आपके प्रियों के लिये कल्याण हो । इन्द्र के सौ यज्ञ कहे हैं या उससे भी अधिक सौ यज्ञ सौ गुने तथा उसी प्रकार हे जनमेजय ! तेरा यज्ञ है, हमारे और आपके प्रियों का अब कल्याण हो । यम का यज्ञ, हरिमेधस का यज्ञ जिस प्रकार राजा रन्तिदेव का यज्ञ हुआ, हे जनमेजय ! वैसा ही यह यज्ञ है सो आपके और हमारे प्रियों का कल्याण हो । यमराज शशबिन्दु राजा वैश्रवण का यज्ञ हुआ, हे जनमेजय ! वैसा ही यह यज्ञ है सो आपके और हमारे प्रियों का कल्याण हो ॥१।४॥

जैसे नृग, अजमीढ, दशरथ के पुत्र रामचंद्र का यज्ञ हुआ है, हे जनमेजय ! वैसा ही यह यज्ञ है । जैसे धर्मराज के पुत्र युधिष्ठिर राजा का यज्ञ

यज्ञः श्रुतो दिवि देवस्य सूनोर्युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्तिनोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ६ ॥
कृष्णस्य यज्ञः सत्यवत्याः सुतस्य स्वयं च कर्म प्रचकार यत्र ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारीक्षित स्वस्तिनोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ७ ॥
इमे च ते सूर्यसमानवर्चसः समासते वृत्रहणः क्रतुं यथा ।
नैषां ज्ञातुं विद्यते ज्ञानमद्य दत्तं येभ्यो न प्रणश्येत्कदाचित् ॥ ८ ॥
ऋत्विक्समो नास्ति लोकेषु चैव द्वैपायनेनेति विनिश्चितं मे ।
एतस्य शिष्या हि क्षितिं संचरन्ति सर्वर्त्विजः कर्मसु स्वेषु दक्षाः ॥ ९ ॥
विभावसुश्चित्रभानुर्महात्मा हिरण्यरेता हुतभुक्कृष्णवर्त्मा ।
प्रदक्षिणावर्तशिखः प्रदीप्तो हव्यं तवेदं हुतभुग्वष्टि देवः ॥ १० ॥
नेह त्वदन्यो विद्यते जीवलोके समो नृपः पालयिता प्रजानाम् ।
धृत्या च ते प्रीतमनाः सदाऽहं त्वं वा वरुणो धर्मराजो यमो वा ॥ ११ ॥
शक्रः साक्षाद्वज्रपाणिर्यथेह त्राता लोकेऽस्मिंस्त्वं तथेह प्रजानाम् ।
मतस्त्वं नः पुरुषेन्द्रेह लोके न च त्वदन्यो भूपतिरस्ति जज्ञे ॥ १२ ॥
खट्वाङ्गनाभागदिलीपकल्प ययातिमांधातृसमप्रभाव ।
आदित्यतेजः प्रतिमानतेजा भीष्मो तथा राजसि सुव्रतस्त्वम् ॥ १३ ॥

हुआ है हे राजन्! वैसा ही यह यज्ञ हुआ है। जैसे सत्यवती के पुत्र व्यास का यज्ञ हुआ जिसमें वह स्वयं कर्म करता था, हे जनमेजय! वैसा ही यह यज्ञ हुआ है। जैसे इन्द्र के यज्ञ में विद्वान् बैठे थे वैसे इस यज्ञ में सूर्य के समान तेजस्वी बैठे हैं। इनको कुछ ज्ञान जानना शेष नहीं है जिनको दिया हुआ दान कभी नष्ट नहीं होता है और वह संसार में कोई ऋत्विज व्यास के सदृश नहीं है मुझको यह निश्चय है इसके शिष्य सारी पृथ्वी में विचरते हैं जो कि, अपने कर्मों और परलोक के साधन करने वाले कर्मों में चतुर हैं ॥९॥

महात्मा विचित्र कान्ति वाला यह अग्नि जो कि होम पदार्थ को भक्षण करने वाला जिसको हिरण्यरेता और कृष्णवर्त्मा कहते हैं वह जो कि प्रदक्षिणावर्त्त ज्वालायुक्त और प्रदीप्त होता हुआ हवि को तुम्हारी कामना कर रहा है। और तुम्हारे समान प्रजापालक कोई राजा नहीं है। तुम्हारे धैर्य से मेरा मन सदैव प्रसन्न रहता है। तुम वरुण धर्मराज यम वा साक्षात् हो। मैं वज्र लिये हुए इन्द्र जैसे इस संसार की रक्षा करते हैं उसी प्रकार तुम भी पृथ्वी की रक्षा करते हो। हे श्रेष्ठ! इस लोक में तुम्हारे सिवाय कोई राजा नहीं हुआ और नहीं है ऐसा मैं मानता हूं। हे खट्वाङ्ग नाभाग दलीप के सदृश और ययाति मांधाता के तुल्य राजा

वाल्मीकिवत्ते निभृतं स्ववीर्यं वसिष्ठवत्ते नियतश्च कोपः ।
प्रभुत्वमिन्द्रत्वसमं मतं मे द्युतिश्च नारायणवद्विभाति ॥ १४ ॥
यमो यथा धर्मविनिश्चयज्ञः कृष्णो यथा सर्वगुणोपपन्नः ।
श्रियां निवासोऽसि यथा वसूनां निधानभूतोऽसि तथा क्रतूनाम् ॥ १५ ॥
दम्भोद्भवेनासि समो बलेन रामो यथा शास्त्रविदस्त्रविच्च ।
और्वत्रिताभ्यामसि तुल्यतेजा दुष्प्रेक्षणीयोऽसि भगीरथेन ॥ १६ ॥
सौतिरुवाच—एवं स्तुताः सर्व एव प्रसन्ना राजा सदस्या ऋत्विजो हव्यवाहः ।
तेषां दृष्ट्वा भावितानीङ्गितानि प्रोवाच राजा जनमेजयोऽथ ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

जनमेजय आदित्य के तेज के समान तेजयुक्त और भीष्म के समान उत्तम व्रतों के धारण करने वाले तुम शोभित होते हो। तुम वाल्मीक के समान पराक्रमी, वसिष्ठ के समान क्रोध को वश में करने वाले, इन्द्र के समान प्रभुता के रखने वाले, नारायण के समान कांति वाले, यमराज के तुल्य धर्मचारी, कृष्ण के समान सम्पूर्ण गुणों से युक्त हो। जैसे अष्टसिद्धि तुम्हारे पास निवास करती हैं इस प्रकार यज्ञों के भी तुम स्थान हो। तुम जरासिन्ध के समान बलवान् और परशुराम के समान शस्त्र और अस्त्र विद्याओं के जानने वाले हो। और्वऋषि और त्रित के समान तेजस्वी हो। तुम भगीरथ के समान किसी से अपमान करने योग्य नहीं हो। इस प्रकार स्तुति करने पर सब राजा सभासद् अग्नि और ऋत्विज् प्रसन्न हुए राजा ने सभासद् और उन की मन की चेष्टाओं को देखकर कहा ॥१०॥१७॥

आदिपर्व का पचपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५६ ॥

जनमेजय उवाच—बालोऽप्ययं स्थविर इवाव भाषते नायं बालः स्थविरोऽयं मतो मे ।
इच्छाम्यहं वरमस्मै प्रदातुं तन्मे विप्राः संविदध्वं यथावत् ॥ १ ॥
सदस्या ऊचुः—बालोऽपि विप्रो मान्य एवेह राज्ञां विद्वान्यो वै स पुनर्वै यथावत् ।
सर्वान्कामांस्त्वत्त एवार्हतेऽद्य यथा च नस्तक्षक एति शीघ्रम् ॥ २ ॥

॥ छप्पनवां अध्याय ५६ ॥

जनमेजय बोले यह बालक वृद्धों की तरह बात करता है और यह बालक नहीं है मैं इसको वृद्ध मानता हूँ और इसको वरदान देना चाहता हूँ इस विषय में आपकी क्या आज्ञा है! सदस्य और ऋत्विज बोले हे राजन्! बालक भी ब्राह्मण राजाओं के सत्कार करने के योग्य होता है और जो विद्वान् है वह तो सर्वथा सत्कार करने के योग्य है। यह ब्राह्मण तुमसे सब मनोरथों को पाने के योग्य

मौतिरुवाच—व्याहर्तुकामे वरदे नृपे द्विजं वरं वृणीष्वेति ततोऽभ्युवाच ।
होता वाक्यं नातिहृष्टान्तरात्मा कर्मण्यास्मिंस्तक्षको नैति तावत् ॥ ३ ॥
जनमेजय उवाच—यथा चेदं कर्मसमाप्यते मे यथा च वै तक्षक एति शीघ्रम् ।
तथा भवन्तः प्रयतन्तु सर्वे परं शक्त्या स हि मे विद्विषाणः ॥ ४ ॥
ऋत्विज ऊचु—यथा शास्त्राणि नः प्राहुर्यथा शंसति पावकः ।
इन्द्रस्य भवने राजंस्तक्षको भयपीडितः ॥ ५ ॥
यथा सूतो लोहिताक्षो महात्मा पौराणिको वेदितवान्पुरस्तात् ।
स राजानं प्राह पृष्टस्तदानीं यथाहुर्विप्रास्तद्वदेतन्नृदेव ॥ ६ ॥
पुराणमागम्य ततो ब्रवीम्यहं दत्तं तस्मै वरमिन्द्रेण राजन् ।
वसेह त्वं मत्सकाशे सुगुप्तो न पावकस्त्वां प्रदहिष्यतीति ॥ ७ ॥
एतच्छ्रुत्वा दीक्षितस्तप्यमान आस्ते होतारं चोदयन्कर्मकाले ।
होता च यत्तोऽस्याजुहावाथ मन्त्रैरथो महेन्द्रः स्वयमाजगाम ॥ ८ ॥
विमानमारुह्य महानुभावः सर्वैर्देवैः परिसंस्तूयमानः ।
बलाहकैश्चाप्यनुगम्यमानो विद्याधरैरप्सरसां गणैश्च ॥ ९ ॥
तस्योत्तरीये निहितः स नागो भयोद्विग्नः शर्म नैवाभ्यगच्छत् ।
ततो राजा मन्त्रविदोऽब्रवीत्पुनः क्रुद्धो वाक्यं तक्षकस्यान्तमिच्छन् ॥ १० ॥

है। ऐसा कार्य हो जिससे तक्षक शीघ्र आवे। उग्रश्रवा बोले—यह सुनकर राजा आस्तीक को वर देने को ही था कि, इतने में होता ने कहा—इस कर्म में जब तक तक्षक नहीं आता तब तक वरदान न देना चाहिये। राजा जनमेजय बोला—हे ब्राह्मणो! अब ऐसा करो जिसमें तक्षक आकर अग्नि में गिरे और यह यज्ञ समाप्त हो क्योंकि तक्षक ही मेरा शत्रु है ॥३।४॥

ऋत्विज् बोले—हे महाराज! हम लोग बहुत प्रकार से मंत्र पढ़ते हैं परन्तु तक्षक नहीं आता है। वह भय से पीड़ित होकर इन्द्रलोक को चला गया है। जैसे पुराण के जानने वाले लोहिताक्ष नाम महात्मा सूत ने पहले ही राजा से कहा था वह ठीक है। तब राजा ने उस सूत को बुलाकर पूछा और उसने कहा कि, जो कुछ यह ब्राह्मण कह रहे हैं सो ठीक है। हे राजन्! तुमसे मैं पहले कल्प की कथा को जानकर कहता हूं कि, इन्द्र ने तक्षक को वरदान दिया है कि, हे तक्षक! तुम यहां मेरे पास निर्भय रहो और यहां पर भली प्रकार तुम्हारी रक्षा होगी और अग्नि तुमको नहीं जला सकेगा। ॥५-७॥

यह सुनकर राजा अत्यन्त दुःखी हुआ और कर्म के समय होता को प्रेरणा करता हुआ बैठा रहा और होता भी सावधानता से मंत्रों से होम

जनमेजय उवाच—इंद्रस्य भवने विप्रा यदि नागः स तक्षकः ।
तमिन्द्रेणैव सहितं पातयध्वं विभावसौ ॥ ११ ॥
सौतिरुवाच—जनमेजयेन राज्ञा तु नोदितस्तक्षकं प्रति ।
होता जुहाव तत्रस्थं तक्षकं पन्नगं तथा ॥ १२ ॥
हूयमाने तथा चैव तक्षकः सपुरन्दरः ।
आकाशे ददृशे चैव क्षणेन व्यथितस्तदा ॥ १३ ॥
पुरन्दरस्तु तं यज्ञं दृष्ट्वोरुभयमाविशत् ।
हित्वा तु तक्षकं त्रस्तः स्वयमेव भवनं ययौ ॥ १४ ॥
इन्द्रे गते तु राजेन्द्र तक्षको भयमोहितः ।
मन्त्रशक्त्या पावकार्चिः समीपमवशो गतः ॥ १५ ॥
ऋत्विज ऊचु—वर्तते तव राजेन्द्र कर्मैतद्विधिवत्प्रभो ।
अस्मै तु द्विजमुख्याय वरं त्वं दातुमर्हसि ॥ १६ ॥
जनमेजय उवाच—बालाभिरूपस्य तवाप्रमेयं वरं प्रयच्छामि यथानुरूपम् ।
वृणीष्व यत्तेऽभिमतं हृदि स्थितं तत्ते प्रदास्याम्यपि चेददेयम् ॥ १७ ॥
ऋत्विज ऊचु.—अयमायाति तूर्णं स तक्षकस्ते वशं नृप ।
श्रूयतेऽस्य महान्नादो नदतो भैरवं रवम् ॥ १८ ॥

करने लगा। इसके उपरान्त बड़ा प्रतापी, सब देवता जिसकी स्तुति कर रहे हैं और बादल अप्सरा, विद्याधर जिसके पीछे पीछे आते हैं वह इन्द्र स्वय आया। उसके उपरीय वस्त्र में भय से व्याकुल अपने कल्याण को न देखता हुआ तक्षक था। इसके उपरान्त राजा ब्राह्मणों से तक्षक के नाश करने की इच्छा से क्रोधित होकर बोला कि, हे ब्राह्मणो ! तक्षक तो इन्द्र के वश निर्भय होकर रहता है, अब तुम ऐसा उपाय करो कि, तक्षक सहित इन्द्र का आवाहन करके दोनों को अग्नि में होम दो। राजा की यह बात सुनकर होता ने इन्द्र का आवाहन किया। होता के आवाहन करने पर क्षणमात्र में व्याकुल तक्षक आकाश में दिखाई दिया। इन्द्र को उस यज्ञ के देखते ही बड़ा भय प्राप्त हुआ और तक्षक को छोड़कर आप व्याकुल हो आकाश को चला गया। इन्द्र के चले जाने पर तक्षक अत्यन्त भय से व्याकुल मत्र के पराधीन होम की अग्नि के समीप आगया ॥८।१५॥

ऋत्विज् बोले—हे राजेन्द्र ! तुम्हारा यह यज्ञ का कर्म विधिपूर्वक हो रहा है और इस ब्राह्मण को वरदान दो। हे ब्राह्मण बालक ! तुम अपनी इच्छानुसार वर मांगो, मैं वही दूंगा। ऋत्विज् बोले हे राजन् ! यह तक्षक शीघ्र तेरे वश होकर चला आता है और इसका भयानक शब्द सुनाई

नूनं मुक्तो वज्रभृता स नागो भ्रष्टो नाकान्मन्त्रविस्रस्तकायः ।
घूर्णन्नाकाशे नष्टसंज्ञोऽभ्युपैति तीव्रान्निःश्वासान्निःश्वसन्पन्नगेन्द्रः ॥ १९ ॥

सौतिरुवाच—पतिष्यमाणे नागेन्द्रे तक्षके जातवेदसि ।
इदमन्तरमित्येवं तदाऽऽस्तीकोऽभ्यचोदयत् ॥ २० ॥

आस्तीक उवाच—वरं ददासि चेन्मह्यं वृणोमि जनमेजय ।
सत्रं ते विरमत्वेतन्न पतेयुरिहोरगाः ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्तदा तेन ब्रह्मन्पारीक्षितस्तु सः ।
नातिहृष्टमनाश्चेदमास्तीकं वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥

सुवर्णं रजतं गाश्च यच्चान्यन्मन्यसे विभो ।
तत्ते दद्यां वरं विप्र न निवर्तेत्क्रतुर्मम ॥ २३ ॥

आस्तीक उवाच—सुवर्णं रजतं गाश्च न त्वां राजन्वृणोम्यहम् ।
सत्रं ते विरमत्वेतत्स्वस्ति मातृकुलस्य नः ॥ २४ ॥

सौतिरुवाच—आस्तीकेनैवमुक्तस्तु राजा पारीक्षितस्तदा ।
पुनः पुनरुवाचेदमास्तीकं वदतां वरः ॥ २५ ॥

अन्यं वरय भद्रं ते वरं द्विजवरोत्तम ।
अयाचत न चाप्यन्यं वरं स भृगुनन्दन ॥ २६ ॥

ततो वेदविदस्तात सदस्याः सर्व एव तम् ।
राजानमूचुः सहिता लभतां ब्राह्मणो वरम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि आस्तीकवरप्रदानंनाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

देख रहा है । इन्द्र के छोड़ जाने से विकल मूर्च्छित और घूमकर खा खाकर ऊंचे श्वास लेता है । उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो ! जब आस्तीक ने देखा कि, तक्षक अग्नि के समीप आ पहुंचा है थोड़ा ही अन्तर है तब वह जनमेजय से बोला कि, आपने जो वर देने को कहा था सो दीजिये, कि तुम्हारा यह सर्प-सत्र यज्ञ अब समाप्त हो और इस समय से पीछे इसमें कोई सर्प न गिरे ॥१९।२१॥

इस प्रकार उसके कहने पर जनमेजय दुःखित हो आस्तीक से यह वचन बोला—हे ब्राह्मण ! सुवर्ण चान्दी और जो कुछ तुम लेना चाहते हो सो सब-कुछ तुमको देता हूं, परन्तु यह यज्ञ समाप्त न कराइये। आस्तीक बोला—हे राजन् ! सुवर्ण. चांदी, गऊ, कुछ नहीं लेना चाहता केवल आपके यज्ञ की समाप्ति चाहता हूं । आस्तीक के ऐसा कहने पर जनमेजय ने बार बार उससे कहा कि, हे ब्राह्मण ! तुम्हारा

भला हो, तुम और कुछ वर मांगो। हे शौनक ! आस्तीक ने इस वर के सिवाय और कुछ न मांगा। इसके उपरान्त सब सदस्य और ऋत्विज् बोले कि, हे राजन् ! अब कुछ चिंता न करो, वर दो और सर्पसत्र यज्ञ को बन्द करो। उनकी बात सुनकर राजा ने ब्राह्मण को वर दिया और सर्पयज्ञ को समाप्त किया ॥२२।२७॥

—०—

आदिपर्व का छप्पनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५७ ॥

शौनक उवाच—ये सर्पाः सर्पसत्रेऽस्मिन्पतिता हव्यवाहने ।
तेषां नामानि सर्वेषां श्रोतुमिच्छामि सूतज ॥ १ ॥
सौतिरुवाच—सहस्राणि बहून्यस्मिन्प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
न शक्यं परिसंख्यातुं बहुत्वाद्द्विजसत्तम ॥ २ ॥
यथास्मृति तु नामानि पन्नगानां निबोध मे ।
उच्यमानानि मुख्यानां हुतानां जातवेदसि ॥ ३ ॥
वासुकेः कुलजातांस्तु प्राधान्येन निबोध मे ।
नीलरक्तान्सितान्घोरान्महाकायान्विषोल्वणान् ॥ ४ ॥
अवशान्मातृवाग्दण्डपीडितान्कृपणान्हुतान् ।
कोटिशो मानसः पूर्णः शलः पालो हलीमकः ॥ ५ ॥
पिच्छलः कौणपश्चक्रः कालवेग प्रकालनः ।
हिरण्यबाहुः शरणः कक्षकः कालदन्तकः ॥ ६ ॥
एते वासुकिजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहने ।
अन्ये च बहवो विप्र तथा वै कुलसंभवाः ।

॥ सत्तावनवां अध्याय ५७ ॥

शौनक बोले-हे सूतपुत्र ! जो सर्प इस यज्ञ में भस्म हुए, उन सबों के नाम सुनने की मैं इच्छा करता हूं। उग्रश्रवा बोले-इस यज्ञ में तो अर्बों खर्बों से भी अधिक असंख्य सर्प गिरकर भस्म हो गये, उन सबके नामों को नहीं कह सकता हूं, परन्तु उस अग्नि में जले हुए मुख्य मुख्य सर्पों के नाम यह हैं। वासुकि के कुल में उत्पन्न जो प्रधान प्रधान और नीले, लाल, सफेद, बड़ी देह वाले भयानक विषयुक्त जो सर्प हैं उनके नाम सुनो। जो कि माता के शाप से दीन परवश होकर करोड़ों अग्नि में भस्म हो गये। कोटिश, मानस, पूर्ण, शल, पाल, हलीमक, पिच्छल, कौणय, चक्र, कालवेग, प्रकालन,

प्रदीताग्नौहुताः सर्वे घोररूपा महाबलाः ॥ ७ ॥
तक्षकस्य कुले जातान्प्रवक्ष्यामि निबोध तान् ।
पुच्छाण्डको मण्डलकः पिण्डसेक्ता रभेणकः ॥ ८ ॥
उच्छिखः शरभो भङ्गो बिल्वतेजा विरोहणः ।
शिलीशलकरोमूकः सुकुमारः प्रवेपनः ॥ ९ ॥
मुद्गरः शिशुरोमा च सुरोमा च महाहनुः ।
एते तक्षकजानागाः प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥ १० ॥
पारावतः पारियातः पाण्डरो हरिणः कृशः ।
विहङ्गः शरभो मेदः प्रमोदः संहतापनः ॥ ११ ॥
ऐरावतकुलादेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।
कौरव्यकुलजान्नागाञ्छृणु मे त्वं द्विजोत्तम ॥ १२ ॥
एरकः कुण्डलो वेणी वेणीस्कन्धः कुमारकः ।
बाहुकः शृङ्गवेरश्च धूर्तकः प्रातरातकौ ॥ १३ ॥
कौरव्यकुलजास्त्वेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।
धृतराष्ट्रकुले जाताञ्छृणु नागान्यथातथम् ॥ १४ ॥
कीर्त्यमानान्मया ब्रह्मन्वातवेगान्विषोल्वणान् ।
शङ्कुकर्णः पिठरकः कुठारमुखसेचकौ ॥ १५ ॥

हिरण्यबाहु, शरण, कक्षक, कालदन्तक, यह सर्प वासुकि के कुलोत्पन्न अग्नि में भस्म हुए और हे शौनक ! और भी बहुत से उत्तम कुल वाले प्रदीप्त अग्नि में भस्म हुए ॥१।७॥

तक्षक कुल के सर्पों के नाम कहता हूं । पुच्छ, आण्डक, मण्डलक, पिण्डसेक्त, आरभेणक, उच्छिख, शरभ, भङ्ग, बिल्वतेजा, विरोहण, शिली, शलकर, मूक, सुकुमार, प्रवेपन, मुद्गर, शिशुरोमा, सुरोमा, महाहनु, ये तक्षक के कुल में उत्पन्न सर्प अग्नि-कुण्ड में भस्म हुए । अब ऐरावत सर्प के वंश के नागों के प्रधान नामों को कहता हूं । पारावत, पारियात, पाण्डर, हरिण, कृश, विहंग, शरभ, मेद, प्रमोद, संहतापन, ये ऐरावत के कुल के सर्प अग्नि में नष्ट हुए । अब कौरव्यनाग के कुल के मुख्य मुख्य सर्पों के नाम कहता हूं । एरक, कुंडल, वेणी, वेणीस्कन्द, कुमारक, बाहुक, शृंगवेर, धूर्तक, प्रात, आतक, ये कौरव्य कुल के सर्प अग्नि में भस्म हुए । अब धृतराष्ट्र के कुल में उत्पन्न जो कि, वायु की गति के समान चलने वाले और बड़े विषयुक्त सर्प हैं उनको मैं यथार्थ रीति से कहता हूं । शंकुकरण,

पूर्णाङ्गदः पूर्णमुखः प्रहासः शकुनिर्दरिः ।
अमाहठः कामठकः सुषेणो मानसोऽव्ययः ॥ १६ ॥
भैरवो मुण्डवेदाङ्ग पिशङ्गश्चोद्रपारकः ।
ऋषभो वेगवान्नागः पिण्डारकमहाहनू ॥ १७ ॥
रक्ताङ्गः सर्वसारङ्गः समृद्धपटवासकौ ।
वराहको वीरणकः सुचित्रश्चित्रवेगिकः ॥ १८ ॥
पराशरस्तरुणको मणिः स्कन्धस्तथाऽरुणिः ।
इति नागा मया ब्रह्मन्कीर्तिताः कीर्तिवर्धनाः ॥ १९ ॥
प्राधान्येन बहुत्वात्तु न सर्वे परिकीर्तिताः ।
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः ॥ २० ॥
न शक्यं परिसंख्यातुं ये दीप्तं पावकं गताः ।
त्रिशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च दशशीर्षास्तथाऽपरे ॥ २१ ॥
कालानलविषा घोरा हुताः शतसहस्रशः ।
महाकाया महावेगाः शैलशृङ्गसमुच्छ्रयाः ॥ २२ ॥
योजनायामविस्तारा द्वियोजनसमायताः ।
कामरूपाः कामबला दीप्तानलविषोल्बणाः ॥ २३ ॥
दग्धास्तत्र महासत्रे ब्रह्मदण्डनिपीडिताः ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पनामकथने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५७ ॥

पिठरक, मुद्गर, मुखमेचक, पूर्णांगद, पूर्णमुख, प्रहास, शकुनिर्दरि, अमाहठ, कामठक, सुषेण, मानस, अव्यय, भैरव, मुण्डवेदाग, पिशंग, उद्रपारक, ऋषभ, वेगवान, पिण्डारक, महाहनु, रक्तांग, सर्वसारंग, समृद्ध, पटवासक, वराहक, वीरणक, सुचित्र, चित्रवेगिक, पराशर, तरुणक, मणि, स्कन्ध और आरुणि हे ब्राह्मण! कीर्ति के बढ़ाने वाले यह सर्प मुख्य मुख्य मैंने तुमसे कह दिये हैं और बहुत होने से सबको नहीं कह सकता। इनकी सन्तान और सन्तान की सन्तान जो कि, अग्नि में भस्म हो गये हैं वह गिनने में नहीं आसकते हैं। किसी के तीन, किसी के सात और किसी के दश शिर थे। वह सर्प प्रलय की अग्नि के समान विष वाले भयानक हजारों मृत्यु को प्राप्त हो गये। वह बड़ी देह वाले और वेग वाले ऊंचे पहाड़ों के शिखरों के समान थे। कोई एक योजन और कोई दो योजन लम्बे थे। वह इच्छा के मुताबिक रूप बनाने वाले और इच्छा सदृश बल वाले, अग्नि के समान तेजस्वी, बड़े विषैले

उस बड़े सर्पयज्ञ में माता के शाप से पीड़ित भस्म हो गये ॥८२४॥

आदिपर्व का सत्तावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५८ ॥

सौतिरुवाच—इदमत्यद्भुतं चान्यदास्तीकस्यानुशुश्रुम ।
तथा वरैश्छन्द्यमाने राज्ञा पारीक्षितेन हि ॥ १ ॥
इन्द्रहस्ताच्च्युतो नागः ख एव यदतिष्ठत ।
ततश्चिन्तापरो राजा बभूव जनमेजयः ॥ २ ॥
हूयमाने भृशं दीप्ते विधिवद्वसुरेतसि ।
न स्म स प्रापतद्वह्नौ तक्षको भयपीडितः ॥ ३ ॥
शौनक उवाच—किं सूत तेषां विप्राणां मन्त्रग्रामो मनीषिणाम् ।
न प्रत्यभात्तदाऽग्नौ यत्स पपात न तक्षकः ॥ ४ ॥
सौतिरुवाच—तमिन्द्रहस्ताद्विस्रस्तं विसंज्ञं पन्नगोत्तमम् ।
आस्तीकस्तिष्ठतिष्ठेति वाचस्तिस्रोऽभ्युदैरयत् ॥ ५ ॥
वितस्थे सोऽन्तरिक्षे च हृदयेन विदूयता ।
यथा तिष्ठति वै कश्चित्खं च गां चान्तरा नरः ॥ ६ ॥
ततो राजाऽब्रवीद्वाक्यं सदस्यैश्चोदितो भृशम् ।
काममेतद्भवत्वेवं यथाऽऽस्तीकस्य भाषितम् ॥ ७ ॥
समाप्यतामिदं कर्म पन्नगाः सन्त्वनामयाः ।
प्रीयतामयमास्तीकः सत्यं सूतवचोऽस्तु तत् ॥ ८ ॥

॥ अट्ठावनवां अध्याय ५८ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो ! आस्तीक ने एक और अद्भुत बात की वह भी सुनो। इन्द्र आस्तीक का वर मिलने में देरी देखकर भय से तक्षक को छोड़कर चले गये और बड़ी देर हो गई परन्तु तक्षक अग्नि में नहीं गिरा। तब राजा के मनमें बड़ी चिन्ता यह हुई कि, मंत्र से आवाहन करने पर भी तक्षक स्वर्ग से अग्निकुण्ड में क्यों नहीं गिरता है। यह सुनकर शौनक ऋषि ने पूछा कि, हे सूतपुत्र ! क्या ब्राह्मण मंत्रविधि भूल गये थे जिससे ऐसा हुआ। सूतपुत्र बोले—नहीं, जब आस्तीक ने देखा कि, तक्षक अग्नि में गिरना चाहता है तब तीन बेर "तिष्ठ तिष्ठ" अर्थात् ठहर जाओ कहा था ॥१-५॥

इस कारण वह तक्षक दुःखित हृदय के साथ आकाश में स्थित हो गया जैसे कोई आकाश व

ततो हलहलाशब्दः प्रीतिदः समजायत ।
आस्तीकस्य वरे दत्ते तथैवोपरराम च ॥ ९ ॥
स यज्ञः पाण्डवेयस्य राज्ञः पारीक्षितस्य ह ।
प्रीतिमांश्चाभवद्राजा भारतो जनमेजयः ॥ १० ॥
ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो ये तत्रासन्समागताः ।
तेभ्यश्च प्रददौ वित्तं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ११ ॥
लोहिताक्षाय सूताय तथास्थपतये विभुः ।
येनोक्तं तस्य तत्राग्रे सर्पसत्रनिवर्तने ॥ १२ ॥
निमित्तं ब्राह्मण इति तस्मै वित्तं ददौ बहु ।
दत्वा द्रव्यं यथा न्यायं भोजनाच्छादनान्वितम् ॥ १३ ॥
प्रीतस्तस्मै नरपतिरप्रमेयपराक्रमः ।
ततश्चकारावभृथं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १४ ॥
आस्तीकं प्रेषयामास गृहानेव सुसंस्कृतम् ।
राजा प्रीतमनाः प्रीतं कृतकृत्यं मनीषिणम् ॥ १५ ॥
पुनरागमनं कार्यमिति चैनं वचोऽब्रवीत् ।
भविष्यसि सदस्यो मे वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ १६ ॥

पृथ्वी के मध्य में खड़ा रहे। तब राजा जनमेजय सभासदों की प्रेरणा से यह वचन बोला कि, जो कुछ आस्तीक ने कहा है, वह उसी प्रकार हो। यह यज्ञ समाप्त किया जावे और सर्पों का कल्याण हो और यह आस्तीक प्रसन्न होवे। सूत का वचन सत्य हो। यह वरदान देने पर यज्ञ समाप्त हुआ। राजा प्रसन्न हुआ और बड़े आनन्द के देने वाला कोला-हल शब्द हुआ ॥६।१०॥

उग्रश्रवा बोले राजा जनमेजय ने सब ऋत्विज् और सदस्यों को बहुतसा धन देकर उनका सन्मान किया और उस लोहिताक्ष सूतको जो कि कारीगर था, जिसने यज्ञकुण्ड बनाते समय यह कहा था कि, यह यज्ञ एक ब्राह्मण के कारण से निवृत्त होगा, वस्त्र भोजन और धन देकर विदा किया। भोजन और वस्त्रादि द्वारा यथायोग्य धन देकर उस पर प्रसन्न हुआ। बड़े पराक्रम वाले जनमेजय ने शास्त्र विधि से यज्ञान्त स्नान किया ॥११।१४॥

उस बुद्धिमान् प्रसन्नचित्त आस्तीक को बहुतसा सन्मान करके विदा किया और कहा कि, आप फिरभी कृपा कीजियेगा। मै बड़ा अश्वमेधयज्ञ करूंगा, उस यज्ञ में आप मेरे बड़े सभासद बनोगे। आस्तीक अपना काम साध, राजा को प्रसन्न कर बहुत अच्छा ऐसा कहकर वहा से चल दिया। अपनी माता और मामा वासुकि के समीप जाकर सब वृत्तांत विस्तार-

तथेत्युक्त्वा प्रदुद्राव तदाऽऽस्तीको मुदायुतः ।
कृत्वास्वकार्यमतुलं तोषयित्वा च पार्थिवम् ॥ १७ ॥
स गत्वा परमप्रीतो मातुलं मातरं च ताम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य तथावृत्तं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

सौतिरुवाच—एतच्छ्रुत्वा प्रीयमाणाः समेता ये तत्रासन्पन्नगा वीतमोहाः ।
आस्तीके वै प्रीतिमन्तो बभूवुरूचुश्चैनं वरमिष्टं वृणीष्व ॥ १९ ॥
भूयो भूयः सर्वशस्तेऽब्रुवस्तं किं ते प्रियं करवामाद्य विद्वन् ।
प्रीता वयं मोक्षिताश्चैव सर्वे कामं किं ते करवामाद्य वत्स ॥ २० ॥

आस्तीक उवाच—सायंप्रातर्ये प्रसन्नात्मरूपा लोके विप्रा मानवा ये परेऽपि ।
धर्माख्यानं ये पठेयुर्ममेदं तेषां युष्मन्नेव किंचिद्भयं स्यात् ॥ २१ ॥
तैश्चाप्युक्तो भागिनेयः प्रसन्नैरेतत्सत्यं काममेवं वरं ते ।
प्रीत्या युक्ताः कामितं सर्वशस्ते कर्त्तारः स्म प्रवणा भागिनेय ॥ २२ ॥
असितं चार्तिमन्तं च सुनीथं चापि यः स्मरेत ।
दिवा वा यदि वा रात्रौ नास्य सर्पभयं भवेत् ॥ २३ ॥
यो जरत्कारुणा जातो जरत्कारौ महायशाः ।
आस्तीकः सर्पसत्रे वः पन्नगान्योऽभ्यरक्षत ।
तं स्मरन्तं महाभागा न मां हिंसितुमर्हथ ॥ २४ ॥

पूर्वक कहा । उग्रश्रवा बोले—सारे वृत्तान्त को सुनकर जो सर्प वहां एकत्रित थे सब बहुत प्रसन्न हुए और आस्तीक से बोले कि, जो वर मांगोगे सो हम देवेंगे ॥१७।१९॥

वे सब सर्प बार बार उससे कहने लगे कि, हे विद्वान् ! हम तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करें । हम सबको तुमने बड़ी आपत्ति से छुड़ाया है । हे पुत्र ! कहो, अब क्या तुम्हारा कार्य है जिसको हम करें । आस्तीक बोले—जो ब्राह्मण अथवा और मनुष्य इस मेरे चरित्र को सायंकाल और प्रातःकाल पढ़ें उनको तुमसे कुछ भी भय न हो । उन सर्पों ने प्रसन्न होकर कहा कि, तुम्हारा यह वरदान सत्य होवे । प्रीतियुक्त और नम्र होकर हम तुम्हारी इच्छा को पूर्ण करेंगे । जो पुरुष असित और अर्तिमन्त और सुनीथ नामों को दिन या रात्रि में स्मरण करेगा उसको सर्प का भय न होगा ॥२१।२३॥

जो मनुष्य जरत्कारु पिता और जरत्कारु माता से उत्पन्न हुए और बड़े यशवाले आस्तीक को जिसने सर्पयज्ञ में सर्पों की रक्षा की स्मरण करेगा और यह कहेगा कि, हे बड़े भाग वाले सर्पो ! मुझको मत मारो । और हे बड़े विष वाले सर्प ! तुम यहां से चले जाओ और तुम्हारा भला हो । जनमेजय के

सर्पापसर्प भद्रं ते गच्छ सर्प महाविष ।
जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकवचनं स्मर ॥ २५ ॥
आस्तीकस्य वचः श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्तते ।
शतधा भिद्यते मूर्ध्नि शिंशवृक्षफलं यथा ॥ २६ ॥
सौतिरुवाच—स एवमुक्तस्तु तदा द्विजेन्द्रः समागतैस्तैर्भुजगेन्द्रमुख्यैः ।
संप्राप्य प्रीतिं विपुलां महात्मा ततो मनो गमनायाथ दध्रे ॥ २७ ॥
मोक्षयित्वा तु भुजगान्सर्पसत्राद्द्विजोत्तमः ।
जगाम काले धर्मात्मा दिष्टान्तं पुत्रपौत्रवान् ॥ २८ ॥
इत्याख्यानं मयाऽऽस्तीकं यथावत्तव कीर्तितम् ।
यत्कीर्तयित्वा सर्पेभ्यो न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २९ ॥
सौतिरुवाच—यथा कथितवान्ब्रह्मन्प्रमतिः पूर्वजस्तव ।
पुत्राय रुरवे प्रीतः पृच्छते भार्गवोत्तम ॥ ३० ॥
यद्वाक्यं श्रुतवांश्चाहं तथा च कथितं मया ।
आस्तीकस्य कवेर्विप्र श्रीमच्चरितमादितः ॥ ३१ ॥
श्रुत्वा धर्मिष्ठमाख्यानमास्तीकं पुण्यवर्धनम् ।
यन्मां त्वं पृष्टवान्ब्रह्मञ्छ्रुत्वा डुण्डुभभाषितम् ।
व्येतु ते सुमहद्ब्रह्मन्कौतूहलमरिंदम ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारत आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

यज्ञ के उपरान्त आस्तीक के वचन को यादकर, आस्तीक के वाक्य को सुनकर जो सर्प न लौटे तो उस सर्प के शिर के सौ टुकड़े हो जाते हैं, जैसे शिंशवृक्ष के फल हो जाते हैं ॥२५।२६॥

उग्रश्रवा बोले इस प्रकार सब सर्पों में श्रेष्ठ मुख्य सर्पों से ऐसा कहने पर आस्तीक ने बड़ी प्रसन्नता को प्राप्त हो वहां से जाने का मन में विचार किया। उस ब्राह्मण ने सर्पयज्ञ में सर्पों को छुड़ा कर और समय के आने पर पुत्र और पौत्रों से युक्त हो परलोक को सिधार गये। इस प्रकार यथार्थ रीति से मैंने आस्तीक का आख्यान तुम्हारे आगे कह दिया है, जिसका कीर्तन करने से सर्पों का कभी भय नहीं रहता। उग्रश्रवा बोले—हे शौनक! इस कथा को प्रमिति नाम भार्गव ने जैसे अपने पुत्र रुरु को सुनाया था वही मैंने तुमसे भी कहा है। यह वही आस्तीक की कथा है जो डुण्डुभसर्प ने कही थी और उसके सुनने को आपने मुझसे कहा था ॥२७।३२॥

आदिपर्व का अट्ठावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकोनषष्टितमोऽध्याय ॥ ५९ ॥

शौनक उवाच—भृगुवंशात्प्रभृत्येव त्वया मे कीर्तितं महत् ।
आख्यानमखिलं तातसौते प्रीतोऽस्मि तेन ते ॥ १ ॥
वक्ष्यामि चैव भूयस्त्वां यथावत्सूतनन्दन ।
याः कथा व्याससंपन्नास्ताश्च भूयो विचक्ष्व मे ॥ २ ॥
तस्मिन्परमदुष्पारे सर्पसत्रे महात्मनाम् ।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य सदस्यानां तथाऽध्वरे ॥ ३ ॥
या बभूवुः कथाश्चित्रा येष्वर्थेषु यथातथम् ।
त्वत्त इच्छामहे श्रोतुं सौते त्वं वै प्रचक्ष्व नः ॥ ४ ॥
सौतिरुवाच—कर्मान्तरेष्वकथयन्द्विजा वेदाश्रयाः कथाः ।
व्यासस्त्वकथयच्चित्रमाख्यानं भारतं महत् ॥ ५ ॥
शौनक उवाच—महाभारतमाख्यानं पाण्डवानां यशस्करम् ।
जनमेजयेन पृष्टः सन्कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ ६ ॥
श्रावयामास विधिवत्तदा कर्मान्तरे तु सः ।
तामहं विधिवत्पुण्यां श्रोतुमिच्छामि वै कथाम् ॥ ७ ॥
मनःसागरसंभूतां महर्षेर्भावितात्मनः ।
कथयस्व सतां श्रेष्ठ सर्वरत्नमयीमिमाम् ॥ ८ ॥

॥ उनसठवां अध्याय ५९ ॥

शौनक बोले—हे सूतपुत्र ! भृगुवंश की सब कथा सुनकर हम तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हुए हैं। फिर हे सूतपुत्र ! जो कथा व्यास जी ने कही है उसको यथावत् कीर्तन करो । उस बड़े भारी राजा जनमेजय के सर्पसत्र यज्ञ में महात्मा सदस्यों के अवसर के समय जिन जिन विषयों में जो आश्चर्य कथाएँ हुई थीं, वह सब तुम्हारे मुख से श्रवण करना चाहते हैं । हे सौते ! तुम वह सब हमसे कहो । उग्रश्रवा बोले—सर्पसत्र यज्ञ के अवसर के समय ब्राह्मणों ने वेद आश्रययुक्त अनेक प्रकार की कथाएँ कही थीं, उनमें व्यासजी ने महाभारत नामक विचित्र आख्यान को कीर्तन किया था ॥१।५॥

शौनक बोले पाण्डवों के यश का बढ़ाने वाला महाभारत का आख्यान है, जिसको जनमेजय के पूछने पर व्यासजी ने विधिपूर्वक सुनाया था । हे सूतपुत्र ! उस पवित्र कथा को मैं विधि के अनुसार सुनना चाहता हूँ । हे साधुओं में श्रेष्ठ ! उस शुद्ध आत्मा वाले व्यास के मनरूपी समुद्र से उत्पन्न और सम्पूर्ण रत्नों से भरी हुई उस महाभारत की कथा को कहो, अभी तक हमारी सुनने की इच्छा निवृत्त

सौतिरुवाच—हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
कृष्णद्वैपायनमतं महाभारतमादितः ॥ ९ ॥
शृणु सर्वमशेषेण कथ्यमानं मया द्विज ।
शंसितुं तन्महान्हर्षो ममापीह प्रवर्तते ॥ १० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अंशावतरणपर्वणि कथानुबन्धेऽकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥५९॥

न होने के कारण तृप्ति नहीं हुई है। उग्रश्रवा बोले—आपके समीप व्यासजी के कहे हुए महाभारत नामक अति श्रेष्ठ आख्यान को आदि से अन्त तक कहूंगा। हे ब्राह्मण ! मैं नाना प्रकार से कहता हूं तुम श्रवण करो, इसके कहने से मेरा मन अति प्रसन्न होता है ॥९।१०॥

आदिपर्व का उनसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

सौतिरुवाच—श्रुत्वा तु सर्पसत्राय दीक्षितं जनमेजयम् ।
अभ्यगच्छदृषिर्विद्वान्कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ १ ॥
जनयामास यं काली शक्तेः पुत्रात्पराशरात् ।
कन्यैव यमुनाद्वीपे पाण्डवानां पितामहम् ॥ २ ॥
जातमात्रश्च यः सद्य इष्ट्या देहमवीवृधत ।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान्सेतिहासान्महायशाः ॥ ३ ॥
यन्नाति तपसा कश्चिन्न वेदाध्ययनेन च ।
न व्रतैर्नोपवासैश्च न प्रसूत्या न मन्युना ॥ ४ ॥
विव्यासैकं चतुर्धा यो वेद वेदविदां वरः ।
परावरज्ञो ब्रह्मर्षिः कविः सत्यव्रतः शुचिः ॥ ५ ॥

॥ साठवां अध्याय ६० ॥

उग्रश्रवा बोले हे ऋषियो ! सर्पसत्र यज्ञ के लिये दीक्षा लिये हुए जनमेजय को सुनकर विद्वान व्यासऋषि वहां गये। जो श्यामता महाराज पराशर मुनि से यमुना के द्वीप में सत्यवती माता के कुमार अवस्था में उत्पन्न हुए थे। उस महायश वाले व्यासजी ने उत्पन्न होते ही अपनी देह को बढ़ा लिया और बिना वेद पढ़े अथवा तपस्या किये सब वेदांगों में पार हो गये। जो वस्तु तपस्या, वेद के पढ़ने व्रत, उपवास, उत्तम कुल में जन्म होने, यज्ञ करने से नहीं प्राप्त हो सकती उस आत्मविद्या को भी उन्होंने जान लिया ॥१।४॥

व्यासजी सगुण, निर्गुण ब्रह्म के जानने वाले

यः पाण्डुं धृतराष्ट्रं च विदुरं चाप्यजीजनत् ।
शान्तनोः सन्ततिं तन्वन्पुण्यकीर्तिर्महायशाः ॥ ६ ॥
जनमेजयस्य राजर्षेः स महात्मा सदस्तथा ।
विवेश सहितः शिष्यैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ७ ॥
तत्र राजानमासीनं ददर्श जनमेजयम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्देवैरिव पुरन्दरम् ॥ ८ ॥
तथा मूर्धाभिषिक्तैश्च नानाजनपदेश्वरैः ।
ऋत्विग्भिर्ब्रह्मकल्पैश्च कुशलैर्यज्ञसंस्तरे ॥ ९ ॥
जनमेजयस्तु राजर्षिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम् ।
सगणोऽभ्युद्ययौ तूर्णं प्रीत्या भरतसत्तमः ॥ १० ॥
काञ्चनं विष्टरं तस्मै सदस्यानुमतः प्रभुः ।
आसनं कल्पयामास यथा शक्रो बृहस्पतेः ॥ ११ ॥
तत्रोपविष्टं वरदं देवर्षिगणपूजितम् ।
पूजयामास राजेन्द्रः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ १२ ॥
पाद्यमाचमनीयं च अर्घ्यं गां च विधानतः ।
पितामहाय कृष्णाय तदर्हाय न्यवेदयत् ॥ १३ ॥
प्रतिगृह्य तु तां पूजां पाण्डवाज्जनमेजयात् ।
गां चैव समनुज्ञाप्य व्यासः प्रीतोऽभवत्तदा ॥ १४ ॥

ब्रह्मऋषि कवि सत्यव्रत और पवित्र थे। उन्होंने ही वेद के चार भाग किये और जिसने पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुर को पैदा किया और जिस पवित्र कीर्ति, बड़े यशवाले ने शान्तनु वंश की वृद्धि की, उन्हीं महात्मा ने वेद वेदाङ्ग में पण्डित शिष्यों के साथ राजर्षि जनमेजय के सभा मण्डप में प्रवेश किया। जहा राजा जनमेजय बड़े बड़े ब्रह्मकल्प सदस्यों के बीच में ऐसे बैठा था जैसे देवताओं में इन्द्र। उस ऋषि को आया हुआ देखकर राजर्षि जनमेजय ने शीघ्र मंत्रियों सहित खडा होकर सुवर्ण जटित आसन दिया जैसे इन्द्र बृहस्पति को आसन देते है ॥५।११॥

श्रेष्ठ राजा जनमेजय ने उस आसन पर बैठे हुए देवताओं से पूजित व्यासजी का शास्त्र की विधि से पूजन किया। पाद्य, आचमन, अर्घ्य, गौ, पूजा के अधिकारी व्यासपितामह के अर्पण किया। पाण्डव जनमेजय ने उस पूजा को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया और नम्रतापूर्वक कुशल पूछी। भगवान् व्यासजी ने भी राजा से कुशल कहकर सब

तथा च पूजयित्वा तं प्रणम्यार्प्रपितामहम् ।
उपोपविश्य प्रीतात्मा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ १५ ॥
भगवानपि तं दृष्ट्वा कुशलं प्रतिवेद्य च ।
सदस्यैः पूजितः सर्वैः सदस्यान्प्रत्यपूजयत् ॥ १६ ॥
ततस्तु सहितः सर्वैः सदस्यैर्जनमेजयः ।
इदं पश्चाद् द्विजश्रेष्ठं पर्यपृच्छत्कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥
जनमेजय उवाच—कुरूणां पाण्डवानां च भवान्प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
तेषां चरितमिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ॥ १८ ॥
कथं समभवद्भेदस्तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तच्च युद्धं कथं वृत्तं भूतान्तकरणं महत् ॥ १९ ॥
पितामहानां सर्वेषां दैवेनाविष्टचेतसाम् ।
कार्त्स्न्येनैतन्ममाचक्ष्व यथावृत्तं द्विजोत्तम ॥ २० ॥
सौतिरुवाच—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ॥ २१ ॥
व्यास उवाच—कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत्पुरा ।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि ॥ २२ ॥
गुरोर्वचनमाज्ञाय स तु विप्रर्षभस्तदा ।
आचचक्षे ततः सर्वमितिहासं पुरातनम् ॥ २३ ॥
राज्ञे तस्मै सदस्येभ्यः पार्थिवेभ्यश्च सर्वशः ।

सदस्यों के प्रति पूजा की। इसके पश्चात् राजा जनमेजय ने हाथ जोड़कर व्यासजी से प्रश्न किया। जनमेजय ने कहा—आपने कुरु और पाण्डवों के चरित्रों को देखा है कृपा करके उनकी कथा कहिये ॥१२।१८॥

उन राग द्वेष रहित महात्माओं का आपस में कैसे भेद हुआ तथा युद्ध में सब राजाओं का नाश क्योंकर हुआ। दैवयोग से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई थी ऐसे पितामहों के सम्पूर्ण युद्ध का वृत्तान्त आपसे सुनना चाहता हूं। उग्रश्रवा बोले—इस प्रकार राजा के वचन सुनकर व्यासजी ने अपने वैशम्पायन शिष्य को पास बुलाकर कहा कि, जो कुरु पाण्डवों के भेद होने की कथा तुमने हमसे सुनी है उसको वैसाही वर्णन करो। गुरु के वचन को सुनकर ब्राह्मणों में श्रेष्ठ वैशम्पायन ने राजा सभासदों और राजाओं के समीप पहिला इतिहास और कौरव

भेदं .. सर्वविनाशं च कुरुपाण्डवयोस्तदा ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि कथानुबन्धे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

पाण्डवों का इतिहास कहना प्रारम्भ किया ॥१९।२४॥

—०—

आदिपर्व का साठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच—गुरवे प्राङ् नमस्कृत्य मनोबुद्धिसमाधिभिः ।
संपूज्य च द्विजान्सर्वांस्तथान्यान्विदुषो जनान् ॥ १ ॥
महर्षेर्विश्रुतस्येह सर्वलोकेषु धीमतः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यास्य महात्मनः ॥ २ ॥
श्रोतुं पात्रं च राजंस्त्वं प्राप्येमां भारतीं कथाम् ।
गुरोर्वक्त्रपरिस्पन्दो मनः प्रोत्साहतीव मे ॥ ३ ॥
शृणु राजन्यथा भेदः कुरुपाण्डवयोरभूत् ।
राज्यार्थे द्यूतसंभूतो वनवासस्तथैव च ॥ ४ ॥
यथा च युद्धमभवत्पृथिवीक्षयकारकम् ।
तत्तेऽहं कथयिष्यामि पृच्छते भरतर्षभ ॥ ५ ॥
मृते पितरि ते वीरा वनादेत्य स्वमन्दिरम् ।
न चिरादेव विद्वांसो वेदे धनुषि चाभवन् ॥ ६ ॥
तांस्तथा सत्ववीर्यौजः संपन्नान्पौरसंमतान् ।
नामृष्यन्कुरवो दृष्ट्वा पाण्डवाञ्श्रीयशोभृतः ॥ ७ ॥

॥ इकसठवां अध्याय ६१ ॥

उग्रश्रवा बोले—हे ऋषियो ! वैशम्पायन जी गुरु और ब्राह्मणों को नमस्कार करके संसार में प्रसिद्ध बुद्धिमान् महात्मा व्यासजी के बनाये हुए इतिहास को प्रसन्नता पूर्वक कहने लगे : हे राजन् ! तुमको सुनने के योग्य समझकर भारत सम्बंधी कथा कहता हूं । गुरु के मुखसे निकला हुआ भारत-रूपी प्रसाद मेरे मन को उत्साह दिलाता है । हे राजन ! कौरवों और पाण्डवों का भेद जिस प्रकार हुआ वह सब श्रवण करो । राज्य की प्राप्ति के लिये द्यूत हुआ और द्यूत से वनवास हुआ ॥१।४॥

कौरव पाण्डवों में भेद होने और पृथ्वी का क्षय करने वाले युद्ध की प्राप्ति का संक्षेप कारण इस तरह पर है । पाण्डु राजा के वन में मर जाने के पश्चात उनके पाचों पुत्र हस्तिनापुर में गये और थोड़े ही काल में वेद और धनुर्विद्या पढ़कर बड़े प्रवीण हो गये । उनकी लक्ष्मी, यश, देह, बल,

ततो दुर्योधनः क्रूरः कर्णश्च सह सौबलः ।
तेषां निग्रहनिर्वासान्विविधांस्ते समारभन् ॥ ८ ॥
ततो दुर्योधनः शूरः कुलिङ्गस्य मते स्थितः ।
पाण्डवान्विविधोपायै राज्यहेतोरपीडयत् ॥ ९ ॥
ददावथ विषं पापो भीमाय धृतराष्ट्रजः ।
जरयामास तद्वीरः सहान्नेन वृकोदरः ॥ १० ॥
प्रमाणकोट्यां संसुप्तं पुनर्बद्ध्वा वृकोदरम् ।
तोयेषु भीमं गङ्गायाः प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥ ११ ॥
यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो गतव्यथः ॥ १२ ॥
आशीविषैः कृष्णसर्पैः सुप्तं चैनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥ १३ ॥
तेषां तु विप्रकारेषु तेषु तेषु महामतिः ।
मोक्षणे प्रतिकारे च विदुरोवहितोऽभवत् ॥ १४ ॥
स्वर्गस्थो जीवलोकस्य यथा शक्रः सुखावहः ।
पाण्डवानां तथा नित्यं विदुरोऽपि सुखावहः ॥ १५ ॥

उत्साह और इन्द्रियों के बल से युक्त देखकर नगर वासी बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु धृतराष्ट्र के दुर्योधनादिक पुत्र उनको देख न सके। तत्पश्चात् कठोर दुर्योधन कर्ण और शकुनि की सलाह से कुलिंगपक्षी समान जो सिंह की दाढ़ का भी मांस निकालने के लिये यत्न करता है अनेक उपायों से पाण्डवों को दुःख देने लगे ॥८।९॥

तत्पश्चात् दुर्योधन ने भीमसेन को मारने के लिये अन्न में विष मिलाकर दिया। भीमसेन उसको पचा गये और गंगा के तटपर प्रमाणकोटि घाट पर सो गये। दुर्योधन ने सोते हुए भीमसेन को बांध कर गंगा के जल में फेंक दिया और आप घर को लौट आया। जब बड़ी भुजावाला भीमसेन सचेत हुआ तब तुरन्त बन्धनों को तोड़कर पीड़ा-रहित जलसे बाहर आया और फिर सो रहा। तब दुर्योधन ने उसको विषधारी सर्पों से कटवाया तो भी शत्रुओं के नाश करने वाला भीमसेन न मरा। उन कौरवों के अपराधों में बड़ी बुद्धि वाला विदुर पाण्डवों के बचाने और उपाय बतलाने में सहायक हुआ ॥१०।१४॥

जैसे स्वर्ग में रहता हुआ इन्द्र इस संसार की रक्षा करता है। इसी प्रकार पाण्डवों की सहायता में विदुर नित्य तत्पर रहा। जब दुर्योधन अनेक गुप्त और प्रकट उपायों से दैवरक्षित शत्रुनाशक पाण्डवों

यदा तु त्रिविधोपायैः संवृतैर्विवृतैरपि ।
नाशकद्विनिहन्तुं तान्दैव भाव्यर्थरक्षितान् ॥ १६ ॥
ततः संमन्त्र्य सचिवैर्वृषदुःशासनादिभिः ।
धृतराष्ट्रमनुज्ञाप्य जातुषं गृहमादिशत् ॥ १७ ॥
सुतप्रियैषी तान्राजा पाण्डवानम्बिकासुतः ।
ततो विवासयामास राज्य भोगबुभुक्षया ॥ १८ ॥
ते प्रातिष्ठन्त सहिता नगराद्गागसाह्वयात् ।
प्रस्थाने चाभवन्मन्त्री क्षत्ता तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥
तेन मुक्ता जतुगृहान्निशीथे प्राद्रवन्वनम् ।
ततः संप्राप्य कौन्तेया नगरं वारणावतम् ॥ २० ॥
न्यवसन्त महात्मानो मात्रा सह परंतपाः ।
धृतराष्ट्रेण चाज्ञता उषिता जातुषे गृहे ॥ २१ ॥
पुरोचनाद्रक्षमाणाः संवत्सरमतन्द्रिताः ।
सुरुङ्गां कारयित्वा तु विदुरेण प्रचोदिताः ॥ २२ ॥
आदीप्य जातुषं वेश्म दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ।
प्राद्रवन्भयसंविग्ना मात्रा सह परंतपाः ॥ २३ ॥
ददृशुर्दारुणं रक्षोहिडिम्बं वननिर्झरे ।
हत्वा च तं राक्षसेन्द्रं भीताः समवबोधनात् ॥ २४ ॥

के मारने में समर्थ न हुआ, तब कर्ण दुःशासन आदि मंत्रियों के साथ विचारकर धृतराष्ट्र से कह-कर लाख के घर बनाने का दुर्योधन ने निश्चय किया। पुत्रों के प्रेमी और राज्यभोग की इच्छा करने वाले अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्र ने उनको राज्य से निकाल दिया ॥१५।१८॥

विदुर ने पांचों पाण्डवों के हस्तिनापुर से जाने के समय उनको सहायता दी। विदुर की सलाह से पाण्डव आधी रात के समय लाख के घर से निकल कर वन को गये और जाते समय उस लाख के घर में आग लगा दी। पुरोचन उस अग्नि में जल गया। दुर्योधन के भय से भागे हुए पाण्डवों ने वन में झरनों के समीप भयानक हिडिंब नाम राक्षस को मार और उसकी बहिन हिडिम्बा को भीमसेन ने ग्रहण किया, जिससे घटोत्कच नाम पुत्र उत्पन्न हुआ। वहां से पुरुषों में श्रेष्ठ पाण्डव चलकर एक चक्रापुरी नगरी में एक ब्राह्मण के यहां ब्रह्मचारी होकर कुछ समय तक रहे। उस जगह वहीं भुजा

निशि संप्राद्रवन्पार्था धार्त्तराष्ट्रभयार्दिताः ।
प्राप्ता हिडिम्बा भीमेन यत्र जातो घटोत्कचः ॥ २५ ॥
एकचक्रां ततो गत्वा पाण्डवाः संशितव्रताः ।
वेदाध्ययनसंपन्नास्तेऽभवन्ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥
ते तत्र नियताः कालं कंचिदूषुर्नरर्षभाः ।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ २७ ॥
तत्रासमाद क्षुधितं पुरुषादं वृकोदरः ।
भीमसेनो महाबाहुर्बकं नाम महाबलम् ॥ २८ ॥
तं चापि पुरुषव्याघ्रो बाहुवीर्येण पाण्डवः ।
निहत्य तरसा वीरो नागरान्पर्यसान्त्वयत् ॥ २९ ॥
ततस्ते शुश्रुवुः कृष्णां पञ्चालेषु स्वयंवराम् ।
श्रुत्वा चैवाभ्यगच्छन्त गत्वा चैवालभन्त ताम् ॥ ३० ॥
ते तत्र द्रौपदीं लब्ध्वा परिसंवत्सरोषिताः ।
विदिता हास्तिनपुरं प्रत्याजग्मुररिन्दमाः ॥ ३१ ॥
त उक्ता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ।
भ्रातृभिर्विग्रहस्तात कथं वो न भवेदिति ॥ ३२ ॥
अस्माभिः खाण्डवप्रस्थे युष्मद्वासोऽनुचिन्तितः ।
तस्माज्जनपदोपेतं सुविभक्तमहापथम् ॥ ३३ ॥

वाले भीमसेन ने उस नगर के मनुष्यों के खाने वाले भूखे, बलवान बक नामक राक्षस को मारा और पुरवासियों को सुख दिया ॥१९।२०॥

इसके उपरान्त पाञ्चाल देश के राजा की कन्या द्रौपदी का स्वयंवर सुनकर वहां गये और द्रौपदी को प्राप्त करके एक वर्ष तक वहां रहे। इसके पश्चात जब वे प्रकट हो गये तब वहां से हस्तिनापुर नगर को गये। हस्तिनापुर जाने पर धृतराष्ट्र और भीष्मपितामह ने पाण्डवों से कहा कि, हमने तुम्हारे निवासस्थान का विचार खाण्डवप्रस्थ में किया है। इसलिये कि, भाइयों से तुम्हारा बिगाड़ न हो। वह खाण्डवप्रस्थ जो बड़े देशों और मार्गों से युक्त है, वहां तुम ईर्षा को छोड़कर चले जाओ। उन दोनों की सम्मति से सब प्रकार के रत्न लेकर अपने मित्रों के साथ खाण्डवप्रस्थ में गये। वहां अपने शस्त्रों के बल से बहुत से राजाओं को वश में करके रहने लगे। इस प्रकार वे धर्मज्ञ और सत्यव्रत में तत्पर, सावधानता से वृद्धि को प्राप्त होते

वासाय खाण्डवप्रस्थं व्रजध्वं गतमत्सराः ।
तयोस्तें वचनाज्जग्मुः सह सर्वैः सुहृज्जनैः ॥ ३४ ॥
नगरं खाण्डवप्रस्थं रत्नान्यादाय सर्वशः ।
तत्र ते न्यवसन्पार्थाः संवत्सरगणान्बहून् ॥ ३५ ॥
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान्महीभृतः ।
एवं धर्मप्रधानास्ते सत्यव्रतपरायणाः ॥ ३६ ॥
अप्रमत्तोत्थिताः क्षान्ताः प्रतपन्तोऽहितान्बहून् ।
अजयद्भीमसेनस्तु दिशं प्राचीं महायशाः ॥ ३७ ॥
उदीचीमर्जुनो वीरः प्रतीचीं नकुलस्तथा ।
दक्षिणां सहदेवस्तु विजिग्ये परवीरहा ॥ ३८ ॥
एवं चक्रुरिमां सर्वे वशे कृत्स्नां वसुन्धराम् ।
पञ्चभिः सूर्यसंकाशैः सूर्येण च विराजता ॥ ३९ ॥
षट्सूर्येवाभवत्पृथ्वी पाण्डवैः सत्यविक्रमैः ।
ततो निमित्ते कस्मिंश्चिद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४० ॥
वनं प्रस्थापयामास तेजस्वी सत्यविक्रमः ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरं भ्रातरं सव्यसाचिनम् ॥ ४१ ॥
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं स्थिरात्मानं गुणैर्युतम् ।
स वै संवत्सरं पूर्णं मासं चैकं वने वसन् ॥ ४२ ॥
ततोऽगच्छद्धृषीकेशं द्वारवत्यां कदाचन ।
लब्धवांस्तत्र बीभत्सुर्भार्यां राजीवलोचनाम् ॥ ४३ ॥

अनुजां वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ।
सा शचीव महेन्द्रेण श्रीः कृष्णेनेव संगता ॥ ४४ ॥
सुभद्रा युयुजे प्रीत्या पाण्डवेनार्जुनेन ह ।
अतर्पयच्च कौन्तेयः खाण्डवे हव्यवाहनम् ॥ ४५ ॥
बीभत्सुर्वासुदेवेन सहितो नृपसत्तम ।
नातिभारो हि पार्थस्य केशवेन सहाभवत् ॥ ४६ ॥
व्यवसायसहायस्य विष्णोः शत्रुवधेष्विव ।
पार्थायाग्निर्ददौ चापि गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ॥ ४७ ॥
इषुधी चाक्षयैर्बाणै रथं च कपिलक्षणम् ।
मोक्षयामास बीभत्सुर्मयं यत्र महासुरम् ॥ ४८ ॥
स चकार सभां दिव्यां सर्वरत्नसमाचिताम् ।
तस्यां दुर्योधनो मन्दो लोभं चक्रे सुदुर्मतिः ॥ ४९ ॥
ततोऽक्षैर्वञ्चयित्वा च सौबलेन युधिष्ठिरम् ।
वनं प्रस्थापयामास सप्त वर्षाणि पञ्च च ॥ ५० ॥
अज्ञातमेकं राष्ट्रे च ततो वर्षं त्रयोदशम् ।
ततश्चतुर्दशे वर्षे याचमानाः स्वकं वसु ॥ ५१ ॥

सुन्दर नेत्र वाली, मीठे वचन वाली श्रीकृष्ण की छोटी बहिन सुभद्रा को ऐसे प्राप्त किया जैसे कृष्ण ने लक्ष्मी को और इन्द्र ने इन्द्राणी को प्राप्त किया था ॥३०।४४॥

सुभद्रा भी अर्जुन से बड़ी प्रीति रखती थी। इसके अनन्तर अर्जुन ने श्रीकृष्ण के साथ खाण्डव वन को जलाकर अग्निदेव को तृप्त किया और वासुदेव की सहायता से इन्द्र के वन को भस्म कर दिया। अग्निदेव ने प्रसन्न होकर अर्जुन को गाण्डीवधनुष और बाणों से न खाली होने वाले दो तर्कश और एक रथ जिसकी ध्वजा पर हनुमान जी की मूर्ति थी, दिया। और अर्जुन ने मय नाम दैत्य को अग्नि में जलने से बचा लिया ॥४५।४८॥

मय दैत्य ने सम्पूर्ण रत्नों से भरी हुई एक दिव्य सभा बनाई और उसमें दुर्बुद्धि दुर्योधन ने लोभ किया। इसके उपरान्त शकुनि के साथ जुआ खेलकर युधिष्ठिर से छलकर सर्वस्व ले लिया और बारह वर्ष का वनवास दिया। पाण्डव बारह वर्ष तक तो वन में रहे तेरहवें वर्ष में विराट् नगरी में गुप्त होकर रहे और चौदहवें वर्ष में युधिष्ठिर ने वन से लौटकर अपना सब धन मांगा और वह न मिलने के कारण हे जनमेजय! तत्पश्चात् युद्ध हुआ और उन्होंने बहुत से क्षत्रियों और राजा दुर्योधन को मारकर सब राज्य ले लिया। इस प्रकार उत्तम व्रत

नालभन्त महाराज ततो युद्धमवर्त्तत ।
ततस्ते क्षत्रमुत्साद्य हत्वा दुर्योधनं नृपम् ॥ ५२ ॥
राज्यं विहितभूयिष्ठं प्रत्यपद्यन्त पाण्डवाः ।
एवमेतत्पुरावृत्तं तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
भेदो राज्यविनाशाय जयश्च जयतां वर ॥ ५३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि भारतसूत्रंनाम एकषष्टितमोऽध्याय ॥ ६१ ॥

के धारण करने वालों का वृत्तान्त तुमसे कह दिया और जिस प्रकार उनमें भेद होकर युद्ध हुआ वह भी सब तुमसे कह दिया है ॥४०।५३॥

—०—

आदिपर्व का इकसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्विषष्टितमोऽध्याय ॥ ६२ ॥

जनमेजय उवाच—कथितं वै समासेन त्वया सर्वं द्विजोत्तम ।
महाभारतमाख्यानं कुरूणां चरितं महत ॥ १ ॥
कथां त्वनघ चित्रार्थां कथयस्व तपोधन ।
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे ॥ २ ॥
स भवान्विस्तरेणेमां पुनराख्यातुमर्हति ।
नहि तृप्यामि पूर्वेषां श्रृण्वानश्चरितं महत ॥ ३ ॥
न तत्कारणमल्पं वै धर्मज्ञा यत्र पाण्डवाः ।
अवध्यान्सर्वशो जघ्नुः प्रशस्यन्ते च मानवैः ॥ ४ ॥
किमर्थं ते नरव्याघ्राः शक्ताः सन्तो ह्यनागसः ।
प्रयुज्यमानान्संक्लेशान्क्षान्तवन्तो दुरात्मनाम ॥ ५ ॥
कथं नागायुतप्राणो बाहुशाली वृकोदरः ।
परिक्लिश्यन्नपि क्रोधं धृतवान्वै द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

॥ बासठवां अध्याय ६२ ॥

जनमेजय बोले—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ वैशम्पायन! आपने कौरव और पाण्डवों का वृत्तान्त संक्षेप करके सुनाया परन्तु मैं सम्पूर्ण कथा जो व्यासजी ने कही है सुनना चाहता हूं। इससे इस कथा को आप फिर विस्तार पूर्वक कहैं। मैं अपने पूर्वज बड़े भारी कौरव और पाण्डवों के चरित्र को सुनता हुआ तृप्त नहीं होता हूं। कोई बड़ा कारण प्रतीत होता है जिससे पाण्डवों ने भीष्मादिक बड़े बड़े अवध्य योद्धाओं को मार

कथं सा द्रौपदी कृष्णा क्लिश्यमाना दुरात्मभिः ।
शक्ता सती धार्त्तराष्ट्रान्नादहत्क्रोधचक्षुषा ॥ ७ ॥
कथं व्यसनिनं द्यूते पार्थौ माद्रीसुतौ तदा ।
अन्वयुस्ते नरव्याघ्रा बाध्यमाना दुरात्मभिः ॥ ८ ॥
कथं धर्मभृतां श्रेष्ठः सुतो धर्मस्य धर्मवित् ।
अनर्हः परमं क्लेशं सोढवान्स युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
कथं च बहुलाः सेनाः पाण्डवः कृष्णसारथिः ।
अस्यन्नेकोऽनयत्सर्वाः पितृलोकं धनञ्जयः ॥ १० ॥
एतदाचक्ष्व मे सर्वं यथावृत्तं तपोधन ।
यद्यच्च कृतवन्तस्ते तत्र तत्र महारथाः ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच-क्षणं कुरु महाराज विपुलोऽयमनुक्रमः ।
पुण्याख्यानस्य वक्तव्यः कृष्णद्वैपायनेरितः ॥ १२ ॥
महर्षेः सर्वलोकेषु पूजितस्य महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यामिततेजसः ॥ १३ ॥
इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम् ।
सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा ॥ १४ ॥

और समर्थ होने पर भी बड़े बड़े क्लेश सहे ॥१।५॥

हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! क्यों दश हजार हाथियों के बल से युक्त और बड़ी भुजावाले भीमसेन ने क्लेश पाते हुए भी क्रोध न किया और क्यों दुरात्माओं से क्लेश दी हुई द्रौपदी ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को भस्म करने में समर्थ होती हुई भी क्रोधरूपी चक्षु से भस्म न किया और किस प्रकार द्यूत के व्यसन में आसक्त युधिष्ठिर के भीम अर्जुन और माद्री के पुत्र नकुल सहदेव यह श्रेष्ठ पुरुष दुरात्मा दुर्योधनादिकों से पीड़ा देने पर भी अनुगामी रहे । किस प्रकार धर्मात्माओं में श्रेष्ठ और धर्म के जाननेवाले धर्म के पुत्र युधिष्ठिर ने न सहने योग्य क्लेशों को सहन किया और क्यों कृष्ण जिसके सारथी है ऐसे अर्जुन ने बहुतसी सेनाओं को बाण वर्षाकर सबको यमलोक को पहुचाया और क्लेश को भी सहा । हे तपोधन ! यह सब वृत्तान्त जिस प्रकार उन सब महारथियों ने जहा जहा जिस जिस प्रकार किया है यह सब मुझको सुनाओ ॥६।११॥

यह सुनकर वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज जनमेजय ! व्यासजी से कहा हुआ यह पुण्य आख्यान का विषय कहने योग्य है । उसका अनुक्रम बहुत बड़ा है इस कारण क्षणमात्र ठहरो, मैं सावधानी से कहता हूं । ऐसे एक लाख श्लोकों का यह आख्यान जिसमें पवित्र कर्मों का वर्णन है, बड़े तेजस्वी

य इदं श्रावयेद्विद्वान्ये चेदं शृणुयुर्नराः ।
ते ब्रह्मणः स्थानमेत्य प्राप्नुयुर्देवतुल्यताम् ॥ १५ ॥
इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
श्राव्याणामुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥ १६ ॥
अस्मिन्नर्थश्च कामश्च निखिलेनोपदेक्ष्यते ।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी ॥ १७ ॥
अक्षुद्रान्दानशीलांश्च सत्यशीलाननास्तिकान् ।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्च्छ्रावयित्वाऽर्थमश्नुते ॥ १८ ॥
भ्रूणहत्याकृतं चापि पापं जह्यादसंशयम् ।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥ १९ ॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यो राहुणा चन्द्रमा यथा ।
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ॥ २० ॥
महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत् ।
इदं पुंसवनं श्रेष्ठमिदं स्वस्त्ययनं महत् ॥ २१ ॥
महिषीयुवराजाभ्यां श्रोतव्यं बहुशस्तथा ।
वीरं जनयते पुत्रं कन्यां वा राज्यभागिनीम् ॥ २२ ॥
धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम् ।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥ २३ ॥

सत्यवती के पुत्र व्यास ने यहां पर कहा है। इस कथा के सुनने और सुनाने वाले दोनों ब्रह्मलोक पाकर देवताओं के तुल्य हो जाते हैं। यह महाभारत वेदों की तरह पवित्र और उत्तम है और सब के सुनने के योग्य है, क्योंकि सब ऋषियों ने इसकी प्रशंसा की है और इसके पढ़ने से मनुष्य को अर्थ, काम मोक्ष, सम्बन्धी बुद्धि और ज्ञान प्राप्त होता है ॥१५।१७॥

विद्वान् लोग इस महाभारत को दानशील, सत्यशील अनास्तिक और अक्षुद्र मनुष्यों को सुनाकर धन उपार्जन करते हैं। इसके सुनने से गर्भ हत्या के पाप से भी निःसंदेह छूट जाते हैं। इसके सुनने से अति कठोर पुरुष भी राहु से चन्द्रमा के समान सब पापों से छूट जाते हैं। और जय चाहने वाले की जय होती है ॥१८।२०॥

राजा इसको सुनकर पृथ्वी को जीतकर शत्रुओं का नाश करता है। यह आख्यान पुत्र देने वाला और कल्याणकारी है। जो राजा और रानी इसको

संप्रत्याचक्षते चेदं तथा श्रोष्यन्ति चापरे ।
पुत्राः शुश्रूषवः सन्ति प्रेष्याश्च प्रियकारिणः ॥ २४ ॥
शरीरेण कृतं पापं वाचा च मनसैव च ।
सर्वं संत्यजति क्षिप्रं य इदं शृणुयान्नरः ॥ २५ ॥
भरतानां महज्जन्म शृण्वतामनसूयताम् ।
नास्ति व्याधिभयं तेषां परलोकभयं कुतः ॥ २६ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्यं तथैव च ।
कृष्णद्वैपायनेनेदं कृतं पुण्यचिकीर्षुणा ॥ २७ ॥
कीर्त्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम् ॥ २८ ॥
सर्वविद्यावदातानां लोके प्रथितकर्मणाम् ।
य इदं मानवो लोके पुण्यार्थे ब्राह्मणाञ्छुचीन् ॥ २९ ॥
श्रावयेत महापुण्यं तस्य धर्मः सनातनः ।
कुरूणां प्रथितं वंशं कीर्त्तयन्सततं शुचिः ॥ ३० ॥
वंशमाप्नोति विपुलं लोके पूज्यतमो भवेत् ।
योऽधीते भारतं पुण्यं ब्राह्मणो नियतव्रतः ॥ ३१ ॥

सुने तो उनके बड़ा वीर पुत्र अथवा बड़ी भाग्यवान कन्या होती है । बुद्धिमान व्यास ने इस आख्यान को पवित्र धर्मशास्त्र सर्वोत्तम अर्थशास्त्र और मोक्ष शास्त्र कहा है । इसके सुनने और सुनाने वालों के मन वाचा और कर्म के किये हुए पाप जल्दी दूर हो जाते हैं और उनके आज्ञाकारी और सेवा करने वाले पुत्र होते हैं । भरतवंशियों के बड़े जन्म की कथाओं को श्रद्धापूर्वक सुनने वालों को व्याधि का भय न होगा और परलोक का भय तो क्योंकर हो सकता है । व्यासजी ने इस इतिहास को मनुष्यों के पुण्य, आयु, यश और धन देने को बनाया है ॥२१-२७॥

यह पाण्डव आदिक बड़े बड़े क्षत्रियों का कीर्त्तन करनेवाला है और सब विद्याओं का देनेवाला है । जो कोई इस आख्यान को ब्राह्मणों को सुनाता है उसके सब पाप दूर हो जाते हैं । इस प्रसिद्ध कौरवों के वंश को पवित्रता के साथ निरन्तर कीर्त्तन करता हुआ मनुष्य बड़े वंश को प्राप्त होकर लोक में अत्यन्त पूज्य होता है । जो नियमपूर्वक व्रतों का रखनेवाला ब्राह्मण इस पवित्र आख्यान को चार महीने वर्षा ऋतु में पढ़ता है वह सब पापों से छूट जाता है । इस भारत को पढ़ता हुआ मनुष्य वेदों का पारगामी जानना चाहिये । इस भारत में देवता और राजर्षि और पवित्र ब्रह्मर्षि, जिन्होंने

चतुरो वार्षिकान्मासान्सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
विज्ञेयः स च वेदानां पारगो भारतं पठन् ॥ ३२ ॥
देवा राजर्षयो ह्यत्र पुण्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
कीर्त्यन्ते धूतपाप्मानः कीर्त्यते केशवस्तथा ॥ ३३ ॥
भगवांश्चापि देवेशो यत्र देवी च कीर्त्यते ।
अनेकजननो यत्र कार्तिकेयस्य संभवः ॥ ३४ ॥
ब्राह्मणानां गवां चैव माहात्म्यं यत्र कीर्त्यते ।
सर्वश्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभिः ॥ ३५ ॥
य इदं श्रावयेद्विद्वान्ब्राह्मणानिह पर्वसु ।
धूतपाप्माजित स्वर्गो ब्रह्म गच्छति शाश्वतम् ॥ ३६ ॥
श्रावयेद्ब्राह्मणान् श्राद्धे यश्चेदं पादमन्ततः ।
अक्षय्यं तस्य तच्छ्राद्धमुपावर्त्तेत्पितृनिह ॥ ३७ ॥
अह्ना यदेनः क्रियते इन्द्रियैर्मनसाऽपि वा ।
ज्ञानादज्ञानतो वापि प्रकरोति नरश्च यत् ॥ ३८ ॥
तन्महाभारताख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते ।
भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ॥ ३९ ॥
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
भरतानां यतश्चायमितिहासो महाद्भुतः ॥ ४० ॥

पापों को नष्ट कर दिया है उनका कीर्त्तन किया है तथा इस प्रकार केशव भगवान् का भी कीर्त्तन किया गया है ॥२८।३३॥

जिस महाभारत में भगवान् देवताओं के स्वामी और उनकी दिव्यशक्तिका कीर्त्तन किया गया है, जिस महाभारत में अनेक प्रकार की उत्पत्तियों का वर्णन है: जिसमें कीर्त्ति का जन्म कहा गया है, ब्राह्मण और गऊओं का महात्म कहा गया है और सारे वेदों का समूह यह भारत ग्रंथ धर्म-बुद्धि पुरुषों को सुनना चाहिये ॥३४।३५॥

जो विद्वान् पर्वानुसार इसे ब्राह्मणों को सुनाते हैं वह निष्पाप होकर देवलोक को जाकर शाश्वत ब्रह्मलोक को सिधारते हैं । जो श्राद्ध के काल में कम से कम इसका एक पद भी ब्राह्मणों को सुनाते हैं, उनके उस श्राद्ध से पितरों की अक्षय तृप्ति होती है । जो कुछ पाप दिन में इन्द्रियों या मन द्वारा होता है, महाभारत सुनने से वह पाप उसी क्षण में दूर होता है ॥३६।३७॥

महतो ह्येनसो मर्त्यान्मोचयेदनुकीर्त्तितः ।
त्रिभिर्वर्षैर्लब्धकामः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥ ४१ ॥
नित्योत्थितः शुचिः शक्तो महाभारतमादितः ।
तपो नियममास्थाय कृतमेतन्महर्षिणा ॥ ४२ ॥
तस्मान्नियमसंयुक्तैः श्रोतव्यं ब्राह्मणैरिदम् ।
कृष्णप्रोक्तामिमां पुण्यां भारतीमुत्तमां कथाम् ॥ ४३ ॥
श्रावयिष्यन्ति ये विप्रा ये च श्रोष्यन्ति मानवाः ।
सर्वथा वर्त्तमाना वै न ते शोच्याः कृताकृतैः ॥ ४४ ॥
नरेण धर्मकामेन सर्वः श्रोतव्य इत्यपि ।
निखिलेनेतिहासोऽयं ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ४५ ॥
न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः ।
यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते ॥ ४६ ॥
शृण्वञ्छ्राद्धः पुण्यशीलः श्रावयंश्चेदमद्भुतम् ।
नरः फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ४७ ॥
यथा समुद्रो भगवान्यथा मेरुर्महागिरिः ।
उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥ ४८ ॥

इसमें भारतवासियों के बड़े जन्म की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन है, इसलिये इसको महाभारत कहते हैं । जो इसके शब्दार्थ को जानता है वह सब पापों से छूट जाता है । यह इतिहास भारतवासियों का अद्भुत वर्णन करनेवाला है इस कारण भी यह महाभारत कहलाता है और इसका कीर्त्तन मनुष्यों को बड़े पाप से छुड़ा देता है । सम्पूर्ण कार्य जिसके सिद्ध हैं ऐसे व्यास मुनि ने नित्य के उद्योग से और शुद्धाचारी होकर तीन वर्ष तक तप और नियम आश्रय करके इसको बनाया है । इस कारण ब्राह्मणों को नियमयुक्त होकर सुनना चाहिये । व्यासजी की कही हुई इस पवित्र और उत्तम भारत की कथाओं को जो ब्राह्मण सुनावेंगे और मनुष्य सुनेंगे वे लोग चाहे सुकर्म करें वा कुकर्म करें, परन्तु कभी पाप से दुःखी नहीं जायँगे ॥४०।४४॥

धर्म और काम की इच्छा करनेवाले मनुष्य को सम्पूर्णता से इस ग्रंथ को सुनना चाहिये जिससे वह सिद्धि को प्राप्त होगा । मनुष्य उस प्रसन्नता को स्वर्ग में जाकर भी नहीं प्राप्त कर सकता जिस प्रसन्नता और पुण्य को इस इतिहास के सुनने से प्राप्त होता है । पवित्र स्वभाववाला और श्रद्धावान इस पवित्र इतिहास को सुनता हुआ राजसूय और अश्वमेध के फल को प्राप्त होता है । जैसे समुद्र और सुमेरु पर्वत रत्नों के खजाने कहे गये हैं वैसे

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
श्रव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्द्धनम् ॥ ४९ ॥
य इदं भारतं राजन्वाचकाय प्रयच्छति ।
तेन सर्वा मही दत्ता भवेत्सागरमेखला ॥ ५० ॥
पारीक्षित कथां दिव्यां पुण्याय विजयाय च ।
कथ्यमानां मया कृत्स्नां शृणु हर्षकरीमिमाम् ॥ ५१ ॥
त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम् ॥ ५२ ॥
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥ ५३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि महाभारतप्रशंसायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

ही भारत भी रत्नों का खज़ाना कहा गया है. यह भारत आख्यान वेदों के समान पवित्र और उत्तम है। मनोहर और कानों को आनन्द देने वाला और शील को बढ़ाने वाला है। हे राजन् जनमेजय! जो मनुष्य इस ग्रंथ को कथा कहने वाले ब्राह्मण को देता है, उसने मानो सारी पृथ्वी समुद्र पर्यन्त दान में दे दी। हे राजन्! इस सम्पूर्ण दिव्य कथा को जो पुण्य और विजय की वृद्धि के लिये मेरे मुखसे निकली हुई है, श्रवण करो। सदा कार्य में लगे हुए व्यासमुनि ने इस अद्भुत भारत आख्यान को तीन वर्ष में बनाया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों विषयों में जो कुछ इस महाभारत में कहा गया है, वह अन्य पुराणों में भी मिलेगा; और जो नहीं कहा गया है, वह अन्यत्र भी कहीं नहीं मिलेगा ॥४९-५३॥

—०—

आदिपर्व का बासठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

वैशम्पायन उवाच–राजोपरिचरो नाम धर्मनित्यो महीपतिः ।
बभूव मृगयां गन्तुं सदा किल धृतव्रतः ॥ १ ॥
स चेदिविषयं रम्यं वसुः पौरवनन्दनः ।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह रमणीयं महीपतिः ॥ २ ॥

॥ तिरसठवां अध्याय ६३ ॥

वैशम्पायन ने कहा–पृथ्वी का पति राजा उपरिचर व्रतों का धारण करनेवाला शिकार खेलने मे तत्पर हुआ। उस पौरवनन्दन राजा वसुने इन्द्र के उपदेश से चेदि नामक सुहावने देश को ग्रहण

तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं निवसन्तं तपोनिधिम् ।
देवाः शक्रपुरोगा वै राजानमुपतस्थिरे ॥ ३ ॥
इन्द्रत्वमर्हो राजाऽयं तपसेत्यनुचिन्त्य वै ।
तं सान्त्वेन नृपं साक्षात्तपसः संन्यवर्त्तयन् ॥ ४ ॥
देवा ऊचु—न संकीर्येत धर्मोऽयं पृथिव्यां पृथिवीपते ।
त्वया हि धर्मो विधृतः कृत्स्नं धारयते जगत् ॥ ५ ॥
इन्द्र उवाच—लोके धर्मं पालय त्वं नित्ययुक्तः समाहितः ।
धर्मयुक्तस्ततो लोकान्पुण्यान्पश्यसि शाश्वतान् ॥ ६ ॥
दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्वं सखाभूतो मम प्रियः ।
रम्यः पृथिव्यां यो देशस्तमावस नराधिप ॥ ७ ॥
पशव्यश्चैव पुण्यश्च प्रभूतधनधान्यवान् ।
स्वा रक्ष्यश्चैव सौम्यश्च भोग्यैर्भूमिगुणैर्युतः ॥ ८ ॥
अर्थवानेष देशो हि धनरत्नादिभिर्युतः ।
वसुपूर्णा च वसुधा वस चेदिषु चेदिप ॥ ९ ॥
धर्मशीला जनपदाः सुसंतोषाश्च साधवः ।
न च मिथ्या प्रलापोऽत्र स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥ १० ॥

किया। एक समय अस्त्र-शस्त्र को आश्रम में छोड़कर उनके कठोर तप में प्रवृत्त होने पर इन्द्रादि देवों ने सोचा कि, यह जैसी कठोर तपस्या कर रहे हैं, उससे इन्द्र की पदवी प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी चिन्ताकर इन्द्र सहित सम्पूर्ण देवता उस राजा के निकट पहुंचे और समझा बुझाकर उनको तपस्या से निवृत्त करने लगे ॥३।४॥

देवता बोले हे राजन ! जिससे यह धर्म पृथ्वी में नष्ट न हो, इस प्रकार तुम धर्म की रक्षा करो; जिससे सम्पूर्ण भूमण्डल में धर्म रक्षित होगा। इन्द्र बोले कि, तुम सदा सावधानता के साथ धर्म में लगे हुए धर्म का पालन करो। ऐसा करने से तुमको पुण्य और शाश्वत स्वर्गलोक की प्राप्ति होगी। हम स्वर्ग के रहनेवाले हैं और आप पृथ्वी के रहनेवाले हैं। अब आप मेरे मित्र होकर इस पृथ्वी पर जो चेदि नामक सुन्दर देश है, वहां जाकर रहो। यह देश पशुओं के लिये हितकारी और पवित्र, बहुत धन धान्य से युक्त तथा स्वर्ग के तुल्य भोग करने योग्य है। यह चेदिदेश पृथ्वी के गुणों से युक्त, ऐश्वर्ययुक्त और अगणित धन रत्नों से भरा हुआ है। यहां वसुधा वसुओं से भरी हुई है, इसलिये इस स्थान में ही वसो ॥५।९॥

इस देश में धर्म और शीलवान् मनुष्य और बहुत सन्तोषी साधु लोग रहते हैं। यहां झूठ कोई नहीं

न च पित्रा विभज्यन्ते पुत्रा गुरुहिते रताः ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशान्संधुक्षयन्ति च ॥ ११ ॥
सर्वे वर्णाः स्वधर्मस्थाः सदा चेदिषु मानद ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित्त्रिषु लोकेषु यद्भवेत् ॥ १२ ॥
देवोपभोग्यं दिव्यं त्वामाकाशे स्फाटिकं महत् ।
आकाशगं त्वां मद्दत्तं विमानमुपपत्स्यते ॥ १३ ॥
त्वमेकः सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थितः ।
चरिष्यस्युपरिस्थो हि देवो विग्रहवानिव ॥ १४ ॥
ददामि ते वैजयन्तीं मालामम्लानपङ्कजाम् ।
धारयिष्यति संग्रामे या त्वां शस्त्रैरविक्षतम् ॥ १५ ॥
लक्षणं चैतदेवेह भविता ते नराधिप ।
इन्द्रमालेति विख्यातं धन्यमप्रतिमं महत् ॥ १६ ॥
यष्टिं च वैणवीं तस्मै ददौ वृत्रनिषूदनः ।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य शिष्टानां प्रतिपालिनीम् ॥ १७ ॥
तस्याः शक्रस्य पूजार्थं भूमौ भूमिपतिस्तदा ।
प्रवेशं कारयामास गते संवत्सरे तदा ॥ १८ ॥
ततः प्रभृति चाद्यापि यष्टेः क्षितिपसत्तमैः ।
प्रवेशः क्रियते राजन्यथा तेन प्रवर्त्तितः ॥ १९ ॥

बोलता है। पुत्रगण पिता से अलग नहीं होते और सदा गुरु की सेवा में लगे रहते हैं। इस स्थान में कोई दुबले पतले बैल को बोझा ढोने या हल जोतने में नहीं लगाता है। हे माननीय ! इस चेदिदेश में सब वर्णों के लोग अपना अपना धर्म करते हैं। मैं तुमको अपना विमान जो देवताओं के योग्य है और स्फटिक की तरह उजला है, देता हूं। इसपर चढ़कर तुम निरूपधारी देवता की तरह विचरो ॥१०।१४॥

यह वैजयन्ती माला जिसके कमल कभी नहीं मुरझाते, ले लो और इसको पहिरकर जब संग्राम में जाओगे तब यह शस्त्रों से तुम्हारी रक्षा करेगी। इस माला को पहिरे हुए जो कोई तुमको देखेगा वह तुमको धन्य कहेगा। इन्द्र के ऐसा कहने से उस राजा ने चेदिदेश में वास किया और इन्द्र ने उस समय राजा को एक बांस की लकड़ी पारि-तोषिक में दी। राजा बसने एक वर्ष के उपरान्त इन्द्र की पूजा के निमित्त उस बांस की लकड़ी को

अपरेद्युस्ततस्तस्याः क्रियतेऽत्युच्छ्रयो नृपैः ।
अलंकृतायाः पिटकैर्गन्धमाल्यैश्च भूषणैः ॥ २० ॥
माल्यदामपरिक्षिप्ता विधिवत्क्रियतेऽपि च ।
भगवान्पूज्यते चात्र हंसरूपेण चेश्वरः ॥ २१ ॥
स्वयमेव गृहीतेन वसोः प्रीत्या महात्मनः ।
सतां पूजां महेन्द्रस्तु दृष्ट्वा देवः कृतां शुभाम् ॥ २२ ॥
वसुना राजमुख्येन प्रीतिमानब्रवीत्प्रभुः ।
ये पूजयिष्यन्ति नरा राजानश्च महं मम ॥ २३ ॥
कारयिष्यन्ति च मुदा यथा चेदिपतिर्नृपः ।
तेषां श्रीर्विजयश्चैव सराष्ट्राणां भविष्यति ॥ २४ ॥
तथा स्फीतो जनपदो मुदितश्च भविष्यति ।
एवं महात्मना तेन महेन्द्रेण नराधिप ॥ २५ ॥
वसुः प्रीत्या मघवता महाराजोऽभिसत्कृतः ।
उत्सवं कारयिष्यन्ति सदा शक्रस्य ये नराः ॥ २६ ॥
भूमिरत्नादिभिर्दानैस्तथा पूज्या भवन्ति ते ।
वरदानमहायज्ञैस्तथा शक्रोत्सवेन च ॥ २७ ॥
संपूजितो मघवता वसुश्चेदीश्वरो नृपः ।
पालयामास धर्मेण चेदिस्थः पृथिवीमिमाम् ॥ २८ ॥

धरती में गाड़ दिया । हे राजन्! उपरिचर राजा ने जैसे बांस की लकड़ी को गाड़ा था, आजतक राजा लोग वैसा ही किया करते हैं और उसके दूसरे दिन सुगन्धी, माला, वस्त्र, आभूषण आदि से उस बांस की लाठी को सुशोभित कर उठा लेते हैं तथा विधिपूर्वक उसको माला से लपेटकर मर्दण की पेटी में रखते हैं । उस काल में हंसरूपी भगवान महादेवजी की पूजा होती है, क्योंकि वसु की प्रीति के लिये महात्मा महेश्वर स्वयं हंस का स्वरूप धरकर पूजे गये हैं ॥१५।२२॥

इन्द्र उस वसु से की हुई उस उत्तम पूजा को देखकर प्रसन्न होकर बोला—मेरे इस उत्सव को जो मनुष्य और राजा पूजा करेंगे या प्रसन्नतापूर्वक जैसे इस राजा वसु ने की है ऐसेही औरों से करावेंगे, उनके लक्ष्मी, विजय और राज्य की वृद्धि होगी । उनका देश समृद्धियुक्त होगा, इसप्रकार हे जनमेजय! इन्द्र ने वसु का प्रीति से सत्कार किया । जो मनुष्य सर्वदा इस उत्सव को करावेंगे, उनके राज्य की श्री

इन्द्रप्रीत्या चेदिपतिश्चकारेन्द्रमहं वसुः ।
पुत्राश्चास्य महावीर्याः पञ्चासन्नमितौजसः ॥ २९ ॥
नानाराज्येषु च सुतान्स सम्राडभ्यषेचयत् ।
महारथो मागधानां विश्रुतो यो बृहद्रथः ॥ ३० ॥
प्रत्यग्रहः कुशाम्बश्च यमाहुर्मणिवाहनम् ।
मावेल्लश्च यदुश्चैव राजन्यश्चापराजितः ॥ ३१ ॥
एते तस्य सुता राजन्राजर्षेर्भूरितेजसः ।
न्यवेशयन्नामभिः स्वैस्ते देशांश्च पुराणि च ॥ ३२ ॥
वासवाः पञ्च राजानः पृथग्वंशाश्च शाश्वताः ।
वसन्तमिन्द्रप्रासाद आकाशे स्फाटिके च तम् ॥ ३३ ॥
उपतस्थुर्महात्मानं गन्धर्वाप्सरसो नृपम् ।
राजोपरिचरेत्येवं नाम तस्याथ विश्रुतम् ॥ ३४ ॥
पुरोपवाहिनीं तस्य नदीं शुक्तिमतीं गिरिः ।
अरौत्सीच्चेतनायुक्तः कामात्कोलाहलः किल ॥ ३५ ॥
गिरिं कोलाहलं तं तु पदा वसुरताडयत् ।
निश्चक्राम ततस्तेन प्रहारविवरेण सा ॥ ३६ ॥

और जय होगी और उनके अधिकार के देश विस्तृत और हर्षपूर्ण होंगे। वरदान और बड़े यज्ञ और इन्द्र का उत्सव इत्यादि शुभ कर्मों से इन्द्र ने राजा वसु का सत्कार किया। वह राजा चेदिदेश में रहता हुआ धर्म से सारी पृथ्वी का पालन करने लगा ॥२३।२८॥

इन्द्र की प्रीति के लिये राजा वसु उसका उत्सव करने लगा तत्पश्चात् उसके बड़े पराक्रमी और तेजस्वी पांच पुत्र उत्पन्न हुए। उस चक्रवर्ती वसुने उन पुत्रों को अपने राज्य में अभिषेक किया। उनमें से प्रसिद्ध प्रधान रथी बृहद्रथ नामक एक पुत्र मगधदेश का राजा हुआ। दूसरे का नाम प्रत्यग्रह, तीसरे का नाम कुशाम्ब जिसको मणिवाहन भी कहते हैं, चौथे का नाम मावेल्ल और पांचवें का नाम यदु था। इनको भी राजा ने अलग राज्य देकर राजा किया और वे सब अपने अपने राज्य में अपने अपने नाम के नगर बसाकर राज्य करने लगे। उन पांचों के पांच अलग अलग वंश हुए। महात्मा राजा वसु जब इन्द्र के दिये स्फटिक के बने विमान में बैठकर आकाश में विचरते थे, तब गन्धर्व और अप्सरागण आकर उनकी स्तुति करते थे। इसप्रकार ऊपर विचरने के कारण वह उपरिचर नाम से प्रसिद्ध हुए ॥२९।३४॥

उस राजा के चेदी नगर के समीप एक शुक्ति-

तस्यां नद्यामसजनयन्मिथुनं पर्वतः स्वयम् ।
तस्माद्विमोक्षणात्प्रीता नदी राज्ञे न्यवेदयत् ॥ ३७ ॥
यः पुमानभवत्तत्र तं स राजर्षिसत्तमः ।
वसुर्वसुप्रदश्चक्रे सेनापतिमरिन्दमः ॥ ३८ ॥
चकार पत्नीं कन्यां तु तथा तां गिरिकां नृपः ।
वसोः पत्नी तु गिरिका कामकालं न्यवेदयत् ॥ ३९ ॥
ऋतुकालमनुप्राप्ता स्नाता पुंसवने शुचिः ।
तदहः पितरश्चैनमूचुर्जहि मृगानिति ॥ ४० ॥
तं राजसत्तमं प्रीतास्तदा मतिमतां वर ।
स पितॄणां नियोगं तमनतिक्रम्य पार्थिवः ॥ ४१ ॥
चकार मृगयां कामी गिरिकामेव संस्मरन् ।
अतीव रूपसंपन्नां साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥ ४२ ॥
अशोकैश्चम्पकैश्चूतैरनेकैरतिमुक्तकैः ।
पुन्नागैः कर्णिकारैश्च बकुलैर्दिव्यपाटलैः ॥ ४३ ॥
पाटलैर्नारिकेलैश्च चन्दनैश्चार्जुनैस्तथा ।
एतैरम्यैर्महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ॥ ४४ ॥

मती नाम नदी बहती थी। उस नदी को काम के वश होकर कोलाहल नाम पर्वत ने रोका। राजा ने कोप करके उस पर्वत को लात मारी और उसमें एक छिद्र होगया उसीसे शुक्तिमती नदी बह निकली। कोलाहल के संगम करने से उस नदी के गर्भ रहा और उसके एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुई। नदी ने उपरिचर से मुक्त होने के कारण सन्तुष्ट होकर राजा को वह पुत्र और कन्या दे दी। राजा ने लड़के का नाम वसुप्रद रखकर उसको अपना सेनापति बनाया और उस गिरिका कन्या को अपनी पत्नी बनाया। थोड़े दिनों में वह गिरिका कन्या ऋतुमती हुई, परन्तु जिस दिन वह गिरिका ऋतु स्नान करने को थी, उस दिन पितरों ने राजा से आकर कहा कि, आज मृग मारकर श्राद्ध करो। राजा उनकी आज्ञा के अनुसार वन को चला गया और गिरिका के रूप को याद करके राजा कामवश हुआ ॥३५।४२॥

जब वनमें पहुंचा तब देखता क्या है कि, वसंत ऋतुने उस वन को अत्यन्त शोभायमान कर रक्खा है। अनेक तरह के मीठे फल देने वाले वृक्ष जैसे अशोक चम्पक आम, अतिमुक्त पुन्नाग, बकुल, दिव्यपाटल पाटल, नारिकेल, चन्दन, अर्जुन आदि लगे हुए हैं। चारों ओर भौंरे गूंज रहे हैं और कोकिलाओं के झुण्ड के झुण्ड जहां तहां मधुर नाद

कोकिलाकुलसन्नादं मत्तभ्रमरनादितम् ।
वसन्तकाले तत्तस्य वनं चैत्ररथोपमम् ॥ ४५ ॥
मन्मथाभिपरीतात्मा नापश्यद्गिरिकां तदा ।
अपश्यन्कामसंतप्तश्चरमाणो यदृच्छया ॥ ४६ ॥
पुष्पसंछन्नशाखाग्रं पल्लवैरुपशोभितम् ।
अशोकं स्तबकैश्छन्नं रमणीयमपश्यत ॥ ४७ ॥
अधस्तात्तस्य छायायां सुखासीनो नराधिपः ।
मधुगन्धैश्च संयुक्तं पुष्पगन्धमनोहरम् ॥ ४८ ॥
वायुना प्रेर्यमाणस्तु धूम्राय मुदमन्वगात् ।
तस्य रेतः प्रचस्कन्द चरतो गहने वने ॥ ४९ ॥
स्कन्नमात्रं च तद्रेतो वृक्षपत्रेण भूमिपः ।
प्रतिजग्राह मिथ्या मे न पतेद्रेत इत्युत ॥ ५० ॥
इदं मिथ्या परिस्कन्नं रेतो मे न भवेदिति ।
ऋतुश्च तस्याः पत्न्या मे न मोघः स्यादितिप्रभुः ॥ ५१ ॥
संचिन्त्यैवं तदा राजा विचार्य च पुनः पुनः ।
अमोघत्वं च विज्ञाय रेतसो राजसत्तमः ॥ ५२ ॥
शुक्रप्रस्थापने कालं महिष्याः प्रसमीक्ष्य वै ।
अभिमन्त्र्याथ तच्छुक्रमारात्तिष्ठन्तमाशुगम् ॥ ५३ ॥

कर रहे हैं। राजा कामवश होकर चारों ओर देखता रहा परन्तु गिरिका को न देखकर कामाग्नि में बहुत जलने लगा ॥४३।४६॥

राजा कामाग्नि में आविष्ट उस आनन्द को देखता हुआ दैवयोग से एक अशोकवृक्ष के समीप जिसकी शाखायें पुष्पों से ढकी हुई थीं, पहुंचा। वह वृक्ष अत्यन्त सुगन्धित फूलों के गुच्छों से फूला हुआ था। राजा वसु उस वृक्ष के नीचे बैठ गया और मैथुन का आनन्द पाने लगा। इसके उपरान्त वहां मार्ग वनमें फिरते हुए राजा का वीर्य गिरा। उस वीर्य के गिरते ही 'यह मेरा वीर्य नष्ट हो गया है' ऐसा विचारकर राजा ने उसको पत्ते में ग्रहण किया ॥४७।५०॥

यह मेरा वीर्य वृथा न हो जाये और मेरी स्त्री का यह ऋतुकाल भी व्यर्थ न हो, उस राजा वसुने बार बार विचारने के पश्चात् यह निश्चय किया कि, मेरा वीर्य अव्यर्थ है और स्त्री के पास भेजने का भी समय हुआ है, सो किसी प्रकार इसे भेजना ही

सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्वज्ञो गत्वा श्येनं ततोऽब्रवीत् ।
मत्प्रियार्थमिदं सौम्य शुक्रं मम गृहं नय ॥ ५४ ॥
गिरिकायाः प्रयच्छाशु तस्या ह्यार्त्तवमद्य वै ।
गृहीत्वा तत्तदा श्येनस्तूर्णमुत्पत्य वेगवान् ॥ ५५ ॥
जवं परममास्थाय प्रदुद्राव विहंगमः ।
तमपश्यदथायान्तं श्येनं श्येनस्तथापरः ॥ ५६ ॥
अभ्यद्रवच्च तं सद्यो दृष्ट्वैवामिषशङ्कया ।
तुण्डयुद्धमथाकाशे तावुभौ संप्रचक्रतुः ॥ ५७ ॥
युध्यतोरपतद्रेतस्तच्चापि यमुनाम्भसि ।
तत्राद्रिकेति विख्याता ब्रह्मशापाद्वराप्सराः ॥ ५८ ॥
मीनभावमनुप्राप्ता बभूव यमुनाचरी ।
श्येनपादपरिभ्रष्टं तद्वीर्यमथ वासवम् ॥ ५९ ॥
जग्राह तरसोपेत्य साऽद्रिका मत्स्यरूपिणी ।
कदाचिदपि मत्सीं तां बबन्धुर्मत्स्यजीविनः ॥ ६० ॥
मासे च दशमे प्राप्ते तदा भरतसत्तम ।
उज्जह्रुरुदरात्तस्याः स्त्रीं पुमांसं च मानुषम् ॥ ६१ ॥

चाहिये । इसके पश्चात् ऐसा निश्चय करके उस धर्म के तत्त्व जानने वाले राजा उपरिचर ने मन्त्रों से उस वीर्य को सुधारकर पास में ठहरे हुए, शीघ्र चलने वाले एक बाज पक्षी से कहा कि, हे सौम्य ! तुम मेरी प्रसन्नता के कारण मेरे इस वीर्य को मेरे घर ले जाओ और मेरी स्त्री गिरिका को शीघ्र दे दो, क्योंकि उसका यह ऋतुकाल का समय है । राजा की प्रार्थना के अनुसार उस वीर्य को लेकर वह पक्षी बड़े वेग के साथ आकाश में उड़ा ॥५४।५५॥

राह में दूसरे एक बाज ने उस बाज के पास वह पत्ते में वीर्य देख उसे मांस समझकर उसके सामने आया । आकाशमार्ग में वह दोनों पक्षी चोंच से युद्ध करने लगे । वह वीर्य पत्ते से छूटकर नीचे यमुना के जल में गिर पड़ा । यमुना में आद्रिका नाम की सुन्दरी अप्सरा, ब्रह्मा के शाप से मछली होकर रहती थी । उसने वीर्य को वेग से आकर निगल लिया । जब आद्रिका को जल में रहते दस महीने व्यतीत हो गये, तब एक दिन यमुना में जाल डालकर मछुओं ने उसे पकड़ लिया । जब मछुओं ने उसका पेट चीरा तो उन्हें उसके भीतर एक पुत्र और एक कन्या देख पड़ी । उन दोनों बालकों को देखकर मछुओं को बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने राजा के पास पुत्र और कन्या को लेजाकर कहा-

आश्चर्यभूतं तद्गत्वा राज्ञेऽथ प्रत्यवेदयन् ।
काये मत्स्या इमौ राजन्संभूतौ मानुषाविति ॥ ६२ ॥
तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरस्तदा ।
स मत्स्यो नाम राजाऽसीद्धार्मिकः सत्यसंगरः ॥ ६३ ॥
साऽप्सरा मुक्तशापा च क्षणेन समपद्यत ।
या पुरोक्ता भगवता तिर्यग्योनिगता शुभा ॥ ६४ ॥
मानुषौ जनयित्वा त्वं शापमोक्षमवाप्स्यसि ।
ततः सा जनयित्वा तौ विशस्ता मत्स्यघातिना ॥ ६५ ॥
संत्यज्य मत्स्यरूपं सा दिव्यं रूपमवाप्य च ।
सिद्धर्षिचारणपथं जगामाथ वराप्सराः ॥ ६६ ॥
सा कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यसगन्धिनी ।
राज्ञा दत्ता च दाशाय कन्येयं ते भवत्विति ॥ ६७ ॥
रूपसत्त्वसमायुक्ता सर्वैः समुदिता गुणैः ।
सा तु सत्यवती नाम मत्स्यघात्यभिसंश्रयात् ॥ ६८ ॥
आसीत्सा मत्स्यगन्धैव कंचित्कालं शुचिस्मिता ।
शुश्रूषार्थं पितुर्नावं वाहयन्तीं जले च ताम् ॥ ६९ ॥
तीर्थयात्रां परिक्रामन्नपश्यद्वै पराशरः ।
अतीव रूपसंपन्नां सिद्धानामपि काङ्क्षिताम् ॥ ७० ॥

हे महाराज ! इस मछली के पेट में हमको यह पुत्र और कन्या मिली है । उपरिचर ने उस बालक को ले लिया। वही बालक महाधार्मिक, सत्यवादी मत्स्य नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ । वह अप्सरा जो शाप से मछली हो गई थी और भगवान ने उससे यह कहा था कि, तू दो मनुष्यों को उत्पन्न करेगी उस समय तू इस शाप से छूट जायगी, मछुओं के पेट चीरने पर दिव्यरूप धारण करके आकाश को चली गई । उपरिचर ने मछली के गर्भ से उत्पन्न बालक को तो आप ले लिया और वह रूपवती, गुणवती कन्या उसी मछुए को देकर कहा- इसे तुम अपनी कन्या समझकर अपने यहां रक्खो । वह कन्या सत्यवती नाम से प्रसिद्ध हुई मछुओं के आश्रय से कुछ काल तक मत्स्यगन्धा रही और जो अपने पिता की आज्ञा का पालन कर जल में नाव को चलाती थी ॥५७।६९॥

कुछ समय के व्यतीत होने पर तीर्थ-यात्रा करते हुए महर्षि पराशर उसी स्थान पर आये ।

दृष्ट्वैव स च तां धीमांश्चकमे चारुहासिनीम् ।
दिव्यां तां वासवीं कन्यां रम्भोरुं मुनिपुङ्गवः ॥ ७१ ॥
सगमं मम कल्याणि कुरुष्वेत्यभ्यभाषत ।
साऽब्रवीत्पश्य भगवन्पारावारे स्थितानृषीन् ॥ ७२ ॥
आवयोर्दृष्टयोरेभिः कथं तु स्यात्समागमः ।
एवं तयोक्तो भगवान्नीहारमसृजत्प्रभुः ॥ ७३ ॥
येन देशः स सर्वस्तु तमोभूत इवाभवत् ।
दृष्ट्वा सृष्टं तु नीहारं ततस्तं परमर्षिणा ॥ ७४ ॥
विस्मिता साऽभवत्कन्या व्रीडिता च तपस्विनी ।
सत्यवत्युवाच—विद्धि मां भगवन्कन्यां सदा पितृवशानुगाम् ॥ ७५ ॥
त्वत्संयोगाच्च दुष्येत कन्याभावो ममाऽनघ ।
कन्यात्वे दूषिते वापि कथं शक्ष्ये द्विजोत्तम ॥ ७६ ॥
गृहं गन्तुमृषे चाहं धीमन्न स्थातुमुत्सहे ।
एतत्संचिन्त्य भगवन्विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ७७ ॥
एवमुक्तवतीं तां तु प्रीतिमानृषिसत्तमः ।
उवाच मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥ ७८ ॥
वृणीष्व च वरं भीरु यं त्वमिच्छसि भामिनि ।
वृथा हि न प्रसादो मे भूतपूर्वः शुचिस्मिते ॥ ७९ ॥

देवताओं और सिद्धों के मन को भी चलायमान कर देने वाली उस परमसुन्दरी को देखकर पराशर मोहित हो गये । उन्होंने सत्यवती से कहा हे कल्याणी ! तुम मेरी इच्छा पूर्ण करो । सत्यवती ने कहा—हे महाराज ! वार और पार ऋषि लोग खड़े हैं उनके देखते हुए मैं आपकी आज्ञा का पालन किस प्रकार कर सकती हूँ ! सत्यवती के ऐसा कहने पर भगवान पराशर ने उसी समय कोहर उत्पन्न किया ॥७१।७३॥

उस जगह चारों ओर अन्धेरा हो गया और वह तपस्विनी कन्या उस कोहर को देखकर विस्मित और लज्जित हुई। सत्यवती बोली हे भगवन् ! मैं अभी कुमारी और पिता के अधिकार में हूँ। आपकी आज्ञा का पालन करने से मेरा कन्या भाव दूषित हो जावेगा। हे ब्राह्मण ! मैं किस प्रकार अपने घर जा सकूँगी और किस प्रकार जीवित रह सकती हूँ, आप विचार करके जो उचित हो सो कीजिये ॥७४।७७॥

एवमुक्ता वरं वव्रे गात्रसौगन्ध्यमुत्तमम् ।
स चास्यै भगवान्प्रादान्मनसः काङ्क्षितं भुवि ॥ ८० ॥
ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता ।
जगाम सह संसर्गमृषिणाऽद्भुतकर्मणा ॥ ८१ ॥
तेन गन्धवतीत्येवं नामास्याः प्रथितं भुवि ।
तस्यास्तुयोजनाद्गन्धमाजिघ्रन्त नरा भुवि ॥ ८२ ॥
तस्या योजनगन्धेति ततो नामापरं स्मृतम् ।
पराशरोऽपि भगवाञ्जगाम स्वं निवेशनम् ।
इति सत्यवती हृष्टा लब्ध्वा वरमनुत्तमम् ॥ ८३ ॥
पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा ।
जज्ञे च यमुनाद्वीपे पाराशर्यः स वीर्यवान् ॥ ८४ ॥
स मातरमनुज्ञाप्य तपस्येव मनो दधे ।
स्मृतोऽहं दर्शयिष्यामि कृत्येष्विति च सोऽब्रवीत् ॥ ८५ ॥
एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात् ।
न्यस्तो द्वीपे स यद्बालस्तस्माद्द्वैपायनः स्मृतः ॥ ८६ ॥

पराशर ने प्रसन्न होकर कहा—हे सुन्दरी ! मेरा प्रिय कार्य करने से तुम कन्या ही बनी रहोगी। तुम अपनी इच्छानुसार वर मांगो। मेरा वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता है। इस प्रकार मुनि के कहने पर अपने शरीर में मच्छ-गन्ध को त्यागकर उत्तम गन्ध होने का वरदान मांगा और पराशर ने उसके मनवांछित वर को दिया। इसके उपरान्त उसी समय स्त्री-भाव के गुणों से भूषित होकर सत्यवती ने मुनि की इच्छा पूर्ण की। तभी से सत्यवती गन्धवती और योजन-गन्धा नाम से प्रसिद्ध हुई। शरीर सुगन्धित होने के कारण गन्धवती और योजन भर तक शरीर की सुगन्ध जाने के कारण योजन-गन्धा नाम पड़ा। उस उत्तम वर को पाकर सत्यवती प्रसन्न हुई और पराशर के संयोग से शीघ्र ही उसने यमुना के तटपर तेजस्वी सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया ॥७८।८४॥

वह प्रतापी पराशर का पुत्र उत्पन्न होते ही तप करने के लिये वन को चला गया। जाते समय उसने अपनी माता से कह दिया कि, हे माता ! आवश्यकता होने पर तुम मुझे स्मरण करना—मैं शीघ्र उपस्थित हो जाऊंगा। इस प्रकार पराशर मुनि के वीर्य से सत्यवती के गर्भ से भगवान् वेदव्यास का जन्म हुआ। यमुना के किनारे उत्पन्न होने के कारण लोग उन्हें द्वैपायन कहते हैं। उस विद्वान ने युग-युग में धर्म को एक एक पद से घटता हुआ, मनुष्यों की शक्ति और आयु को और युग

पादापसारिणं धर्मं स तु विद्वान्युगे युगे ।
आयुः शक्तिं च मर्त्यानां युगावस्थामवेक्ष्य च ॥ ८७ ॥
ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथाऽनुग्रहकाङ्क्षया ।
विव्यास वेदान्यस्मात्स तस्माद्व्यास इति स्मृतः ॥ ८८ ॥
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ॥ ८९ ॥
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च ।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः ॥ ९० ॥
तथा भीष्मः शान्तनवो गङ्गायाममितद्युतिः ।
वसुवीर्यात्समभवन्महावीर्यो महायशाः ॥ ९१ ॥
वेदार्थविच्च भगवानृषिर्विप्रो महायशाः ।
शूले प्रोतः पुराणर्षिरचौरश्चौरशङ्कया ॥ ९२ ॥
अणीमाण्डव्य इत्येवं विख्यातः स महायशाः ।
स धर्ममाहूय पुरा महर्षिरिदमुक्तवान् ॥ ९३ ॥
इषीकया मया बाल्याद्विद्धा ह्येका शकुन्तिका ।
तत्किल्बिषं स्मरे धर्म नान्यत्पापमहं स्मरे ॥ ९४ ॥
तन्मे सहस्रममितं कस्मान्नेहाजयत्तपः ।
गरीयान्ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधाद्यतः ॥ ९५ ॥

की अवस्था को भी देखकर, ब्राह्मणों पर अनुग्रह की इच्छा से वेद की रक्षा के लिये, उस पराशर के पुत्र ने उसके चार भाग किये । इसीसे उनको वेदव्यास कहते हैं । उन चारों वेदों को और इस पांचवें महाभारत वेद को व्यासजी ने सुमन्तु, जैमिनि, पैल तथा वैशम्पायन आदि शिष्यों को और अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया और वैशम्पायन के द्वारा यह पांचवां महाभारत वेद संसार में प्रगट हुआ ॥८७-९०॥

इसी प्रकार बड़ी कान्ति वाले राजा शान्तनु ने गंगा जी में बड़ा तेजस्वी भीष्म जोकि बड़ा यशवाला और पराक्रमी था, वसु के वीर्य से उत्पन्न किया। पूर्व समय में एक ऋषि वेदज्ञ महात्मा अणीमाण्डव्य था । वह चोर न होने पर भी चोरी की शंका में शूली पर चढ़ाया गया । महर्षि अणीमाण्डव्य ने धर्म को बुलाकर उनसे कहा—हे धर्म ! मैंने बालकपन से एक तीर से एक पक्षी की स्त्री को बेधा था उस अपने पाप को मैं याद करता हूं । तबसे जन्मभर

तस्मात्त्वं किल्बिषी धर्म शूद्रयोनौ जनिष्यसि ।
तेन शापेन धर्मोऽपि शूद्रयोनावजायत ॥ ९६ ॥
विद्वान्विदुररूपेण धार्मी तनुरकिल्बिषी ।
सञ्जयो मुनिकल्पस्तु जज्ञे सूतो गवल्गणात् ॥ ९७ ॥
सूर्याच्च कुन्तिकन्यायां जज्ञे कर्णो महाबलः ।
सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्योतिताननः ॥ ९८ ॥
अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः ।
वसुदेवात्तु देवक्यां प्रादुर्भूतो महायशाः ॥ ९९ ॥
अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः ।
अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम् ॥ १०० ॥
आत्मानमव्ययं चैव प्रकृतिं प्रभवं प्रभुम् ।
पुरुषं विश्वकर्माणं सत्वयोगं ध्रुवाक्षरम् ॥ १०१ ॥
अनन्तमचलं देवं हंसं नारायणं प्रभुम् ।
धातारमजमव्यक्तं यमाहुः परमव्ययम् ॥ १०२ ॥
कैवल्यं निर्गुणं विश्वमनादिमजमव्ययम् ।
पुरुषः स विभुः कर्ता सर्वभूतपितामहः ॥ १०३ ॥
धर्मसंवर्धनार्थाय प्रजज्ञेऽन्धकवृष्णिषु ।
अस्त्रज्ञौ तु महावीर्यौ सर्वशास्त्रविशारदौ ॥ १०४ ॥

मैने तप करने में ही बिताया है। क्या वह उस अज्ञान अवस्था का पाप इतना तप करने मे भी नष्ट न हुआ ? ब्रह्महत्या का पाप सब हत्याओं से बढ कर है। तुम मुझे यह अकारण शूली का दण्ड दिलाकर ब्रह्महत्या के पाप के भागी हुए हो। इसमे मै शाप देता हू कि, तुमको शूद्रयोनि में जन्म लेना पडे ॥९१।९६॥

उस धर्म ने विद्वान् विदुर के रूप मे धार्मिक पाप रहित देह शूद्रयोनि में धारण किया और सञ्जय जो मुनियों के तुल्य था उसने गवल्गण सूत के घर जन्म लिया। कुन्ती के गर्भ मे कुमार अवस्था में सूर्य के वीर्य से कुण्डल और कवच धारण किये हुए महाबली कर्ण उत्पन्न हुआ ॥९७।९८॥

सम्पूर्ण लोकों में पूजित भगवान् नारायण, संसार की भलाई के लिये वासुदेव के यहा देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए। उन्हीं को सब लोग अनादि अनन्त, जगत् के स्वामी, अव्यक्त, अक्षरब्रह्म, त्रिगुण मय प्रधान तत्त्व, मायारूप, प्रभु, पुरुष, विश्वकर्मा,

सात्यकिः कृतवर्मा च नारायणमनुव्रतौ ।
सत्यकाद्धृदिकाच्चैव जज्ञातेऽस्त्रविशारदौ ॥ १०५ ॥
भरद्वाजस्य च स्कन्नं द्रोण्यां शुक्रमवर्धत ।
महर्षेरुग्रतपसस्तस्माद् द्रोणो व्यजायत ॥ १०६ ॥
गौतमान्मिथुनं जज्ञे शरस्तम्वाच्छरद्वतः ।
अश्वत्थाम्नश्च जननी कृपश्चैव महावलः ॥ १०७ ॥
अश्वत्थामा ततो जज्ञे द्रोणादेव महावलः ।
तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः ॥ १०८ ॥
वैताने कर्मणि तते पावकात्समजायत ।
वीरो द्रोणविनाशाय धनुरादाय वीर्यवान् ॥ १०९ ॥
तत्रैव वेद्यां कृष्णाऽपि जज्ञे तेजस्विनी शुभा ।
विभ्राजमाना वपुषा विभ्रती रूपमुत्तमम् । ११० ॥
प्रह्लादशिष्यो नग्नजित्सुवलश्चाभवत्ततः ।
तस्य प्रजा धर्महन्त्री जज्ञे देवप्रकोपनात् ॥ १११ ॥
गान्धारराजपुत्रोऽभूच्छकुनिः सौवलस्तथा ।
दुर्योधनस्य जननी जज्ञातेऽर्थविशारदौ ॥ ११२ ॥
कृष्णद्वैपायनाज्जज्ञे धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य पाण्डुश्चैव महावलः ॥ ११३ ॥

हम, नारायण, विधाता और परमात्मा कहते है। वे ही धर्म को स्थापन करने के लिये अन्धक वृष्णि वंश में उत्पन्न होकर कृष्ण नाम मे प्रसिद्ध हुए। अस्त्र विद्या के जाननेवाले, बडे पराक्रमी, सर्वशास्त्र के पण्डित सात्यकि और कृतवर्मा सत्यक और हृदिक के यहां उत्पन्न हुए ॥९०।१०५॥

उग्रतप करने वाले महर्षि भारद्वाज का वीर्य पहाड की खोह में गिरने से द्रोणाचार्य उत्पन्न हुआ। गौतम ऋषि का वीर्य शरस्तंब पर गिरने से अश्वत्थामा की माता और कृपाचार्य उत्पन्न हुए। द्रोणाचार्य से अश्वत्थामा बडा वीर पुत्र उत्पन्न हुआ। इनके पीछे होम की अग्नि से अग्नि जैसा तेज रखनेवाला द्रोणाचार्य के मारने के लिये धनुपवान् लिये हुए धृष्टद्युम्न और त्रिलोक-सुन्दरी द्रौपदी उत्पन्न हुई। इसके पश्चात प्रह्लाद के शिष्य नग्नजित् और सुबल का जन्म हुआ। दैव के कोप से उनकी संतान धर्म को नाश करनेवाली हुई। गान्धार-देश के राजा सुबल के शकुनि नाम पुत्र और

धर्मार्थकुशलो धीमान्मेधावी धूतकल्मषः ।
विदुरः शूद्रयोनौ तु जज्ञे द्वैपायनादपि ॥ ११४ ॥
पाण्डोस्तु जज्ञिरे पञ्च पुत्रा देवसमाः पृथक् ।
द्वयोः स्त्रियोर्गुणज्येष्ठस्तेषामासीद्युधिष्ठिरः ॥ ११५ ॥
धर्माद्युधिष्ठिरो जज्ञे मारुताच्च वृकोदरः ।
इन्द्राद्धनञ्जयः श्रीमान्सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ११६ ॥
जज्ञाते रूपसंपन्नावश्विभ्यां च यमावपि ।
नकुलः सहदेवश्च गुरुशुश्रूषणे रतौ ॥ ११७ ॥
तथा पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
दुर्योधनप्रभृतयो युयुत्सुः करणस्तथा ॥ ११८ ॥
ततो दुःशासनश्चैव दुःसहश्चापि भारत ।
दुर्मर्षणो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ॥ ११९ ॥
जयः सत्यव्रतश्चैव पुरुमित्रश्च भारत ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च एकादश महारथाः ॥ १२० ॥
अभिमन्युः सुभद्रायामर्जुनादभ्यजायत ।
स्वस्त्रीयो वासुदेवस्य पौत्रः पाण्डोर्महात्मनः ॥ १२१ ॥
पाण्डवेभ्यो हि पाञ्चाल्यां द्रौपद्यां पञ्च जज्ञिरे ।
कुमारा रूपसम्पन्नाः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥ १२२ ॥

दुर्योधन की माता पतिव्रता गान्धारी उत्पन्न हुईं। उसका विवाह धृतराष्ट्र से हुआ और उसके दुर्योधनादिक पुत्र हुए। फिर व्यासजी ने विचित्रवीर्य की स्त्री के गर्भ से धृतराष्ट्र और पाण्डु को उत्पन्न किया ॥१०६।११३॥

धर्म और अर्थ में चतुर, बुद्धिमान्, निष्पाप विदुर भी व्यासजी के वीर्य से शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए। पाण्डु के माद्री और कुन्ती दो रानियां थीं; उनके देवताओं के तुल्य पांच पराक्रमी पुत्र हुए। युधिष्ठिर उन सबमें से बड़े थे। धर्म के अंश से युधिष्ठिर, वायु के अंश से भीमसेन, इन्द्र के अंश से अर्जुन और अश्विनीकुमार के अंश से रूपवान्, बड़ों की सेवा करने वाले नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। बुद्धिमान् धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि सौ पुत्र उत्पन्न हुए, उनमें दुर्योधन, युयुत्सु, करण, दुःशासन, दुस्सह, दुर्मर्षण, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति, जय, सत्यव्रत, पुरुमित्र और वैश्या के गर्भ से युयुत्सु यह ग्यारह पुत्र हे जनमेजय! महारथी उत्पन्न हुए ॥११४।१२०॥

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात्सुतसोमो वृकोदरात ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥ १२३ ॥
तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान् ।
हिडिम्बायां च भीमेन वने जज्ञे घटोत्कचः ॥ १२४ ॥
शिखण्डी द्रुपदाज्जज्ञे कन्या पुत्रत्वमागता ।
यां यक्षः पुरुषं चक्रे स्थूणः प्रियचिकीर्षया ॥ १२५ ॥
कुरूणां विग्रहे तस्मिन्समागच्छन्बहून्यथ ।
राज्ञां शतसहस्राणि योत्स्यमानानि संयुगे ॥ १२६ ॥
तेषामपरिमेयानां नामधेयानि सर्वशः ।
न शक्यानि समाख्यातुं वर्षाणामयुतैरपि ।
एते तु कीर्तिता मुख्या यैराख्यानमिदं ततम् ॥ १२७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि व्यासाद्युत्पत्तौ त्रिषष्टितमोऽध्याय ॥ ६३ ॥

श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा से महात्मा पाण्डु का पोत्र अभिमन्यु, अर्जुन के वीर्य से उत्पन्न हुआ। रूपवान् सम्पूर्ण शास्त्रों के जानकार पाच पुत्र पाचो पाण्डवों के द्रौपदी से उत्पन्न हुए। युधिष्ठिर के पुत्र का नाम प्रतिविंद, भीमसेन के पुत्र का नाम सुतसोम, अर्जुन के पुत्र का नाम श्रुतकीर्ति, नकुल के पुत्र का नाम शतानीक ओर सहदेव के पुत्र का नाम श्रुतसेन था। भीमसेन के हिडिम्बा राक्षसी के गर्भ मे घटोत्कच उत्पन्न हुआ। शिखण्डी पहिले राजा द्रुपद की कन्या थी। स्थून नामक यक्ष ने राजा की प्रसन्नता के लिये उसको पुरुष बना दिया था। कौरवों के इस महाभारत युद्ध में हजारों राजे संग्राम मे युद्ध की इच्छा से आये। उन असख्य राजाओं के नाम सहस्रो वर्षो में कहने में नही आसकते और वह मुख्य मुख्य तुमसे कह दिये है जिससे कि, महाभारत-रूप आख्यान व्याप्त है ॥१२१॥१२७॥

—o—

आदिपर्व का त्रेसठवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुःषष्टितमोऽध्याय ॥ ६४ ॥

जनमेजय उवाच—य एते कीर्तिता ब्रह्मन्ये चान्ये नानुकीर्तिताः ।
सम्यक्ताञ्छ्रोतुमिच्छामि राजश्चान्यान्सहस्रशः ॥ १ ॥

॥ चौसठवा अध्याय ६४ ॥

जनमेजय बोले हे वैशम्पायन ! आपने जिन जिन राजाओं के नाम कहे है और जिन जिन के नहीं कहे, उन सबके चरित्रों को मै विशेषरूप से सुनना चाहता हू। जिसलिये देवताओं के तुल्य

यदर्थमिह संभूता देवकल्पा महारथाः ।
भुवि तन्मे महाभाग सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच-रहस्यं खल्विदं राजन्देवानामिति नः श्रुतम् ।
तत्तु ते कथयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे ॥ ३ ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा ।
जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ॥ ४ ॥
तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति ।
ब्राह्मणान्क्षत्रिया राजन्सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः ॥ ५ ॥
ताभिः सह समापेतुर्ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
ऋतावृतौ नरव्याघ्र न कामान्नानृतौ तथा ॥ ६ ॥
तेभ्यश्च लेभिरे गर्भं क्षत्रियास्ताः सहस्रशः ।
ततः सुषुविरे राजन्क्षत्रियान्वीर्यवत्तरान् ॥ ७ ॥
कुमारांश्च कुमारीश्च पुनः क्षत्राभिवृद्धये ।
एवं तद्ब्राह्मणैः क्षत्रं क्षत्रियासु तपस्विभिः ॥ ८ ॥
जातं वृद्धं च धर्मेण सुदीर्घेणायुषान्वितम् ।
चत्वारोऽपि ततो वर्णा बभूवुर्ब्राह्मणोत्तराः ॥ ९ ॥

महारथी राजे पृथ्वी में उत्पन्न हुए, वह कथा आप विस्तारपूर्वक कहें। वैशम्पायन बोले—हे राजन्! देवताओं के इस गुप्त कार्य को मैंने जिस प्रकार गुरु के मुख से श्रवण किया है उसी तरह, नारायण के चरणों को प्रणाम करके, आपके आगे कहता हूं। पहिले महर्षि जमदग्नि के पुत्र परशुरामजी ने इकीसवार पृथ्वी को क्षत्रियों से खाली कर दिया। इसके उपरान्त वे महेन्द्राचल पर्वत पर जाकर तप करने लगे ॥१।४॥

उस समय परशुराम के बल से क्षत्रिय-रहित संसार के होने पर क्षत्रियाणियें पुत्र की इच्छा से ब्राह्मणों के पास गईं। व्रतधारी ब्राह्मणों ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करली और ऋतुस्नान के उपरान्त उनकी इच्छा पूर्ण की। काम के वश होकर या ऋतुकाल के सिवाय और समय किसी ब्राह्मण ने यह काम नहीं किया। हजारों क्षत्रियों की स्त्रियों ने गर्भ धारण किया। इसके उपरान्त उन्होंने बड़े बड़े प्रतापी पुत्रों को उत्पन्न किया। क्षत्रियवंश की वृद्धि के लिये उनसे बहुत से बालक और कन्याएं उत्पन्न हुईं। इस तरह क्षत्रिय जाति की वृद्धि होने लगी। ब्राह्मणों के वीर्य से धर्मानुसार क्षत्रि क्षत्रिया के गर्भ से उत्पन्न क्षत्रिय चिरजीवी रहकर वंश को बढ़ाने लगे। इसके उपरान्त पृथ्वी पर ब्राह्मणादि सहित चारों वर्ण हो गये ॥५।९॥

अभ्यगच्छन्नृतौ नारीं न कामान्नानृतौ तथा ।
तथैवान्यानि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ॥ १० ॥
ऋतौ दारांश्च गच्छन्ति तत्तथा भरतर्षभ ।
ततोऽवर्धन्त धर्मेण सहस्रशतजीविनः ॥ ११ ॥
ताः प्रजाः पृथिवीपाल धर्मव्रतपरायणाः ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव विमुक्ताः सर्वशो नराः ॥ १२ ॥
अथेमां सागरापाङ्गीं गां गजेन्द्रगताखिलाम् ।
अध्यतिष्ठत्पुनः क्षत्रं सशैलवनपत्तनाम् ॥ १३ ॥
प्रशासति पुनः क्षत्रे धर्मेणेमां वसुंधराम् ।
ब्राह्मणाद्यास्ततो वर्णा लेभिरे मुदमुत्तमाम् ॥ १४ ॥
कामक्रोधोद्भवान्दोषान्निरस्य च नराधिपाः ।
धर्मेण दण्डं दण्ड्येषु प्रणयन्तोऽन्वपालयन् ॥ १५ ॥
तथा धर्मपरे क्षत्रे सहस्राक्षः शतक्रतुः ।
स्वादु देशे च काले च वर्षेणापालयत्प्रजाः ॥ १६ ॥
न बाल एव म्रियते तदा कश्चिज्जनाधिप ।
न च स्त्रियं प्रजानाति कश्चिदप्राप्तयौवनः ॥ १७ ॥
एवमायुष्मतीभिस्तु प्रजाभिर्भरतर्षभ ।
इयं सागरपर्यन्ता समापूर्यत मेदिनी ॥ १८ ॥

चारों वर्ण ऋतुकाल में स्त्री के साथ गमन करने लगे। काम से और बिना ऋतुकाल के गमन नहीं करते थे। इस प्रकार पशु पक्षी आदि भी पुरुषों के सदृश स्त्री-सङ्गम करते हैं। इस-प्रकार ऋतुकाल में धर्म से गमन करने से सन्तान भी तथा हजार वर्ष जीवित रहती है। हे राजन ! वह प्रजा धर्म और व्रत में तत्पर होती है और शोक, जरा, आधि, व्याधि रहित होती है। इसके उपरान्त क्षत्री लोग बढ़कर समुद्र पर्यन्त पृथ्वीमण्डल का फिर शासन करने लगे। क्षत्रियवंश के धर्म से इस पृथ्वी के पालन करने पर ब्राह्मणादि चारों वर्णों को बड़ी प्रसन्नता हुई ॥१०।१४॥

क्षत्रियों ने काम क्रोधादि दोषों को दूर कर धर्म से दण्डनीय पुरुषों से पृथ्वी का पालन किया। इसप्रकार क्षत्रियवंश के धर्म में तत्पर होने पर सुन्दरता के साथ सब देशों और समय समय पर वर्षा से इन्द्र ने प्रजा का पालन किया। बाल्यावस्था में कोई मरता नहीं था। हे राजन् ! बिना तरुण

ईजिरे च महायज्ञैः क्षत्रिया बहुदक्षिणैः ।
साङ्गोपनिषदान्वेदान्विप्राश्चाधीयते तदा ॥ १९ ॥
न च विक्रीणते ब्रह्म ब्राह्मणाश्च तदा नृप ।
न च शूद्रसमभ्यासे वेदानुच्चारयन्त्युत ॥ २० ॥
कारयन्तः कृषिं गोभिस्तथा वैश्याः क्षिताविह ।
युञ्जते धुरिनो गाश्च कृशाङ्गांश्चाप्यजीवयन् ॥ २१ ॥
फेनपांश्च तथा वत्सान्न दुहन्ति स्म मानवाः ।
न कूटमानैर्वणिजः पण्यं विक्रीणते तदा ॥ २२ ॥
कर्माणि च नरव्याघ्र धर्मोपेतानि मानवाः ।
धर्ममेवानुपश्यन्तश्चक्रुर्धर्मपरायणाः ॥ २३ ॥
स्वकर्मनिरताश्चासन्सर्वे वर्णा नराधिप ।
एवं तदा नरव्याघ्र धर्मो न ह्रसते क्वचित् ॥ २४ ॥
काले गावः प्रसूयन्ते नार्यश्च भरतर्षभ ।
भवन्त्यृतुषु वृक्षाणां पुष्पाणि च फलानि च ॥ २५ ॥
एवं कृतयुगे सम्यग्वर्तमाने तदा नृप ।
आपूर्यत मही कृत्स्ना प्राणिभिर्बहुभिर्भृशम् ॥ २६ ॥
एवं समुदिते लोके मानुषे भरतर्षभ ।
असुरा जज्ञिरे क्षेत्रे राज्ञां तु मनुजेश्वर ॥ २७ ॥

अवस्था के कोई मनुष्य स्त्री को जानता नहीं था। हे भरत श्रेष्ठ जनमेजय ! पृथ्वी में सब जगह हृष्ट-पुष्ट और बहुत दिनों तक जीनेवाले मनुष्य देख पड़ते थे। क्षत्रिय लोग बड़ी बड़ी दक्षिणावाले यज्ञों को कराते थे और अंगों सहित उपनिषदों और वेदों को ब्राह्मण लोग पढ़ने लगे। ब्राह्मण उस समय धन लेकर वेद या विद्या नहीं पढ़ाते थे और न शूद्र के समीप वेदों का उच्चारण करते थे। वैश्य लोग बैलों से खेती करते थे, परन्तु आप बैलों को धुरी में नहीं जोतते थे। जो बैल दुबले होते थे उनसे काम नहीं लेते थे और उनका पालन करते थे। गायों का दूध तबतक नहीं दुहते थे, जबतक बछड़े का आधार केवल दूध रहता था। वैश्य लोग बेचने की वस्तु को कपटयुक्त तौल से नहीं बेचते थे। चारों वर्ण अपने अपने धर्म में तत्पर थे। हे राजन् ! वे धर्म के मार्ग पर चलते थे और धर्म के अनुसार ही सब काम करते थे। ठीक समय पर गायें और स्त्रियां सन्तान उत्पन्न करती थीं।

आदित्यैर्हि तदा दैत्या बहुशो निर्जिता युधि ।
ऐश्वर्याद्भ्रंशिताः स्वर्गात्संबभूवुः क्षिताविह ॥ २८ ॥
इह देवत्वमिच्छन्तो मानुषेषु मनस्विनः ।
जज्ञिरे भुवि भूतेषु तेषु तेष्वसुरा विभो ॥ २९ ॥
गोष्वश्वेषु च राजेन्द्र खरोष्ट्रमहिषेषु च ।
क्रव्यात्सु चैव भूतेषु गजेषु च मृगेषु च ॥ ३० ॥
जातैरिह महीपाल जायमानैश्च तैर्मही ।
न शशाकात्मनाऽऽत्मानमिथ धारयितुं धरा ॥ ३१ ॥
अथ जाता महीपालाः केचिद्बहुमदान्विताः ।
दितेः पुत्रा दनोश्चैव तदा लोक इहाऽच्युताः ॥ ३२ ॥
वीर्यवन्तोऽवलिप्तास्ते नानारूपधरा महीम् ।
इमां सागरपर्यन्तां परीयुररिमर्दनाः ॥ ३३ ॥
ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्याञ्छूद्रांश्चैवाप्यपीडयन् ।
अन्यानि चैव सत्त्वानि पीडयामासुरोजसा ॥ ३४ ॥
त्रासयन्तोऽभिनिघ्नन्तः सर्वभूतगणांश्च ते ।
विचेरुः सर्वशो राजन्महीं शतसहस्रशः ॥ ३५ ॥
आश्रमस्थान्महर्षींश्च धर्षयन्तस्ततस्ततः ।
अब्रह्मण्या वीर्यमदा मत्ता मदबलेन च ॥ ३६ ॥

ठीक समय पर वृक्ष फलते फूलते थे । हे राजन् ! इस प्रकार उस समय सतयुग के वर्तमान होने पर यह सारी पृथ्वी प्राणियों से अत्यन्त भर गई । ॥२१-२६॥

हे जनमेजय ! इस प्रकार मनुष्यलोक के आनन्दित होने पर अनेक असुर राजाओं के यहां पुत्ररूप से उत्पन्न हुए । देवताओं से उस समय संग्राम में मारे हुए और स्वर्ग के ऐश्वर्य से गिराये हुए दैत्य यहां पृथ्वी में जन्म लेने लगे । उन दैत्यों ने आकर मनुष्य, गऊ, घोड़े, गधे, ऊट, भैंस और मृग आदि सब योनियों में जन्म लिया । उनके पीछे दिति और दनु के पुत्र दैत्यों ने राजा लोगों में जन्म लिया । थोड़े ही काल में वे दैत्य पृथ्वी पर जन्म ले लेकर समुद्र पर्यंत फैल गये और अधर्मका सेवन करने लगे । उन पराक्रमी, घमण्डी, मदमत्त और विवेकहीन असुरों से ब्राह्मण आदि चारों वर्णों को बड़ा दु:ख हुआ । वे लोग जीवों को मारने और ऋषियों को दु:ख देने लगे । जब ऐसे ऐसे

एवं वीर्यबलोत्सिक्तैर्भूरियत्नैर्महासुरैः ।
पीड्यमाना मही राजन्ब्रह्माणमुपचक्रमे ॥ ३७ ॥
न ह्यमी भूतसत्त्वौघाः पन्नगाः सनगां महीम् ।
तदा धारयितुं शेकुः संक्रान्तां दानवैर्बलात् ॥ ३८ ॥
ततो मही महीपाल भारार्त्ता भयपीडिता ।
जगाम शरणं देवं सर्वभूतपितामहम् ॥ ३९ ॥
सा संवृतं महाभागैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
ददर्श देवं ब्रह्माणं लोककर्त्तारमव्ययम् ॥ ४० ॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवकर्मसु निष्ठितैः ।
वन्द्यमानं मुदोपेतैर्ववन्दे चैनमेत्य सा ॥ ४१ ॥
अथ विज्ञापयामास भूमिस्तं शरणार्थिनी ।
सन्निधौ लोकपालानां सर्वेषामेव भारत ॥ ४२ ॥
तत्प्रधानात्मनस्तस्य भूमेः कृत्यं स्वयंभुवः ।
पूर्वमेवाभवद्राजन्विदितं परमेष्ठिनः ॥ ४३ ॥
स्रष्टा हि जगतः कस्मान्न संबुध्येत भारत ।
ससुरासुरलोकानामशेषेण मनोगतम् ॥ ४४ ॥
तामुवाच महाराज भूमिं भूमिपतिः प्रभुः ।
प्रभवः सर्वभूतानामीशः शंभुः प्रजापतिः ॥ ४५ ॥
ब्रह्मोवाच—यदर्थमभिसंप्राप्ता मत्सकाशं वसुन्धरे ।
तदर्थं संनियोक्ष्यामि सर्वानेव दिवौकसः ॥ ४६ ॥

अनेक अधर्म पृथ्वी पर होने लगे, तब पृथ्वी उन दैत्यों के बोझ को न सहनकर सब देवताओं के पितामह ब्रह्माजी के पास गई ॥३७।३९॥

उस पृथ्वी ने देवता, ब्राह्मण, महर्षियों से घिरे हुए, देवब्रह्मा सम्पूर्ण लोक के कर्त्ता को प्रकाशमान् देखा। वे दिव्य कर्मों में युक्त थे। पृथ्वी ने सब लोकपालों के आगे भगवान् ब्रह्मा को प्रणाम करके कहा कि, मैं दुष्टों के भार को न सहन करने पर आपकी शरणागत आई हूं। उस सर्वज्ञ स्वयम्भू ब्रह्मा को यह बात पहले ही से विदित हो गई थी, क्योंकि जगत् के उत्पन्न करनेवाले, देवता और असुरों सहित लोगों के सम्पूर्ण मन के भावों को जानते हैं। हे महाराज जनमेजय ! पृथ्वीपति-ब्रह्मा सम्पूर्ण प्राणियों के स्वामी और उत्पन्न करनेवाले

वैशंपायन उवाच—इत्युक्त्वा स महीं देवो ब्रह्मा राजान्विसृज्य च ।
आदिदेश तदा सर्वान्विबुधान्भूतकृत्स्वयम् ॥ ४७ ॥
अस्या भूमेर्निरसितुं भारं भागैः पृथक्पृथक् ।
अस्यामेव प्रसूयध्वं विरोधायेति चाब्रवीत् ॥ ४८ ॥
तथैव च समानीय गन्धर्वाप्सरसां गणान् ।
उवाच भगवान्सर्वानिदं वचनमर्थवत् ॥ ४९ ॥
ब्रह्मोवाच—स्वैः स्वैरंशैः प्रसूयध्वं यथेष्टं मानुषेषु च ।
अथ शक्रादयः सर्वे श्रुत्वा सुरगुरोर्वचः ।
तथ्यमर्थ्यं च पथ्यं च तस्य ते जगृहुस्तदा ॥ ५० ॥
अथ ते सर्वशोंऽशैः स्वैर्गन्तुं भूमिं कृतक्षणाः ।
नारायणममित्रघ्नं वैकुण्ठमुपचक्रमुः ॥ ५१ ॥
यः स चक्रगदापाणिः पीतवासाः शितिप्रभः ।
पद्मनाभः सुरारिघ्नः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ॥ ५२ ॥
प्रजापतिपतिर्देवः सुरनाथो महाबलः ।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः ॥ ५३ ॥
तं भुवः शोधनायेन्द्र उवाच पुरुषोत्तमम् ।
अंशेनावतरेत्येवं तथेत्याह च तं हरिः ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

पृथ्वी से बोले हे पृथ्वी ! जिस कारण से तुम मेरे पास आई हो, उस कार्य के लिये मैं देवताओं को नियुक्त करता हूं ॥४०।४६॥

वैशम्पायन ने कहा–इस प्रकार सब प्राणियों के उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मा ने पृथ्वी को ऐसा कहकर विदा किया और सब देवताओं को आज्ञा दी, तुम सब पृथ्वी का भार उतारने के लिये अपने अपने अंश से मनुष्यलोक में जन्म लो। इन्द्रादिक देवताओं ने देवताओं के गुरु ब्रह्मा के सत्य-अर्थ-युक्त और हितकारी वचन को सुनकर सबने स्वीकार किया। ब्रह्माजी के आगे अपने अपने अंशों से पृथ्वी पर उत्पन्न होने की प्रतिज्ञा करके सब देवता नारायण के पास वैकुण्ठलोक को गये। वहां चक्र और गदा को हाथ में धारण किये हुए, पीताम्बर पहिरे हुए, नील कान्ति वाले, पद्मनाभी, दैत्यों का नाश करने वाले, कमलनयन, प्रजापति के पति, प्रकाशमान् देवताओं के स्वामी, बड़े बलवान, हृदय में लक्ष्मी के चिह्न से युक्त, इन्द्रियों के स्वामी और सब देवताओं से पूजित जो परमेश्वर हैं, उनको देखकर सब देवता बहुत प्रसन्न हुए। इन्द्र बोला कि,

हे भगवन् ! पृथ्वी का भार दूर करने के लिये आप भी अपने अंश से अवतार लेवें। विष्णु भगवान् ने "अच्छा" कहकर इन्द्र की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया ॥१७।५४॥

आदिपर्व का चौंसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

वैशंपायन उवाच—अथ नारायणेनेन्द्रश्चकार सह संविदम् ।
अवतर्तुं महीं स्वर्गादंशतः सहितः सुरैः ॥ १ ॥
आदिश्य च स्वयं शक्रः सर्वानेव दिवौकसः ।
निर्जगाम पुनस्तस्मात्क्षयान्नारायणस्य ह ॥ २ ॥
तेऽमरारिविनाशाय सर्वलोकहिताय च ।
अवतेरुः क्रमेणैव महीं स्वर्गाद्दिवौकसः ॥ ३ ॥
ततो ब्रह्मर्षिवंशेषु पार्थिवर्षिकुलेषु च ।
जज्ञिरे राजशार्दूल यथाकामं दिवौकसः ॥ ४ ॥
दानवान्राक्षसांश्चैव गंधर्वान्पन्नगांस्तथा ।
पुरुषादानि चान्यानि जघ्नुः सत्त्वान्यनेकशः ॥ ५ ॥
दानवा राक्षसाश्चैव गंधर्वाः पन्नगास्तथा ।
न तान्बलस्थान्बाल्येऽपि जघ्नर्भरतसत्तम ॥ ६ ॥
जनमेजय उवाच—देवदानवसङ्घानां गंधर्वाप्सरसां तथा ।
मानवानां च सर्वेषां तथा वै यक्षरक्षसाम् ॥ ७ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन संभवं कृत्स्नमादितः ।
प्राणिनां चैव सर्वेषां संभवं वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

॥ पैंसठवां अध्याय ६५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—इसके उपरान्त भगवान और इन्द्र ने देवताओं के सहित अंशों से स्वर्गलोक से पृथ्वीलोक में आने का विचार किया। इन्द्र सब देवताओं को आज्ञा देकर अपने लोक को गये। हे नृपों में श्रेष्ठ जनमेजय ! सब देवता शत्रुओं के नाश और सम्पूर्ण लोक की भलाई के लिये स्वर्ग से पृथ्वी में ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के वंशों में उत्पन्न हुए। वे दानव, राक्षस, गन्धर्व, पन्नग और मनुष्यों के आहार करनेवाले अनेक प्राणियों को मारने लगे ॥१।५॥

जनमेजय बोले कि, देवता, दानव, अप्सरा, यक्ष, राक्षस और मनुष्य आदि के जन्म-वृत्तान्त

वैशंपायन उवाच—हन्त ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयंभुवे ।
सुरादीनामहं सम्यग्लोकानां प्रभवाप्ययम् ॥ ९ ॥
ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ १० ॥
मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात्तु इमाः प्रजाः ।
प्रजज्ञिरे महाभागा दक्षकन्यास्त्रयोदश ॥ ११ ॥
अदितिर्दितिर्दनुः काला दनायुः सिंहिका तथा ।
क्रोधा प्राधा च विश्वा च विनता कपिला मुनिः ॥ १२ ॥
कद्रूश्च मनुजव्यघ्र दक्षकन्यैव भारत ।
एतासां वीर्यसम्पन्नं पुत्रपौत्रमनंतकम् ॥ १३ ॥
अदित्यां द्वादशादित्याः संभूता भुवनेश्वराः ।
ये राजन्नामतस्तांस्ते कीर्त्तयिष्यामि भारत ॥ १४ ॥
धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च ।
भगो विवस्वान्पूषा च सविता दशमस्तथा ॥ १५ ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ।
जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥ १६ ॥
एक एव दितेः पुत्रो हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
नाम्ना ख्यातास्तु तस्येमे पञ्च पुत्रा महात्मनः ॥ १७ ॥

को मैं और भी विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं। कृपा करके आप कहें। यह सुनकर वैशम्पायन ने कहा—मैं ब्रह्माजी को प्रणाम करके सब देवताओं के सम्भव की कथा कहता हूं, सुनो। पहले ब्रह्माजी के जो मानसीपुत्र उत्पन्न हुए, उनको कहता हूं। पहिले का नाम मरीच, दूसरे का अत्रि, तीसरे का अंगिरस, चौथे का पुलस्त्य, पांचवें का पुलह और छठे का क्रतु था। इसके उपरान्त मरीच के कश्यप जी पुत्र हुए और कश्यप जी से यह सब सृष्टि हुई। दक्ष की तेरह कन्याएं उत्पन्न हुईं, उनके नाम यह हैं अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मुनि और कद्रू, इन सब का विवाह कश्यपजी से हुआ और उनके पुत्र और पौत्र इतने हुए कि, उनकी गिन्ती नहीं की जा सकती ॥९।१३॥

हे राजन! अदिति से लोकों के स्वामी बारह आदित्य उत्पन्न हुए, उनके नाम यह हैं—धाता, मित्र अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान, पूषा,

प्रह्लादः पूर्वजस्तेषां संह्लादस्तदनंतरम् ।
अनुह्लादस्तृतीयोऽभत्तस्माच्च शिबिबाष्कलौ ॥ १८ ॥
प्रह्लादस्य त्रयः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ।
विरोचनश्च कुम्भश्च निकुम्भश्चेति भारत ॥ १९ ॥
विरोचनस्य पुत्रोऽभूद्बलिरेकः प्रतापवान् ।
बलेश्च प्रथितः पुत्रो बाणो नाम महासुरः ॥ २० ॥
रुद्रस्यानुचरः श्रीमान्महाकालेति यं विदुः ।
चत्वारिंशद्दनोः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ॥ २१ ॥
तेषां प्रथमजो राजा विप्रचित्तिर्महायशाः ।
शम्बरो नमुचिश्चैव पुलोमा चेति विश्रुतः ॥ २२ ॥
असिलोमा च केशी च दुर्जयश्चैव दानवः ।
अयःशिरा अश्वशिरा अश्वशंकुश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
तथा गगनमूर्धा च वेगवान्केतुमांश्च सः ।
स्वर्भानुरश्वोऽश्वपतिर्वृषपर्वाऽजकनस्तथा ॥ २४ ॥
अश्वग्रीवश्च सूक्ष्मश्च तुहुण्डश्च महाबलः ।
इषुपादेकचक्रश्च विरूपाक्षहराहरौ ॥ २५ ॥
निचंद्रश्च निकुम्भश्च कुपटः कपटस्तथा ।
शरभः शलभश्चैव सूर्याचंद्रमसौ तथा ।

सविता, त्वष्टा और विष्णु इन सबमें छोटे आदित्य गुण में सबसे अधिक है। दिति के एक पुत्र हिरण्यकशिपु नामी बड़ा प्रतापी हुआ और उसके पांच पुत्र उत्पन्न हुए उनके नाम यह है–प्रह्लाद संह्लाद, अनुह्लाद शिबि और बाष्कल ॥१७।१८॥

हे जनमेजय! प्रह्लाद के तीन पुत्र हुए उनका नाम विरोचन, कुंभ और निकुम्भ थे। विरोचन का एक पुत्र बड़ा प्रतापी बलि नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजा बलि के रुद्र का भक्त और महाकाल नाम से प्रसिद्ध बाणासुर उत्पन्न हुआ। दनु के चालीस पुत्र हुए, जोकि सब प्रसिद्ध थे। उनमें पहिला बड़े यशवाला राजा विप्रचित्ति नामवाला हुआ। फिर शम्बर, नमुचि, पुलोमा असिलोमा केशी, दुर्जय अयशिरा, अश्वशिरा अश्वशंकु, गगनमूर्धा, वेगवान केतुमान स्वर्भानु अश्व, अश्वपति वृषपर्वा, अज, अश्वग्रीव, सूक्ष्म, तुहुण्ड इषुपाद, एकचक्र, विरूपाक्ष हराहर, निचन्द्र, निकुम्भ, कुपट, कपट शरभ, शलभ सूर्य और चन्द्रमा, ये दनु के वंश में दानव

एते ख्याता दनोर्वंशे दानवाः परिकीर्तिताः ॥ २६ ॥
अन्यौ तु खलु देवानां सूर्याचंद्रमसौ स्मृतौ ।
अन्यौ दानवमुख्यानां सूर्याचंद्रमसौ तथा ॥ २७ ॥
इमे च वंशाः प्रथिताः सत्त्ववंतो महाबलाः ।
दनुपुत्रा महाराज दश दानववंशजाः ॥ २८ ॥
एकाक्षो मृतपा वीरः प्रलम्बनरकावपि ।
वातापी शत्रुतपनः शठश्चैव महासुरः ॥ २९ ॥
गविष्ठश्च वनायुश्च दीर्घजिह्वश्च दानवः ।
असंख्येयाः स्मृतास्तेषां पुत्राः पौत्राश्च भारत ॥ ३० ॥
सिंहिका सुषुवे पुत्रं राहुं चंद्रार्कमर्दनम् ।
सुचंद्रं चंद्रहन्तारं तथा चंद्रप्रमर्दनम् ॥ ३१ ॥
क्रूरस्वभावं क्रूरायाः पुत्रपौत्रमनन्तकम् ।
गणः क्रोधवशो नाम क्रूरकर्मारिमर्दनः ॥ ३२ ॥
दनायुषः पुनः पुत्राश्चत्वारोऽसुरपुङ्गवाः ।
विक्षरो बलवीरौ च वृत्रश्चैव महासुरः ॥ ३३ ॥
कालायाः प्रथिताः पुत्राः कालकल्पाः प्रहारिणः ।
प्रविख्याता महावीर्या दानवेषु परंतपाः ॥ ३४ ॥
विनाशनश्च क्रोधश्च क्रोधहन्ता तथैव च ।

उत्पन्न हुए, बड़े बड़े बलवाले प्रसिद्ध थे ॥१०।२६॥

सूर्य और चन्द्रमा जो देवता है, वे इन दानव सूर्य-चन्द्रमा से अलग है। दनु के और भी दस प्रसिद्ध-बुद्धिमान और बड़े बलवान् पुत्र दानवों के वंश में उत्पन्न हुए, उनके नाम ये हैं–एकाक्ष, मृतप, प्रलम्ब नरकासुर, वातापी, शत्रुतपन, शठ, गविष्ठ, वनायु, और दीर्घजिह्व और इनके पुत्र और पौत्र हे जनमेजय ! असंख्य है ॥२७।३०॥

सिंहिका के गर्भ से चन्द्रमा और सूर्य को पीड़ा देनेवाले राहु, सुचन्द्र, चन्द्रहन्ता और चन्द्रप्रमर्दन नाम के चार पुत्र हुए। क्रूरा के क्रूर स्वभाव रखनेवाले अनन्त पुत्र-पौत्र उत्पन्न हुए। उनमें से कुछ क्रूर कर्म करनेवाले क्रोधवश नाम से प्रसिद्ध है। दनायु के चार पुत्र विक्षर, बल, वीर, वृत्र नामी सब दानवों में श्रेष्ठ हुए। इसके पश्चात् काला के प्रसिद्ध काल के समान प्रहार करनेवाले बड़े वीर पराक्रमी दानवों में शत्रुओं के नाश करनेवाले पुत्र उत्पन्न हुए ॥३१।३४॥

क्रोधशत्रुस्तथैवान्ये कालकेया इति श्रुताः ॥ ३५ ॥
आसुराणामुपाध्यायः शुक्रस्त्वृषिसुतोऽभवत् ।
ख्याताश्चोशनसः पुत्राश्चत्वारोऽसुरयाजकाः ॥ ३६ ॥
त्वष्टाधरस्तथात्रिश्च द्वावन्यौ रौद्रकर्मिणौ ।
तेजसा सूर्यसंकाशा ब्रह्मलोकपरायणाः ॥ ३७ ॥
इत्येष वंशप्रभवः कथितस्ते तरस्विनाम् ।
असुराणां सुराणां च पुराणे संश्रुतो मया ॥ ३८ ॥
एतेषां यदपत्यं तु न शक्यं तदशेषतः ।
प्रसङ्ख्यातुं महीपाल गुणभूतमनन्तकम् ॥ ३९ ॥
तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च तथैव गरुडारुणौ ।
आरुणिर्वारुणिश्चैव वैनतेयाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ४० ॥
शेषोनन्तो वासुकिश्च तक्षकश्च भुजङ्गमः ।
कूर्मश्च कुलिकश्चैव काद्रवेयाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ४१ ॥
भीमसेनोग्रसेनौ च सुपर्णो वरुणस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चाश्च सप्तमः ॥ ४२ ॥
सत्यवागर्कपर्णश्च प्रयुतश्चापि विश्रुतः ।
भीमश्चित्ररथश्चैव विख्यातः सर्वविद्वशी ॥ ४३ ॥
तथा शालिशिरा राजन्पर्जन्यश्च चतुर्दशः ।

विनाशन, क्रोध, क्रोधहन्ता और क्रोधशत्रु, इनके अतिरिक्त और भी काला के पुत्र प्रसिद्ध हुए। महर्षि शुक्राचार्य असुरों के उपाध्याय हुए और शुक्र के चार पुत्र त्वष्टाधर, अत्री और दो भयानक कर्म के करनेवाले थे जोकि ब्रह्मलोक में तत्पर और तेज में सूर्य के समान थे। हे राजन! पराक्रमी देवताओं और दैत्यों के जन्म का यह वृत्तान्त, पुराणों के अनुसार, मैंने आपको सुना दिया। इनके पुत्र और पौत्र असंख्य होने के कारण गिनती करने में असमर्थ हूं। विनता के तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, गरुड़, अरुण, आरुणि और वारुणि नाम के पुत्र उत्पन्न हुए ॥३५।४०॥

कद्रू के शेष, अनन्त, वासुकि, तक्षक, कूर्म और कुलिक नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। मुनि के भीमसेन, उग्रसेन, सुपर्ण, वरुण, गोपति, धृतराष्ट्र, सूर्यवर्चा, सत्यवाक्, अर्कपर्ण, प्रयुत, भीम, चित्ररथ, शालिशिरा और पर्जन्य ये चौदह देवता और गन्धर्व उत्पन्न हुए। मुनि के कलि और नारद नाम के

कलिः पञ्चदशस्तेषां नारदश्चैव षोडशः ।
इत्येते देवगन्धर्वा मौनेयाः परिकीर्त्तिताः ॥ ४४ ॥
अथ प्रभूतान्यन्यानि कीर्त्तयिष्यामि भारत ।
अनवद्यां मनुं वंशामसुरां मार्गणप्रियाम् ॥ ४५ ॥
अरूपां सुभगां भासीमिति प्राधा व्यजायत ।
सिद्धः पूर्णश्च बर्हिश्च पूर्णायुश्च महायशाः ॥ ४६ ॥
ब्रह्मचारी रतिगुणः सुपर्णश्चैव सप्तमः ।
विश्वावसुश्च भानुश्च सुचन्द्रो दशमस्तथा ॥ ४७ ॥
इत्येते देवगन्धर्वाः प्राधायाः परिकीर्त्तिताः ।
इमं त्वप्सरसां वंशं विदितं पुण्यलक्षणम् ॥ ४८ ॥
प्राधासूत महाभागा देवी देवर्षितः पुरा ।
अलम्बुषा मिश्रकेशी विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ॥ ४९ ॥
अरुणा रक्षिता चैव रम्भा तद्वन्मनोरमा ।
केशिनी च सुबाहुश्च सुरता सुरजा तथा ॥ ५० ॥
सुप्रिया चातिबाहुश्च विख्यातौ च हाहा हूहूः ।
तुम्बुरुश्चेति चत्वारः स्मृता गन्धर्वसत्तमाः ॥ ५१ ॥
अमृतं ब्राह्मणा गावो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
अपत्यं कपिलायास्तु पुराणे परिकीर्त्तितम् ॥ ५२ ॥
इति ते सर्वभूतानां संभवः कथितो मया ।
यथावत्संपरिख्यातो गंधर्वाप्सरसां तथा ॥ ५३ ॥

दो पुत्र और भी उत्पन्न हुए । हे जनमेजय ! इसके उपरान्त बहुत से और भी कहता हूं, अनवद्या, मनु, वशा, असुरा, मार्गणप्रिया, अरूपा, सुभगा, और भासी यह प्राधा की सतान है । सिद्ध, पूर्ण, बर्हि पूर्णायु, ब्रह्मचारी, रतिगुण, सुपर्ण, विश्वावसु, सुचन्द्र और भानु यह दसों देवताओं के गन्धर्व प्राधा की सतान कही गई है । प्राधा ने कश्यप के वीर्य से अलम्बुषा, मिश्रकेशी, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अरुणा, रक्षिता, रम्भा, मनोरमा, केशिनी, सुबाहु, सुरता, सुरजा, और सुप्रिया नाम की अप्सराओं को और अतिबाहु, हाहा, हूहू और तुम्बुरु इन चार गन्धर्वों को उत्पन्न किया ॥४४।५२॥

भुजङ्गानां सुपर्णानां रुद्राणां मरुतां तथा ।
गवां च ब्राह्मणानां च श्रीमतां पुण्यकर्मणाम् ॥ ५४ ॥
आयुष्यश्चैव पुण्यश्च धन्यः श्रुतिसुखावहः ।
श्रोतव्यश्चैव सततं श्राव्यश्चैवानसूयता ॥ ५५ ॥
इमं तु वंशं नियमेन यः पठेन्महात्मनां ब्राह्मणदेवसन्निधौ ।
अपत्यलाभं लभते स पुष्कलं श्रियं यशः प्रेत्य च शोभनांगतिम् ॥ ५६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि आदित्यादिवंशकथने पञ्चषष्टितमोऽध्याय ॥ ६५ ॥

पुराणों में कहा है कि, कपिला के गाय, ब्राह्मण अमृत और अन्यान्य गन्धर्व तथा अप्सराएँ पैदा हुईं। मैने आपके आगे यह गन्धर्व, अप्सरा, नाग, गरुड, रुद्र, मरुद्गण, गाय, ब्राह्मण आदि सबकी उत्पत्ति का वृत्तान्त वर्णन कर दिया है। यह आख्यान आयु को बढाने वाले, पुण्यदायक धन्य, कानों को सुख पहुचानेवाला होने के कारण सदा पवित्र हृदय से सुनाने और सुनने के योग्य है। जो मनुष्य देवता और ब्राह्मणों के आगे इस महात्मा महर्षियों की वंशावली का नियम से पाठ करता है, उसको पुत्र, धन, कीर्त्ति और अन्त को उत्तम गति प्राप्त होती है ॥५३।५६॥

आदिपर्व का पैंसठवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षट्षष्टितमोऽध्याय ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन उवाच ब्रह्मणो मानसाः पुत्राविदिताः षण्महर्षयः ।
एकादश सुता स्थाणोः ख्याताः परमतेजसः ॥ १ ॥
मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः ॥ २ ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः ।
स्थाणुर्भगश्च भगवान्रुद्रा एकादश स्मृताः ॥ ३ ॥
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
षडेते ब्रह्मणः पुत्रा वीर्यवन्तो महर्षयः ॥ ४ ॥

॥ छासठवा अध्याय ६६ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय! ब्रह्मा के पूर्वोक्त छ मानसी पुत्रों के सिवाय स्थाणु नाम ग्यारह पुत्र थे। स्थाणु के मृगव्याध, सांप निर्ऋति अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, दहन, ईश्वर, कपाली, स्थाणु भग, यह महातेजस्वी ग्यारह रुद्र उत्पन्न हुए। ब्रह्मा के मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु ये छ मानसी पुत्र उत्पन्न हुए ॥१।४॥

त्रयस्त्वङ्गिरसः पुत्रा लोके सर्वत्र विश्रुताः ।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्तश्च धृतव्रताः ॥ ५ ॥
अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप ।
सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः ॥ ६ ॥
राक्षसाश्च पुलस्त्यस्य वानराः किन्नरास्तथा ।
यक्षाश्च मनुजव्याघ्र पुत्रास्तस्य च धीमतः ॥ ७ ॥
पुलहस्य सुता राजन्शलभाश्च प्रकीर्त्तिताः ।
सिंहाः किंपुरुषा व्याघ्रा यक्षा ईहामृगास्तथा ॥ ८ ॥
क्रतोः क्रतुसमाः पुत्राः पतङ्गसहचारिणः ।
विश्रुतास्त्रिषु लोकेषु सत्यव्रतपरायणाः ॥ ९ ॥
दक्षस्त्वजायताङ्गुष्ठाद्दक्षिणाद्भगवानृषिः ।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल शान्तात्मा सुमहातपाः ॥ १० ॥
वामादजायताङ्गुष्ठाद्भार्या तस्य महात्मनः ।
तस्यां पञ्चाशतं कन्याः स एवाजनयन्मुनिः ॥ ११ ॥
ताः सर्वास्त्वनवद्याङ्ग्यः कन्याः कमललोचनाः ।
पुत्रिकाः स्थापयामास नष्टपुत्रः प्रजापतिः ॥ १२ ॥
ददौ स दश धर्माय सप्तविंशतिमिन्दवे ।
दिव्येन विधिना राजन्कश्यपाय त्रयोदश ॥ १३ ॥

अङ्गिरा के बृहस्पति, उतथ्य और संवर्त्त यह तीन त्रिलोक प्रसिद्ध पुत्र हुए। अत्रि के कई पुत्र हुए। वे सब वेदों के मर्म को जाननेवाले, सिद्ध, क्षमाशील और महातपस्वी थे। हे राजन! पुलस्त्य ऋषि के वंश में राक्षस, वानर, किन्नर और यक्ष उत्पन्न हुए। पुलह के शरभ, सिंह, किंपुरुष, बाघ, रीछ, भेड़िये आदि प्राणी उत्पन्न हुए। क्रतु के क्रतु-सदृश पवित्र, मर्त्यलोक में प्रसिद्ध, सत्यवादी, व्रता में तत्पर, सूर्य के आगे चलने वाले, महातेजस्वी साठ हजार बालखिल्य ऋषि उत्पन्न हुए ॥५।९॥

ब्रह्मा के दाहने अगूठे से महातपस्वी शान्त चित्त दक्ष प्रजापति उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् बायें अगूठे से एक कन्या उत्पन्न हुई। ब्रह्मा ने उस कन्या से दक्ष प्रजापति का विवाह कर दिया। दक्ष के उस स्त्री में पचास सुन्दरी कन्याएँ उत्पन्न हुईं। वे सब कन्याएँ उत्तम अंग और कमल के सदृश नेत्रवाली थीं और दक्ष प्रजापति के पुत्रसन्तान न होने से उसने उनको पुत्रिका बनाया। उस

नामतो धर्मपत्न्यस्ताः कीर्त्यमाना निबोध मे ।
कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा ॥ १४ ॥
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश ।
द्वाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयंभुवा ॥ १५ ॥
सप्तविंशतिः सोमस्य पत्न्यो लोकस्य विश्रुताः ।
कालस्य नयने युक्ताः सोमपत्न्यः शुचिव्रताः ॥ १६ ॥
सर्वा नक्षत्रयोगिन्यो लोकयात्राविधानतः ।
पैतामहो मुनिर्देवस्तस्य पुत्रः प्रजापतिः ।
तस्याष्टौ वसवः पुत्रास्तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥ १७ ॥
धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥ १८ ॥
धूम्रायास्तु धरः पुत्रो ब्रह्मविद्यो ध्रुवस्तथा ।
चन्द्रमास्तु मनस्विन्याः श्वासायाः श्वसनस्तथा ॥ १९ ॥
रतायाश्चाप्यहः पुत्रः शांडिल्याश्च हुताशनः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च प्रभातायाः सुतौ स्मृतौ ॥ २० ॥
धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा ।
ध्रुवस्य पुत्रो भगवान्कालो लोकप्रकालनः ॥ २१ ॥
सोमस्य तु सुतो वर्चा वर्चस्वी येन जायते ।

महात्मा ने दस कन्याएँ तो धर्म को, सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमा को और तेरह कन्याएँ कश्यप को दीं। कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा और मति–यह धर्म की दस स्त्रियां हैं। ब्रह्मा ने यह धर्म के द्वार बनाये हैं ॥१०।१५॥

चन्द्रमा की सत्ताईस स्त्रियां काल निरूपण करती हुई संसार का काम चलाने के लिये अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्रों के नाम से प्रसिद्ध हैं। दक्ष के वसु नाम की एक और कन्या थी, वह भी धर्म को ब्याही थी। उससे धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास यह आठ वसु उत्पन्न हुए। ब्रह्मा के मनु और मनु के प्रजापति हुए। प्रजापति के धूम्रा नाम स्त्री में धर और ब्रह्मवेत्ता ध्रुव, मनस्विनी में सोम, श्वासा में अनिल, रता में अह., शाण्डिल्या में अनल और प्रभाता, प्रत्यूष और प्रभास इस प्रकार आठ वसु उत्पन्न हुए ॥१६।२०॥

धर के पुत्र द्रवण और हुतहव्य हुए। ध्रुव का पुत्र सब संसार का प्रलय करनेवाला भगवान्

मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ रमणस्तथा ॥ २२ ॥
अह्नः सुतस्तथा ज्योतिः शमः शान्तस्तथा मुनिः ।
अग्नेः पुत्रः कुमारस्तु श्रीमाञ्छरवणालयः ॥ २३ ॥
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजः ।
कृत्तिकाऽभ्युपपत्तेश्च कार्तिकेय इति स्मृतः ॥ २४ ॥
अनिलस्य शिवा भार्या तस्याः पुत्रो मनोजवः ।
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य तु ॥ २५ ॥
प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषि नाम्नाऽथ देवलम् ।
द्वौ पुत्रौ देवलस्यापि क्षमावन्तौ मनीषिणौ ।
बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मवादिनी ॥ २६ ॥
योगसक्ता जगत्कृत्स्नमसक्ता विचचार ह ।
प्रभासस्य तु भार्या सा वसूनामष्टमस्य ह ॥ २७ ॥
विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः ।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वर्धकिः ॥ २८ ॥
भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः ।
यो दिव्यानि विमानानि त्रिदशानां चकार ह ॥ २९ ॥
मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः ।
पूजयन्ति च यं नित्यं विश्वकर्माणमव्ययम् ॥ ३० ॥

कार हुआ । सोम का पुत्र वर्चा हुआ । मनोहरा के तीन पुत्र शिशिर, प्राण और रमण हुए । अहन् के ज्योति, शम, शांति, मुनि, यह चार पुत्र उत्पन्न हुए । शोभायुक्त शरों के वन में कुमारदेव अग्नि का पुत्र हुआ । उसके पश्चात् शाख, विशाख और नैगमेय उत्पन्न हुए । छः कृत्तिकाओं ने माता बन कर कुमारदेव का पालन किया है, इससे उन्हें कार्त्तिकेय भी कहते हैं ॥ २१-२४ ॥

वायु के शिवा नाम स्त्री में मनोजव और अविज्ञातगति नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए । प्रत्यूष के देवल नाम ऋषि उत्पन्न हुए । देवल के दयावान् और बुद्धिमान् दो पुत्र उत्पन्न हुए । ब्रह्म का कहने वाली और स्त्रियों में उत्तम बृहस्पति की बहिन ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर योगाभ्यास से सिद्धावस्था को पहुंच कर निर्लिप्तभाव से सब जगह विचरा करती थी, वह आठवें वसु प्रभास की भार्या थी । शिल्पविद्या का प्रजापति बड़े भाग्यवाला विश्वकर्मा उससे उत्पन्न हुआ जो हजारों प्रकार की शिल्पविद्या को प्रकाश

स्तनं तु दक्षिणं भित्त्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः ।
निःसृतो भगवान्धर्मः सर्वलोकसुखावहः ॥ ३१ ॥
त्रयस्तस्य वराः पुत्राः सर्वभूतमनोहराः ।
शमः कामश्च हर्षश्च तेजसा लोकधारिणः ॥ ३२ ॥
कामस्य तु रतिर्भार्या शमस्य प्राप्तिरङ्गना ।
नन्दा तु भार्या हर्षस्य यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ३३ ॥
मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपस्य सुरासुराः ।
जज्ञिरे नृपशार्दूल लोकानां प्रभवस्तु सः ॥ ३४ ॥
त्वाष्ट्री तु सवितुर्भार्या वडवारूपधारिणी ।
असूयत महाभागा साऽन्तरिक्षेऽश्विनावुभौ ॥ ३५ ॥
द्वादशैवादितेः पुत्राः शक्रमुख्या नराधिप ।
तेषामवरजो विष्णुर्यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ३६ ॥
त्रयस्त्रिंशत इत्येते देवास्तेषामहं तव ।
अन्वयं संप्रवक्ष्यामि पक्षैश्च कुलतो गणान् ॥ ३७ ॥
रुद्राणामपरः पक्षः साध्यानां मरुतां तथा ।
वसूनां भार्गवं विद्याद्विश्वेदेवांस्तथैव च ॥ ३८ ॥

करनेवाला और देवताओं का शिल्पी था। वह सब प्रकार के आभूषणों का बनानेवाला और शिल्प-विद्या में श्रेष्ठ था, जिसने देवताओं के दिव्य विमानों को बनाया। उस महात्मा के निकाले कार्यों से सब मनुष्य अपनी जीविका चलाते हैं। इसीसे विश्वकर्मा सबके पूजनीय हैं ॥२९।३०॥

इसके अनन्तर ब्रह्माजी के दहिने स्तन को फोड़कर नररूपधारी भगवान् धर्म उत्पन्न हुए। उनके शम, काम और हर्ष नामी तीन पुत्र बड़े सुन्दर और तेजस्वी हुए। इन तीनों का विवाह प्राप्ति, रति और नन्दा नाम स्त्रियों से हुआ। इन्हीं से यह सारे लोकस्थित हैं। मरीचि का पुत्र कश्यप था और कश्यप के हे जनमेजय! सुर और असुर दो पुत्र उत्पन्न हुए। वही सबके आदि-पुरुष हैं। इसके पश्चात् सूर्य के त्वष्टा नामक स्त्री से दोनों अश्विनीकुमार आकाश में उत्पन्न हुए। कश्यप की स्त्री अदिति के बारह पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें इन्द्र सब से बड़े और विष्णु सब से छोटे थे। विष्णु ही सब संसार के आधार हैं ॥३१।३६॥

आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और वषट्कार यह तेतीस देवता हैं। इनके वंश, पक्ष, कुल और गणों का वर्णन करता हूं। रुद्र, साध्य, मरुत, वसु, विश्वेदेवा और भार्गव- यह पृथक् पृथक् देवताओं के पक्ष हैं। विनता का पुत्र गरुड़

वैनतेयस्तु गरुडो बलवानरुणस्तथा ।
बृहस्पतिश्च भगवानादित्येष्वेव गण्यते ॥ ३९ ॥
अश्विनौ गुह्यकान्विद्धि सर्वौषध्यस्तथा पशून् ।
एते देवगणा राजन्कीर्तितास्तेऽनुपूर्वशः ॥ ४० ॥
यान् कीर्त्तयित्वा मनुजः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ब्रह्मणो हृदयं भित्त्वा निःसृतो भगवान्भृगुः ॥ ४१ ॥
भृगोः पुत्रः कविर्विद्वाञ्छुक्रः कविसुतो ग्रहः ।
त्रैलोक्यप्राणयात्रार्थं वर्षावर्षे भयाभये ।
स्वयंभुवा नियुक्तः सन्भुवनं परिधावति ॥ ४२ ॥
योगाचार्यो महाबुद्धिर्दैत्यानामभवद् गुरुः ।
सुराणां चापि मेधावी ब्रह्मचारी यतव्रतः ॥ ४३ ॥
तस्मिन्नियुक्ते विधिना योगक्षेमाय भार्गवे ।
अन्यमुत्पादयामास पुत्रं भृगुरनिन्दितम् ॥ ४४ ॥
च्यवनं दीप्ततपसं धर्मात्मानं यशस्विनम् ।
यः स रोषाच्च्युतो गर्भान्मातुर्मोक्षाय भारत ॥ ४५ ॥
आरुषी तु मनोः कन्या तस्य पत्नी मनीषिणः ।
और्वस्तस्यां समभवदूरुं भित्त्वा महायशाः ॥ ४६ ॥

अरुण भगवान बृहस्पति यह देवताओं में गिने जाते हैं। अश्विनीकुमार, यक्ष, सब औषधियां और पशु आदि की संख्या भी देवताओं में ही है। हे राजन्! यह देवता-गण क्रम से तुमको कह दिये हैं। मनुष्य इन देवताओं का कीर्तन करके सब पापों से छूट जाते हैं। भगवान भृगु ऋषि ब्रह्मा के हृदय को भेदकर उत्पन्न हुए। उसका पुत्र विद्वान कवि शुक्र हुआ जो कि, त्रैलोक्य की रक्षा के लिये वर्षा का होना न होना, भय का होना न होना, इन कार्यों में ब्रह्मा से नियुक्त किया हुआ अपने कार्य को करता है ॥३७४२॥

वह योगाचारी होता हुआ बड़ा बुद्धिमान्, ब्रह्मचारी और व्रतों में तत्पर दैत्यों का गुरु और बृहस्पतिरूप बनाकर देवताओं का भी गुरु रहा। ब्रह्माजी की आज्ञा से संसार के कल्याण करने में उस शुक्र के नियुक्त होने पर भृगु ने निन्दा रहित और प्रकाशमान्, तपस्वी, यशस्वी, धर्मात्मा, च्यवन नामक दूसरे पुत्र को उत्पन्न किया। राक्षस के द्वारा माता का हरा जाना देखकर उसकी रक्षा के लिये, क्रोध के मारे गर्भ से पहले ही निकल आने के

महातेजा महावीर्यो बाल एव गुणैर्युतः ।
ऋचीकस्तस्य पुत्रस्तु जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥ ४७ ॥
जमदग्नेस्तु चत्वार आसन्पुत्रा महात्मनः ।
रामस्तेषां जघन्योऽभूदजघन्यैर्गुणैर्युतः ।
सर्वशस्त्रेषु कुशलः क्षत्रियान्तकरो वशी ॥ ४८ ॥
और्वस्यासीत्पुत्रशतं जमदग्निपुरोगमम् ।
तेषां पुत्रसहस्राणि बभूवुर्भुवि विस्तरः ॥ ४९ ॥
द्वौ पुत्रौ ब्रह्मणस्त्वन्यौ ययोस्तिष्ठति लक्षणम् ।
लोके धाता विधाता च यौ स्थितौ मनुना सह ॥ ५० ॥
तयोरेव स्वसा देवी लक्ष्मीः पद्मगृहा शुभा ।
तस्यास्तु मानसाः पुत्रास्तुरगा व्योमचारिणः ॥ ५१ ॥
वरुणस्य भार्या या ज्येष्ठा शुक्राद्देवी व्यजायत ।
तस्याः पुत्रं बलं विद्धि सुरां च सुरनन्दिनीम् ॥ ५२ ॥
प्रजानामन्नकामानामन्योन्यपरिभक्षणात् ।
अधर्मस्तत्र संजातः सर्वभूतविनाशकः ॥ ५३ ॥
तस्यापि निर्ऋतिर्भार्या नैर्ऋता येन राक्षसाः ।
घोरास्तस्यास्त्रयः पुत्रा पापकर्मरताः सदा ॥ ५४ ॥

कारण ये च्यवन कहलाये। मनु की कन्या आरुषी के साथ उसका विवाह किया। उस आरुषी से च्यवन से उसकी जंघा को फाड़कर और्व नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। और्व ऋषि बड़ा तेजस्वी बलवान् और बालकपन ही से सम्पूर्ण गुणों से युक्त था। उसका पुत्र ऋचीक हुआ। ऋचीक का पुत्र जमदग्नि हुआ। उस महात्मा जमदग्नि के चार पुत्र हुए। उन चारों में परशुराम सब से छोटा था। वह सब गुणों में परिपूर्ण, सब शास्त्रों में कुशल, क्षत्रियों का नाश करनेवाला और जितेन्द्रिय था ॥४३॥४८॥

और्व ऋषि के सौ पुत्र उत्पन्न हुए। जमदग्नि आदि उनके हजारों पुत्र हुए, जिनका विस्तार इस पृथ्वी में फैला हुआ है। इसके उपरान्त ब्रह्मा के दो पुत्र धाता और विधाता नाम से उत्पन्न हुए, जो दोनों मनु के साथ रहते हैं। उनकी बहिन कमल में रहनेवाली लक्ष्मी है। आकाशचारी घोड़े लक्ष्मी के मन से उत्पन्न पुत्र हैं। वरुण के वीर्य से वरुण की ज्येष्ठा भार्या में बल नाम पुत्र और सुरा नाम कन्या सुरों को आनन्द देनेवाली हुई।

भयो महाभयश्चैव मृत्युर्भूतान्तकस्तथा ।
न तस्य भार्या पुत्रो वा कश्चिदस्त्यन्तको हि सः ॥ ५५ ॥
काकीं श्येनीं तथा भासीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ।
ताम्रा तु सुषुवे देवी पञ्चैता लोकविश्रुताः ॥ ५६ ॥
उलूकान्सुषुवे काकी श्येनी श्येनान्व्यजायत ।
भासी भासानजनयद् गृध्रांश्चैव जनाधिप ॥ ५७ ॥
धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ।
चक्रवाकांश्च भद्रा तु जनयामास सैव तु ॥ ५८ ॥
शुकी च जनयामास शुकानेव यशस्विनी ।
कल्याणगुणसंपन्ना सर्वलक्षणपूजिता ॥ ५९ ॥
नव क्रोधवशा नारीः प्रजज्ञे क्रोधसंभवाः ।
मृगी च मृगमन्दा च हरी भद्रमना अपि ॥ ६० ॥
मातङ्गी त्वथ शार्दूली श्वेता सुरभिरेव च ।
सर्वलक्षणसंपन्ना सुरसा चैव भामिनी ॥ ६१ ॥
अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्च परंतप ॥ ६२ ॥
ततस्त्वैरावतं नागं जज्ञे भद्रमनाः सुतम् ।
ऐरावतः सुतस्तस्या देवनागो महागजः ॥ ६३ ॥

इसके पश्चात् जब प्रजा भूख से व्याकुल परस्पर एक दूसरे को मारकर भक्षण करने लगी, तब उससे सब प्राणियों का नाश करनेवाले अधर्म की उत्पत्ति हुई। अधर्म की निर्ऋति भार्या ने राक्षसों को उत्पन्न किया। अधर्म के घोररूप और पाप कर्म को करनेवाले भय, महाभय और सब प्राणियों का अन्त करनेवाला मृत्यु। मृत्यु की न कोई स्त्री है और न पुत्र। इस कारण वह सबका अन्त करनेवाला है। कश्यप की स्त्री ताम्रा के काकी, श्येनी, भासी, धृतराष्ट्री और शुकी-यह पांच कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥४९।५६॥

काकी के उलूक पुत्र हुए और श्येनी ने बाजों को उत्पन्न किया। भासी ने भास और गृद्धों को उत्पन्न किया। धृतराष्ट्री के गर्भ से हंस, कलहंस और चकवा पक्षी और शुकी के गर्भ से तोते पैदा हुए। कश्यप की दूसरी भार्या से क्रोधा के मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमना, मातङ्गी, शार्दूली, श्वेता, सुरभि और सुरसा-यह नौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं। हे राजाओं में श्रेष्ठ जनमेजय! मृगी के पुत्र सम्पूर्ण

हर्याश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः ।
गोलाङ्गूलांश्च भद्रं ते हर्याः पुत्रान्प्रचक्षते ॥ ६४ ॥
प्रजज्ञे त्वथ शार्दूली सिंहान्व्याघ्राननेकशः ।
द्वीपिनश्च महासत्त्वान्सर्वानेव न संशयः ॥ ६५ ॥
मातङ्ग्यपि च मातङ्गानपत्यानि नराधिप ।
दिशां गजं तु श्वेताख्यं श्वेताऽजनयदाशुगम् ॥ ६६ ॥
तथा दुहितरौ राजन्सुरभिर्वै व्यजायत ।
रोहिणी चैव भद्रं ते गन्धर्वी तु यशस्विनी ॥ ६७ ॥
विमलामपि भद्रं ते अनलामपि भारत ।
रोहिण्यां जज्ञिरे गावो गन्धर्व्यां वाजिनः सुताः ॥ ६८ ॥
सप्त पिण्डफलान्वृक्षाननलाऽपि व्यजायत ।
अनलायाः शुकी पुत्री कङ्कस्तु सुरसासुतः ।
अरुणस्य भार्या श्येनी तु वीर्यवन्तौ महाबलौ ॥ ६९ ॥
संपातिं जनयामास वीर्यवन्तं जटायुषम् ।
सुरसाऽजनयन्नागान्कद्रूः पुत्रांस्तु पन्नगान् ॥ ७० ॥
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु विख्यातौ गरुडारुणौ ।
इत्येष सर्वभूतानां महतां मनुजाधिप ।
प्रभवः कीर्त्तितः सम्यङ्मया मतिमतांवर ॥ ७१ ॥

मृग हुए। हे शत्रुओं को ताप देनेवाले जनमेजय! मृगमन्दा के गर्भ मे रीछ और छोटी जाति के हरिण हुए। भद्रमना के गर्भ से ऐरावत हाथी उत्पन्न हुआ। हरी के गर्भ मे वानर और बड़े वेगवाले लंगूर पुत्र उत्पन्न हुए। शार्दूली के गर्भ मे सिंह, व्याघ्र, द्वीप, यह बड़े बलवान् पुत्र उत्पन्न हुए ॥५७।६६॥

मातङ्गी के गर्भ मे हाथी उत्पन्न हुए। श्वेता के गर्भ मे श्वेत नाम दिग्गज और सुरभि के गर्भ मे रोहिणी, गन्धर्वी, विमला और अनला नाम की चार कन्याएँ उत्पन्न हुई। रोहिणी के गर्भ से गायें और गन्धर्वी के गर्भ मे घोड़े उत्पन्न हुए। अनला के गर्भ मे खजूर, ताल, हिन्ताल, ताली, खर्जूरिका, सुपारी और नारियल के सात पिण्ड-फल वृक्ष उत्पन्न हुए। अनला की पुत्री शुकी और सुरसा का पुत्र कंक हुआ। अरुण की स्त्री श्येनी के बड़े बलवान् सम्पाती और जटायु दो पुत्र उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् सुरसा के नाग, कद्रू से सर्प और विनता से गरुड और अरुण उत्पन्न हुए। हे राजन् जनमेजय

यं श्रुत्वा पुरुषः सम्यङ्मुक्तो भवति पाप्मनः ।
सर्वज्ञतां च लभते गतिमग्र्यां च विन्दति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्याय ॥ ६६ ॥

यह सब बड़े बड़े प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन मैंने अच्छी प्रकार तुम्हारे आगे कह दिया है। इसको सुनने से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है और सर्वज्ञता प्राप्तकर उत्तम गति को जाता है ॥६७।७२॥

आदिपर्व का छासठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तषष्टितमोऽध्याय ॥ ६७ ॥

जनमेजय उवाच—देवानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सिंहव्याघ्रमृगाणां च पन्नगानां पतत्रिणाम् ॥ १ ॥
सर्वेषां चैव भूतानां संभवं भगवन्नहम् ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन मानुषेषु महात्मनाम् ।
जन्म कर्म च भूतानामेतेषामनुपूर्वशः ॥ २ ॥

वैशंपायन उवाच मानुषेषु मनुष्येन्द्र संभूता ये दिवौकसः ।
प्रथमं दानवांश्चैव तांस्ते वक्ष्यामि सर्वशः ॥ ३ ॥
विप्रचित्तिरिति ख्यातो य आसीद्दानवर्षभः ।
जरासन्ध इति ख्यातः स आसीन्मनुजर्षभः ॥ ४ ॥
दितेः पुत्रस्तु यो राजन्हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
स जज्ञे मानुषे लोके शिशुपालो नरर्षभः ॥ ५ ॥
संह्लाद इति विख्यातः प्रह्लादस्यानुजस्तु यः ।
स शल्य इति विख्यातो जज्ञे बाह्लीकपुङ्गवः ॥ ६ ॥

॥ सड़सठवां अध्याय ६७ ॥

जनमेजय बोले कि, देवता, दानव, गन्धर्व, उरग, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, मृग, पन्नग, पक्षी और भी सब प्राणियों की मनुष्य जाति में उत्पन्न होने का वृत्तान्त यथार्थ रीति से और उनके जन्म और कर्म की कथा क्रम से सुनना चाहता हूँ। वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय! मनुष्यों में जो देवता और दानव पैदा हुए, उनमें प्रथम दानवों की उत्पत्ति कहता हूँ। दैत्यराज विप्रचित्ति जरासन्ध नाम का राजा हुआ। दिति का पुत्र हिरण्यकशिपु शिशुपाल राजा हुआ। प्रह्लाद का छोटा भाई संह्लाद नाम-

अनुह्लादस्तु तेजस्वी योऽभूत्ख्यातो जघन्यजः ।
धृष्टकेतुरिति ख्यातः स बभूव नरेश्वरः ॥ ७ ॥
यस्तु राजञ्छिबिर्नाम दैतेयः परिकीर्त्तितः ।
द्रुम इत्यभिविख्यातः स आसीद्भुवि पार्थिवः ॥ ८ ॥
बाष्कलो नाम यस्तेषामासीदसुरसत्तमः ।
भगदत्त इति ख्यातः स जज्ञे पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥
अयःशिरा अश्वशिरा अयः शङ्कुश्च वीर्यवान् ।
तथा गगनमूर्धा च वेगवांश्चात्र पञ्चमः ॥ १० ॥
पञ्चैते जज्ञिरे राजन्वीर्यवन्तो महासुराः ।
केकयेषु महात्मानः पार्थिवर्षभसत्तमाः ।
केतुमानिति विख्यातो यस्ततोऽन्यः प्रतापवान् ॥ ११ ॥
अमितौजा इति ख्यातः सोग्रकर्मा नराधिपः ।
स्वर्भानुरिति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः ॥ १२ ॥
उग्रसेन इति ख्यात उग्रकर्मा नराधिपः ।
यस्त्वश्व इति विख्यातः श्रीमानासीन्महासुरः ॥ १३ ॥
अशोको नाम राजाऽभून्महावीर्योऽपराजितः ।
तस्मादवरजो यस्तु राजन्नश्वपतिः स्मृतः ॥ १४ ॥
दैतेयः सोऽभवद्राजा हार्दिक्यो मनुजर्षभः ।
वृषपर्वेति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः ॥ १५ ॥

वाला याज्ञिकों में श्रेष्ठ राजा शल्य हुआ ॥१-६॥

उसी का छोटा भाई अनुह्लाद धृष्टकेतु नाम का राजा हुआ। शिबिदैत्य द्रुम नाम का राजा हुआ। बाष्कल असुर श्रेष्ठ भगदत्त राजा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अयःशिरा, अश्वशिरा, वीर्यवान् अश्वशङ्कु, गगनमूर्धा, वेगवान् ये पाँच महाबली असुर केकयदेश में बड़े राजा हुए। केतुमान् नाम का महाप्रतापी असुर उग्रकर्मा नामवाला राजा हुआ। स्वर्भानु असुर उग्र कर्म करनेवाला उग्रसेन नाम का राजा हुआ। अश्व नाम का असुर अपराजित महापराक्रमी अशोक नाम का राजा हुआ। अश्व का छोटा भाई अश्वपति हार्दिक्य राजा हुआ। वृषपर्वा असुर दीर्घप्रज्ञ नाम का राजा हुआ। वृषपर्वा का छोटा भाई अजक नामवाला शाल्व नाम से पृथ्वी में प्रसिद्ध हुआ। अश्वग्रीव असुर रोचमान नाम का राजा हुआ। बड़ा बुद्धिमान् और कीर्तिमान्

दीर्घप्रज्ञ इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
अजकस्त्ववरो राजन्य आसीद्वृषपर्वणः ॥ १६ ॥
स शाल्व इति विख्यातः पृथिव्यामभवन्नृपः ।
अश्वग्रीव इति ख्यातः सत्त्ववान्यो महासुरः ॥ १७ ॥
रोचमान इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
सूक्ष्मस्तु मतिमान्राजन्कीर्तिमान्यः प्रकीर्तितः ॥ १८ ॥
बृहद्रथ इति ख्यातः क्षितावासीत्स पार्थिवः ।
तुहुण्ड इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः ॥ १९ ॥
सेनाबिन्दुरिति ख्यातः स बभूव नराधिपः ।
इषुपान्नाम यस्तेषामसुराणां बलाधिकः ॥ २० ॥
नग्नजिन्नाम राजाऽऽसीद्भुवि विख्यातविक्रमः ।
एकचक्र इति ख्यात आसीद्यस्तु महासुरः ॥ २१ ॥
प्रतिविन्ध्य इति ख्यातो बभूव प्रथितः क्षितौ ।
विरूपाक्षस्तु दैतेयश्चित्रयोधी महासुरः ॥ २२ ॥
चित्रधर्मेति विख्यातः क्षितावासीत्स पार्थिवः ।
हरस्त्वरिहेरा वीर आसीद्यो दानवोत्तमः ॥ २३ ॥
सुबाहुरिति विख्यातः श्रीमानासीत्स पार्थिवः ।
अहरस्तु महातेजाः शत्रुपक्षक्षयंकरः ॥ २४ ॥
बाह्लीको नाम राजा स बभूव प्रथितः क्षितौ ।
निचन्द्रश्चन्द्रवक्त्रस्तु य आसीदसुरोत्तमः ॥ २५ ॥

सूक्ष्म असुर बृहद्रथ राजा हुआ । असुरों में उत्तम तुहुण्ड असुर सेनाबिंदु राजा हुआ । बड़ा बलवान असुर इषुपान नग्नजित नामवाला राजा हुआ । एकचक्र नाम का असुर प्रतिविन्ध्य नामवाला प्रसिद्ध राजा हुआ । विचित्र युद्ध का करनेवाला महाअसुर विरूपाक्ष चित्रधर्मा नाम से प्रसिद्ध हुआ । शत्रुओं के नाश करनेवाला हरनाम का असुर ऐश्वर्ययुक्त सुबाहु नाम से प्रसिद्ध हुआ । शत्रुनाशी अहर नामवाला तेजस्वी असुर पृथ्वी में प्रसिद्ध बाह्लीक राजा हुआ । निचन्द्र नाम का असुर ऐश्वर्ययुक्त मुञ्जकेश राजा हुआ । अजित असुर निकुम्भ नामवाला प्रसिद्ध राजा हुआ । शरभ नाम का असुर

मुञ्जकेश इति ख्यातः श्रीमानासीत्स पार्थिवः ।
निकुम्भस्त्वजितः संख्ये महामतिरजायत ॥ २६ ॥
भूमौ भूमिपतिश्रेष्ठो देवाधिप इति स्मृतः ।
शरभो नाम यस्तेषां दैतेयानां महासुरः ॥ २७ ॥
पौरवो नाम राजर्षिः स बभूव नरोत्तमः ।
कुपटस्तु महावीर्यः श्रीमान्राजन्महासुरः ॥ २८ ॥
सुपार्श्व इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः ।
कपटस्तु राजन्राजर्षिः क्षितौ जज्ञे महसुराः ॥ २९ ॥
पार्वतेय इति ख्यातः काञ्चनाचलसन्निभः ।
द्वितीयः शलभस्तेषामसुराणां बभूव ह ॥ ३० ॥
प्रह्लादो नाम वाह्लीकः स बभूव नराधिपः ।
चन्द्रस्तु दितिजश्रेष्ठो लोके ताराधिपोपमः ॥ ३१ ॥
चन्द्रवर्मेति विख्यातः काम्बोजानां नराधिपः ।
अर्क इत्यभिविख्यातो यस्तु दानवपुङ्गवः ॥ ३२ ॥
ऋषिको नाम राजर्षिर्बभूव नृपसत्तमः ।
मृतपा इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः ॥ ३३ ॥
पश्चिमानूपकं विद्धि तं नृपं नृपसत्तम ।
गविष्ठस्तु महातेजा यः प्रख्यातो महासुरः ॥ ३४ ॥
द्रुमसेन इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
मयूर इति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः ॥ ३५ ॥

पौरव नाम का राजा हुआ । कुपट नाम का असुर सुपार्श्व नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ । कपट नाम वाला असुर सुमेरुपर्वत के समान कान्तिवाला पार्वतेय नाम का राजा हुआ । शलभ नाम का असुर वाह्लीकदेश का राजा प्रह्लाद नामवाला हुआ ॥७।३१॥

चन्द्रमा के तुल्य दिति का पुत्र चन्द्र नाम असुर कम्बोजदेश का राजा चन्द्रवर्मा हुआ । दानवों में श्रेष्ठ अर्क राजाओं में ऋषिक हुआ । मृतपा नाम दैत्य पश्चिम अनूपदेश का राजा हुआ । महासुर तेजस्वी गविष्ठ द्रुमसेन राजा हुआ । मयूरासुर विश्व नामवाला राजा हुआ । मयूर का भाई सुपर्ण दैत्य कालकीर्ति नाम का राजा हुआ । असुरों में श्रेष्ठ चन्द्रहन्ता मनुष्यों में श्रेष्ठ शुनक नामवाला राजर्षि हुआ । महा असुर चंद्र विनाशक

स विश्व इति विख्यातो वभूव पृथिवीपतिः ।
सुपर्ण इति विख्यातस्तस्माद्वरजस्तु यः ॥ ३६ ॥
कालकीर्तिरिति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
चन्द्रहन्तेति यस्तेषां कीर्तितः प्रवरोऽसुरः ॥ ३७ ॥
शुनको नाम राजर्षिः स वभूव नराधिपः ।
विनाशनस्तु चन्द्रस्य य आख्यातो महासुरः ॥ ३८ ॥
जानकिर्नाम विख्यातः सोऽभवन्मनुजाधिपः ।
दीर्घजिह्वस्तु कौरव्य य उक्तो दानवर्षभः ॥ ३९ ॥
काशिराजः स विख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपते ।
ग्रहं तु सुषुवे यं तु सिंहिकाऽर्केन्दुमर्दनम् ।
स क्राथ इति विख्यातो वभूव मनुजाधिपः ॥ ४० ॥
दनायुषस्तु पुत्राणां चतुर्णां प्रवरोऽसुरः ।
विक्षरो नाम तेजस्वी वसुमित्रो नृपः स्मृता ॥ ४१ ॥
द्वितीयो विक्षराद्यस्तु नराधिप महासुरः ।
पाण्ड्यराष्ट्राधिप इति विख्यातः सोऽभवन्नृपः ॥ ४२ ॥
वली वीर इति ख्यातो यस्त्वासीदसुरोत्तमः ।
पौण्ड्रमात्स्यक इत्येवं वभूव स नराधिपः ॥ ४३ ॥
वृत्र इत्यभिविख्यातो यस्तु राजन्महासुरः ।
मणिमान्नाम राजर्षिः स वभूव नराधिपः ॥ ४४ ॥
क्रोधहन्तेति यस्तस्य वभूवावरजोऽसुरः ।
दण्ड इत्यभिविख्यातः स आसीन्नृपतिः क्षितौ ॥ ४५ ॥

जानकि नामक प्रसिद्ध हुआ । दीर्घजिह्व नाम का दैत्य काशिराज हुआ । सिंहिका का पुत्र सूर्य-चन्द्र का मर्दन करनेवाला क्राथ नामक राजा हुआ । दनायु के चार पुत्रों में सबसे बड़ा विक्षर नामक तेजस्वी असुर वसुमित्र नाम का राजा हुआ । विक्षर का भाई पाण्ड्यदेश का राजा हुआ ॥३२।४२॥

वलीवीर असुर पौंड्रमत्स्य देश का हुआ । वृत्र नामक महा असुर मणिमान् नामवाला राजा हुआ । क्रोधहन्ता नाम का असुर दण्ट नाम का राजा हुआ । क्रोधवर्धन असुर दण्टधार नामक राजा हुआ । कालेय

क्रोधवर्धन इत्येवं यस्त्वन्यः परिकीर्तितः ।
दण्डधार इति ख्यातः सोऽभवन्मनुजर्षभः ॥ ४६ ॥
कालेयानां तु ये पुत्रास्तेषामष्टौ नराधिपाः ।
जज्ञिरे राजशार्दूल शार्दूलसमविक्रमाः ॥ ४७ ॥
मगधेषु जयत्सेनस्तेषामासीत्स पार्थिवः ।
अष्टानां प्रवरस्तेषां कालेयानां महासुरः ॥ ४८ ॥
द्वितीयस्तु ततस्तेषां श्रीमान्हरिहयोपमः ।
अपराजित इत्येवं स बभूव नराधिपः ॥ ४९ ॥
तृतीयस्तु महातेजा महामायो महासुरः ।
निषादाधिपतिर्जज्ञे भुवि भीमपराक्रमः ॥ ५० ॥
तेषामन्यतमो यस्तु चतुर्थः परिकीर्तितः ।
श्रेणिमानिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥ ५१ ॥
पञ्चमस्त्व भवत्तेषां प्रवरो यो महासुरः ।
महौजा इति विख्यातो बभूवह परंतपः ॥ ५२ ॥
षष्ठस्तु मतिमान्यो वै तेषामासीन्महासुरः ।
अभीरुरिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥ ५३ ॥
समुद्रसेनस्तु नृपस्तेषा मेवाभवद्गणात ।
विश्रुतः सागरान्तायां क्षितौ धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ५४ ॥
बृहन्नामाष्टमस्तेषां कालेयानां नराधिप ।
बभूव राजा धर्मात्मा सर्वभूतहिते रतः ॥ ५५ ॥

नाम दैत्यों के आठ पुत्र शार्दूल के समान विक्रमी राजे हुए ॥४६।४७॥

उनमें सबसे बड़ा मगधदेश का जयत्सेन नामक राजा हुआ। उससे छोटा इन्द्र के समान अपराजित राजा हुआ। तीसरा बड़ी माया का जानने-वाला, बड़ा पराक्रमी, निषादों का राजा हुआ। चौथा श्रेणिमान नामक श्रेष्ठ राजर्षि हुआ। पांचवा श्रेष्ठ महासुर महौजा नामक प्रसिद्ध राजा हुआ। छठा महा असुर राजर्षियों में श्रेष्ठ अभीरु नामवाला राजा हुआ। सातवा असुर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी में प्रसिद्ध धर्मतत्व का जानने वाला समुद्रसेन राजा हुआ। आठवा कालेय धर्मात्मा और सब प्राणियों का

कुक्षिस्तु राजन्विख्यातो दानवानां महाबलः ।
पार्वतीय इति ख्यातः काञ्चनाचलसन्निभः ॥ ५६ ॥
क्रथनश्च महावीर्यः श्रीमान्राजा महासुरः ।
सूर्याक्ष इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः ॥ ५७ ॥
असुराणां तु यः सूर्यः श्रीमांश्चैव महासुरः ।
दरदो नाम वाह्लीको वरः सर्वमहीक्षिताम् ॥ ५८ ॥
गणःक्रोधवशो नाम यस्ते राजन्प्रकीर्तितः ।
ततः संजज्ञिरे वीराः क्षिताविह नराधिपाः ॥ ५९ ॥
मद्रकः कर्णवेष्टश्च सिद्धार्थः कटिकस्तथा ।
सुवीरश्च सुबाहुश्च महावीरोऽथ वाह्लिकः ॥ ६० ॥
क्रथो विचित्रः सुरथः श्रीमान्नीलश्च भूमिपः ।
चीरवासाश्च कौरव्य भूमिपालश्च नामतः ॥ ६१ ॥
दन्तवक्त्रश्च नामासीद्दुर्जयश्चैव दानवः ।
रुक्मी च नृपशार्दूलो राजा च जनमेजयः ॥ ६२ ॥
आषाढो वायुवेगश्च भूरितेजास्तथैव च ।
एकलव्यः सुमित्रश्च वाटधानोऽथ गोमुखः ॥ ६३ ॥
कारूपकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिस्तथैव च ।
श्रुतायुरुद्वहश्चैव बृहत्सेनस्तथैव च ॥ ६४ ॥
क्षेमोग्रतीर्थः कुहरः कलिङ्गेषु नराधिपः ।
मतिमांश्च मनुष्येन्द्र ईश्वरश्चेति विश्रुतः ॥ ६५ ॥

ति चाहनेवाला समुद्र बृहत् नामक राजा हुआ। कुक्षि नाम का दानव पार्वतीय नाम से प्रसिद्ध राजा हुआ ॥४८॥५६॥

क्रथनु नामक बड़ा पराक्रमी महा असुर पृथ्वी में सूर्याक्ष नामक प्रसिद्ध राजा हुआ। सूर्य नाम का असुर दरद नामक वाह्लीकदेश का राजा हुआ।

हे राजा जनमेजय ! मैंने जिस क्रोधवश नामक असुरगण का नाम लिया था, उस गण में से पृथ्वी में बड़े बड़े वीर राजे उत्पन्न हुए। मद्रक, कर्णवेष्ट, सिद्धार्थ, कीटक, सुवीर, सुबाहु, महावीर, वाह्लिक, क्रथ, विचित्र, सुरथ, श्रीमान्, नील, चीरवासा, कौरव्य, भूमिपाल, दन्तवक्त्र, दुर्जय, राजाओं में श्रेष्ठ रुक्मी

गणात्क्रोधवशादेष राजपूगोऽभवत्क्षितौ ।
जातः पुरा महाभागे महाकीर्तिर्महावल ॥ ६६ ॥
कालनेमिरिति ख्यातो दानवानां महावलः ।
स कंस इति विख्यात उग्रसेनसुतो वली ॥ ६७ ॥
यस्त्वासीद्देवको नाम देवराजसमद्युतिः ।
स गन्धर्वपतिर्मुख्यः क्षितौ जज्ञे नराधिपः ॥ ६८ ॥
बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्देवर्षेर्विद्धि भारत ।
अंशाद् द्रोणं समुत्पन्नं भारद्वाजमयोनिजम् ॥ ६९ ॥
धन्विनां नृपशार्दूल यः सर्वास्त्रविदुत्तमः ।
महाकीर्तिर्महातेजाः स जज्ञे मनुजेश्वर ॥ ७० ॥
धनुर्वेदे च वेदे च यं तं वेदविदो विदुः ।
वरिष्ठं चित्रकर्माणं द्रोणं स्वकुलवर्धनम् ॥ ७१ ॥
महादेवान्तकाभ्यां च कामात्क्रोधाच्च भारत ।
एकत्वमुपपन्नानां जज्ञे शूरः परंतपः ॥ ७२ ॥
अश्वत्थामा महावीर्यः शत्रुपक्षभयावहः ।
वीरः कमलपत्राक्षः क्षितावासीन्नराधिपः ॥ ७३ ॥
जज्ञिरे वसवस्त्वष्टौ गङ्गायां शान्तनोः सुताः ।
वसिष्ठस्य च शापेन नियोगाद्वासवस्य च ॥ ७४ ॥

जनमेजय, आषाढ़, वायुवेग, भूरितेजा, एकलव्य, सुमित्र, वाटधान, गोमुख, कारुषक राजे, क्षेमधूर्ति, श्रुतायु, उद्वह, बृहत्सेन, क्षेम, उग्रतीर्थ, कालिङ्गदेश का राजा कुहर, मतिमान और ईश्वर आदि नामवाले राजे हुए ॥५७।६५॥

क्रोधवश नाम गण से पृथ्वी में वह राजाओं का गण उत्पन्न हुआ जो बड़े बड़े भागवाला, कीर्तिमान और बलवान् था। महापराक्रमी कालनेमि असुर राजा उग्रसेन का पुत्र कंस हुआ। इन्द्र के समान सुन्दर देवक नामवाला असुर गन्धर्वपति नाम का राजा हुआ। अयोनिज भारद्वाज-पुत्र द्रोणाचार्य देवर्षि बृहस्पति के अंश से उत्पन्न हुआ। हे राजाओं में श्रेष्ठ जनमेजय ! वह द्रोणाचार्य धनुषविद्या और अस्त्रविद्या के जाननेवालों में श्रेष्ठ था। वह बड़ी कीर्तिवाला और तेजस्वी था। उस द्रोणाचार्य को वेद के जाननेवाले, धनुर्वेद और वेदविद्या में श्रेष्ठ और चित्रकर्म करनेवाला और अपने पक्ष का बढ़ानेवाला मानते थे। महादेवअन्तक काम

तेषामवरजो भीष्मः कुरूणामभयंकरः ।
मतिमान्वेदविद्वाग्मी शत्रुपक्षक्षयंकरः ॥ ७५ ॥
जामदग्न्येन रामेण सर्वास्त्रविदुषां वरः ।
योऽयुध्यत महातेजा भार्गवेण महात्मना ॥ ७६ ॥
यस्तु राजन्कृपो नाम ब्रह्मर्षिरभवत्क्षितौ ।
रुद्राणां तु गणाद्विद्धि संतभूमतिपौरुषम् ॥ ७७ ॥
शकुनिर्नाम यस्त्वासीद्राजा लोके महारथः ।
द्वापरं विद्धि तं राजन्संभूतमरिमर्दनम् ॥ ७८ ॥
सात्यकिः सत्यसन्धश्च योऽसौ वृष्णिकुलोद्वहः ।
पक्षात्स जज्ञे मरुतां देवानामरिमर्दनः ॥ ७९ ॥
द्रुपदश्चैव राजर्षिस्तत एवाभवद्गणात् ।
मानुषे नृप लोकेऽस्मिन्सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ८० ॥
ततश्च कृतवर्माणं विद्धि राजञ्जनाधिपम् ।
तमप्रतिमकर्माणं क्षत्रियर्षभसत्तमम् ॥ ८१ ॥
मरुतां तु गणाद्विद्धि संजातमरिमर्दनम् ।
विराटं नाम राजानं परराष्ट्रप्रतापनम् ॥ ८२ ॥
अरिष्टायास्तु यः पुत्रो हंस इत्यभिविश्रुतः ।
स गन्धर्वपतिर्जज्ञे कुरुवंशविवर्धनः ॥ ८३ ॥

और क्रोध इन चारों देवताओं के अंश से सम्पूर्ण वेदशास्त्र और अस्त्रविद्या के जाननेवाले द्रोणाचार्य के महावीर और बड़ा तेजस्वी, कमलनयन अश्वत्थामा नामवाला पुत्र उत्पन्न हुआ। आठों वसु वशिष्ठ के शाप और इन्द्र की आज्ञा से, गङ्गा के गर्भ से राजा शान्तनु के यहां उत्पन्न हुए ॥६६।७४॥

शान्तनु का आठवां पुत्र सबसे छोटा प्रतापी भीष्म हुआ। उस कुरुवंशियों के भय का दूर करनेवाले, बुद्धिमान्, वेदज्ञ, बोलने में चतुर, शत्रुपक्ष का नाश करनेवाले और अस्त्रविद्या के जाननेवालों में श्रेष्ठ भीष्म ने भृगुवंशि महात्मा जमदग्नि के पुत्र परशुराम के साथ युद्ध किया। महापराक्रमी ब्रह्मर्षि कृपाचार्य रुद्रगण के अंश से उत्पन्न हुआ। शत्रुमर्दन महावीर राजा शकुनि का जन्म द्वापर के अंश से हुआ। सत्यप्रतिज्ञ यादव सात्यकि ने मरुद्गण के पक्ष में जन्म लिया। राजर्षियों में श्रेष्ठ द्रुपद भी मरुद्गण के ही अंश से उत्पन्न हुआ ॥७५।८०॥

हे राजा जनमेजय! अजित क्षत्रिय राजाओं

धृतराष्ट्र इति ख्यातः कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
दीर्घबाहुर्महातेजाः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
मातुर्दोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत ॥ ८४ ॥
तस्यैवावरजो भ्राता महासत्त्वो महाबलः ।
स पाण्डुरिति विख्यातः सत्यधर्मरतः शुचिः ॥ ८५ ॥
अत्रेस्तु सुमहाभागं पुत्रं पुत्रवतां वरम् ।
विदुरं विद्धि तं लोके जातं बुद्धिमतां वरम् ॥ ८६ ॥
कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः ।
दुर्बुद्धिर्दुर्मतिश्चैव कुरूणामयशस्करः ॥ ८७ ॥
जगतो यस्तु सर्वस्य विद्विष्टः कलिपूरुषः ।
यः सर्वां घातयामास पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ८८ ॥
उद्दीपितं येन वैरं भूतान्तकरणं महत् ।
पौलस्त्या भ्रातरश्चास्य जज्ञिरे मनुजेष्विह ॥ ८९ ॥
शतं दुःशासनादीनां सर्वेषां क्रूरकर्मणाम् ।
दुर्मुखो दुःसहश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ९० ॥
दुर्योधनसहायास्ते पौलस्त्या भरतर्षभ ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्तराष्ट्रः शताधिकः ॥ ९१ ॥

जनमेजय उवाच—ज्येष्ठानुज्येष्ठतामेषां नामधेयानि वा विभो ।

में श्रेष्ठ कृतवर्मा भी उसी अंश में उत्पन्न हुआ। शत्रुओं के राज्य को ताप देनेवाला काल के समान राजा विराट् भी मरुद्‌गण के अंश में उत्पन्न हुआ। व्यासजी का पुत्र प्रज्ञाचक्षु महातेजस्वी राजा धृतराष्ट्र अरिष्टा के पुत्र हंस नाम गन्धर्वपति के अंश में उत्पन्न हुआ। वह अपनी माता के दोष और ऋषि के कोप से अन्धा उत्पन्न हुआ। उसका छोटा भाई अति बुद्धिमान् और बलवान् सत्यधर्म में रत, राजा पाण्डु उत्पन्न हुआ। सूर्य के पुत्र धर्मराज से श्रेष्ठ और बुद्धिमान् विदुर का जन्म हुआ। दुर्बुद्धि दुर्मति और कौरवकुल के लिये कलङ्क का टीका राजा दुर्योधन कलियुग के अंश में उत्पन्न हुआ। हे राजन्! वह दुर्योधन सब जगत् का द्वेषी और सारी पृथ्वी के नाश का हेतु हुआ। अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाले दुःशासन, दुर्मुख, दुस्सह आदि दुर्योधन आदि के सौ भाई पौलस्त्य नाम के दानवों के अंश में उत्पन्न हुए। धृतराष्ट्र के वैश्या के गर्भ में युयुत्सु नाम का एक और पुत्र उत्पन्न हुआ ॥८४।९१॥

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्येण कीर्तय ॥ ९२ ॥

वैशम्पायन उवाच—दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन्दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव दुर्मुखश्च तथा परः ॥ ९३ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च जलसन्धः सुलोचनः ।
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ॥ ९४ ॥
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्राङ्गदश्च ह ॥ ९५ ॥
दुर्मदो दुष्प्रहर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः ।
ऊर्णनाभः पद्मनाभस्तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ ९६ ॥
सेनापतिः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ।
चित्रबाहुश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ॥ ९७ ॥
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्रचापसकुण्डलौ ।
भीमवेगो भीमबलो बलाकी भीमविक्रमः ॥ ९८ ॥
उग्रायुधो भीमशरः कनकायुर्दृढायुधः ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥ ९९ ॥
जरासन्धो दृढसन्धः सत्यसन्धः सहस्रवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः क्षेममूर्तिस्तथैव च ॥ १०० ॥
अपराजितः पण्डितो विशालाक्षो दुराधनः ॥ १०१ ॥
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ।
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तानुयायिनौ ॥ १०२ ॥

जनमेजय ने कहा हे वैशम्पायन ! इन धृतराष्ट्र के पुत्रों के नाम क्रम से मुझे सुनाओ। वैशम्पायन ने कहा धृतराष्ट्र के गान्धारी से दुर्योधन, युयुत्सु, दुःशासन, दुःसह, दुःशल, दुर्मुख, विविंशति, विकर्ण, जलसन्ध, सुलोचन, विंद, अनुविंद, दुर्धर्ष, सुबाहु, दुष्प्रधर्षण, दुर्मर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, कर्ण, चित्र, उपचित्र, चित्राक्ष, चारु, चित्रांगद दुर्मद, दुष्प्रहर्ष विवित्सु, विकट, सम, ऊर्णनाभ, पद्मनाभ, नन्द, उपनन्द, सेनापति, सुषेण, कुण्डोदर, महोदर, चित्रबाहु, चित्रवर्मा, सुवर्मा, दुर्विरोचन, अयोबाहु, महाबाहु, चित्रचाप, सुकुण्डल, भीमवेग, भीमबल, बलाकी भीम, विक्रम, उग्रायुध, भीमशर, कनकायु, दृढायुध, दृढवर्मा, दृढक्षत्र, सोमकीर्ति, अनूदर, जरासन्ध, दृढसन्ध, सत्यसन्ध, सहस्रवाक्, उग्रश्रवा, उग्रसेन,

कवची निषङ्गी दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ।
उग्रो भीमरथो वीरो वीरबाहुरलोलुपः ॥ १०३ ॥
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथश्च यः ।
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी दीर्घलोचनः ॥ १०४ ॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकाङ्गदः ।
कुण्डजश्चित्रकश्चैव दुःशला च शताधिका ॥ १०५ ॥
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्तराष्ट्रः शताधिकः ।
एतदेकशतं राजन्कन्या चैका प्रकीर्तिता ॥ १०६ ॥
नामधेयानुपूर्व्या च ज्येष्ठानुज्येष्ठतां विदुः ।
सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १०७ ॥
सर्वे वेदविदश्चैव राजञ्छास्त्रे च पारगाः ।
सर्वे संग्रामविद्यासु विद्याभिजनशोभिनः ॥ १०८ ॥
सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।
दुःशलां समये राजन्सिन्धुराजाय कौरवः ॥ १०९ ॥
जयद्रथाय प्रददौ सौबलानुमते तदा ।
धर्मस्यांशं तु राजानं विद्धि राजन्युधिष्ठिरम् ॥ ११० ॥
भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्य चार्जुनम् ।
अश्विनोस्तु तथैवांशौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि ॥ १११ ॥

क्षेममूर्त्ति, अपराजित, पण्डित, विशालाक्ष, दुराधन, दृढहस्त, सुहस्त, वातवेग, सुवर्चा, आदित्यकेतु, बह्वाशी, नागदत्त, अनुयायी, कवची, निषंगी, दण्डी, दण्डधार, धनुर्ग्रह, उग्र, भीमरथ, वीर, वीरबाहु, अलोलुप, अभय, रौद्रकर्मा, दृढरथ, अनाधृष्य, कुण्डभेदी, विरावी, दीर्घलोचन, दीर्घबाहु, महाबाहु, व्यूढोरु, कनकाङ्गद, कुण्डज और चित्रक यह सौ पुत्र और एक दुःशला नाम की कन्या उत्पन्न हुई। वैश्या के गर्भ से उत्पन्न एक और पुत्र युयुत्सु था। नाम के क्रमानुसार इसमें बड़े छोटे जानो । हे जनमेजय ! धृतराष्ट्र के ये सब पुत्र बड़े शूरवीर, युद्ध, अस्त्र, शस्त्रविद्या के जाननेवाले और वेद-शास्त्र में निपुण थे । इन सबका विवाह इनके अनुरूप स्त्रियों से किया गया । दुःशला नाम धृतराष्ट्र की पुत्री का विवाह शकुनि की सम्मति से सिंधुदेश के राजा जयद्रथ के साथ किया गया ॥११०॥

धर्म के अंश से राजा युधिष्ठिर का जन्म हुआ। वायु के अंश से भीमसेन, इन्द्र के अंश से अर्जुन

नकुलः सहदेवश्च सर्वभूतमनोहरौ ।
यस्तु वर्चा इति ख्यातः सोमपुत्रः प्रतापवान् ॥ ११२ ॥
सोऽभिमन्युर्बृहत्कीर्तिरर्जुनस्य सुतोऽभवत् ।
यस्यावतरणे राजन्सुरान्सोमोऽब्रवीदिदम् ॥ ११३ ॥
नाऽहं दद्यां प्रियं पुत्रं मम प्राणैर्गरीयसम् ।
समयः क्रियतामेष न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ ११४ ॥
सुरकार्यं हि नः कार्यमसुराणां क्षितौ वधः ।
तत्र यास्यत्ययं वर्चा न च स्थास्यति वै चिरम् ॥ ११५ ॥
ऐन्द्रिर्नरस्तु भविता यस्य नारायणः सखा ।
सोऽर्जुनेत्यभिविख्यातः पाण्डोः पुत्रः प्रतापवान् ॥ ११६ ॥
तस्यायं भविता पुत्रो बालो भुवि महारथः ।
ततः षोडश वर्षाणि स्थास्यत्यमरसत्तमाः ॥ ११७ ॥
अस्य षोडशवर्षस्य स सङ्ग्रामो भविष्यति ।
यत्रांशा वः करिष्यन्ति कर्म वीरनिसूदनम् ॥ ११८ ॥
नरनारायणाभ्यां तु स संग्रामो विनाकृतः ।
चक्रव्यूहं समास्थाय योधयिष्यन्ति वः सुराः ॥ ११९ ॥
विमुखाञ्छात्रवान्सर्वान्कारयिष्यति मे सुतः ।
बालः प्रविश्य च व्यूहमभेद्यं विचरिष्यति ॥ १२० ॥
महारथानां वीराणां कदनं च करिष्यति ।
सर्वेषामेव शत्रूणां चतुर्थांशं नयिष्यति ॥ १२१ ॥

और अश्विनीकुमार के अंश से नकुल और सहदेव जो बड़े रूपवान् थे, उत्पन्न हुए। चन्द्रमा का पुत्र प्रतापी वर्चा बड़ी कीर्तिवाला अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु हुआ। उसके जन्म लेते समय चन्द्रमा ने देवताओं से कहा था कि, यह मेरा पुत्र प्राण से भी अधिक प्यारा है मैं इसको पृथक् नहीं कर सकता। देवताओं का कार्य करने के लिये यह पृथ्वी पर अवतार लेकर अर्जुन का पुत्र होगा परन्तु यह बहुत दिनों तक वहां न रहेगा। सोलह वर्ष की आयु में युद्ध के प्राप्त होने पर नररूप अर्जुन अपने पिता और नारायणरूप श्रीकृष्ण के न होने के कारण से यह महाअभेद्य व्यूह को तोड़कर भीतर प्रवेश हो जावेगा और वहां जाकर बड़े बड़े शूरवीरों को यमपुरी पहुंचावेगा। उस दिन सब सेना की चौथाई

दिनार्धेन महाबाहुः प्रेतराजपुरं प्रति ।
ततो महारथैर्वीरैः समेत्य बहुशो रणे ॥ १२२ ॥
दिनक्षये महाबाहुर्मया भूयः समेष्यति ।
एकं वंशकरं पुत्रं वीरं वै जनयिष्यति ॥ १२३ ॥
प्रनष्टं भारतं वंशं स भूयो धारयिष्यति ।
एतत्सोमवचः श्रुत्वा तथास्त्विति दिवौकसः ॥ १२४ ॥
प्रत्यूचुः सहिताः सर्वे ताराधिपमपूजयन् ।
एवं ते कथितं राजंस्तव जन्म पितुः पितुः ॥ १२५ ॥
अग्नेर्भागं तु विद्धि त्वं धृष्टद्युम्नं महारथम् ।
शिखण्डिनमथो राजंस्त्रीपूर्वं विद्धि राक्षसम् ॥ १२६ ॥
द्रौपदेयाश्च ये पञ्च बभूवुर्भरतर्षभ ।
विश्वान्देवगणान्विद्धि संजातान्भरतर्षभ ॥ १२७ ॥
प्रतिविन्ध्यः सुतसोमः श्रुतकीर्तिस्तथापरः ।
नाकुलिस्तु शतानीकः श्रुतसेनश्च वीर्यवान् ॥ १२८ ॥
शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताऽभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणासदृशी भुवि ॥ १२९ ॥
पितुः स्वस्रीयपुत्राय सोऽनपत्याय वीर्यवान् ।
अग्रमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यस्य वै तदा ॥ १३० ॥
अग्रजातेति तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकाङ्क्षया ।

सेना को अकेला मारकर सन्ध्या होने पर मेरे पास चला आवेगा । पाण्डवों को वंश चलाने के लिये इससे एक पुत्र भी उत्पन्न होगा । यह सुनकर देवताओं ने तारागणों के ईश्वर चन्द्रमा की पूजा की और कहा कि, ऐसा ही हो । हे जनमेजय ! इस प्रकार तेरे पितामह का जन्म हुआ ॥१११।१२५॥

हे राजन् ! अग्नि के अंश से धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ । राक्षस के अंश से शिखण्डी का जन्म हुआ । शिखण्डी पहले स्त्री था । द्रौपदी के प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतसेन नाम के पाँचों पुत्र विश्वेदेवाओं के अंश से उत्पन्न हुए । वसुदेव के पिता शूरसेन के एक पुत्री पृथा नाम की ऐसी स्वरूपवान् उत्पन्न हुई कि, उसकी सदृश पृथ्वी पर कोई कन्या न थी । शूरसेन की बुआ के पोते कुन्तिभोज के कोई लड़का लड़की नहीं थी । शूरसेन उनसे यह कह चुके थे कि, मेरे सबसे

अदद्त्कुन्तिभोजाय स तां दुहितरं तदा ॥ १३१ ॥
सा नियुक्ता पितुर्गेहे ब्राह्मणातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरद्घोरं ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ १३२ ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससंविदुः ।
तमुग्रं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥ १३३ ॥
तुष्टोऽभिचारसंयुक्तमाचचक्षे यथाविधि ।
उवाच चैनां भगवान्प्रीतोऽस्मि सुभगे तव ॥ १३४ ॥
यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यासि ।
तस्य तस्य प्रसादात्त्वं देवि पुत्राञ्जनिष्यासि ॥ १३५ ॥
एवमुक्ता च सा बाला तदा कौतूहलान्विता ।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥ १३६ ॥
प्रकाशकर्ता भगवांस्तस्यां गर्भं दधौ तदा ।
अजीजनत्सुतं चास्यां सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥ १३७ ॥
सकुण्डलं सकवचं देवगर्भश्रियाऽन्वितम् ।
दिवाकरसमं दीप्त्या चारुसर्वाङ्गभूषितम् ॥ १३८ ॥
निगूहमाना जातं वै बन्धुपक्षभयात्तदा ।
उत्ससर्ज जले कुन्ती तं कुमारं यशस्विनम् ॥ १३९ ॥

पहले जो सन्तान होगी वह मैं तुमको दे दूगा। इस प्रतिज्ञा के अनुसार उन्होंने वह कन्या कुन्तीभोज को दे दी ॥१२६।१३१॥

वह कन्या अपने पिता के घर में सदा आये हुए अभ्यागत ब्राह्मणों की सेवा किया करती थी। एक समय उग्रस्वभाव, व्रतपरायण, धर्म के गूढ तत्त्व को जाननेवाले, पवित्रात्मा दुर्वासा वहां आये। उस कन्या ने उनकी बहुत अच्छी तरह सेवा करके उनको सन्तुष्ट किया। दुर्वासा ने प्रसन्न होकर पृथा को देववशीकरण मंत्र बताया और कहा कि, हे सुभगे ! इस मंत्र से तू जिस देवता को पुत्र की कामना से बुलावेगी, वह आकर तेरी इच्छा को पूर्ण करेगा। दुर्वासा तो चले गये और कुन्ती ने उस मंत्र से सूर्य का आवाहन किया। अंधकार के नाश करनेवाले उस भगवान् सूर्य ने उसमें गर्भ धारण किया। इसके पश्चात् कुन्ती के यथासमय सूर्य के समान तेजस्वी, कवच और कुण्डल पहिरे हुए, शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, सुन्दर बालक उत्पन्न हुआ। कुन्ती ने बान्धवों के भय से उस यशस्वी बालक को जल में फेंक दिया ॥१३२।१३९॥

तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः ।
राधायाः कल्पयामास पुत्रं सोऽधिरथस्तदा ॥ १४० ॥
चक्रतुर्नामधेयं च तस्य बालस्य तावुभौ ।
दम्पती वसुषेणेति दिक्षु सर्वासु विश्रुतम् ॥ १४१ ॥
संवर्धमानो बलवान्सर्वास्त्रेषूत्तमोऽभवत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि जजाप जयतां वरः ॥ १४२ ॥
यस्मिन्काले जपन्नास्ते धीमान्सत्यपराक्रमः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत्तस्मिन्काले महात्मनः ॥ १४३ ॥
तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा पुत्रार्थे भूतभावनः ।
ययाचे कुण्डले वीरं कवचं च सहाङ्गजम् ॥ १४४ ॥
उत्कृत्य कर्णो ह्यददत्कवचं कुण्डले तथा ।
शक्तिं शक्रो ददौ तस्मै विस्मितश्चेदमब्रवीत् ॥ १४५ ॥
देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
यस्मिन्क्षेप्स्यसि दुर्धर्ष स एको न भविष्यति ॥ १४६ ॥
पुरा नाम च तस्यासीद्वसुषेण इति क्षितौ ।
ततो वैकर्तनः कर्णः कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥ १४७ ॥
आमुक्तकवचो वीरो यस्तु जज्ञे महायशाः ।
स कर्ण इति विख्यातः पृथायाः प्रथमः सुतः ॥ १४८ ॥

"बड़े यशस्वी राधा के पति ने जल मे निकाल कर पुत्र कल्पना से अपनी स्त्री को वह बालक दे दिया। उन दोनों ने उसका नाम वसुषेण रक्खा। वसुषेण दिन दिन बढ़कर महाबलवान् हो गया। उस प्रतापी बालक ने कुछ ही समय में वेद-वेदाङ्ग और धनुर्विद्या को भलीभांति सीख लिया। विद्याध्ययन के समय वसुषेण की यह प्रतिज्ञा थी कि, ब्राह्मण जो कुछ मांगेगा उसको वही दूगा। सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा करनेवाले इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप बनकर अपने पुत्र के कारण उसके साथ पैदा हुए कवच और कुण्डलों को वसुषेण से मांगा। वसुषेण ने उसी समय इन्द्र को कवच और कुण्डल दे दिये। इन्द्र ने बहुत हैरान और प्रसन्न होकर उसको एक शक्ति नाम का शस्त्र दिया और कहा देवता, असुर, मनुष्य, गंधर्व सर्प, राक्षस, इनमें से जिस एक के ऊपर यह शक्ति छोड़ेगा वह मृत्यु को प्राप्त होगा। पहिले उसका नाम पृथ्वी में वसुषेण प्रसिद्ध था। इस कठिन कर्म के करने से उसका नाम वैकर्तन

स तु सूतकुले वीरो ववृधे राजसत्तम ।
कर्णं नरवरश्रेष्ठं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥ १४९ ॥
दुर्योधनस्य सचिवं मित्रं शत्रुविनाशनम् ।
दिवाकरस्य तं विद्धि राजन्वंशमनुत्तमम् ॥ १५० ॥
यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः ।
तस्यांशो मानुषेष्वासीद्वासुदेवः प्रतापवान् ॥ १५१ ॥
शेषस्यांशश्च नागस्य बलदेवो महाबलः ।
सनत्कुमारं प्रद्युम्नं विद्धि राजन्महौजसम् ॥ १५२ ॥
एवमन्ये मनुष्येन्द्रा बहवोंऽशा दिवौकसाम् ।
जज्ञिरे वसुदेवस्य कुले कुलविवर्धनाः ॥ १५३ ॥
गणस्त्वप्सरसां यो वै मया राजन्प्रकीर्तितः ।
तस्य भागः क्षितौ जज्ञे नियोगाद्वासवस्य ह ॥ १५४ ॥
तानि षोडश देवीनां सहस्राणि नराधिप ।
बभूवुर्मानुषे लोके वासुदेवपरिग्रहः ॥ १५५ ॥
श्रियस्तु भागः संजज्ञे रत्यर्थं पृथिवीतले ।
भीष्मकस्य कुले साध्वी रुक्मिणी नाम नामतः ॥ १५६ ॥
द्रौपदी त्वथ संजज्ञे शचीभागादनिन्दिता ।
द्रुपदस्य कुले कन्या वेदिमध्यादनिन्दिता ॥ १५७ ॥

और करण हुआ। जो वीर, यशस्वी, कवच धारण किये हुए उत्पन्न हुआ था, वह पृथा का पुत्र कर्ण नाम से प्रसिद्ध हुआ। हे राजाओं में श्रेष्ठ जनमेजय! वह कर्ण सूत के कुल में वृद्धि को प्राप्त हुआ राजाओं में श्रेष्ठ, सब शस्त्रधारियों में उत्तम, दुर्योधन का मंत्रि और मित्र, शत्रुओं के नाश करनेवाला कर्ण सूर्य के अंश से उत्पन्न हुआ ॥१४९।१५०॥

सनातनदेव नारायण नाम से प्रसिद्ध वासुदेव का पुत्र प्रतापी कृष्ण पृथ्वी में उत्पन्न हुआ। वह बलवान् बलदेव शेषनाग के अंश से उत्पन्न हुआ। महापराक्रमी प्रद्युम्न सनत्कुमार के अंश से उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार और बहुत से मनुष्यों में श्रेष्ठ देवताओं के अंशों से वसुदेव के कुल के बढ़ानेवाले उत्पन्न हुए। हे जनमेजय! जो मैंने अप्सराओं का गण पहिले तुमसे कहा था, उसका अंश इन्द्र की आज्ञा से पृथ्वी में उत्पन्न हुआ। हे राजन्! उस अंश से श्रीकृष्ण की सोलह हजार स्त्रियें उत्पन्न हुईं ॥१५१।१५५॥

नातिह्रस्वा न महती नीलोत्पलसुगन्धिनी ।
पद्मायताक्षी सुश्रोणी स्वसिताञ्चितमूर्धजा ॥ १५८ ॥
सर्वलक्षणसंपूर्णा वैदूर्यमणिसन्निभा ।
पञ्चानां पुरुषेन्द्राणां चित्तप्रमथनी रहः ॥ १५९ ॥
सिद्धिर्धृतिश्च ये देव्यौ पञ्चानां मातरौ तु ते ।
कुन्ती माद्री च जज्ञाते मतिस्तु सुबलात्मजा ॥ १६० ॥
इति देवासुराणां ते गन्धर्वाप्सरसां तथा ।
अंशावतरणं राजन्राक्षसानां च कीर्तितम् ॥ १६१ ॥
ये पृथिव्यां समुद्भूता राजानो युद्धदुर्मदाः ।
महात्मानो यदूनां च ये जाता विपुले कुले ॥ १६२ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मया ते परिकीर्तिताः ।
धन्यं यशस्यं पुत्रीयमायुष्यं विजयावहम् ।
इदमंशावतरणं श्रोतव्यमनसूयता ॥ १६३ ॥
अंशावतरणं श्रुत्वा देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
प्रभवाप्ययवित्प्राज्ञो न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥ १६४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वण्यंशावतरणसमाप्तौ सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

कृष्ण की प्राप्ति के लिये पृथ्वी में लक्ष्मी के अंश से भीष्मक राजा के कुल में रुक्मिणी नाम पतिव्रता स्त्री उत्पन्न हुई। इन्द्राणि के अंश से सर्वोत्तम द्रौपदी वेदी के मध्य से उत्पन्न हुई। वह द्रौपदी न बहुत छोटी और न लम्बी थी। उसके अङ्गों से नील कमल की सुगन्ध आती थी। वह कमल-सदृश नेत्रवाली, सुंदर कमरवाली, काले शोभित केशोंवाली, स्त्रियों के सम्पूर्ण उत्तम लक्षणों से युक्त, वैदूर्यमणि के सदृश कान्तिवाली, पुरुषों में श्रेष्ठ, पांचों पाण्डवों के चित्त को एकान्त में वश करनेवाली थी। हे महाराज! सिद्धि और धृति नाम की दोनों देवियों के अंश से पाण्डु की स्त्री कुन्ती और माद्री का जन्म हुआ। मतिदेवी अपने अंश से गान्धारी नाम से प्रगट हुई। हे जनमेजय! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के घरानों में और यादवों के प्रसिद्ध कुल में जिन-जिन देवता, दैत्य, गन्धर्व, अप्सरा, राक्षस आदि का जिस-जिस नाम से अंशावतार हुआ, वह सब मैंने तुमको सुना दिया। यह अंशावतरण कथा धन, यश, पुत्र, आयु और विजय की बढ़ानेवाली है। इसको जो मन लगाकर श्रद्धापूर्वक सुनता है, वह ब्रह्मज्ञानी होजाता है और किसी प्रकार के आपत्ति काल में कष्ट नहीं पाता ॥१५६।१६४॥

आदिपर्व का सतसठवां अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ अष्टषष्टितमोऽध्याय ॥ ६८ ॥

जनमेजय उवाच – त्वत्तः श्रुतमिदं ब्रह्मन्देवदानवरक्षसाम् ।
अंशावतरणं सम्यग्गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ १ ॥
इमं तु भूय इच्छामि कुरूणां वंशमादितः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसन्निधौ ॥ २ ॥
वैशंपायन उवाच—पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान् ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम ॥ ३ ॥
चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं यो भुंक्ते मनुजेश्वरः ।
समुद्रावरणांश्चापि देशान्स समितिंजयः ॥ ४ ॥
आम्लेच्छावधिकान्सर्वान्स भुङ्क्ते रिपुमर्दनः ।
रत्नाकरसमुद्रान्तांश्चातुर्वर्ण्यजनावृताम् ॥ ५ ॥
न वर्णसंकरकरो न कृष्याकरकृज्जनः ।
न पापकृत्कश्चिदासीत्तस्मिन्राजनि शासति ॥ ६ ॥
धर्मे रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे ।
तदा नरा नरव्याघ्र तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ७ ॥
नासीच्चौरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि ।
नासीद्व्याधिभयं चापि तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ८ ॥

॥ अड़सठवां अध्याय ६८ ॥

जनमेजय ने कहा हे ब्रह्मन् ! देव, दानव, राक्षस अप्सरा और गन्धर्वों के अंशावतरण की कथा अच्छी तरह मैंने आपसे सुनी। अब आप से कुरुवंश की कथा आदि से विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं। यह सुन कर वैशम्पायन ने कहा हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ जनमेजय ! पुरुवंश का बढ़ानेवाला चारों ओर समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का रक्षक बड़ा पराक्रमवाला दुष्यन्त नामवाला राजा था। उसने सब पृथ्वी को समुद्र की सीमा और म्लेच्छों के देश की अवधि तक जीतकर अपने वश में किया और उसका राज्य अनेक भोगों से युक्त था। उसके राज्य में न वर्णसंकर उत्पन्न होता था, न खेती होती थी और न ही पाप होता था। हे जनमेजय ! राजा दुष्यन्त के शासन समय में सब मनुष्य धर्म में प्रीति रखते थे और धर्म, अर्थ को पाते थे ॥१।७॥

उसके राज्य में चोरी नहीं होती थी। मनुष्यों को क्षुधा और व्याधि का भय नहीं होता था। चारों वर्ण अपना अपना कार्य करते थे। इन्द्र समय

स्वधर्मे रेमिरे वर्णा दैवे कर्मणि निस्पृहाः ।
तमाश्रित्य महीपालमासंश्चैवाकुतोभयाः ॥ ९ ॥
कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि रसवन्ति च ।
सर्वरत्नसमृद्धा च मही पशुमती तथा ॥ १० ॥
स्वकर्मनिरता विप्रा नानृतं तेषु विद्यते ।
स चाद्भुतमहावीर्यो वज्रसंहननो युवा ॥ ११ ॥
उद्यम्य मन्दरं दोर्भ्यां वहेत्सवनकाननम् ।
चतुष्पथगदायुद्धे सर्वप्रहरणेषु च ॥ १२ ॥
नागपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च बभूव परिनिष्ठितः ।
बले विष्णुसमश्चासीत्तेजसा भास्करोपमः ॥ १३ ॥
अक्षोभ्यत्वेऽर्णवसमः सहिष्णुत्वे धरासमः ।
संमतः स महीपालः प्रसन्नपुरराष्ट्रवान् ॥ १४ ॥
भूयो धर्मपरैर्भावैर्मुदितं जनमादिशत् ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि शाकुंतलोपाख्याने अष्टषष्टितमोऽध्याय ॥ ६८ ॥

पर वर्षा करता था और पृथ्वी पर धान्य और पशु अच्छीतरह उत्पन्न होते थे। ब्राह्मण लोग अपना कर्म ठीक करते थे और मिथ्या कभी नहीं बोलते थे। वह तरुण राजा दुष्यन्त ऐसा पराक्रमी और दृढ था कि, जल और वनों सहित मंदराचलपर्वत को उठाने का साहस रखता था। चार प्रकार के गदायुद्ध, सब शस्त्रों के चलाने और हाथी और घोडे की सवारी में बडा चतुर था। वह राजा बल में विष्णु और तेज सूर्य के समान था और गंभीरता में समुद्र के समान और क्षमा में पृथ्वी के समान था। प्रजा उसको बहुत चाहती थी और वह प्रजा का पालन धर्म से करता था ॥८।१५॥

आदिपर्व का अडसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकोनसप्ततितमोऽध्याय. ॥ ६९ ॥

जनमेजय उवाच— संभवं भरतस्याहं चरितं च महामतेः ।
शकुन्तलायाश्चोत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

॥ उनहत्तरवां अध्याय ६९ ॥

यह सुनकर राजा जनमेजय बोला कि, मैं भरत जी के जन्म, चरित्र और शकुन्तला की उत्पत्ति का वृत्तान्त विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं। वीर दुष्यन्त को जैसे शकुन्तला प्राप्त हुई, पुरुषसिंह की उस

दुष्यन्तेन च वीरेण यथा प्राप्ता शकुंतला ।
तं वै पुरुषसिंहस्य भगवन्विस्तरं त्वहम् ॥ २ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वज्ञ सर्वं मतिमतां वर ।
वैशम्पायन उवाच—स कदाचिन्महाबाहुः प्रभूतबलवाहनः ॥ ३ ॥
वनं जगाम गहनं हयनागशतैर्वृतः ।
बलेन चतुरङ्गेण वृतः परमवल्गुना ॥ ४ ॥
खड्गशक्तिधरैर्वीरैर्गदामुसलपाणिभिः ।
प्रासतोमरहस्तैश्च ययौ योधशतैर्वृतः ॥ ५ ॥
सिंहनादैश्च योधानां शंखदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
रथनेमिस्वनैश्चैव सनागवरबृंहितैः ॥ ६ ॥
नानायुधधरैश्चापि नानावेषधरैस्तथा ।
हेषितस्वनमिश्रैश्च क्ष्वेडितास्फोटितस्वनैः ॥ ७ ॥
आसीत्किलकिलाशब्दस्तस्मिन्गच्छति पार्थिवे ।
प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया नृपशोभया ॥ ८ ॥
ददृशुस्तं स्त्रियस्तत्र शूरमात्मयशस्करम् ।
शक्रोपमममित्रघ्नं परवारणवारणम् ॥ ९ ॥
पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र वज्रपाणिं स्म मेनिरे ।
अयं स पुरुषव्याघ्रो रणे वसुपराक्रमः ॥ १० ॥

कथा को भी विस्तार से सुनना चाहता हूं। वैशम्पायन ने कहा एक समय वह बड़ी भुजावाला राजा दुष्यन्त बहुत सी चतुरङ्गिणी सेना और बड़े बड़े शूरवीर जो खड्ग, शक्ति आदि अनेक शस्त्र लिये हुए थे, साथ लेकर वनमें अहेर खेलने गया। उस राजा के वन को जाते समय शूरवीरों के सिंहनाद और ताल मारने के शब्द, शंख और नगाड़ों की ध्वनि, हाथियों की चिंघार और रथों की झनझनाहट, नाना प्रकार के आयुधों को धारण किये और अनेक प्रकार के वेष धारण किये हुए वीरों के खड्ग ठोकने और गर्जना के शब्द घोड़ों की आवाज़ से मिले हुए बड़े भारी किलकिलाहट शब्द हुए बड़े बड़े महलों के ऊपर चढ़ी हुई स्त्रियों ने उत्तम राजशोभा से युक्त अपने यश के बढ़ानेवाले इन्द्र के सदृश शत्रुनाशी, संग्राम से शत्रु के हाथियों को हटानेवाले, उस शूरवीर राजा दुष्यन्त को देखा ॥१-१०॥

उस राजा पर फूलों की वर्षा की और स्त्रियां

यस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः ।
इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा नराधिपम् ॥ ११ ॥
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टीश्च ससृजुस्तस्य मूर्धनि ।
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रैः स्तूयमानः समन्ततः ॥ १२ ॥
निर्ययौ परमप्रीत्या वनं मृगजिघांसया ।
तं देवराजप्रतिमं मत्तवारणधूर्गतम् ॥ १३ ॥
द्विजक्षत्रियविट्शूद्रा निर्यान्तमनुजग्मिरे ।
ददृशुर्वर्धमानास्ते आशीर्भिश्च जयेन च ॥ १४ ॥
सुदूरमनुजग्मुस्तं पौरजानपदास्तथा ।
न्यवर्तन्त ततः पश्चादनुज्ञाता नृपेण ह ॥ १५ ॥
सुपर्णप्रतिमेनाथ रथेन वसुधाधिपः ।
महीमापूरयामास घोषेण त्रिदिवं तथा ॥ १६ ॥
स गच्छन्ददृशे धीमान्नन्दनप्रतिमं वनम् ।
बिल्वार्कखदिराकीर्णं कपित्थधवसंकुलम् ॥ १७ ॥
विषमं पर्वतप्रस्थैरश्मभिश्च समावृतम् ।
निर्जलं निर्मनुष्यं च बहुयोजनमायतम् ॥ १८ ॥
मृगसिंहैर्वृतं घोरैरन्यैश्चापि वनेचरैः ।
तद्वनं मनुजव्याघ्रः सभृत्यबलवाहनः ॥ १९ ॥

आपस में कहने लगीं कि, यह इन्द्र के समान वही राजा दुष्यन्त है जिसका पराक्रम संग्राम में वसुदेवता के समान है और जिसके सम्मुख कोई शत्रु नहीं ठहर सकता। राजा उन स्त्रियों की प्रशंसा से प्रसन्न होता हुआ और ब्राह्मणों से स्तुति सुनता हुआ हाथी पर सवार वन को चला। राजा के पीछे पीछे जो पुरवासी लोग आशीर्वाद देने और जय बोलने जाते थे वह राजा की आज्ञा पाकर लौट गये। राजा के गरुड़ के वेग सदृश रथ के शब्द से पृथ्वी और आकाशमण्डल पूरित हो गया ॥१०।१६॥

बुद्धिमान् राजा दुष्यन्त ने जाते हुए नन्दन-वन के समान बिल्व, अर्क, खदिर, कैथा, धौ आदि अनेक उत्तम उत्तम वृक्ष लगे हुए थे जहां तहा ऊंचे नीचे पत्थरों के ढेरों से पृथ्वी वहां की विषम हो रही थी न वहां जल था न मनुष्य, मृग और सिंह आदि अनेक वन के जीव फिरते थे, देखा। सेना और वाहन से युक्त पुरुषों में व्याघ्र राजा दुष्यन्त ने अनेक प्रकार के मृगों को मारकर वन को व्याकुल

लोडयामास दुष्यन्तः सूदयन्विविधान्मृगान् ।
बाणगोचरसंप्राप्तांस्तत्र व्याघ्रगणान्बहून् ॥ २० ॥
पातयामास दुष्यन्तो निर्बिभेद च सायकैः ।
दूरस्थान्सायकैः कांश्चिदभिनत्स नराधिपः ॥ २१ ॥
अभ्याशमागतांश्चान्यान्खड्गेन निरकृन्तत ।
कांश्चिदेणान्समाजघ्ने शक्त्या शक्तिमतां वरः ॥ २२ ॥
गदामण्डलतत्त्वज्ञश्चचारामितविक्रमः ।
तोमरैरसिभिश्चापि गदामुसलकम्पनैः ॥ २३ ॥
चचार स विनिघ्नन्वै वन्यांस्तत्र मृगद्विजान् ।
राज्ञा चाद्भुतवीर्येण योधैश्च समरप्रियैः ॥ २४ ॥
लोड्यमानं महारण्यं तत्यजुः स्म मृगाधिपाः ।
तत्र विद्रुतयूथानि हतयूथपतीनि च ॥ २५ ॥
मृगयूथान्यथौत्सुक्याच्छब्दं चक्रुस्ततस्ततः ।
शुष्काश्चापि नदीर्गत्वा जलनैराश्यकर्शिताः ॥ २६ ॥
व्यायामक्लान्तहृदयाः पतन्ति स्म विचेतसः ।
क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च पतिता भुवि ॥ २७ ॥
केचित्तत्र नरव्याघ्रैरभक्ष्यन्त बुभुक्षितैः ।
केचिदग्निमथोत्पाद्य संसाध्य च वनेचराः ॥ २८ ॥

कर दिया और बाण के सम्मुख आये हुए व्याघ्रों को छेदकर गिरा दिया और दूरवर्ती मृगों को बाणों से मारा। समीपवर्ती मृगों को तलवार से काटा। बलवानों में श्रेष्ठ राजा दुष्यन्त ने किसी किसी को शक्ति से मारा ॥१७।२२॥

गदायुद्ध के तत्त्व जाननेवाले अनुपम पराक्रम-वाले राजा ने वनमें इस प्रकार गमन किया। तोमर, तलवार, गदा और मूसलों के घुमाने से उस वनमें अनेक प्रकार के मृग और पक्षियों को मारा। अद्भुत पराक्रमवाले राजा और समाम में प्रेमी योधाओं से व्याकुल हुए वनको शेरों ने छोड दिया। मृगों के झुंड के झुंड अपने स्वामी के नष्ट होने पर इधर उधर शब्द करने लगे। जलरहित नदियों में जाकर जल से निराश होकर परिश्रम से घबराये हुए मृग अचेत होकर गिरने लगे। भूख और प्यास से व्याकुल मृग पृथ्वी पर गिर गये। कोई कोई मृग भूखे बलवान् पुरुषों ने खा लिये और किसी किसी ने मास को अग्नि पर पकाकर खाया। कोई जगली

भक्षयन्ति स्म मांसानि प्रकृत्य विधिवत्तदा ।
तत्र केचिद्गजा मत्ता वलिनः शस्त्रविक्षताः ॥ २९ ॥
संकोच्याग्रकरान्भीताः प्राद्रवन्ति स्म वेगिताः ।
शकृन्मूत्रं सृजन्तश्च क्षरन्तः शोणितं बहु ॥ ३० ॥
वन्या गजवरास्तत्र ममृदुर्मनुजान्बहून् ।
तद्वनं बलमेघेन शरधारेण संवृतम् ।
व्यरोचत मृगाकीर्णं राजा हतमृगाधिपम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

हाथी शस्त्रों से घायल सूंड को सकोड़कर भय से मूत्र-विष्ठा और रुधिर गिराते हुए भागे। जंगली हाथियों ने बहुत लोगों को पगों से कुचल डाला। वह वन सेनारूपी मेघ की बाणरूपी जलधारा से युक्त राजा से मारे हुए मृग और शेरों से शोभित हुआ ॥२९,३१॥

आदिपर्व का उनहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो मृगसहस्राणि हत्वा सबलवाहनः ।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद्विवेश ह ॥ १ ॥
एक एवोत्तमबलः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ।
स वनस्यान्तमासाद्य महच्छून्यं समासदत् ॥ २ ॥
तच्चाप्यतीत्य नृपतिरुत्तमाश्रमसंयुतम् ।
मनः प्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च ॥ ३ ॥
शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यन्महद्वनम् ।
पुष्पितैः पादपैः कीर्णमतीव सुखशाद्वलम् ॥ ४ ॥
विपुलं मधुरारावैर्नादितं विहगैस्तथा ।
पुंस्कोकिलनिनादैश्च झिल्लीकगणनादितम् ॥ ५ ॥

॥ सत्तरवां अध्याय ७० ॥

वैशम्पायन बोले—राजा दुष्यन्त इस प्रकार से हजारों मृगों को उस वनमें मारकर और अहेर करने की इच्छा से भूखा प्यासा उस वनको छोड़कर आगे को चला। वनके अन्त में एक बड़ा शून्य स्थान देखा। राजा वहां से भी आगे को चला गया और फिर एक दूसरे वनमें पहुंचा जहां शीतल

प्रवृद्धविटपैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ।
षट्पदाघूर्णिततलं लक्ष्म्या परमया युतम् ॥ ६ ॥
नापुष्पः पादपः कश्चिन्नाफलो नापि कण्टकी ।
षट्पदैर्नाप्यपाकीर्णस्तस्मिन्वै काननेऽभवत् ॥ ७ ॥
विहगैर्नादितं पुष्पैरलंकृतमतीव च ।
सर्वर्तुकुसुमैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ॥ ८ ॥
मनोरमं महेष्वासो विवेश वनमुत्तमम् ।
मारुताकलितास्तत्र द्रुमाः कुसुमशाखिनः ॥ ९ ॥
पुष्पवृष्टिं विचित्रां तु व्यसृजंस्ते पुनः पुनः ।
दिवस्पृशोऽथ संघुष्टाः पक्षिभिर्मधुरस्वनैः ॥ १० ॥
विरेजुः पादपास्तत्र विचित्रकुसुमाम्बराः ।
तेषां तत्र प्रवालेषु पुष्पभारावनामिषु ॥ ११ ॥
रुवन्ति रावान्मधुरान्षट्पदा मधुलिप्सवः ।
तत्र प्रदेशांश्च बहून्कुसुमोत्करमण्डितान् ॥ १२ ॥
लतागृहपरिक्षिप्तान्मनसः प्रीतिवर्धनान् ।
संपश्यन्सुमहातेजा बभूव मुदितस्तदा ॥ १३ ॥
परस्पराश्लिष्टशाखैः पादपैः कुसुमान्वितैः ।
अशोभत वनं तत्तु महेन्द्रध्वजसंनिभैः ॥ १४ ॥

मन्द सुगन्ध वायु चल रही थी, अनेक रङ्गों के फूल खिल रहे थे । कोकिला आदि बहुत से पक्षी मधुर मधुर बोलिया बोल रहे थे । वृक्षों की छाया अत्यन्त सघनी थी । भौंरे इधर उधर गूंज रहे थे । ऐसा कोई वृक्ष न था, जिसपर फल फूल और भौंरे न थे ॥१।७॥

राजा उस वन की अति अद्भुत शोभा को देखता हुआ वनमें चला । उसके जाने से वृक्षों पर से फूल टूट-टूटकर राजा के ऊपर गिरने लगे, मानों वृक्ष राजा पर फूलों की वर्षा कर रहे हैं । राजा पक्षियों के चहचहाट को सुनता, वृक्षों की झुकी हुई डालियों पर गूंजते हुए भौंरों की शोभा को देखता हुआ फलरूपी वस्त्रों को पहिरे हुए वृक्षों की सुगंधि को सूंघता हुआ, इन्द्र की ध्वजा के समान ऊंचे वृक्षों की डालियों के आपस में मिलने की शोभा को निरखता हुआ और बहुत से स्थानों मे सिद्ध चारणों का समूह, अप्सराओं के गण, गंधर्व और किन्नर आदिकों को दृष्टि करता हुआ वनमें

सिद्धचारणसंघैश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
सेवितं वनमत्यर्थं मत्तवानरकिन्नरम् ॥ १५ ॥
सुखः शीतः सुगन्धी च पुष्परेणुवहोऽनिलः ।
परिक्रामन्वने वृक्षानुपैतीव रिरंसया ॥ १६ ॥
एवंगुणसमायुक्तं ददर्श स वनं नृपः ।
नदीकच्छोद्भवं कान्तमुच्छ्रितध्वजसन्निभम् ॥ १७ ॥
प्रेक्षमाणो वनं तत्तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम् ।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम् ॥ १८ ॥
नानावृक्षसमाकीर्णं संप्रज्वलितपावकम् ।
तं तदाऽप्रतिमं श्रीमानाश्रमं प्रत्यपूजयत् ॥ १९ ॥
यतिभिर्वालखिल्यैश्च वृतं मुनिगणान्वितम् ।
अग्न्यगारैश्च बहुभिः पुष्पसंस्तरसंस्तृतम् ॥ २० ॥
महाकच्छैर्बृहद्भिश्च विभ्राजितमतीव च ।
मालिनीमभितो राजन्नदीं पुण्यां सुखोदकाम ॥ २१ ॥
नैकपक्षिगणाकीर्णां तपोवनमनोरमाम् ।
तत्र व्यालमृगान्सौम्यान्पश्यन्प्रीतिमवाप सः ॥ २२ ॥
तं चाप्रतिरथः श्रीमानाश्रमं प्रत्यपद्यत ।
देवलोकप्रतीकाशं सर्वतः सुमनोहरम् ॥ २३ ॥
नदीं चाश्रमसंश्लिष्टां पुण्यतोयां ददर्श सः ।
सर्वप्राणभृतां तत्र जननीमिव धिष्टिताम् ॥ २४ ॥

उत्तम चलती हुई वायु को खाता हुआ और उस नदी के किनारे के ऊंचे वृक्षों की शोभा को देखता हुआ उस वनमें चला जाता था ॥८।१६॥

थोड़ी दूर जाकर राजा ने उस वनमें एक आश्रम अतिश्रेष्ठ जहां सुन्दर सुन्दर नाना प्रकार के वृक्ष लगे हुए थे, पक्षी मधुर बोलियां बोल रहे थे और अग्निकुण्डों में अग्नि जल रही थी, देखा। उस राजा ने उस अनुपम आश्रम को देखकर बड़ी स्तुति की। वह आश्रम जो मालनी नदी के किनारे पर वालखिल्य ऋषियों और बहुत से सन्यासियों के गणों से युक्त था और उस नदी के वृक्ष, पक्षी और मृग आदि की शोभा से प्रसन्न होता हुआ

सचक्रवाकपुलिनां पुष्पफेनप्रवाहिनीम् ।
सकिन्नरगणावासां वानरर्क्षनिषेविताम् ॥ २५ ॥
पुण्यस्वाध्यायसंघुष्टां पुलिनैरुपशोभिताम् ।
मत्तवारणशार्दूलभुजगेंद्रनिषेविताम् ॥ २६ ॥
तस्यास्तीरे भगवतः काश्यपस्य महात्मनः ।
आश्रमप्रवरं रम्यं महर्षिगणसेवितम् ॥ २७ ॥
नदीमाश्रमसंबद्धां दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं तथा ।
चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा ॥ २८ ॥
अलंकृतं द्वीपवत्या मालिन्या रम्यतीरया ।
नरनारायणस्थानं गंगयेवोपशोभितम् ॥ २९ ॥
मत्तबर्हिणसंघुष्टं प्रविवेश महद्वनम् ।
तत्स चैत्ररथप्रख्यं समुपेत्य नरर्षभः ॥ ३० ॥
अतीवगुणसंपन्नमनिर्देश्यं च वर्चसा ।
महर्षिं काश्यपं द्रष्टुमथ कण्वं तपोधनम् ॥ ३१ ॥
ध्वजिनीमश्वसंबाधां पदातिगजसंकुलाम् ।
अवस्थाप्य वनद्वारि सेनामिदमुवाच सः ॥ ३२ ॥
मुनिं विरजसं द्रष्टुं गमिष्यामि तपोधनम् ।
काश्यपं स्थीयतामत्र यावदागमनं मम ॥ ३३ ॥

वह राजा उस सुन्दर और देवलोक के तुल्य आश्रम में गया ॥१७।२३॥

जब राजा उस आश्रम के पास पहुचा तब देखता क्या है कि, वह नदी उस आश्रम के किनारे से लगी हुई शब्द करती हुई बह रही है । चक्रवाक आदि जलपक्षी और जल के जीव कल्लोल कर रहे हैं और वानर, रीछ, किन्नर, शार्दूल, सर्पराज और मतवाले हाथी क्रीड़ा कर रहे हैं । तब राजा दुष्यन्त ने उस नदी के किनारे महात्मा भगवान् कश्यपजी के श्रेष्ठ, मनोहर, महर्षियों से सेवित आश्रम और निकटवर्ती नदी को देखकर उसमें जाने का निश्चय किया । उस आश्रम की शोभा नदी के होने से ऐसी थी, जैसे बदरिकाश्रम की शोभा गंगा से है । राजा ने उस आश्रम में कश्यपजी के दर्शन करने को जाने की अभिलाषा से अपनी सेना के मनुष्यों से कहा कि, तुम लोग यहां ठहरो, हम कश्यपजी के दर्शनों को जाते हैं जबतक हम न आवें, तबतक यहीं न जाना । आप राजर्षियों

तद्वनं नन्दनप्रख्यमासाद्य मनुजेश्वरः ।
क्षुत्पिपासे जहौ राजा मुदं चावाप पुष्कलाम् ॥ ३४ ॥
सामात्यो राजलिङ्गानि सोऽपनीय नराधिपः ।
पुरोहितसहायश्च जगामाश्रममुत्तमम् ॥ ३५ ॥
दिदृक्षुस्तत्र तमृषिं तपोराशिमथाव्ययम् ।
ब्रह्मलोकप्रतीकाशमाश्रमं सोऽभिवीक्ष्य ह ।
षट्पदोद्गीतसंघुष्टं नानाद्विजगणायुतम् ॥ ३६ ॥
ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः ।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ॥ ३७ ॥
यज्ञविद्याङ्गविद्भिश्च यजुर्विद्भिश्च शोभितम् ।
मधुरैः सामगीतैश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः ॥ ३८ ॥
भारुण्डसामगीताभिरथर्वशिरसोद्गतैः ।
यतात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाऽऽश्रमः ॥ ३९ ॥
अथर्ववेदप्रवराः पूगयज्ञियसामगाः ।
संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते ॥ ४० ॥
शब्दसंस्कारसंयुक्तैर्ब्रुवद्भिश्चापरैर्द्विजैः ।
नादितः स बभौ श्रीमान्ब्रह्मलोक इवापरः ॥ ४१ ॥
यज्ञसंस्तरविद्भिश्च क्रमशिक्षाविशारदैः ।
न्यायतत्त्वात्मविज्ञानसंपन्नैर्वेदपारगैः ॥ ४२ ॥

को दूर करके अपने साथ मन्त्री और पुरोहित को लेकर उस आश्रम में गया। राजा वहा की शोभा को देखकर भूख-प्यास सब भूल गया ॥२५।३४॥

जब राजा आश्रम के भीतर पहुचा तब देखता क्या है कि, वहा यज्ञ हो रहा है। ऋषि और ब्राह्मणलोग सामवेद, ऋग्वेद यजुर्वेद और अथर्वण वेदों के मन्त्रा को पद क्रम धन आदि अलङ्कारों से पढ रहे है। कोई संहिता का पाठ कर रहा है। बहुत से ऋषिलोग जो यज्ञों की क्रिया में निपुण, न्यायतत्त्व और आत्म-विज्ञान में सम्पन्न, समाहार में विशारद थे और मोक्षधर्म अपनी बात को स्थापन करना, दूसरे के मत को खडन करना और सिद्धान्त मत को कहना, इनके परमज्ञाता शब्द और छन्द की निरुक्ति को जाननेवाले काल का ज्ञान करनेवाले द्रव्य, कर्म, गुण और वानर वा पक्षियों की बोली समझनेवाले और बड़े बड़े मर्थों का विचार करने-

नानावाक्यसमाहारसमवायविशारदैः ।
विशेषकार्यविद्भिश्च मोक्षधर्मपरायणैः ॥ ४३ ॥
स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतैः ।
शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः ॥ ४४ ॥
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः ।
कपिपक्षिरुतज्ञैश्च व्यासग्रन्थसमाश्रितैः ॥ ४५ ॥
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम् ।
लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम् ॥ ४६ ॥
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रा न्नियतान्संशितव्रतान् ।
जपहोमपरान्विप्रान्ददर्श परवीरहा ॥ ४७ ॥
आसनानि विचित्राणि रुचिराणि महीपतिः ।
प्रयत्नोपहितानि स्म दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ॥ ४८ ॥
देवतायतनानां च प्रेक्ष्य पूजां कृतां द्विजैः ।
ब्रह्मलोकस्थमात्मानं मेने स नृपसत्तमः ॥ ४९ ॥
स काश्यपतपोगुप्तमाश्रमप्रवरं शुभम् ।
नातृप्यत्प्रेक्षमाणो वै तपोवनगुणैर्युतम् ॥ ५० ॥
स काश्यपस्यायतनं महाव्रतैर्वृतं समन्तादृषिभिस्तपोधनैः ।
विवेश सामात्यपुरोहितोऽरिहा विविक्तमत्यर्थमनोहरं शुभम् ॥ ५१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने सप्ततितमोऽध्याय ॥ ७० ॥

वाले थे आपस में वार्तालाप कर रहे थे। राजा ने उनकी वाणी को सुनकर और शासितव्रत अनेक ब्राह्मणों को उत्तम उत्तम आसनों पर बैठे हुए जप और होम में परायण और देवमंदिरों में ब्राह्मणों की की हुई स्तुति को देखकर यह समझा कि, मैं इस समय ब्रह्मलोक में हूं ॥३५।४९॥

राजा उस आश्रम की शोभा को देखकर तृप्त नहीं होता था। इसके उपरान्त उस आश्रम में राजमंत्री और पुरोहित के साथ किसी एकान्त और अत्यन्त सुन्दर स्थान के समीप पहुंचा ॥५१॥

आदिपर्व का सत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकसप्ततितमोऽध्याय ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान्विसृज्यतान् ।
नाऽपश्यच्चाऽऽश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥ १ ॥
सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाऽऽश्रमम् ।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं सन्नादयन्निव ॥ २ ॥
श्रुत्वाऽथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी ।
निश्चक्रामाऽऽश्रमात्तस्मात्तापसीवेषधारिणी ॥ ३ ॥
सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा ।
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥ ४ ॥
आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि ।
पप्रच्छानामयं राजन्कुशलं च नराधिपम् ॥ ५ ॥
यथावदर्चयित्वाऽथ पृष्ट्वा चानामयं तदा ।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ॥ ६ ॥
तामब्रवीत्ततो राजा कन्यां मधुरभाषिणीम् ।
दृष्ट्वा चैवानवद्याङ्गीं यथावत्प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥
आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम् ।
क्व गतो भगवान्भद्रे तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥ ८ ॥
शकुन्तलोवाच—गतः पिता मे भगवान्फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं संप्रतीक्षस्व द्रष्टास्येनमुपागतम् ॥ ९ ॥

॥ इकहत्तरवा अध्याय ७१ ॥

वैशम्पायन ने कहा–इसके पश्चात उस बड़ी भुजावाले राजा दुष्यन्त ने आश्रम में जाकर उस उत्तम व्रतवाले ऋषि को न देखा। उस राजा ने ऊंचे स्वर मे कहा यहा कौन है ? इस शब्द को सुनकर लक्ष्मी के समान रूपवाली तपस्वी के वेष मे एक कन्या निकली। वह उत्तम नेत्रवाली कन्या राजा दुष्यन्त को देखते ही सत्कार करके स्वागत-शब्द बोली। आसन, पाद्य, और अर्घ से राजा का पूजनकर उसके राज्य की कुशल पूछी। इसके उपरान्त मुसकराते हुए बोली कि, आपका क्या कार्य किया जावे। कन्या से यथार्थ रीति से सत्कार किये हुए राजाने उस मधुर शब्द बोलनेवाली कन्या से कहा–मैं बड़े भागवाले कण्वऋषि के दर्शनों को यहा आया था। हे भद्रे ! वह ऋषि कहा है ? ॥१।८॥

वैशम्पायन उवाच—अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तया च सः ।
तां दृष्ट्वा च वरारोहां श्रीमतीं चारुहासिनीम् ॥ १० ॥
विभ्राजमानां वपुषा तपसा च दमेन च ।
रूपयौवनसंपन्नामित्युवाच महीपतिः ॥ ११ ॥
का त्वं कस्याऽसि सुश्रोणि किमर्थं चागता वनम् ।
एवंरूपगुणोपेता कुतस्त्वमसि शोभने ॥ १२ ॥
दर्शनादेव हि शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥ १३ ॥
एवमुक्ता तु सा कन्या तेन राज्ञा तमाश्रमे ।
उवाच हसती वाक्यमिदं सुमधुराक्षरम् ॥ १४ ॥
कण्वस्याऽहं भगवतो दुष्यन्त दुहिता मता ।
तपस्विनो धृतिमतो धर्मज्ञस्य महात्मनः ॥ १५ ॥
दुष्यन्त उवाच—ऊर्ध्वरेता महाभागे भगवाँल्लोकपूजितः ।
चलेद्धि वृत्ताद्धर्मोऽपि न चलेत्संशितव्रतः ॥ १६ ॥
कथं त्वं तस्य दुहिता संभूता वरवर्णिनी ।
संशयो मे महानत्र तन्मे छेत्तुमिहार्हसि ॥ १७ ॥
शकुन्तलोवाच—यथाऽयमागमो मह्यं यथा चेदमभूत्पुरा ।
श्रृणु राजन्यथातत्त्वं यथाऽस्मि दुहिता मुनेः ॥ १८ ॥

यह सुनकर उस शकुन्तला ने कहा कि, मेरा पिता भगवान् ऋषि फल लेने को आश्रम से गया है। थोड़ी देर ठहरने से उस ऋषि का दर्शन होगा। ऋषि को न देखकर और उस शकुन्तला से यह सुनकर राजा ने सुन्दर जघावाली, हास्ययुक्तदेह, तप और जितेन्द्रियता से प्रकाशमान्, रूप और यौवन अवस्था को देखकर कहा हे सुन्दर कमर वाली ! तू कौन है ? किसकी बेटी है ? और कहा से और किस लिये इस वनमें आई है ? हे शुभे ! तूने अपने दर्शनमात्र ही से मेरे मन को हर लिया है, इस कारण मे मै तुझको जानना चाहता हू ॥१०।१३॥

यह सुनकर वह कन्या हँसती हुई मधुर बोली से बोली—मै धैर्यवान, धर्मज्ञ, तपस्वी कण्वऋषि की पुत्री हू। राजा दुष्यन्त ने कहा—हे महाभागे ! ससार मे पूजित भगवान् कण्वऋषि नित्यब्रह्मचारी है, चाहे धर्म अपनी मर्यादा से पृथक् हो जाये परन्तु वह उत्तम व्रत रखनेवाला ब्रह्मचर्य से पृथक्

ऋषिः कश्चिदिहागम्य मम जन्माभ्यचोदयत् ।
तस्मै प्रोवाच भगवान्यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ १९ ॥
कण्व उवाच—तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत्तपः ।
सुभृशं तापयामास शक्रं सुरगणेश्वरम् ॥ २० ॥
तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति ।
भीतः पुरंदरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥
गुणैरप्सरसां दिव्यैर्मेनके त्वं विशिष्यसे ।
श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २२ ॥
असावादित्यसंकाशो विश्वामित्रो महातपाः ।
तप्यमानस्तपो घोरं मम कम्पयते मनः ॥ २३ ॥
मेनके तव भारोऽयं विश्वामित्रः सुमध्यमे ।
शंसितात्मा सुदुर्धर्ष उग्रे तपसि वर्त्तते ॥ २४ ॥
स मां न च्यावयेत्स्थानात्तन्वै गत्वा प्रलोभय ।
चर तस्य तपोविघ्नं कुरु मेऽविघ्नमुत्तमम् ॥ २५ ॥
रूपयौवनमाधुर्यचेष्टितस्मितभाषणैः ।
लोभयित्वा वरारोहे तपसस्तं निवर्तय ॥ २६ ॥
मेनकोवाच—महातेजाः स भगवांस्तथैव च महातपाः ।
कोपनश्च तथा ह्येनं जानाति भगवानपि ॥ २७ ॥

नहीं हो सकता । हे मधुरभाषिणी ! तू किसप्रकार उसकी कन्या हुई, मेरे इस सन्देह को दूर कर । शकुन्तला ने कहा—मैं अपने जन्म और ऋषि की पुत्री होने का वृत्तान्त वर्णन करती हूं ॥१४।१८॥

एक समय एक ऋषि यहां आये थे, उन्होंने कण्वऋषि से मेरे जन्म का हाल सुना था, वही मैं तुमसे कहती हूं । पहिले किसी समय में विश्वामित्र ने बड़ा उग्रतप किया था, उनके तप को देख कर इन्द्र को अपने इन्द्रासन के छिन जाने का भय हुआ और उसने इस भय से मेनका अप्सरा को बुलाकर कहा कि, हम तुझको सब अप्सराओं से गुण में विशेष समझते हैं । हे कल्याणि ! हमारा एक कार्य है उसको तू सुन । यह सूर्य के समान प्रकाशमान, बड़ा तपस्वी विश्वामित्र घोर तप करता हुआ मेरे मन को कँपाता है । हे मेनका ! यह विश्वामित्र तेरे वश का है और पवित्रात्मा किसी से न तिरस्कार किये जानेवाला उग्रतप कर रहा है, वह मुझको स्वर्ग से न भ्रष्ट करे, इस कारण

तेजसस्तपसश्चैव कोपस्य च महात्मनः ।
त्वमप्युद्विजसे यस्य नोद्विजेयमहं कथम् ॥ २८ ॥
महाभागं वसिष्ठं यः पुत्रैरिष्टैर्व्ययोजयत् ।
क्षत्रजातश्च यः पूर्वमभवद्ब्राह्मणो बलात् ॥ २९ ॥
शौचार्थं यो नदीं चक्रे दुर्गमां बहुभिर्जलैः ।
यां तां पुण्यतमां लोके कौशिकीति विदुर्जनाः ॥ ३० ॥
बभार यत्रास्य पुरा काले दुर्गे महात्मनः ।
दारान्मतङ्गो धर्मात्मा राजर्षिर्व्याधतां गतः ॥ ३१ ॥
अतीतकाले दुर्भिक्षे अभ्येत्य पुनराश्रमम् ।
मुनिः पारेति नद्या वै नाम चक्रे तदा प्रभुः ॥ ३२ ॥
मतङ्गं याजयाञ्चक्रे यत्र प्रीतमनाः स्वयम् ।
त्वं च सोमं भयाद्यस्य गतः पातुं सुरेश्वर ॥ ३३ ॥
चकारान्यञ्च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा ।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ।
गुरुशापहतस्यापि त्रिशङ्कोः शरणं ददौ ॥ ३४ ॥
एतानि यस्य कर्माणि तस्याहं भृशमुद्विजे ।
यथाऽसौ न दहेत्क्रुद्धस्तथाज्ञापय मां विभो ॥ ३५ ॥

उसको लोभ दे और उसके तप में विघ्न डालकर मुझको निश्चिन्त कर । हे उत्तम जघावाली ! तू रूप, यौवन अवस्था, मधुरता, चेष्टा, हास्य, भाषणादि से उस मुनि को लोभ देकर तप से भ्रष्ट कर । मेनका अप्सरा ने कहा वह भगवान् विश्वामित्र ऋषि बड़ा तपस्वी, क्रोधी और तेजस्वी है, आप भी उनसे डरते हैं फिर मेरे डरने में क्या सदेह है ॥१९।२८॥

हे महाराज ! यह विश्वामित्र ऋषि वही हैं जिन्होंने वसिष्ठजी के सब पुत्र मारडाले और तप के बल से क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए । इन्होंने ही शौच के कारण अपने तप के प्रभाव से बहुत जलवाली दुर्गम नदी को उत्पन्न किया, जिस पवित्र नदी को सासारिक मनुष्य कौशिकी कहते हैं । जिसके किनारे पर किसी समय अकाल पड़ने पर राजर्षि मतङ्ग ने उनके कुटुम्ब की स्त्रियों का पालन किया था, जोकि व्याध हो गया था । दुर्भिक्ष के व्यतीत होने पर फिर आश्रम में कौशिकी नदी के पार आकर इस महात्मा ने उन्हीं का नाम कौशिकी रक्खा ॥२०।३२॥

उसी स्थान पर प्रसन्नचित्त होकर मतङ्ग को यज्ञ कराया । हे इन्द्र ! उस यज्ञ में आप सोम

तेजसा निर्दहेल्लोकान्कम्पयेद्धरणीं पदा ।
संक्षिपेच्च महामेरुं तूर्णमावर्तयेद्दिशः ॥ ३६ ॥
तादृशं तपसा युक्तं प्रदीप्तमिव पावकम् ।
कथमस्मद्विधा नारी जितेन्द्रियमभिस्पृशेत् ॥ ३७ ॥
हुताशनमुखं दीप्तं सूर्यचन्द्राक्षितारकम् ।
कालजिह्वं सुरश्रेष्ठ कथमस्मद्विधा स्पृशेत् ॥ ३८ ॥
यमश्च सोमश्च महर्षयश्च साध्या विश्वे वालखिल्याश्च सर्वे ।
एतेऽपि यस्योद्विजन्ते प्रभावात्तस्मात्कस्मान्मादृशी नोद्विजेत ॥ ३९ ॥
त्वयैवमुक्ता च कथं समीपमृषेर्न गच्छेयमहं सुरेन्द्र ।
रक्षां तु मे चिन्तय देवराज यथा त्वदर्थं रक्षिताऽहं चरेयम् ॥ ४० ॥
कामं तु मे मारुतस्तत्र वासः प्रक्रीडिताया विवृणोतु देव ।
भवेच्च मे मन्मथस्तत्र कार्ये सहायभूतस्तु तव प्रसादात् ॥ ४१ ॥
वनाच्च वायुः सुरभिः प्रवायात्तस्मिन्काले तमृषिं लोभयन्त्याः ।
तथेत्युक्त्वा विहिते चैव तस्मिंस्ततो ययौ साश्रमं कौशिकस्य ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

र्षि को भयभीत होकर गये थे । इन्हीं विश्वामित्र ने क्रोधित होकर दूसरे लोक की रचना करने को नक्षत्रों को बनाया था । ऐसे कर्मवाले विश्वामित्र से मुझे बड़ा भय है । हे इन्द्र ! आप ऐसा उपाय करो जिससे वह क्रुद्ध होकर मुझको भस्म न करे । वह अपने तेज से तीनों लोकों को भस्म कर सकता है, पृथ्वी को अपने पगों से हिला सकता है, सुमेरु पर्वत को फेंक सकता है और दिशाओं को शीघ्र ही एक कर सकता है । ऐसे तपस्वी जितेन्द्रिय, अग्नि के समान प्रज्वलित को मैं किसप्रकार स्पर्श कर सकूँगी ॥ ३३।३७ ॥

जिसका मुख अग्नि, नेत्र, सूर्य, चन्द्रमा और तारा जिह्वा काल के समान है । मेरी सामर्थ्य उसको छूने की नहीं है । तुम भी तो विचार करो कि, जिसके प्रभाव से यमराज चन्द्रमा महर्षि, विश्वेदेवा और वालखिल्य ऋषि डरते हैं उनके सम्मुख मुझ-सी स्त्री की क्या सामर्थ्य है । इसमें आप मेरी सहायता के लिये वायु और कामदेव को भी मेरे साथ कर दीजिये जिससे वायु मेरे वस्त्रों को उड़ा कर मुझको नग्न करदे इन्द्र ने वायु और कामदेव को मेनका की सहायता करने की आज्ञा दी और वह सहायकों को लेकर इन्द्र का काम करने के लिये वहां से विश्वामित्र ऋषि के आश्रम को गई ॥ ३८।४२ ॥

आदिपर्व का इकहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

कण्व उवाच—एवमुक्तस्तया शक्रः संदिदेश सदागतिम् ।
प्रातिष्ठत तदा काले मेनका वायुना सह ॥ १ ॥
अथापश्यद्वरारोहा तपसा दग्धकिल्बिषम् ।
विश्वामित्रं तप्यमानं मेनका भीरुराश्रमे ॥ २ ॥
अभिवाद्य ततः सा तं प्राक्रीडदृषिसंनिधौ ।
अपोवाह च वासोऽस्या मारुतः शशिसन्निभम् ॥ ३ ॥
साऽगच्छत्त्वरिता भूमिं वासस्तदभिलिप्सती ।
स्मयमानेव सव्रीडं मारुतं वरवर्णिनी ॥ ४ ॥
पश्यतस्तस्त्र तत्रर्षेरप्यग्निसमतेजसः ।
विश्वामित्रस्ततस्तां तु विषमस्थामनिन्दिताम् ॥ ५ ॥
गृद्धां वाससि संभ्रान्तां मेनकां मुनिसत्तमः ।
अनिर्देश्यवयोरूपामपश्यद्विवृतां तदा ॥ ६ ॥
तस्या रूपगुणान्दृष्ट्वा स तु विप्रर्षभस्तदा ।
चकार भावं संसर्गात्तया कामवशं गतः ॥ ७ ॥
न्यमन्त्रयत चाप्येनां सा चाप्यैच्छदनिन्दिता ।
तौ तत्र सुचिरं कालमुभौ व्यहरतां तदा ॥ ८ ॥
रममाणौ यथाकामं यथैकदिवसं तथा ।
जनयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम् ॥ ९ ॥

॥ बहत्तरवां अध्याय ७२ ॥

कण्वऋषि ने कहा- इस प्रकार मेनका के कहने पर इन्द्र ने वायु को आज्ञा दी और वायु के साथ मेनका गई । उस उत्तम जघावाली डरती हुई मेनका ने आश्रम में उस ऋषि को जिसके पाप तपस्या के बल से नष्ट हो गये थे, तप करते हुए देखा । तत्पश्चात् वह अप्सरा ऋषि को प्रणाम कर उसके समीप क्रीड़ा करने लगी । वायु ने उसके चन्द्रमा के समान प्रकाशमान् वस्त्रों को उड़ा दिया और वह नंगी होकर वस्त्र पकड़ने को लज्जा से वायु पर हंसती और दौड़ती हुई विश्वामित्र जी के सम्मुख गई । अग्नि के समान तेजस्वी विश्वामित्र उसके वयरूप अनिन्दित और नंगे शरीर को देखकर कामदेव की सहायता से काम के वश में हुए । विश्वामित्रजी ने उसको अपने समीप बुलाया और

प्रस्थे हिमवतो रम्ये मालिनीमभितो नदीम् ।
जातमुत्सृज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु ॥ १० ॥
कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम् ।
तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात्पर्यवारयन् ।
नेमां हिंस्युर्वने बालां क्रव्यादा मांसगृद्धिनः ॥ १२ ॥
पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम् ।
उपस्प्रष्टुं गतश्चाहमपश्यं शयितामिमाम् ॥ १३ ॥
निर्जने विपिने रम्ये शकुन्तैः परिवारिताम् ।
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्यवेशयम् ॥ १४ ॥
शरीरकृत्प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते ।
क्रमेणैते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मशासने ॥ १५ ॥
निर्जने तु वने यस्माच्छकुन्तैः परिवारिता ।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया ॥ १६ ॥
एवं दुहितरं विद्धि मम विप्र शकुन्तलाम् ।
शकुन्तला च पितरं मन्यते मामनिन्दिता ॥ १७ ॥

वह उत्तम स्वरूपवाली भी अपनी इच्छा प्रकट करने लगी । उन दोनों ने बहुत काल तक विहार किया ॥१।८॥

वह अप्सरा उनके पास बहुत दिन तक रही और उन दोनों ने आपस में ऐसा विहार दीर्घकाल तक किया । एक एक वर्ष एक एक दिन के समान प्रतीत होता था । थोड़े दिनों के पीछे हिमालय के शिखर पर मालिनी नदी के पास उस मेनका ने शकुन्तला नाम की कन्या को उत्पन्न किया । वह अप्सरा देवताओं का कार्य सिद्ध जानकर उस कन्या को मालिनी नदी के किनारे छोड़कर वहा से इन्द्र लोक को चली गई । उस बालक को सिंह और व्याघ्र से भरे निर्जन वनमें सोये हुए देखकर पक्षियों ने उसे चारों ओर से घेर लिया और मांसाहारी जीवों से उसकी रक्षा की । उसी समय मैं कण्वऋषि भी वहा सन्ध्योपासन करने के निमित्त नदी के किनारे आये । उस कन्या को पक्षियों से रक्षित देखकर अपने आश्रम में ले आये और पुत्रीभाव मानकर उसका पालन किया ॥९।१४॥

शरीर का उत्पन्न करनेवाला, प्राणों का रक्षक और अन्न देनेवाला यह तीन पिता धर्मशास्त्र में कहे हैं । इस कारण से हे राजा ! कण्वऋषि मेरे पिता हैं और मुझमें पुत्रीभाव और मैं उनमें पिताभाव मानती हूँ । मेरा नाम ऋषि ने शकुन्तला इस कारण

शकुन्तलोवाच—एतदाचष्ट पृष्टः सन्मम जन्म महर्षये ।
सुतां कण्वस्य मामेव विद्धि त्वं मनुजाधिप ॥ १८ ॥
कण्वं हि पितरं मन्ये पितरं स्वमजानती ।
इति ते कथितं राजन्यथावृत्तं श्रुतं मया ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि शकुंतलोपाख्याने द्विसप्ततितमोऽध्याय ॥ ७२ ॥

से रक्खा था कि, वनमें शकुंत अर्थात् पक्षियों ने मेरी रक्षा की थी। यह कहकर शकुतला बोली—हे राजन्! मैंने अपने जन्म का हाल जैसा सुना था तुमसे कहा। मुझको तुम कण्वऋषि ही की पुत्री जानो क्योंकि मै उन्हीं को अपना पिता जानती हू ॥१५।१९॥

आदिपर्व का बहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

दुष्यन्त उवाच—सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे ।
भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥
सुवर्णमालां वासांसि कुण्डले परिहाटके ।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभते ॥ २ ॥
आहरामि तवाद्याहं निष्कादीन्यजिनानि च ।
सर्वराज्यं तवाद्यास्तु भार्या मे भव शोभने ॥ ३ ॥
गान्धर्वेण च मां भीरु विवाहेनैहि सुंदरि ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४ ॥
शकुन्तलोवाच—फलाहारो गतो राजन्पिता मे इत आश्रमात् ।
मुहूर्त्तं संप्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति ॥ ५ ॥

॥ तिहत्तरवां अध्याय ७३ ॥

राजा दुष्यन्त बोला हे कल्याणि! तेरे जन्म का हाल सुनने से मुझको यह निश्चय प्रतीत होता है कि, तू राजपुत्री है इससे मैं चाहता हू कि तू मेरी स्त्री होजा और कह मैं तेरा क्या प्रिय कार्य करू। सोने की माला, उत्तम वस्त्र, सोने के कुण्डल, अनेक देशों में उत्पन्न शोभायमान मणि और रत्न सोने के भूषण, उत्तम मृगचर्म, सम्पूर्ण राज्य जो कुछ तुझको चाहिये सो ले परन्तु मेरी भार्या होना स्वीकार कर। हे भीरु सुन्दरी! विवाहों में गांधर्वविवाह श्रेष्ठ कहा है इस कारण से तू अब गान्धर्वविवाह के द्वारा मुझको विवाह ले। शकुन्तला ने कहा-हे राजन्! इस आश्रम से मेरा पिता फल लाने गया है आया ही चाहता है वह निश्चय मेरा विवाह तुम्हारे साथ कर देगा ॥१।५॥

दुष्यन्त उवाच—इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते ।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि त्वद्गतं हि मनो मम ॥ ६ ॥
आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः ।
आत्मनैवात्मनो दानं कर्त्तुमर्हसि धर्मतः ॥ ७ ॥
अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः ।
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ॥ ८ ॥
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमः स्मृतः ।
तेषां धर्म्यान्यथापूर्वं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥
प्रशस्तांश्चतुरः पूर्वान्ब्राह्मणस्योपधारय ।
षडानुपूर्व्या क्षत्रस्य विद्धि धर्म्याननिन्दिते ॥ १० ॥
राज्ञां तु राक्षसोऽप्युक्तो विट्शूद्रेष्वासुरः स्मृतः ।
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या अधर्म्यौ द्वौ स्मृताविह ॥ ११ ॥
पैशाच आसुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कदाचन ।
अनेन विधिना कार्यो धर्मस्यैषा गतिः स्मृता ॥ १२ ॥
गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रे धर्म्यौ तौ मा विशङ्किथाः ।
पृथग्वा यदि वा मिश्रौ कर्त्तव्यौ नात्र संशयः ॥ १३ ॥
सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनी ।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि ॥ १४ ॥

दुष्यन्त ने कहा—हे उत्तम जंघावाली अनिन्दिते। तू अभी मेरी इच्छा पूर्ण कर। मैं तेरे लिये यहां ठहरा हुआ हूं और मेरा चित्त तुझमें ही लगा हुआ है। अपना बन्धु और अपनी गति अपना आत्मा है। अपने शरीर का दान धर्म से करना चाहिये। संक्षेप से धर्मानुसार आठ प्रकार के विवाह कहे हैं ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच। इन आठों विवाहों को स्वायम्भुवमनु ने धर्म से कहा है। इनमें से पहले चार विवाह ब्राह्मण के लिये उत्तम हैं। हे अनिन्दिते! पहिले छै विवाह क्षत्रिय के लिये हैं ॥६।१०॥

राजाओं को राक्षसविवाह भी कहा है, वैश्य और शूद्र के लिये आसुरविवाह भी कहा है। पहले पांचों में तीन विवाह धर्मरूप और दो विवाह अधर्मरूप हैं। पैशाच और असुरविवाह कदापि न करे, इस विधि से विवाह करना धर्म की परम-गति है। क्षत्रियों को गान्धर्व और राक्षसविवाह करना धर्मरूप है, इसमें मैं काम के वश में हो रहा

शकुन्तलोवाच—यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम ।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ॥ १५ ॥
सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः ।
मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरः ॥ १६ ॥
युवराजो महाराज सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे संगमस्त्वया ॥ १७ ॥
वैशंपायन उवाच—एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाविचारयन् ।
अपि च त्वां हि नेष्यामि नगरं स्वं शुचिस्मिते ॥ १८ ॥
यथा त्वमर्हा सुश्रोणि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम् ॥ १९ ॥
जग्राह विधिवत्पाणावुवास च तया सह ।
विश्वास्य चैनां स प्रायाद्ब्रवीच्च पुनः पुनः ॥ २० ॥
प्रेषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ।
तया त्वानाययिष्यामि निवासं स्वं शुचिस्मिते ॥ २१ ॥
वैशम्पायन उवाच इति तस्याः प्रतिश्रुत्य स नृपो जनमेजय ।
मनसा चिन्तयन्प्रायात्काश्यपं प्रति पार्थिवः ॥ २२ ॥
भगवांस्तपसा युक्तः श्रुत्वा किं नु करिष्यति ।
एवं स चिन्तयन्नेव प्रविवेश स्वकं पुरम् ॥ २३ ॥

हूँ और तू भी कामदेव के वश में है हमारे तेरे गान्धर्व विवाह होने में कुछ दोष नहीं, तू इसको अङ्गीकार कर। यह सुनकर शकुन्तला ने कहा कि जो तुम्हारी बात धर्मयुक्त है और इसमें कुछ अधर्म नहीं है, तो मैं अपनी आत्मा का दान इस नियम पर कर सकती हूँ कि, जो मेरा पुत्र उत्पन्न होवे वह आपके पीछे राजा होवे ॥१५।१७॥

वैशम्पायन ने कहा बिना विचारे राजा ने शकुन्तला से ऐसा ही हो कहा। हे सुन्दर हास्ययुक्त ! मैं तुझसे सत्य कहता हूँ कि, तेरा सम्मान तेरी योग्यतानुसार करके नगर में रक्खूंगा। यह कह उस राजर्षि ने विधिपूर्वक शकुन्तला का पाणिग्रहण किया। इसके पश्चात् राजा शकुन्तला को बार बार यह विश्वास देकर कि, मैं तुझको चतुरङ्गिनी सेना भेजकर अपने राजमन्दिर में बुलाऊंगा, चला गया। वैशम्पायन ने कहा-हे जनमेजय ! इस प्रकार शकुन्तला से प्रतिज्ञा कर मनमें कण्वऋषि को विचारता हुआ राजा दुष्यन्त चला गया॥१८।२३॥

मुहूर्त्तयाते तस्मिंस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत् ।
शकुन्तला च पितरं ह्रियानोपजगाम तम् ॥ २४ ॥
विज्ञायाथ च तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः ।
उवाच भगवान्प्रीतः पश्यन्दिव्येन चक्षुषा ॥ २५ ॥
त्वयाऽद्य भद्रे रहसि मामनादृत्य यः कृतः ।
पुंसा सह समायोगो न स धर्मोपघातकः ॥ २६ ॥
क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते ।
सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः ॥ २७ ॥
धर्मात्मा च महात्मा च दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः ।
अभ्यगच्छः पतिं यत्त्वं भजमानं शकुन्तले ॥ २८ ॥
महात्मा जनिता लोके पुत्रस्तव महाबलः ।
य इमां सागरापांगीं कृत्स्नां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥ २९ ॥
परं चाभिप्रयातस्य चक्रं तस्य महात्मनः ।
भविष्यत्यप्रतिहतं सततं चक्रवर्त्तिनः ॥ ३० ॥
ततः प्रक्षाल्य पादौ सा विश्रान्तं मुनिमब्रवीत् ।
विनिधाय ततो भारं सन्निधाय फलानि च ॥ ३१ ॥
शकुन्तलोवाच--मया पतिर्वृतो राजा दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः ।
तस्मै ससचिवाय त्वं प्रसादं कर्त्तुमर्हसि ॥ ३२ ॥

भगवान् कण्वऋषि तपस्या से युक्त है। वह इस मेरे वृत्तान्त को सुनकर न जाने क्या करे। इस प्रकार सोचते हुए, राजा ने अपने नगर में प्रवेश किया। राजा के चले जाने पर कण्वऋषि अपने आश्रम में आये और शकुन्तला लज्जा के मारे पिता के समीप न गई। बड़े तपस्वी कण्वऋषि ने दिव्यदृष्टि से उस विषय को जान लिया और प्रसन्नतापूर्वक कहा—हे भद्रे ! तूने मेरा निरादर करके एकात में पुरुष के साथ भोग किया है परन्तु वह धर्मनाशक नहीं है। सकाम क्षत्रिय स्त्री पुरुषों का गान्धर्वविवाह एकान्त में विना मन्त्रोच्चारण के श्रेष्ठ कहा है। धर्मात्मा और महात्मा पुरुषों में श्रेष्ठ राजा दुष्यन्त ने इच्छा से तुझको प्राप्त किया। इस कारण लोक में महाबली और महात्मा पुत्र उत्पन्न होगा और समुद्र-पर्य्यन्त पृथ्वी पर राज्य करेगा। उसकी सेना सदैव जय प्राप्त करेगी इस कारण वह चक्रवर्ती कहलावेगा ॥२३।३०॥

इसके पश्चात् शकुन्तला ने मुनि से फल आदि

कण्व उवाच—प्रसन्न एव तस्याहं त्वत्कृते वरवर्णिनि ।
गृहाण च वरं मत्तस्त्वं शुभे यदभीप्सितम् ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो धर्मिष्ठतां वव्रे राज्याच्चास्खलनं तथा ।
शकुन्तला पौरवाणां दुष्यन्तहितकाम्यया ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

ले लिये और रखकर उनके चरण धोये । जब ऋषि अपने आसन पर बैठ गये, तब शकुन्तला ने कहा कि, पुरुषों में श्रेष्ठ राजा दुष्यन्त को मैंने अपना पति बनाया है, आप मन्त्रियों सहित राजा पर कृपा कीजिये । कण्वऋषि ने कहा—हे मधुरभाषिणी ! तेरे कारण मैं राजा दुष्यन्त से प्रसन्न ही हूं । हे शुभे ! जो तेरी इच्छा हो सो मुझसे माग । वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! शकुन्तला ने दुष्यन्त के हित की इच्छा से पुरुवंशियों के राज्य और धर्म की स्थिति का वर माँगा ॥३१।३४॥

आदिपर्व का तेहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रतिज्ञाय तु दुष्यन्ते प्रतियाते शकुन्तला ।
गर्भं सुषाव वामोरुः कुमारममितौजसम् ॥ १ ॥
त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु दीप्तानलसमद्युतिम् ।
रूपौदार्यगुणोपेतं दौष्यन्तिं जनमेजय ॥ २ ॥
जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः ।
विधिवत्कारयामास वर्धमानस्य धीमतः ॥ ३ ॥
दन्तैः शुक्लैः शिखरिभिः सिंहसंहननो महान् ।
चक्रांकितकरः श्रीमान्महामूर्धा महाबलः ॥ ४ ॥
कुमारो देवगर्भाभः स तत्राशु व्यवर्धत ।
षड्वर्ष एव बालः स कण्वाश्रमपदं प्रति ॥ ५ ॥

। चौहत्तरवां अध्याय ७४ ॥

वैशम्पायन ने कहा दुष्यन्त के प्रतिज्ञा करके जाने के तीन वर्ष पीछे प्रदीप्त अग्नि के समान बड़ा तेजस्वी पुत्र राजा दुष्यन्त के वीर्य से सुन्दरी शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न हुआ । उस पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ कण्वऋषि ने उसके जातकर्म आदि संस्कार विधिपूर्वक किये । उस बालक के दांत उजले और चमकते हुए थे । गति सिंह के समान, हाथ में शङ्ख, चक्र, गदा और मत्स्य रेखा पड़ी थी, शोभा-

सिंहव्याघ्रान्वराहांश्च महिषांश्च गजांस्तथा ।
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः ॥ ६ ॥
आरोहन्दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति ।
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः ॥ ७ ॥
अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ॥ ८ ॥
विक्रमेणौजसा चैव बलेन च समन्वितः ।
तं कुमारमृषिर्दृष्ट्वा कर्म चास्यातिमानुषम् ॥ ९ ॥
समयो यौवराज्यायेत्यब्रवीच्च शकुन्तलाम् ।
तस्य तद्बलमाज्ञाय कण्वः शिष्यानुवाच ह ॥ १० ॥
शकुन्तलामिमां शीघ्रं सहपुत्रामितो गृहात् ।
भर्तुः प्रापयतागारं सर्वलक्षणपूजिताम् ॥ ११ ॥
नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ॥ १२ ॥
तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्त महौजसः ।
शकुन्तलां पुरस्कृत्य सपुत्रां गजसाह्वयम् ॥ १३ ॥
गृहीत्वामरगर्भाभं पुत्रं कमललोचनम् ।
आजगाम ततः सुभ्रूर्दुष्यन्तं विदिताद्वनात् ॥ १४ ॥

युक्त, बलवान, देवताओं के गर्भ के समान कान्ति वाला उस आश्रम में शीघ्र बढ़ने लगा। छः वर्ष की उमर में वह सिंह, व्याघ्र, वाराह, भैंसे और हाथियों को पकड़कर मुनि के आश्रम के पास वृक्षों में बांधता था ॥१।६॥

वह बालक किसी पर चढ़ता, किसी को दण्ड देता, किसी के साथ खेलता हुआ आश्रम में फिरता था। आश्रमवासियों ने उसका नाम सर्वदमन रक्खा क्योंकि वह सबको बल से दमन करता था।

कण्वऋषि ने विक्रम, तेज और बलयुक्त शक्ति से बाहिर काम को देखकर शकुन्तला से कहा कि, यह बालक अब युवराज होने के योग्य है और उसके पराक्रम को देखकर ऋषि ने अपने शिष्यों से कहा ॥७।१०॥

सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त शकुन्तला को पुत्र सहित मेरे आश्रम से ले जाकर शीघ्र इसके पति के पास पहुँचाओ। स्त्रियों का भाई-बान्धवों के घर में रहना कीर्ति, धर्म और शील का नाश करना

अभिसृत्य च राजानं विदिता च प्रवेशिता ।
सह तेनैव पुत्रेण बालार्कसमतेजसा ॥ १५ ॥
निवेदयित्वा ते सर्वे आश्रमं पुनरागताः ।
पूजयित्वा यथान्यायमब्रवीच्च शकुन्तला ॥ १६ ॥
अयं पुत्रस्त्वया राजन्यौवराज्येऽभिषिच्यताम् ।
त्वया ह्ययं सुतो राजन्मय्युत्पन्नः सुरोपमः ।
यथासमयमेतस्मिन्वर्त्तस्व पुरुषोत्तम ॥ १७ ॥
यथा मत्सङ्गमे पूर्वं यः कृतः समयस्तथा ।
त स्मरस्व महाभाग कण्वाश्रमपदं प्रति ॥ १८ ॥
सोऽथ श्रुत्वैव तद्वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि ।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसी ॥ १९ ॥
धर्मकामार्थसंबन्धं न स्मरामि त्वया सह ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद्वापीच्छसि तत्कुरु ॥ २० ॥
सैवमुक्ता वरारोहा व्रीडितेव तपस्विनी ।
निःसंज्ञेव च दुःखेन तस्थौ स्थूणेव निश्चला ॥ २१ ॥
संरम्भामर्षताम्राक्षी स्फुरमाणोष्ठसंपुटा ।
कटाक्षैर्निर्दहन्तीव तिर्यग्राजानमैक्षत ॥ २२ ॥

है, इस कारण इसे शीघ्र ले जाओ। शिष्यों ने 'ऐसा ही हो' कहकर शकुन्तला को पुत्र सहित हस्तिनापुर ले गये। देवताओं के सदृश कान्तिवाले कमललोचन पुत्र को लेकर वन में मिले हुए राजा दुष्यन्त के पास शकुन्तला गई। राजा को खबर कराकर घर में प्रवेश कराई हुई उदय होते हुए सूर्य के समान पुत्रवाली शकुन्तला उसके पास गई। ऋषि के शिष्य राजा दुष्यन्त से कहकर वापस आश्रम को चले गये. शकुन्तला ने यथायोग्य सत्कार करके कहा: हे राजन्! इस पुत्र को युवराज बनाओ। आपके वीर्य से यह मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ है। हे पुरुषों में श्रेष्ठ! अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इस पुत्र से बर्ताव करो। हे महाभाग! कण्वऋषि के आश्रम में मेरा आपका संगम हुआ था और आपने उस समय यह प्रतिज्ञा की थी, उस प्रतिज्ञा को याद करो। प्रतिज्ञा याद दिलाने पर भी राजा ने कहा कि, मुझको कुछ स्मरण नहीं है। हे दुष्ट तपस्विनी! तू किसकी कन्या है? मुझे तेरे साथ कोई धर्म, अर्थ या काम का सम्बन्ध नहीं हुआ है। तू अपनी इच्छानुसार यहां रह या चली जा या

आकारं गूहमाना च मन्युना च समीरिता ।
तपसा संभृतं तेजो धारयामास वै तदा ॥ २३ ॥
सा मुहूर्त्तमिव ध्यात्वा दुःखामर्षसमन्विता ।
भर्तारमभिसंप्रेक्ष्य क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
जानन्नपि महाराज कस्मादेवं प्रभाषसे ।
न जानामीति निःशङ्कं यथाऽन्यः प्राकृतो जनः ॥ २५ ॥
अत्र ते हृदयं वेद सत्यस्यैवानृतस्य च ।
कल्याणं वद साक्ष्येण माऽऽत्मानमवमन्यथाः ॥ २६ ॥
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥ २७ ॥
एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम् ।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि ॥ २८ ॥
मन्यते पापकं कृत्वा न कश्चिद्वेत्ति मामिति ।
विदन्ति चैनं देवाश्च यश्चैवान्तरपूरुषः ॥ २९ ॥
आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ ३० ॥
यमो वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम् ।
हृदि स्थितः कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति ॥ ३१ ॥

जो चाहे सो कर ॥११-२०॥

वह उत्तम जयावाली तपस्विनी इस प्रकार राजा के कहने पर लज्जा से बेचैन हो खंभे के समान निश्चल खड़ी रह गई। क्रोध से नेत्र लाल हो गये, होठ फड़कने लगे और राजा की ओर तिरछी दृष्टि से देखने लगी, मानो उसको भस्म कर देगी। क्रोध के सदोष आकार को छिपाती हुई तपस्या से संचित तेजको उसने प्रकाश किया। दुःख और क्रोध से व्याकुल शकुन्तला ने कुछ देर सोचकर क्रोध से पति की ओर देखकर यह कहा- हे महाराज! आपने सब वृत्तान्त जानते हुए भी साधारण मनुष्य के समान यह कैसे कहा कि, मुझको कुछ याद नहीं। आपका हृदय सत्य और असत्य को जानता है। जो मनुष्य असत्य व्यवहार करता है वह सब पापों के करने का भागी होता है। हे राजन्! आप यह जानते हो कि, मैं अकेला था मेरे मुख से निकले हुए वचनों को कोई नहीं जानता है, परन्तु यह नहीं समझते कि, वह अन-

न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः ।
तं यमः पापकर्माणं निर्यातयति दुष्कृतम् ॥ ३२ ॥
योऽवमन्यात्मनात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्यात्माऽपि न कारणम् ॥ ३३ ॥
स्वयं प्राप्तेति मामेवं मावमंस्थाः पतिव्रताम् ।
अर्चार्हां नार्चयसि मां स्वयं भार्यामुपस्थिताम् ॥ ३४ ॥
किमर्थं मां प्राकृतवदुपप्रेक्षसि संसदि ।
न खल्वहमिदं शून्ये रौमि किं न शृणोषि मे ॥ ३५ ॥
यदि मे याचमानाया वचनं न करिष्यसि ।
दुष्यन्त शतधा मूर्धा ततस्तेऽद्य स्फुटिष्यति ॥ ३६ ॥
भार्यां पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः ।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः ॥ ३७ ॥
यदागमवतः पुंसस्तदपत्यं प्रजायते ।
तत्तारयति संतत्या पूर्वप्रेतान्पितामहान् ॥ ३८ ॥
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ ३९ ॥

र्यामी परमात्मा जो सबके हृदय में विराजमान् है, सब जानता है और सब कर्मों का साक्षी है । इसके सिवाय सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, हृदय, यम, दिन, रात्रि, दोनों सन्ध्या और मनुष्यों के कृत्य को जानते हैं ॥२१।३०॥

जिसका हृदय में स्थित कर्मों का साक्षी सतुष्ट होता है, उसके पापों को यमराज दूर कर देते हैं और जिसका यह कर्मों का साक्षी सतुष्ट नहीं होता उसको यमराज दण्ड देते हैं । आप जो अपने किये हुए कर्म को न मानकर अपना अपमान करते हैं, इनमें आपका देवता भला नहीं करेंगे । इस कारण से आपका आत्मा भी श्रेयकारक नहीं होगा । हे राजन् ! मैं आपकी पतिव्रता स्त्री आपके पास आई हुई हू । आप मेरा सबके सम्मुख तिरस्कार करते हैं और मेरे कहने पर कुछ ध्यान नहीं करते इसका क्या कारण है ? क्या आप सुनते नहीं है ॥२१।३५॥

हे राजा दुष्यन्त ! यदि इतने पर भी आप मेरे कहे पर ध्यान न देंगे तो याद रखिए आपके सिर के सौ टुकड़े हो जायँगे । वेदशास्त्र के जानने-वालों ने स्पष्टरूप से कहा है कि, पति भार्या के उदर में प्रवेश करके आपही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है इसीसे स्त्री को जाया कहते हैं । धर्मपत्नी में जो पुत्र उत्पन्न होता है वह वंश बढ़ाकर पूर्व पुरुषों का उद्धार करता है । वह पुत्र पिता और

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पौत्रस्य पुत्रेण मोदन्ते प्रपितामहाः ॥ ४० ॥
सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥ ४१ ॥
अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥ ४२ ॥
भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः ।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियाऽन्विताः ॥ ४३ ॥
सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः ॥ ४४ ॥
कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै ।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद्दाराः परा गतिः ॥ ४५ ॥
संसरन्तमपि प्रेतं विषमेष्वेकपातिनम् ।
भार्यैवान्वेति भर्त्तारं सततं या पतिव्रता ॥ ४६ ॥
प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते ।
पूर्वं मृतं च भर्तारं पश्चात्साध्व्यनुगच्छति ॥ ४७ ॥

सब पितरों को पुन्नाम नरक से रक्षा करता है। इस कारण से उसको पुत्र कहते हैं। भार्या वास्तव में वही है, जो चतुर पुत्रवाली और पतिव्रता हो और पति को प्राणों के समान चाहे। भार्या पुरुष का आधा अङ्ग है। भार्या से ही धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि होती है। भार्या ही संसार से तारने की मूल है ॥३६।४१॥

पुरुष भार्या के विना धर्म-कर्म नहीं कर सकता है। भार्या के होने से ही पुरुष गृहस्थी कहलाता है। भार्या से ही पुरुष आनन्दित और लक्ष्मीयुक्त होता है। प्रिय बोलनेवाली स्त्री एकान्त में मित्र की तरह सुख देती है। धर्म कर्म में पिता की तरह लगाती है और दुःख आदि के समय माता की तरह सेवा करती है। स्त्री साथ में रहने से मनुष्य जङ्गल में भी सुख से रह सकता है। स्त्री के न होने से उस पर कोई विश्वास नहीं करता। इसलिये स्त्री ही मनुष्य की परमगति है ॥४२।४४॥

विपत्तिकाल में और मरने पर पतिव्रता भार्या ही पुरुष का साथ देती है। प्रथम परलोक को गई हुई भार्या पति की प्रतीक्षा करती है; किन्तु पति जो पहिले मर जाता है तो वह उसी समय उसके साथ परलोक सिधारती है। हे राजन्! पति को भार्या इस लोक और परलोक में प्राप्त होती है इसी कारण विवाह की इच्छा की जाती है। विद्वानों

एतस्मात्कारणाद्राजन्पाणिग्रहणमिष्यते ।
यदाप्नोति पतिर्भार्यामिहलोके परत्र च ॥ ४८ ॥
आत्मात्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ।
तस्माद्भार्यां नरः पश्येन्मातृवत्पुत्रमातरम् ॥ ४९ ॥
भार्यायां जनितं पुत्रमादर्शेष्विव चाननम् ।
ह्लादते जनिता प्रेक्ष्य स्वर्गं प्राप्येव पुण्यकृत् ॥ ५० ॥
दह्यमाना मनोदुःखैर्व्याधिभिश्चातुरा नराः ।
ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्ताः सलिलेष्विव ॥ ५१ ॥
सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः ।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि ॥ ५२ ॥
आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम् ।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम् ॥ ५३ ॥
प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः ।
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥ ५४ ॥
स त्वं स्वयमभिप्राप्तं साभिलाषमिमं सुतम् ।
प्रेक्ष्यमाणं कटाक्षेण किमर्थमवमन्यसे ॥ ५५ ॥
अण्डानि बिभ्रति स्वानि न भिन्दन्ति पिपीलिकाः ।
न भरेथाः कथं नु त्वं धर्मज्ञः सन्स्वमात्मजम् ॥ ५६ ॥

का यह कथन है कि, पुरुष पुत्ररूप से आप ही स्त्री में उत्पन्न होता है, इस कारण पुत्रवती स्त्री का माता के समान आदर करना चाहिये। जैसे स्वर्ग को पाकर पुण्य की प्रसन्नता होती है, वैसे पिता अपने पुत्र को दर्पण में अपने मुख की तरह देखकर आनन्दित होता है ॥४८।४९॥

जैसे धूप से जला हुआ मनुष्य जल से मिलने से प्रसन्न होता है, वैसे ही शरीर की पीड़ा और मन के सन्ताप से व्याकुल पुरुष स्त्री के संग से शान्ति पाता है। सुख, प्रसन्नता और धर्म को स्त्रियों के अधीन देखकर क्रोध के वशीभूत होकर भी पुरुष स्त्रियों का अप्रिय न करे। स्त्रियों से ही पुरुष पैदा होते है—वे ही पुरुषों की उत्पत्ति का पवित्र और नित्य स्थान है। स्त्रियों के बिना बड़े बड़े ऋषि भी प्रजा उत्पन्न नहीं कर सकते ॥५०।५२॥

पृथ्वी की धूल से लिपटा हुआ बालक दौड़कर पिता से मिलता है, तब उससे अधिक क्या सुख है। फिर क्या कारण है, जो आप अपने इस

न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः ।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः ॥ ५७ ॥
ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ॥ ५८ ॥
स्पृशतु त्वां समाश्लिष्य पुत्रोऽयं प्रियदर्शनः ।
पुत्रस्पर्शात्सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ॥ ५९ ॥
त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु प्रजाताहमरिंदम ।
इमं कुमारं राजेन्द्र तव शोकविनाशनम् ॥ ६० ॥
आहर्त्ता वाजिमेधस्य शतसङ्ख्यस्य पौरव ।
इति वागंतरिक्षे मां सूतकेऽभ्यवदत्पुरा ॥ ६१ ॥
ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद्ग्रामान्तरं गताः ।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनंदन्ति मानवाः ॥ ६२ ॥
वेदेष्वपि वदंतीमं मंत्रग्रामं द्विजातयः ।
जातकर्मणि पुत्राणां तवापि विदितं तथा ॥ ६३ ॥
अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ६४ ॥

पुत्र का निरादर करते हो ? हे महाराज ! चींटियां भी अपने अंडों की रक्षा करती हैं और कुसमय नहीं फोड़तीं । आप धर्मज्ञ और समर्थवान् होते हुए भी पुत्र का अनादर कर रहे हैं । मनुष्य को वस्त्र, स्त्री और जल को हृदय में लगाने से ऐसा आनन्द नहीं होता, जैसा पुत्र को गोद में लेने से होता है ॥५३।५७॥

जैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, चौपायों में गाय और पुरुषों में गुरु श्रेष्ठ है, वैसे ही स्पर्श वस्तुओं में पुत्र श्रेष्ठ है । इसमें आप अपने इस पुत्र को छाती से लगा लीजिये । इस संसार में पुत्र-स्पर्श से बढ़कर सुख नहीं है । हे शत्रुनाशी ! तीन वर्ष पूर्ण होने पर मैंने आपके शोक को दूर करनेवाले इस पुत्र को उत्पन्न किया है । हे पुरुवंशी ! इसके प्रसव होने पर आकाशवाणी हुई थी कि, यह लड़का सौ अश्वमेघयज्ञ करेगा ॥५८।६०॥

परदेश जाते हुए पुरुष पुत्र को गोद में बिठाते और उसका माथा सूंघकर आनन्दित होते हैं । आप जानते हैं कि, ब्राह्मण पुत्रों के जातकर्म संस्कार में वेद के मंत्रों को पढ़ते हैं । हे पुत्र ! तुम केवल नाम मात्र को मुझसे अलग हो । तुम मेरे आत्मा ही हो । तुम्हारी पूरे सौ वर्ष की आयु हो । हे पुत्र ! मेरा जीवन और वंश तुम्हारे अधीन है । तुम सुख से पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहो । हे राजन् ! यह

जीवितं त्वदधीनं मे संतानमपि चाक्षयम् ।
तस्मात्त्वं जीव मे पुत्र सुसुखी शरदां शतम् ॥ ६५ ॥
त्वदङ्गेभ्यः प्रसूतोऽयं पुरुषात्पुरुषोऽपरः ।
सरसीवामले त्मानं द्वितीयं पश्य वै सुतम् ॥ ६६ ॥
यथा ह्याहवनीयोऽग्निर्गार्हपत्यात्प्रणीयते ।
तथा त्वत्तः प्रसूतोऽयं त्वमेकः सन्द्विधाकृतः ॥ ६७ ॥
मृगावकृष्टेन पुरा मृगयां परिधावता ।
अहमासादिता राजन्कुमारी पितुराश्रमे ॥ ६८ ॥
उर्वशी पूर्वचित्तिश्च सहजन्या च मेनका ।
विश्वाची च घृताची च षडेवाप्सरसां वराः ॥ ६९ ॥
तासां सा मेनका नाम ब्रह्मयोनिर्वराप्सराः ।
दिवः संप्राप्य जगतीं विश्वामित्रादजीजनत् ॥ ७० ॥
सा मां हिमवतः प्रस्थे सुषुवे मेनकाप्सराः ।
अवकीर्य च मां याता परात्मजमिवासती ॥ ७१ ॥
किं नु कर्माशुभं पूर्वं कृतवत्यन्यजन्मनि ।
यदहं वान्धवैस्त्यक्ता वाल्ये संप्रति च त्वया ॥ ७२ ॥
कामं त्वया परित्यक्ता गमिष्यामि स्वमाश्रमम् ।
इमं तु वालं संत्यक्तुं नार्हस्यात्मजमात्मनः ॥ ७३ ॥

आपकी दूसरी देह अर्थात् पुत्र आपके सब अङ्गों मे उत्पन्न हुआ है । आपको इसे जल मे प्रतिविम्ब के समान समझना चाहिये । यह पुत्र तुमसे ऐसे उत्पन्न हुआ है, जैसे गार्हपत्य नाम अग्नि से आहवनीय अग्नि उत्पन्न की जाती है अर्थात् आपके एक स्वरूप के इस पुत्र के होने मे दो स्वरूप हो गये ॥६१।६६॥

हे राजन् ! थोड़े दिन हुए, आप शिकार खेलने को वन में गये थे । उस समय मेरा आपका संगम कण्वऋषि के आश्रम में हुआ था । उर्वशी, पूर्वचित्ति, सहजन्या, मेनका, विश्वाची, घृताची, यह छ अप्सराओं में श्रेष्ठ हैं । उन छ में ब्रह्मयोनि मेनका ने स्वर्ग से आकर विश्वामित्र के वीर्य से हिमाचल के शिखर में मुझको उत्पन्न किया और मुझको वह स्नेह-रहित दूसरे की सन्तान के सदृश छोड़कर चली गई । मै नहीं जानती हूं कि, मैंने पूर्वजन्म में क्या पाप किये है, जिसके कारण से बाल्यावस्था में मुझको मेरी माता ने छोड़ दिया

दुष्यन्त उवाच—न पुत्रमभिजानामि त्वयि जातं शकुन्तले ।
असत्यवचना नार्यः कस्ते श्रद्धास्यते वचः ॥ ७४ ॥
मेनका निरनुक्रोशा बन्धकी जननी तव ।
यया हिमवतः पृष्ठे निर्माल्यमिव चोज्झिता ॥ ७५ ॥
स चापि निरनुक्रोशः क्षत्रयोनिः पिता तव ।
विश्वामित्रो ब्राह्मणत्वे लुब्धः कामवशं गतः ॥ ७६ ॥
मेनकाऽप्सरसां श्रेष्ठा महर्षीणां पिता च ते ।
तयोरपत्यं कस्मात्त्वं पुंश्चलीव प्रभापसे ॥ ७७ ॥
अश्रद्धेयमिदं वाक्यं कथयन्ती न लज्जसे ।
विशेषतो मत्सकाशे दुष्टतापसि गम्यताम् ॥ ७८ ॥
क्व महर्षिः स चैवाग्र्यः साऽप्सरा क्व च मेनका ।
क्व च त्वमेवं कृपणा तापसीवेषधारिणी ॥ ७९ ॥
अतिकायश्च ते पुत्रो बालोऽतिबलवानयम् ।
कथमल्पेन कालेन शालस्तम्भ इवोद्गतः ॥ ८० ॥
सुनिकृष्टा च ते योनिः पुंश्चलीव प्रभापसे ।
यदृच्छया कामरागाज्जाता मेनकया ह्यसि ॥ ८१ ॥

और अब इस अवस्था में आप छोड़ते हैं ॥ ६७-७३ ॥

हे राजन्! मुझको आप भले ही छोड़ दीजिये, मैं अपने आश्रम को चली जाऊँगी परन्तु आपको अपने पुत्र का त्याग करना उचित नहीं है। राजा दुष्यन्त ने कहा—हे शकुन्तला! मैं तेरे पुत्र को कुछ नहीं जानता हूँ। स्त्रियाँ सदैव झूठ बोला करती हैं। तेरी बात पर कौन विश्वास करेगा। ममताहीन वेश्या मेनका तुम्हारी माता है, जो निर्माल्य की तरह हिमालय पर तुमको छोड़कर चली गई। क्षत्रिय होकर ब्राह्मण होने की इच्छा रखनेवाले कामातुर निर्दय विश्वामित्र तुम्हारे पिता हैं। अप्सराओं में मेनका और ऋषियों में विश्वामित्र श्रेष्ठ समझे जाते हैं। उनकी कन्या होकर तुम कुलटा स्त्रियों की तरह ऐसी बातें करके मेरे गले क्यों पड़ रही हो? हे दुष्टतपस्विनी! तुम मेरे सामने ये असत्य वचन कह रही हो, इसमें तुमको लज्जा नहीं आती? भला कहाँ तो वह महर्षि विश्वामित्र, कहाँ वह मेनका अप्सरा और कहाँ तू दीन तपस्विनी। तुम्हारा यह पुत्र जो बड़ा बलवान और बड़ा शरीर रखनेवाला है, थोड़े ही दिनों में क्योंकर इतना बड़ा हो गया? तेरी योनि निकृष्ट है और पुंश्चली के समान बोलती है। तू केवल दैवेच्छा और कामराग से मेनका अप्सरा के उत्पन्न हुई होगी। तेरी सब बातें मिथ्या हैं। मैं तुमको नहीं पहचानता, जहाँ तुम्हारा जी

सर्वमेतत्परोक्षं मे यत्त्वं वदसि तापसि ।
नाहं त्वामभिजानामि यथेष्टं गम्यतां त्वया ॥ ८२ ॥

शकुन्तलोवाच—राजन्सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ॥ ८३ ॥
मेनका त्रिदशेष्वेव त्रिदशाश्चानुमेनकाम् ।
ममैवोद्रिच्यते जन्म दुष्यन्त तव जन्मनः ॥ ८४ ॥
क्षितावटसि राजेन्द्र अन्तरिक्षे चराम्यहम् ।
आवयोरन्तरं पश्य मेरुसर्षपयोरिव ॥ ८५ ॥
महेन्द्रस्य कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च ।
भवनान्यनुसंयामि प्रभावं पश्य मे नृप ॥ ८६ ॥
सत्यश्चापि प्रवादोऽयं यं प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
निदर्शनार्थं न द्वेषाच्छ्रुत्वा तं क्षन्तुमर्हसि ॥ ८७ ॥
विरूपो यावदादर्शे नात्मनः पश्यते मुखम् ।
मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम् ॥ ८८ ॥
यदा स्वमुखमादर्शे विकृतं सोऽभिवीक्षते ।
तदाऽन्तरं विजानीत आत्मानं चेतरं जनम् ॥ ८९ ॥
अतीव रूपसम्पन्नो न कंचिदवमन्यते ।
अतीव जल्पन्दुर्वाचो भवतीह विहेठकः ॥ ९० ॥

चाहे, वहीं जाओ ॥७९।८२॥

शकुन्तला ने कहा हे राजन्! आप राई के दाने के बराबर पराये छिद्रों को देखते हैं, परन्तु अपने बेल के समान छेद को देखकर भी उस पर ध्यान नहीं देते। मेनका की गिनती देवताओं में है और देवता उसके साथ रहते हैं। मेरा जन्म आप से श्रेष्ठ है। हे राजेन्द्र! आप पृथ्वी में रहते हो और मैं आकाश में जा सकती हूँ। मेरे और आपके अन्तर को आप सुमेरु और सरसों के समान समझें। इन्द्र, कुबेर, यम और वरुण के स्थान को मैं जा सकती हूँ। हे राजन्! इसीसे आप मेरे प्रभाव को अच्छी तरह जान लें ॥८३।८६॥

यह बात सत्य है, जो मैं आपको दृष्टान्त के तौर पर कहती हूँ, क्षमा कीजियेगा। जो मनुष्य कुरूप होता है, वह अपना मुख जबतक दर्पण में नहीं देख लेता तबतक वह अपने आपको रूपवान समझता है। परन्तु जब कभी वह दर्पण में अपने मुख को देख लेता है, तब उसे मालूम पड़ता है

मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
अशुभं वाक्यमादत्ते पुरीषमिव सूकरः ॥ ९१ ॥
प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
गुणवद्वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥ ९२ ॥
अन्यान्परिवदन्साधुर्यथा हि परितप्यते ।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः ॥ ९३ ॥
अभिवाद्य यथा वृद्धान्सन्तो गच्छन्ति निर्वृतिम् ।
एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः ॥ ९४ ॥
सुखं जीवन्त्यदोषज्ञा मूर्खा दोषानुदर्शिनः ।
यत्र वाच्याः परैः सन्तः परानाहुस्तथाविधान् ॥ ९५ ॥
अतो हास्यतरं लोके किंचिदन्यन्न विद्यते ।
यत्र दुर्जनमित्याह दुर्जनः सज्जनं स्वयम् ॥ ९६ ॥
सत्यधर्मच्युतात्पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किंपुनरास्तिकः ॥ ९७ ॥
स्वयमुत्पाद्य वै पुत्रं सदृशं यो न मन्यते ।
तस्य देवाः श्रियं घ्नन्ति न च लोकानुपाश्नुते ॥ ९८ ॥

कि, दूसरे का रूप उसके रूप से कितना अच्छा है। स्वरूपवान् मनुष्य दूसरे का निरादर कभी नहीं करता है। दुर्वचन कहनेवाले मनुष्य निन्दक और दूसरों को पीड़ा पहुंचानेवाले होते हैं। जैसे शूकर सब पदार्थों को छोड़कर विष्ठा खाता है, वैसे ही मूर्ख पुरुष दूसरे की बड़ाई और निन्दा में निन्दा को ही ग्रहण करता है ॥८६।९०॥

बुद्धिमान् पुरुष शुभ और अशुभ वचन सुनकर शुभ को ऐसे ग्रहण करता है, जैसे पानी में से हंस दूध को। जैसे सज्जन पुरुष दुर्वचन बोलकर पश्चा-ताप करता है, वैसे ही दुर्जन दुर्वचन बोलकर हर्षित होता है। जैसे सज्जन पुरुष वृद्धों को नमस्कार करके हर्षित होता है, वैसे ही दुर्जन गाली देकर प्रसन्न होता है। जो पुरुष औरों के दोष नहीं देखता, वह बड़े सुख से जीवन व्यतीत करता है। मूर्ख की आयु औरों के दोष देखने में ही व्यतीत होती है। जिन कारणों से साधुजन दुष्टों को बुरा कहते हैं, उन्हीं कारणों से दुष्ट लोग भी साधुओं की निन्दा करते हैं। हे राजन्! इससे बढ़कर संसार में हंसी की बात और क्या हो सकती है कि, दुर्जन लोग सज्जनों को दुर्जन कहते हैं। नास्तिक पुरुष भी धर्म और सत्य को छोड़नेवाले मनुष्य से सर्प की नाई डरते हैं, आस्तिक का तो कहना ही क्या है ॥९१।९७॥

कुलवंशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन् ।
उत्तमं सर्वधर्माणां तस्मात्पुत्रं न संत्यजेत् ॥ ९९ ॥
स्वपत्नीप्रभवान्पञ्च लब्धान्क्रीतान्विवर्धितान् ।
कृतानन्यासु चोत्पन्नान्पुत्रान्वै मनुरब्रवीत् ॥ १०० ॥
धर्मकीर्त्यावहा नृणां मनसः प्रीतिवर्धनाः ।
त्रायन्ते नरकाज्जाताः पुत्रा धर्मप्लवाः पितॄन् ॥ १०१ ॥
स त्वं नृपतिशार्दूल पुत्रं न त्यक्तुमर्हसि ॥ १०२ ॥
आत्मानं सत्यधर्मौ च पालयन्पृथिवीपते ।
नरेन्द्रसिंह कपटं न वोढुं त्वमिहार्हसि ॥ १०३ ॥
वरं कूपशताद्वापी वरं वापीशतात्क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात्पुत्रः सत्यं पुत्रशताद्वरम् ॥ १०४ ॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ १०५ ॥
सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यं च वचनं राजन्समं वा स्यान्नवा समम् ॥ १०६ ॥

जो पुरुष आप पैदा करके पुत्र को अपना नहीं स्वीकार करता, उसकी लक्ष्मी को देवता नाश कर देते हैं और वह उत्तम लोक को नहीं जाता। पितरों ने कुल और वंश की वृद्धि और सब धर्मों में पुत्र को उत्तम कहा है। इसलिये पुत्र को कदाचित् त्याग न करे। मनु ने पाँच प्रकार के पुत्र कहे हैं एक अपनी स्त्री से उत्पन्न, दूसरा अन्य से प्राप्त, तीसरा मोल लिया हुआ, चौथा पाला हुआ और पाँचवा संस्कार किया हुआ। यह पुत्र मनुष्यों के धर्म और कीर्ति के बढ़ानेवाले, मन को प्रसन्न करनेवाले और पितरों को नरक से रक्षा करने के हेतु धर्म की नाव होते हैं ॥९८।१०१॥

हे राजाओं में श्रेष्ठ ! इस कारण पुत्र का त्याग करना आपके लिये उचित नहीं है। अपनी आत्मा की रक्षा के कारण सत्य और धर्म का पालन करते हुए आपको कपट न करना चाहिये। देखिए, सौ कुएँ बनाने से एक बावली श्रेष्ठ है। सौ बावलियों से एक यज्ञ करना श्रेष्ठ है। एक सौ यज्ञ करने की अपेक्षा एक पुत्र उत्पन्न करना श्रेष्ठ है। सौ पुत्र उत्पन्न करने की अपेक्षा सत्यवादी होना श्रेष्ठ है। एक ओर सत्य और दूसरी ओर हजार अश्वमेध यज्ञ का फल रखकर देखलो, सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा। हे राजन् ! सम्पूर्ण वेदों का पढ़ना और तीर्थस्नान सत्य के बराबर नहीं है ॥१०२।१०५॥

सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है। सत्य से

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ॥ १०७ ॥
राजन्सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः ।
मा त्याक्षीः समयं राजन्सत्यं संगतमस्तु ते ॥ १०८ ॥
अनृते चेत्प्रसङ्गस्ते श्रद्दधासि न चेत्स्वयम् ।
आत्मना हन्त गच्छामि त्वादृशे नास्ति संगतम् ॥ १०९ ॥
त्वामृतेऽपि च दुष्यन्त शैलराजावतंसकाम् ।
चतुरंतामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति ॥ ११० ॥
वैशम्पायन उवाच—एतावदुक्त्वा राजानं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथांतरिक्षाद्दुष्यंतं वागुवाचाशरीरिणी ॥ १११ ॥
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मन्त्रिभिश्च वृतं तदा ।
भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ॥ ११२ ॥
भरस्व पुत्रं दुष्यंत मावमंस्थाः शकुंतलाम् ।
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ॥ ११३ ॥
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ।
जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधाकृतम् ॥ ११४ ॥

श्रेष्ठ भी और कुछ नहीं है । झूठ से बढ़कर कोई पाप भी नहीं है । हे राजन ! सत्य ही परब्रह्म है । सत्य ही सब धर्मों में उत्तम है । इसलिये सत्य को छोड़ करके धर्म का नाश न कीजिये । हे राजन् ! यदि आपको मेरी सब बातें झूठी प्रतीत होती हैं और मेरे कहे पर विश्वास नहीं होता, तो मैं आप वन को चली जाती हूं । क्योंकि आप जैसे पुरुष के पास रहना ठीक नहीं जान पड़ता । हे राजा दुष्यन्त ! आपके पश्चात् हिमाचल से समुद्र-पर्यन्त यह बालक पृथ्वी का पालन करेगा ॥१०८।११०॥

वैशम्पायन ने कहा—राजा से यह कहकर शकुन्तला चली । इसके उपरान्त देववाणी ने ऋत्विक्, आचार्य, मन्त्री और पुरोहित सहित राजा दुष्यन्त से कहा कि, माता चर्म का पात्र है और पुत्र उस पिता का है जिसके वीर्य से वह उत्पन्न हुआ है । हे दुष्यन्त ! आप अपने पुत्र का पालन करें और शकुन्तला का अपमान करना आपके लिये उचित नहीं क्योंकि अपने वीर्य से उत्पन्न हुआ पुत्र अपने पितरों को यमलोक से छुड़ाता है । यह पुत्र आपका है । शकुन्तला का कहना सत्य है । आत्मा के दूसरे रूप पुत्र को स्त्री उत्पन्न करती है । हे राजन ! आप शकुन्तला से उत्पन्न इस पुत्र का पालन करें । जीवित रहकर भी अपने पुत्र को छोड़कर उससे अलग रहना अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है ॥१११।११४॥

तस्माद्भरस्व दुष्यंत पुत्रं शाकुन्तलं नृप ।
अभूतिरेषा यत्त्यक्त्वा जीवेज्जीवंतमात्मजम् ॥ ११५ ॥
शाकुन्तलं महात्मानं दौष्यन्तिं भर पौरव ।
भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि ॥ ११६ ॥
तस्माद्भवत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुतः ।
तच्छ्रुत्वा पौरवो राजा व्याहृतं त्रिदिवौकसाम् ॥ ११७ ॥
पुरोहितममात्यांश्च संप्रहृष्टो ब्रवीदिदम् ।
शृण्वन्त्वेतद्भवन्तोऽस्य देवदूतस्य भाषितम् ॥ ११८ ॥
अहं चाप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम् ।
यद्यहं वचनादेव गृह्णीयामि स्वमात्मजम् ।
भवेद्धि शङ्क्यो लोकस्य नैव शुद्धो भवेदयम् ॥ ११९ ॥
वैशम्पायनउवाच—तं विशोध्य तदा राजा देवदूतेन भारत ।
हृष्टः प्रमुदितश्चापि प्रतिजग्राह तं सुतम् ॥ १२० ॥
ततस्तस्य तदा राजा पितृकर्माणि सर्वशः ।
कारयामास मुदितः प्रीतिमानात्मजस्य ह ॥ १२१ ॥
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय सस्नेहं परिषस्वजे ।
सभाज्यमानो विप्रैश्च स्तूयमानश्च बन्दिभिः ॥ १२२ ॥
स मुदं परमां लेभे पुत्रसंस्पर्शजां नृपः ॥ १२३ ॥

इसलिये आप इसका पालन कीजिये और हमने इसके पालने की आज्ञा दी, इस कारण यह बालक 'भरत' नाम से प्रसिद्ध होगा। यह देववाणी सुनकर राजा दुष्यन्त ने प्रसन्नतापूर्वक अपने मन्त्रियों और पुरोहितों से कहा—आप लोग भी यह आकाशवाणी सुन लीजिये। मैं इस बालक को अच्छी तरह अपना पुत्र जानता हूँ। किन्तु यदि मैं केवल शकुन्तला के कहने से इस बालक को अपना पुत्र मान लेता तो समाज में लोग तरह-तरह के सन्देह करते और यह मेरी सन्तान लोगों की दृष्टि में पवित्र न समझी जाती। वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय! इस प्रकार राजा दुष्यन्त ने देववाणी से पुत्र को शुद्ध कर प्रसन्नचित्त से उसको ग्रहण किया। इसके पश्चात् राजा ने प्रसन्नचित्त से पिता के करने योग्य कार्य सब करवाए। राजा ने पुत्र का मस्तक सूँघकर उसको हृदय से लगाया। उस समय राजा को परम आनन्द हुआ। तब ब्राह्मण और बन्दीजनों ने राजा की स्तुति की। इसके पश्चात् राजा ने अपनी

तां चैव भार्यां दुष्यन्तः पूजयामास धर्मतः ।
अब्रवीच्चैव तां राजा सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १२४ ॥
कृतो लोकपरोक्षोऽयं सम्बन्धोऽयं त्वया सह ।
तस्मादेतन्मया देवि तच्छुद्ध्यर्थं विचारितम् ॥ १२५ ॥
मन्यते चैव लोकस्ते स्त्रीभावान्मयि संगतम् ।
पुत्रश्चाऽयं वृतो राज्ये मया तस्माद्विचारितम् ॥ १२६ ॥
यच्च कोपितयाऽत्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये ।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत्क्षान्तं ते मया शुभे ॥ १२७ ॥
तामेवमुक्त्वा राजर्षिर्दुष्यन्तो महिषीं प्रियाम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास भारत ॥ १२८ ॥
दुष्यन्तस्तु ततो राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥ १२९ ॥
तस्य तत्प्रथितं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
भास्वरं दिव्यमजितं लोकसंनादनं महत् ॥ १३० ॥
स विजित्य महीपालांश्चकार वशवर्तिनः ।
चचार च सतां धर्मं प्राप चानुत्तमं यशः ॥ १३१ ॥
स राजा चक्रवर्त्यासीत्सार्वभौमः प्रतापवान् ।
ईजे च बहुभिर्यज्ञैर्यथा शक्रो मरुत्पतिः ॥ १३२ ॥

भार्या शकुन्तला का आदर किया और बहुत शांति के साथ यह वचन बोला ॥१२३।१२४॥

हे देवी! मेरा सम्बन्ध इस लोक में तुम्हारे साथ परोक्ष में हुआ था। इस कारण मैंने तुम्हारी शुद्धि के अर्थ, लोक के भय से तुमको अनुचित कहा, उसको क्षमा करो और जो क्रोध में मुझसे अनुचित बातें कही हैं उनको मैं क्षमा करता हूं। हे जनमेजय! इस प्रकार राजा दुष्यन्त ने अपनी प्यारी और सुखिया स्त्री का वस्त्र, भूषण, अन्नादि से सत्कार किया। इसके पश्चात् राजा दुष्यन्त ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये भरत का राज्याभिषेक किया ॥१२५।१२९॥

भरत का शासन लोक में प्रकाशवान्, दिव्य, अजित् और भयदायक हुआ। भरत ने सारी पृथ्वी के राजाओं को जीतकर अपने वश में किया और बड़ा यश पाया। राजा भरत सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी चक्रवर्ती और प्रतापी हुआ और इन्द्र के समान उसने बहुत से यज्ञ किये। कण्वऋषि ने

याजयामास तं कण्वो विधिवद्भूरिदक्षिणम् ।
श्रीमान्गोविततं नाम वाजिमेधमवाप सः ॥ १३३ ॥
यस्मिन्सहस्रं पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ।
भरताद्भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम् ॥ १३४ ॥
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ।
भरतस्यान्ववाये हि देवकल्पा महौजसः ॥ १३५ ॥
बभूवुर्ब्रह्मकल्पाश्च बहवो राजसत्तमाः ।
येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः ॥ १३६ ॥
तेषां तु ते यथामुख्यं कीर्तयिष्यामि भारत ।
महाभागान्देवकल्पान्सत्यार्जवपरायणान् ॥ १३७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने चतु सप्ततितमोऽध्याय ॥ ७४ ॥

भरत को गोवितत और अश्वमेध यज्ञ कराये और भरत ने उन यज्ञों में कण्वऋषि को सहस्र पद्म धन दिया। भरत से वश की कीर्ति हुई और भारत-कुल प्रसिद्ध हुआ। इस भरतवश में बहुत से देवता और ब्राह्मणों के सदृश बडे-बडे पराक्रमी राजा उत्पन्न हुए, उनके नाम मै कहता हू। परन्तु उनमें मे जो मुख्य-मुख्य वश के चलानेवाले हुए उनका वर्णन करता हू ॥१३०।१३७॥

आदिपर्व का चौहत्तरवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चसप्ततितमोऽध्याय ॥ ७५ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ।
भरतस्य कुरोः पूरोराजमीढस्य चानघ ॥ १ ॥
यादवानामिमं वंशं कौरवाणां च सर्वशः ।
तथैव भरतानां च पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥ २ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ ।
तेजोभिरुदिताः सर्वे महर्षिसमतेजसः ॥ ३ ॥

॥ पचहत्तरवा अध्याय ७५ ॥

वैशम्पायन ने कहा दक्षप्रजापति, वैवस्वत मनु, भरत, कुरु, पुरु, आजमीढ, यादव आदि कौरवों और भरतों के वश का वृत्तान्त मैं तुमको सुनाता हू। यह कथा पुण्य, कल्याण, धन, यश, आयु को बढानेवाली है। ये सब महर्षियों के समान तेजस्वी हुए। प्राचीनस के महात्मा, तपस्वी, पुण्य

दश प्राचेतसः पुत्राः सन्तः पुण्यजनाः स्मृताः ।
मुखजेनाग्निना यैस्ते पूर्वं दग्धा महौजसः ॥ ४ ॥
तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिमाः प्रजाः ।
संभूताः पुरुषव्याघ्र स हि लोकपितामहः ॥ ५ ॥
वीरिण्या सह संगम्य दक्षः प्राचेतसो मुनिः ।
आत्मतुल्यानजनयत्सहस्रं संशितव्रतान् ॥ ६ ॥
सहस्रसंख्यान्संभूतान्दक्षपुत्रांश्च नारदः ।
मोक्षमध्यापयामास सांख्यज्ञानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
ततः पञ्चाशतं कन्याः पुत्रिका अभिसंदधे ।
प्रजापतिः प्रजा दक्षः सिसृक्षुर्जनमेजय ॥ ८ ॥
ददौ दश स धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।
कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे ॥ ९ ॥
त्रयोदशानां पत्नीनां या तु दाक्षायणी वरा ।
मारीचः कश्यपस्तस्यामादित्यान्समजीजनत ॥ १० ॥
इन्द्रादीन्वीर्यसंपन्नान्विवस्वन्तमथापि च ।
विवस्वतः सुतो जज्ञे यमो वैवस्वतः प्रभुः ॥ ११ ॥
मार्त्तण्डस्य मनुर्धीमानजायत सुतः प्रभुः ।
यमश्चापि सुतो जज्ञे ख्यातस्तस्यानुजः प्रभुः ॥ १२ ॥
धर्मात्मा स मनुर्धीमान्यत्र वंशः प्रतिष्ठितः ।

करनेवाले दस पुत्र उत्पन्न हुए, जिन्होंने मुख से उत्पन्न हुई अग्नि से वृक्ष और ओषधियों को भस्म किया। उनसे दक्ष प्रजापति उत्पन्न हुए। दक्ष से ही सब प्रजा उत्पन्न हुई। इससे दक्ष को सर्वलोक का पितामह कहते हैं ॥१।५॥

दक्ष मुनि ने वीरिणी नाम की स्त्री से अपने तुल्य पराक्रमी एक हजार पुत्र उत्पन्न किये। नारद ने उन हजार दक्ष पुत्रों को सांख्यशास्त्र की शिक्षा देकर मोक्ष का मार्ग बताया। प्रजा के उत्पन्न करने की इच्छा से दक्ष प्रजापति ने पचास कन्याएँ उत्पन्न कीं। प्रजापति दक्ष ने दस कन्याएँ धर्म को, तेरह कन्याएँ कश्यप को और सत्ताईस नक्षत्र रूपिणी कन्याएँ चन्द्रमा को दीं। मरीचि के पुत्र कश्यप ने दक्ष की बड़ी कन्या अदिति के गर्भ से इन्द्र आदि पराक्रमी देवताओं को और सूर्य को उत्पन्न किया। सूर्य के मनु और यम नाम के दो पुत्र हुए। इन

मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ॥ १३ ॥
ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः ।
ततोऽभवन्महाराज ब्रह्म क्षत्रेण संगतम् ॥ १४ ॥
ब्राह्मणा मानवास्तेषां साङ्गं वेदमधारयन् ।
वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च ॥ १५ ॥
कारूषमथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम् ।
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम् ॥ १६ ॥
नाभागारिष्टदशमान्मनोः पुत्रान्प्रचक्षते ।
पञ्चाशत्तु मनोः पुत्रास्तथैवान्येऽभवन्क्षितौ ॥ १७ ॥
अन्योन्यभेदात्ते सर्वे विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
पुरूरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत ॥ १८ ॥
सा वै तस्याभवन्माता पिता चैवेति नः श्रुतम् ।
त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन्पुरूरवाः ।
अमानुषैर्वृतः सत्त्वैर्मानुषः सन्महायशाः ॥ १९ ॥
विप्रैः स विग्रहं चक्रे वीर्योन्मत्तः पुरूरवाः ।
जहार च स विप्राणां रत्नान्युत्क्रोशतामपि ॥ २० ॥
सनत्कुमारस्तं राजन्ब्रह्मलोकादुपेत्य ह ।
अनुदर्शं ततश्चक्रे प्रत्यगृह्णान्न चाप्यसौ ॥ २१ ॥

दोनों में यम छोटा था ॥६।१२॥

मनु धर्मात्मा, बुद्धिमान् और वंश चलानेवाले हुए। सब ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि मनु के वंश में उत्पन्न होने से लोग मानव कहलाते हैं। इन्हीं मनु से ब्राह्मण और क्षत्रिय उत्पन्न हुए हैं। इसी कारण ब्राह्मणकुल और क्षत्रियकुल का सङ्गम हुआ है। मनु के वंश में जो ब्राह्मण हुए, उन्होंने वेदों को अंगों सहित पढ़ा और वैवस्वत मनु के वेनु, धृष्णु, नरिष्यन्त, नाभाग, इक्ष्वाकु, कारूष, शर्याति, पृषध्र और नाभागारिष्ट ये नौ पुत्र और एक कन्या इला नाम की उत्पन्न हुई। इनके सिवाय मनुजी के पचास पुत्र और हुए परन्तु वे सब आपस में लड़कर नष्ट हो गये। पुरूरवा की उत्पत्ति इला से हुई। सुना है कि, इला ही उसकी माता और पिता थी। पुरूरवा ने तेरह द्वीपों का राज्य किया। वह बड़े यशवाला मनुष्य होकर अमानुष गुणों से युक्त था। उस पुरूरवा ने बल के गर्व से अन्धा होकर ब्राह्मणों से विरोध किया ॥१३।२०॥

ततो महर्षिभिः क्रुद्धैः सद्यः शप्तो व्यनश्यत ।
लोभान्वितो बलमदान्नष्टसंज्ञो नराधिपः ॥ २२ ॥
स हि गन्धर्वलोकस्थानुर्वश्या सहितो विराट् ।
आनिनाय क्रियार्थेऽग्नीन्यथावद्विहितांस्त्रिधा ॥ २३ ॥
षट् सुता जज्ञिरे चैलादायुर्धीमानमावसुः ।
दृढायुश्च वनायुश्च शतायुश्चोर्वशीसुताः ॥ २४ ॥
नहुषं वृद्धशर्माणं रजिं गयमनेनसम् ।
स्वर्भानवीसुतानेतानायोः पुत्रान्प्रचक्षते ॥ २५ ॥
आयुषो नहुषः पुत्रो धीमान्सत्यपराक्रमः ।
राज्यं शशास सुमहद्धर्मेण पृथिवीपते ॥ २६ ॥
पितॄन्देवानृषीन्विप्रान्गंधर्वोरगराक्षसान् ।
नहुषः पालयामास ब्रह्मक्षत्रमथो विशः ॥ २७ ॥
स हत्वा दस्युसङ्घातानृषीन्करमदापयत् ।
पशुवच्चैव तान्पृष्ठे वाहयामास वीर्यवान् ॥ २८ ॥
कारयामास चेन्द्रत्वमभिभूय दिवौकसः ।
तेजसा तपसा चैव विक्रमेणौजसा तथा ॥ २९ ॥
यतिं ययातिं संयातिमायातिमयतिं ध्रुवम् ।
नहुषो जनयामास षट् सुतान्प्रियवादिनः ॥ ३० ॥

ब्राह्मणों की प्रार्थना और आर्त्तनाद पर ध्यान न देकर उनके रत्न छीन लिये। सनत्कुमार ऋषि ने ब्रह्मलोक से आकर पुरूरवा को बहुत समझाया और उपदेश किया। इतने पर भी उन्होंने कुछ ध्यान नहीं दिया। अन्त में ऋषियों ने क्रोध में आकर उनको शाप देकर नष्ट कर दिया। यह वही पुरूरवा है, जो गन्धर्वलोक से अग्नि को लाया और तीन प्रकार के यज्ञों के लिये उसकी स्थापना की और उर्वशी अप्सरा से भी उसका समागम हुआ। पुरूरवा के उर्वशी में आयु, धीमान् अमावसु, दृढायु, वनायु, और शतायु, ये छ पुत्र उत्पन्न हुए। आयु के स्वर्भानु की कन्या के गर्भ में नहुष, वृद्धशर्मा, रजि, गय और अनेनस, यह पांच पुत्र उत्पन्न हुए। आयु के पुत्र बुद्धिमान् सत्य-पराक्रमी नहुष ने धर्मपूर्वक राज्यानुशासन किया। उन्होंने पितर, देवता, ऋषि, विप्र, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का पालन किया। चोरों को मारकर ऋषियों से कर लिया ॥२१।२८॥

यतिस्तु योगमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनिः ॥ ३१ ॥
ययातिर्नाहुषः सम्राडासीत्सत्यपराक्रमः ।
स पालयामास महीमीजे च बहुभिर्मखैः ॥ ३२ ॥
अतिभक्त्या पितॄनर्चन्देवांश्च प्रयतः सदा ।
अन्वगृह्णात्प्रजाः सर्वा ययातिरपराजितः ॥ ३३ ॥
तस्य पुत्रा महेष्वासाः सर्वैः समुदिता गुणैः ।
देवयान्यां महाराज शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ॥ ३४ ॥
देवयान्यामजायेतां यदुस्तुर्वसुरेव च ।
द्रुह्युश्चानुश्च पूरुश्च शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ॥ ३५ ॥
स शाश्वतीः समा राजन्प्रजा धर्मेण पालयन् ।
जरामार्छन्महाघोरां नाहुषो रूपनाशिनीम् ॥ ३६ ॥
जराभिभूतः पुत्रान्स राजा वचनमब्रवीत् ।
यदुं पूरुं तुर्वसुं च द्रुह्युं चानुं च भारत ॥ ३७ ॥
यौवनेन चरन्कामान्युवा युवतिभिः सह ।
विहर्तुमहमिच्छामि साह्यं कुरुत पुत्रकाः ॥ ३८ ॥
तं पुत्रो दैवयानेयः पूर्वजो वाक्यमब्रवीत् ।

इस वीर्यवान् ने उन ऋषियों को अपने यान में पशुओं की तरह जोता । देवताओं का तिरस्कार करके तेज, तप, पराक्रम, बुद्धि और इन्द्रियों के बल से इन्द्रपदवी को प्राप्त कर लिया था । नहुष के यति, ययाति, संयाति, आयाति, अयति और ध्रुव, यह छः प्रियवादी पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें यति योगाभ्यास करके ब्रह्मरूप हो गया । नहुष का पुत्र सत्यपराक्रमी ययाति चक्रवर्ती हुआ । ययाति ने धर्म से पृथ्वी का पालन करते हुए अनेक बड़े-बड़े यज्ञ किये । वह भक्तिपूर्वक देवताओं और पितरों का आराधन करते थे । इस प्रकार अजित ययाति ने प्रजा का पालन किया ॥२०।३३॥

ययाति के दो स्त्रियां देवयानी और शर्मिष्ठा नाम वाली थीं । इन दोनों स्त्रियों के गर्भ से बड़े गुणवान् पुत्र उत्पन्न हुए । देवयानी के गर्भ से यदु और तुर्वसु, और शर्मिष्ठा के गर्भ से द्रुह्यु, अनु, और पूरु नाम के पुत्र हुए । हे जनमेजय ! इस प्रकार नहुष का पुत्र ययाति बहुत वर्षों तक धर्म से प्रजा का पालन करते करते रूप के नाश करनेवाली वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ । बुढ़ापे से दुःखित राजा ने यदु, पूरु, तुर्वसु, अनु और द्रुह्यु अपने पुत्रों से कहा मैं जवान अवस्था में जवानी से कामों को भोगता हुआ युवतियों के साथ विहार करना चाहता हूं । तुम मेरी सहायता करो ॥३४।३८॥

किं कार्यं भवतः कार्यमस्माकं यौवनेन ते ॥ ३९ ॥
ययातिरब्रवीत्तं वै जरा मे प्रतिगृह्यताम् ।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ॥ ४० ॥
यजतो दीर्घसत्रैर्मे शापाच्चोशनसो मुनेः ।
कामार्थः परिहीणोऽयं तप्येयं तेन पुत्रकाः ॥ ४१ ॥
मामकेन शरीरेण राज्यमेकः प्रशास्तु वः ।
अहं तन्वाभिनवया युवा काममवाप्नुयाम् ॥ ४२ ॥
ते न तस्य प्रत्यगृह्णन्यदुप्रभृतयो जराम् ।
तमब्रवीत्ततः पूरुः कनीयान्सत्यविक्रमः ॥ ४३ ॥
राजंश्चराभिनवया तन्वा यौवनगोचरः ।
अहं जरां समादाय राज्ये स्थास्यामि तेऽऽज्ञया ॥ ४४ ॥
एवमुक्तः स राजर्षिस्तपोवीर्यसमाश्रयात् ।
संचारयामास जरां तदा पुत्रे महात्मनि ॥ ४५ ॥
पौरवेणाथ वयसा राजा यौवनमास्थितः ।
यायातेनापि वयसा राज्यं पूरुरकारयत् ॥ ४६ ॥
ततो वर्षसहस्रान्ते ययातिरपराजितः ।
स्थितः स नृपशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमः ॥ ४७ ॥

यह सुनकर राजा ने देवयानी के बड़े पुत्र से कहा—हम आपकी क्या सहायता कर सकते हैं? क्या आप हमारी जवानी चाहते हैं? ययाति ने कहा तुममें से कोई मेरे बुढ़ापे को ग्रहण करो। मैं उस पुत्र की जवानी लेकर विषयभोग करूँगा। मेरे बहुत यज्ञ करने के कारण से मुझे शुक्र ने यह शाप दिया है कि तुम कामवश होगे। इस कारण से बेटा! मुझे बड़ा कष्ट और सन्ताप है। मैं नये शरीर से नई स्त्रियों से भोग करना चाहता हूँ। तुममें से कोई मेरी यह अवस्था लेकर राज्य करे। यह सुनकर ययाति के तीन बड़े लड़कों ने अपनी जवानी देने से इन्कार किया। तब सबसे छोटे पुत्र पूरु ने कहा कि पिता! आप मेरी जवानी लेकर अपनी इच्छा पूरी कीजिए। मैं आपकी वृद्धावस्था पाकर आपकी आज्ञा से राज्य करूँगा ॥३९।४४॥

इसके उपरान्त ययाति ने अपने तप के बल से पुत्र को वृद्ध बना दिया। ययाति की अवस्था से पूरु राज्य करने लगा और पूरु की अवस्था से ययाति भोग भोगने लगा। इसके पश्चात् हजार वर्ष तक राजा ययाति के शरीर में सिंह का सा

ययातिरपि पत्नीभ्यां दीर्घकालं विहृत्य च ।
विश्वाच्या सहितो रेमे पुनश्चैत्ररथे वने ॥ ४८ ॥
नाध्यगच्छत्तदा तृप्तिं कामानां स महायशाः ।
अवेत्य मनसा राजन्निमां गाथां तदा जगौ ॥ ४९ ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ५० ॥
पृथिवी रत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥ ५१ ॥
यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु कर्हिचित् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५२ ॥
यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५३ ॥
इत्यवेक्ष्य महाप्राज्ञः कामानां फल्गुतां नृप ।
समाधाय मनो बुद्ध्या प्रत्यगृह्णाज्जरां सुतात् ॥ ५४ ॥
दत्त्वा च यौवनं राजा पूरुं राज्येऽभिषिच्य च ।
अतृप्त एव कामानां पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥ ५५ ॥

पराक्रम बना रहा और इतने दिनों तक दोनों स्त्रियों से विषयभोग करके भी वह तृप्त न हुआ। चैत्ररथ नाम वनमें विश्वाची अप्सरा से भी भोग किया, परन्तु उसका कामदेव तृप्त नहीं हुआ। बड़ा यशवाला ययाति जब काम से तृप्त न हुआ तब एक दिन आप ही आप विचार करके उन्होंने कहा कि, काम-भोग करने से कामना कभी शान्त नहीं होती। घी डालने से अग्नि और बढ़ती है। रत्नों से भरी पृथ्वी सुवर्ण, पशु, स्त्रियें, यह सब अकेले भोगकर भी कोई उनमें तृप्त नहीं हो सकता ॥४५।५०॥

इसमे मुझको भी अपना चित्त विषय की इच्छा से अलग करना चाहिये। जब कर्म मन, वाणी मे कभी भी किसी प्राणी को दुःख नहीं देता तब ब्रह्मको प्राप्त होता है। जब उसे किसी का भय नहीं रहता और उससे कोई नहीं डरता और जब वह न इच्छा करता है और न द्रोह करता है, तब साक्षात् ब्रह्मरूप हो जाता है। हे जनमेजय ! उस बड़े बुद्धिमान् ययाति ने इस प्रकार कामों की तुच्छता देखकर, मनको स्थिरकर, पुत्र से अपनी वृद्धावस्था फिर ले ली ॥५१।५४॥

राजा ययाति ने काम से तृप्त न होकर अपने पुत्र को तरुण अवस्था दे दी और उसका राज्याभिषेक करके बोला–हे पुत्र ! तुम्हीं मेरे सच्चे पुत्र और वंश चलानेवाले हो। इसलिये मेरा वंश तुम्हारे

त्वया दायादवानस्मि त्वं मे वंशकरः सुतः ।
पौरवो वंश इति ते ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ५६ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः स नृपशार्दूल पूरुं राज्येऽभिषिच्य च ।
ततः सुचरितं कृत्वा भृगुतुङ्गे महातपाः ॥ ५७ ॥
कालेन महता पश्चात्कालधर्ममुपेयिवान् ।
कारयित्वा त्वनशनं सदारः स्वर्गमाप्तवान् ॥ ५८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

ही नाम से पौरववंश कहलावेगा। वैशम्पायन ने कहा—तत्पश्चात् बड़े तपस्वी राजाओं में श्रेष्ठ ययाति ने पूरु को राज्य देकर भृगुतुङ्गपर्वत में अच्छे कर्म कर बहुत दिन पीछे स्त्री सहित अन्नादिक त्याग कर स्वर्ग को गया ॥५५।५८॥

आदिपर्व का पचहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

जनमेजय उवाच—ययातिः पूर्वजोऽस्माकं दशमो यः प्रजापतेः ।
कथं स शुक्रतनयां लेभे परमदुर्लभाम् ॥ १ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
आनुपूर्व्या च मे शंस राज्ञो वंशकरान्पृथक् ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच—ययातिरासीन्नृपतिर्देवराजसमद्युतिः ।
तं शुक्रवृषपर्वाणौ वव्राते वै यथा पुरा ॥ ३ ॥
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि पृच्छते जनमेजय ।
देवयान्याश्च संयोगं ययातेर्नाहुषस्य च ॥ ४ ॥
सुराणामसुराणां च समजायत वै मिथः ।
ऐश्वर्यं प्रति संघर्षस्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ ५ ॥

॥ छियत्तरवां अध्याय ७६ ॥

जनमेजय ने कहा—प्रजापति से लेकर दसवीं पीढ़ी में उत्पन्न हमारे पूर्वज ययाति ने परम दुर्लभ शुक्र की कन्या को किस प्रकार से प्राप्त किया ? हे तपोधन ! इस कथा को मैं विस्तार से सुनना चाहता हूं। वंश चलानेवाले राजाओं के चरित्र भी क्रमानुसार अलग अलग कहिए। वैशम्पायन ने कहा—इन्द्र के समान कान्तिवाले राजा ययाति को शुक्र और दैत्यराज वृषपर्वा ने कन्याओं के विवा

जिगीषया ततो देवा वव्रिरेऽङ्गिरसं मुनिम् ।
पौरोहित्येन याज्यार्थे काव्यं तूशनसं परे ॥ ६ ॥
ब्राह्मणौ तावुभौ नित्यमन्योऽन्यस्पर्धिनौ भृशम् ।
तत्र देवा निजघ्नुर्यान्दानवान्युधि संगतान् ॥ ७ ॥
तान्पुनर्जीवयामास काव्यो विद्याबलाश्रयात् ।
ततस्ते पुनरुत्थाय योधयाञ्चक्रिरेसुरान् ॥ ८ ॥
असुरास्तु निजघ्नुर्यान्सुरान्समरमूर्धनि ।
न तान्संजीवयामास बृहस्पतिरुदारधीः ॥ ९ ॥
न हि वेद स तां विद्यां यां काव्यो वेत्ति वीर्यवान् ।
संजीविनीं ततो देवा विषादमगमन्परम् ॥ १० ॥
ते तु देवा भयोद्विग्नाः काव्यादुशनसस्तदा ।
ऊचुः कचमुपागम्य ज्येष्ठं पुत्रं बृहस्पतेः ॥ ११ ॥
भजमानान्भजस्वास्मान्कुरु नः साह्यमुत्तमम् ।
या सा विद्या निवसति ब्राह्मणेऽमिततेजसि ॥ १२ ॥
शुक्रे तामाहर क्षिप्रं भागभाङ् नो भविष्यसि ।
वृषपर्वसमीपे हि शक्यो द्रष्टुं त्वया द्विजः ॥ १३ ॥

हार्थ जिस प्रकार पहिले वरा उस देवयानी और नहुष के पुत्र ययाति के संयोग का वृत्तान्त मैं कहता हूं, सुनो ॥१।४॥

देवता और असुरों का आपस में त्रैलोक्य के राज्य के लिये घोर युद्ध हुआ। उस समय देवताओं ने जीतने की इच्छा से बृहस्पति मुनि को और असुरों ने शुक्र को यज्ञ आदि करने के लिये अपना आचार्य बनाया। वे दोनों ब्राह्मण आपस में नित्य अत्यन्त विरोध करते थे और युद्ध में देवता जिन दैत्यों को मारते थे, उन्हें शुक्र अपनी विद्या के बल से फिर जिला देते थे; जिससे वे फिर देवताओं से युद्ध करने लगते थे ॥५।८॥

संग्राम में जिन देवताओं को असुर मारते थे, उनको श्रेष्ठ बुद्धिवाले बृहस्पति नहीं जिला सकते थे। जिस संजीविनी विद्या को शुक्र जानता था, उसको बृहस्पति नहीं जानता था। इस कारण देवताओं को बड़ा दुःख हुआ। शुक्र के भय से डरे और घबराये हुए देवताओं ने बृहस्पति के बड़े पुत्र कच के पास जाकर कहा—हे कच ! हम तुम्हारे हित-चिन्तक हैं। तुम हमारे गुरु-पुत्र हो। तुम हमारी इस समय कुछ सहायता करो। महातेजस्वी शुक्राचार्य के पास जाकर तुम उनसे मृतसञ्जीविनी विद्या सीख आओ। हम तुमको अपने साथ यज्ञ में भाग देंगे। वह शुक्राचार्य तुमको वृषपर्वा दानव

रक्षते दानवांस्तत्र न स रक्षत्यदानवान् ।
तमाराधयितुं शक्तो भवान्पूर्ववयाः कविम् ॥ १४ ॥
देवयानीं च दयितां सुतां तस्य महात्मनः ।
त्वमाराधयितुं शक्तो नान्यः कश्चन विद्यते ॥ १५ ॥
शीलदाक्षिण्यमाधुर्यैराचारेण दमेन च ।
देवयान्यां हि तुष्टायां विद्यां तां प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥ १६ ॥
तथेत्युक्त्वा ततः प्रायाद् बृहस्पतिसुतः कचः ।
तदाऽभिपूजितो देवैः समीपे वृषपर्वणः ॥ १७ ॥
स गत्वा त्वरितो राजन्देवैः सम्प्रेषितः कचः ।
असुरेन्द्रपुरे शुक्रं दृष्ट्वा वाक्यमुवाच ह ॥ १८ ॥
ऋषेरङ्गिरसः पौत्रं पुत्रं साक्षाद् बृहस्पतेः ।
नाम्ना कचमिति ख्यातं शिष्यं गृह्णातु मां भवान् ॥ १९ ॥
ब्रह्मचर्यं चरिष्यामि त्वय्यहं परमं गुरौ ।
अनुमन्यस्व मां ब्रह्मन्सहस्रं परिवत्सरान् ॥ २० ॥
शुक्र उवाच—कच सुस्वागतं तेऽस्तु प्रतिगृह्णामि ते वचः ।
अर्चयिष्येऽहमर्च्यं त्वामर्चितोऽस्तु बृहस्पतिः ॥ २१ ॥
वैशंपायन उवाच—कचस्तु तं तथेत्युक्त्वा प्रतिजग्राह तद्व्रतम् ।
आदिष्टं कविपुत्रेण शुक्रेणोशनसा स्वयम् ॥ २२ ॥

के यहां मिलेंगे ॥९।१३॥

वे दानवों की ही रक्षा करते हैं, देवताओं की नहीं। तुम जवान हो और शुक्र की सेवा कर सकते हो। महात्मा शुक्र अपनी कन्या देवयानी को बहुत चाहते हैं। शीलस्वभाव, चतुराई, मधुर-बोली और धर्म से शुक्र और उनकी पुत्री देवयानी को प्रसन्न करके संजीविनी विद्या सीख आओगे। इसके पश्चात् देवताओं से सत्कार किया हुआ बृहस्पति का पुत्र कच 'ऐसा ही होगा' कहकर, वृषपर्वा के पास गया। हे जनमेजय! देवताओं का भेजा हुआ कच शीघ्र असुरों के स्वामी वृषपर्वा के नगर में पहुंचकर आचार्य शुक्र को देखकर बोला—मैं अङ्गिरा का पोता और बृहस्पति का पुत्र कच आपका शिष्य होना चाहता हूं। आप कृपा करके मेरी इच्छा पूर्ण करें। मैं आपको गुरु मान करके हजार वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करूंगा ॥१४।२०॥

शुक्र ने कहा—हे कच! तुम्हारा आना शुभ

व्रतस्य प्राप्तकालं स यथोक्तं प्रत्यगृह्णत ।
आराधयन्नुपाध्यायं देवयानीं च भारत ॥ २३ ॥
नित्यमाराधयिष्यंस्तौ युवा यौवनगोचरे ।
गायन्नृत्यन्वादयंश्च देवयानीमतोषयत् ॥ २४ ॥
स शीलयन्देवयानीं कन्यां संप्राप्तयौवनाम् ।
पुष्पैः फलैः प्रेषणैश्च तोषयामास भारत ॥ २५ ॥
देवयान्यपि तं विप्रं नियमव्रतधारिणम् ।
गायन्ती च ललन्ती च रहः पर्यचरत्तथा ॥ २६ ॥
पञ्च वर्षशतान्येवं कचस्य चरतो व्रतम् ।
तत्रातीयुरथो बुद्ध्वा दानवास्तं ततः कचम् ॥ २७ ॥
गा रक्षन्तं वने दृष्ट्वा रहस्येकममर्षिताः ।
जघ्नुर्बृहस्पतेर्द्वेषाद्विद्यारक्षार्थमेव च ॥ २८ ॥
हत्वा शालावृकेभ्यश्च प्रायच्छँल्लवशः कृतम् ।
ततो गावो निवृत्तास्ता अगोपाः स्वं निवेशनम् ॥ २९ ॥
सा दृष्ट्वा रहिता गाश्च कचेनाभ्यागता वनात् ।
उवाच वचनं काले देवयान्यथ भारत ॥ ३० ॥
देवयान्युवाच—आहुतं चाग्निहोत्रं ते सूर्यश्चास्तं गतः प्रभो ।
अगोपाश्चागता गावः कचस्तात न दृश्यते ॥ ३१ ॥

हो। मैं तुमको शिष्य बनाना स्वीकार करता हूँ। मैं बृहस्पति की प्रसन्नता के लिये तुम्हारा सत्कार करता हूँ। वैशम्पायन ने कहा कच ने शुक्राचार्य की आज्ञा के अनुसार यथासमय ब्रह्मचर्य व्रत को ग्रहण किया और वहीं रहकर वे आचार्य और आचार्य की कन्या देवयानी की सेवा करने लगे। वह तरुण कच शुक्र को प्रसन्न रखकर नाच, गाने बजाने, फल फूल लाने और सेवक की तरह आज्ञा पालन के द्वारा देवयानी को सन्तुष्ट करने लगा। देवयानी भी नियम और व्रतधारी ब्राह्मण को उसी प्रकार प्रसन्न रखने की चेष्टा करती थी ॥२१।२६॥

इस प्रकार कच ने पाँच सौ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। एक दिन कच वन में अकेले गायें चरा रहे थे। दानवों ने कच को देखकर क्रोध में विद्या की रक्षा के लिये और बृहस्पति के द्वेष से उसको मार डाला। दानवों ने उसके टुकड़े टुकड़े करके भेड़ियों को खिला दिया। सन्ध्या को सब गायें अपने स्थान को वापस आईं। हे भारत! गायों के

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति ।
तं विना न च जीवेयमिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ३२ ॥

शुक्र उवाच—अयमेहीति संशब्द्य मृतं संजीवयाम्यहम् ।
ततः संजीविनीं विद्यां प्रयुज्य कचमाह्वयत ॥ ३३ ॥
भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि वृकाणां स विनिर्गतः ।
आहूतः प्रादुरभवत्कचो हृष्टोऽथ विद्यया ॥ ३४ ॥
कस्माच्चिरायितोऽसीति पृष्टस्तामाह भार्गवीम् ।
समिधश्च कुशादीनि काष्ठभारं च भाविनि ॥ ३५ ॥
गृहीत्वाऽऽश्रममारात्तं वटवृक्षं समाश्रितः ।
गावश्च सहिताः सर्वा वृक्षच्छायामुपाश्रिताः ॥ ३६ ॥
असुरास्तत्र मां दृष्ट्वा कस्त्वमित्यभ्यचोदयन् ।
बृहस्पतिसुतश्चाहं कच इत्यभिविश्रुतः ॥ ३७ ॥
इत्युक्तमात्रे मां हत्वा पेषीकृत्वा तु दानवाः ।
दत्त्वा शालावृकेभ्यस्तु सुखं जग्मुः स्वमालयम् ॥ ३८ ॥
आहूतो विद्यया भद्रे भार्गवेण महात्मना ।
त्वत्समीपमिहायातः कथंचित्समजीवितः ॥ ३९ ॥

साथ कच को न आये देखकर देवयानी ने कहा—हे पिता ! आप अग्निहोत्र भी कर चुके, सूर्य अस्त हो गया गायें भी लौट आईं परन्तु कच का अभी तक पता नहीं लगता। हे पिता—किसी ने उसे मारडाला है या मर गया होगा। मैं आपसे सत्य कहती हूं कि, कच के बिना मैं नहीं जी सकती ॥२७।३२॥

शुक्र ने कहा—इस शब्द को कहकर मरे हुए को मैं जिलाता हूं, तब मृतसंजीविनी विद्या का प्रयोगकर कच को पुकारा। विद्या के प्रयोग से पुकारा हुआ कच भेड़ियों के शरीर को फोड़कर बाहर आया। देवयानी ने पूछा—तुमने इतनी देर कहां लगाई ? कच ने कहा—हे शुद्ध भाववाली ! मैं समिधा, कुशादिक और काष्ट के भार को लेकर चला आरहा था। राह में थककर आश्रम के पास बरगद के पेड़ की छाया में बैठ गया, वहीं गायें भी बैठी विश्राम कर रही थीं ॥३३।३६॥

इतने में असुरों ने मुझे देखकर पूछा कि, तुम कौन हो ? मैंने कहा मैं बृहस्पति का पुत्र कच हूं। यह कहते ही दानवों ने मुझे मारकर मेरे टुकड़े टुकड़े करके भेड़ियों को खिला दिया। फिर वे सुख से अपने अपने स्थान को चले गये। हे भद्रे ! महात्मा शुक्र ने अपनी विद्याबल से मुझे बुलाया और मैं किसी प्रकार जीवन पाकर तुम्हारे

हतोऽहमिति चाचख्यौ पृष्टो ब्राह्मणकन्यया ।
स पुनर्देवयान्योक्तः पुष्पाहारो यदृच्छया ॥ ४० ॥
वनं ययौ कचो विप्रो ददृशुर्दानवाश्च तम् ।
पुनस्तं पेषयित्वा तु समुद्राम्भस्यमिश्रयन् ॥ ४१ ॥
चिरं गतं पुनः कन्या पित्रे तं संन्यवेदयत् ।
विप्रेण पुनराहूतो विद्यया गुरुदेहजः ।
पुनरावृत्य तद्वृत्तं न्यवेदयत तद्यथा ॥ ४२ ॥
ततस्तृतीयं हत्वा तं दग्ध्वा कृत्वा च चूर्णशः ।
प्रायच्छन्ब्राह्मणायैव सुरायामसुरास्तथा ॥ ४३ ॥
देवयान्यथ भूयोऽपि पितरं वाक्यमब्रवीत् ।
पुष्पाहारः प्रेषणकृत्कचस्तात न दृश्यते ॥ ४४ ॥
व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति
तं विना न च जीवेयं कचं सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ४५ ॥
शुक्र उवाच—बृहस्पतेः सुतः पुत्रि कचः प्रेतगतिं गतः ।
विद्यया जीवितोऽप्येवं हन्यते करवाम किम् ॥ ४६ ॥
मैवं शुचो मा रुद देवयानि न त्वादृशी मर्त्यमनुप्रशोचते ।
यस्यास्तव ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च सेन्द्रा देवा वसवोऽथाश्विनौ च ॥ ४७ ॥

पास आया हूँ। देवयानी के फिर कच से पूछने पर उसने वैसा ही उत्तर दिया। कुछ समय व्यतीत होने पर फिर देवयानी ने कच को फूल लेने के लिये वन को भेजा। फिर दानवों ने उसे देखकर उसके शरीर को पीसकर समुद्र के जल में मिला दिया और आप अपने अपने स्थान को चले गये ॥४०-४२॥

जब उसको गये बहुत काल हो गया, तब देवयानी ने अपने पिता से उसका वृत्तान्त कहा। शुक्र ने उसे फिर जीवित कर दिया। कच ने उसी तरह जीकर देवयानी को सब वृत्तान्त कह सुनाया। इसके पश्चात् तीसरी बार असुरों ने उसे मारा और जलाकर उसकी राख मदिरा में मिलाकर शुक्राचार्य को ही पिला दी। फिर देर तक कच के न आने पर देवयानी ने शुक्र से कहा—हे पिता! कच मेरे लिये फूल लेने गया था। बहुत देर हो गई अभी तक नहीं आया। अवश्य उसे दैत्यों ने मार डाला होगा। आप सत्य समझें कि, उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती हूँ। शुक्र ने कहा हे पुत्री! बृहस्पति का पुत्र कच मर गया है। मैं विद्या के बल

सुरद्विपश्चैव जगच्च सर्वमुपस्थाने सन्नमन्ति प्रभावात् ।
अशक्योऽसौ जीवयितुं द्विजातिः संजीवितो वध्यते चैव भूयः ॥ ४८ ॥

देवयान्युवाच—यस्याऽङ्गिरा वृद्धतमः पितामहो बृहस्पतिश्चापि पिता तपोनिधिः ।
ऋषेः पुत्रं तमथो वापि पौत्रं कथं नु शोचेयमहं न रुद्याम् ॥ ४९ ॥
स ब्रह्मचारी च तपोधनश्च सदोत्थितः कर्मसु चैव दक्षः ।
कचस्य मार्गं प्रतिपत्स्ये न भोक्ष्ये प्रियो हि मे तात कचोऽभिरूपः ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच—स पीडितो देवयान्या महर्षिः समाह्वयत्संरम्भाच्चैव काव्यः ।
असंशयं मामसुरा द्विषन्ति ये मे शिष्यानागतान्सूदयन्ति ॥ ५१ ॥
अब्राह्मणं कर्तुमिच्छन्ति रौद्रास्ते मां यथा व्यभिचरन्ति नित्यम् ।
अप्यस्य पापस्य भवेदिहान्तः कं ब्रह्महत्या न दहेदपीन्द्रम् ॥ ५२ ॥
गुरोर्हि भीतो विद्यया चोपहूतः शनैर्वाक्यं जठरे व्याजहार ।

वैशम्पायन उवाच—तमब्रवीत्केन पथोपनीतस्त्वं चोदरं तिष्ठसि ब्रूहि विप्र ॥ ५३ ॥

कच उवाच-तव प्रसादान्न जहाति मां स्मृतिः स्मरामि सर्वं यच्च यथा च वृत्तम् ।
न त्वेवं स्यात्तपसः संक्षयो मे ततः क्लेशं घोरमिमं सहामि ॥ ५४ ॥
असुरैः सुरायां भवतोऽस्मि दत्तो हत्वा दग्ध्वा चूर्णयित्वा च काव्य ।
ब्राह्मीं मायां चासुरीं विप्र मायां त्वयि स्थिते कथमेवातिवर्तेत ॥ ५५ ॥

मे उसे जिलाता हूं और दैत्य उसे मार डालते हैं। मैं क्या करूं ॥४७।४८॥

हे देवयानी ! इस प्रकार तुमको रोना और शोक करना उचित नहीं है। तेरी सदृश को मरनेवाले का सोच नहीं करना चाहिये। मेरे कारण वेद, ब्राह्मण, इन्द्र सहित देवता, अश्विनीकुमार और सारे जगत् के प्राणी सन्ध्या समय तुम्हारी आराधना करते हैं। मैं कच को बार बार जिलाता हूं। परन्तु असुर मार डालते हैं। अतएव अब मैं उसको जिला नहीं सकता हूं। देवयानी ने कहा—कच साधारण पुरुष नहीं है। वह ब्रह्मा के पुत्र अत्यन्त वृद्ध अंगिरा का पोता और तपोनिधि बृहस्पति का बेटा है। उस ऋषिपुत्र और पौत्र का कैसे सोच न करूं और न रोऊं ॥४७।४९॥

वह ब्रह्मचारी, तपस्वी चतुर, सर्वदा आज्ञाकारी है। वह मुझे बहुत प्यारा लगता है। उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती। अन्नादि का त्याग कर प्राण दे दूंगी। वैशम्पायन ने कहा देवयानी से पीडित महर्षि शुक्र ने क्रोध से पुकार कर कहा अवश्य ही असुर मेरे साथ द्वेष करके मेरे बुलाये हुए शिष्य को मार डालते हैं। वे मेरे निर्दोष शिष्य को बार बार मारकर मेरे विरुद्ध आचरण करते हैं। वह दुष्ट असुर मुझे भी इस ब्रह्महत्या के पाप में फंसाना चाहते हैं। इस पाप का परिणाम अवश्य

शुक्र उवाच—किं ते प्रियं करवाण्यद्य वत्से वधेन मे जीवितं स्यात्कचस्य ।
नान्यत्र कुक्षेर्मम भेदनेन दृश्येत्कचो मद्गतो देवयानि ॥ ५६ ॥
देवयान्युवाच—द्वौ मां शोकावग्निकल्पौ दहेतां कचस्य नाशस्तव चैवोपघातः ।
कचस्य नाशे मम शर्म नास्ति तवोपघाते जीवितुं नास्मि शक्ता ॥ ५७ ॥
शुक्र उवाच—संसिद्धरूपोऽसि बृहस्पतेः सुत यत्त्वां भक्तं भजते देवयानि ।
विद्यामिमां प्राप्नुहि जीवनीं त्वं न चेदिन्द्रः कचरूपी त्वमद्य ॥ ५८ ॥
न निवर्तेत्पुनर्जीवन्कश्चिदन्यो ममोदरात् ।
ब्राह्मणं वर्जयित्वैकं तस्माद्विद्यामवाप्नुहि ॥ ५९ ॥
पुत्रो भूत्वा भावये भावितो मामस्मद्देहादुपनिष्क्रम्य तात ।
समीक्षेथा धर्मवतीमवेक्षां गुरोः सकाशात्प्राप्य विद्यां सविद्यः ॥ ६० ॥
वैशम्पायन उवाच—गुरोः सकाशात्समवाप्य विद्यां भित्त्वा कुक्षिं निर्विचक्राम विप्रः ।
कचोऽभिरूपस्तत्क्षणाद्ब्राह्मणस्य शुक्लात्यये पौर्णमास्यामिवेन्दुः ॥ ६१ ॥
दृष्ट्वा च तं पतितं ब्रह्मराशिमुत्थापयामास मृतं कचोऽपि ।
विद्यां सिद्धां तामवाप्याभिवाद्य ततः कचस्तं गुरुमित्युवाच ॥ ६२ ॥

होगा। ब्रह्महत्या का पाप इन्द्र को भी जला सकता है ॥५०।५२॥

इसके पश्चात जब शुक्रजी ने विद्या के बल से कच को पुकारा, तब वह अपने गुरु का शब्द सुनते ही डरकर धीरे से गुरु जी के पेट में बोला। कच को अपने पेट के भीतर बोलते देख शुक्र ने पूछा—हे कच! तुम मेरे पेट के भीतर किस राह से पहुंच गये हो? यह सुनकर कच बोला आपकी कृपा से मेरी स्मृति वैसी ही है। मुझको सब वृत्तान्त याद है, परन्तु उदर से निकलने में आप के मरने और तप के क्षय होने का भय है। इस कारण मैं इस घोर क्लेश को सह रहा हूं। हे शुक्र! असुरों ने मुझे मारकर जला दिया, फिर मेरे शरीर की राख मदिरा में मिलाकर आपको पिला दी है। आप ब्राह्मी, आसुरी और दैवी तीनों मायाओं को अच्छी तरह जानते है। अतएव आपके पेट को फोडकर बाहर निकलना मेरे लिये सब तरह कठिन है। तब शुक्र ने कहा—हे पुत्री! मै तेरा क्या प्रिय करूं? मेरे मरने से कच का जीवन हो सकता है ॥५३।५६॥

देवयानी ने कहा कच का नाश और आपकी मृत्यु ये दोनों शोक अग्नि के सदृश मेरे हृदय को जलाते है। कच की मृत्यु से मेरे सुख का नाश और आपके मरने से मेरे प्राणों का नाश होगा। हे बृहस्पति के पुत्र कच! तुम्हारा अभिप्राय सिद्ध हुआ क्योंकि देवयानी तुमसे प्रेम करती है। यदि तुम कच के रूप में इन्द्र नहीं हो तो मैं तुमको यह सञ्जीविनी विद्या देता हूं। इन्द्र का सन्देह करना

यः श्रोत्रयोरमृतं संनिषिञ्चेद्यो मे नविद्यस्य यथा ममायम् ।
तं मन्येऽहं पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कृतमस्य जानन् ॥ ६३ ॥
ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य निधिं निधीनामपि लब्धविद्याः ।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाँल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः ॥ ६४ ॥
वैशम्पायन उवाच—सुरापानाद्वञ्चनां प्राप्य विद्वान्संज्ञानाशं चैव महातिघोरम् ।
दृष्ट्वा कचं चापि तथाभिरूपं पीतं तदा सुरया मोहितेन ॥६५॥
समन्युरुत्थाय महानुभावस्तदोशना विप्रहितं चिकीर्षुः ।
सुरापानं प्रति संजातमन्युः काव्यः स्वयं वाक्यमिदं जगाद ॥ ६६ ॥
यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चिन्मोहात्सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः ।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्यादस्मिँल्लोके गर्हितः स्यात्परे च ॥ ६७ ॥
मया चैतां विप्रधर्मोक्तिसीमां मर्यादां वै स्थापितां सर्वलोके ।
सन्तो विप्राः शुश्रुवांसो गुरूणां देवा लोकाश्चोपशृण्वन्तु सर्वे ॥ ६८ ॥
इतीदमुक्त्वा स महानुभावस्तपोनिधीनां निधिरप्रमेयः ।
तान्दानवान्दैवविमूढबुद्धीनिदं समाहूय कचोऽभ्युवाच ॥ ६९ ॥

वृथा है। ब्राह्मण के सिवाय और कोई मेरे पेट में जीता नहीं रह सकता। मैं तुमको जिलाता हूं। तुम विद्या पाकर मेरे शरीर से निकलकर मुझको भी जिला देना। तुम आज से मेरे पुत्र के समान हुए। गुरु से विद्या पाकर धर्म के अनुसार वर्ताव करना ॥५७।६०॥

वैशम्पायन ने कहा—वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कच गुरु से विद्या पाकर उसके पेट से पूर्णमासी के चन्द्रमा की नाईं बाहर निकला। वैसे ही ब्रह्मतेज के ढेर के समान मरे हुए शुक्राचार्य को कच ने उसी विद्या के बल से जिला दिया। इस प्रकार सिद्ध हुई विद्या को पाकर कच गुरु से बोला—हे महाराज! आपने मुझको सञ्जीविनी विद्या दी है। आप मेरे माता और पिता के समान हैं। मैं आपसे कभी द्रोह नहीं करूंगा। जो मनुष्य विद्या के देनेवाले परम पूजनीय गुरु का आदर नहीं करते हैं, वे इस लोक में अपयश पाकर परलोक में दुर्गति भोगते हैं। वैशम्पायन ने कहा हे जनमेजय! इसके उपरान्त शुक्राचार्य ने मदिरापान करना स्मरण करके जिसके कारण से उनका ज्ञान नष्ट हो गया था और ज्ञान नष्ट होने से ऐसे धोखे में आगये थे, बड़ा क्रोध किया। ब्राह्मणों की भलाई के हेतु मदिरापान की निन्दा करते हुए शुक्राचार्य ने कहा—जो कोई मन्दबुद्धि ब्राह्मण आज से मोहवश होकर मदिरापान करेगा, वह धर्मरहित होकर इस लोक में निन्दित किया जावेगा और उसको ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। साधु, गुरु की सेवा करनेवाले ब्रह्मचारी, ब्राह्मण, देवता और सब संसार के लोगों को सुनाकर आज

आचक्षे वो दानवा बालिशाः स्थसिद्धः कचो वत्स्यति मत्सकाशे ।
संजीविनीं प्राप्य विद्यां महात्मा तुल्यप्रभावो ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः ॥ ७० ॥
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स भार्गवः ।
दानवा विस्मयाविष्टाः प्रययुः स्वं निवेशनम् ॥ ७१ ॥
गुरोरुष्य सकाशे तु दश वर्षशतानि सः ।
अनुज्ञातः कचो गन्तुमियेष त्रिदशालयम् ॥ ७२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने षट्सप्ततितमोऽध्याय ॥ ७६ ॥

से मैं ब्राह्मणों के धर्म की यह मर्यादा बाधता हूँ ॥६१।६८॥

तपोनिधियों के निधि, प्रतापी, महानुभाव शुक्र ने यह कहकर प्रारब्ध से नष्ट हुए हुए बुद्धिवाले दानवों को बुलाया और उनसे कहा—हे दानवो ! तुम मूर्ख हो। यह कच मुझसे संजीविनी विद्या प्राप्त-कर साक्षात् ब्रह्मा के और मेरे समान प्रभावशाली हो गया है। यह अब मेरे पास ही रहेगा। शुक्राचार्य की यह बात सुनकर दानवों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चुपचाप अपने अपने स्थान को चले गये। कच ने एक हजार वर्ष तक गुरु के पास रहकर स्वर्ग को जाने की इच्छा प्रकट की ॥६९।७२॥

आदिपर्व का छिहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तसप्ततितमोऽध्याय ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन उवाच समावृत्तव्रतं तं तु विसृष्टं गुरुणा तदा ।
प्रस्थितं त्रिदशावासं देवयान्यब्रवीदिदम् ॥ १ ॥
ऋषेराङ्गिरसः पौत्र वृत्तेनाभिजनेन च ।
भ्राजसे विद्यया चैव तपसा च दमेन च ॥ २ ॥
ऋषिर्यथाऽङ्गिरा मान्यः पितुर्मम महायशाः ।
तथा मान्यश्च पूज्यश्च मम भूयो बृहस्पतिः ॥ ३ ॥
एवं ज्ञात्वा विजानीहि यद्ब्रवीमि तपोधन ।
व्रतस्थे नियमोपेते यथा वर्ताम्यहं त्वयि ॥ ४ ॥

॥ सतहत्तरवा अध्याय ७७ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे जनमेजय ! समाप्त व्रत वाले, गुरु से आज्ञा पाये हुए, स्वर्ग को जाते हुए कच से देवयानी ने कहा हे कच ! तुम महर्षि अङ्गिरा के पौत्र, कुलीन, सदाचारी, विद्वान तपस्वी और जितेन्द्रिय हो। जैसे महर्षि अङ्गिरा मेरे पिता के मान्य हैं, वैसे ही बृहस्पति मेरे भी मान्य और पूजनीय हैं। हे तपोधन ! यह विचार कर तुम मेरा कहा मानो। तुम जानते हो कि, जब तुम

स समावृतविद्यो मां भक्तां भजितुमर्हसि ।
गृहाण पाणिं विधिवन्मम मन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥
कच उवाच—पूज्यो मान्यश्च भगवान्यथा तव पिता मम ।
तथा त्वमनवद्यांगि पूजनीयतरा मम ॥ ६ ॥
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्गवस्य महात्मनः ।
त्वं भद्रे धर्मतः पूज्या गुरुपुत्री सदा मम ॥ ७ ॥
यथा मम गुरुर्नित्यं मान्यः शुक्रः पिता तव ।
देवयानि तथैव त्वं नैवं मां वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥
देवयान्युवाच—गुरुपुत्रस्य पुत्रो वै न त्वं पुत्रश्च मे पितुः ।
तस्मात्पूज्यश्च मान्यश्च ममापि त्वं द्विजोत्तम ॥ ९ ॥
असुरैर्हन्यमाने च कच त्वयि पुनः पुनः ।
तदा प्रभृति या प्रीतिस्तां त्वमद्य स्मरस्व मे ॥ १० ॥
सौहार्दे चानुरागे च वेत्थ मे भक्तिमुत्तमाम् ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ त्यक्तुं भक्तामनागसम् ॥ ११ ॥
कच उवाच—अनियोज्ये नियोगे मां नियुनङ्क्षि शुभव्रते ।
प्रसीद सुभ्रु त्वं मह्यं गुरोर्गुरुतरा शुभे ॥ १२ ॥

ब्रह्मचर्य पालन करते हुए विद्या पढ़ रहे थे, तब मैंने तुम्हारे साथ कैसा वर्ताव किया था । किसतरह बार बार प्रार्थना करके पिता से तुम्हारे जीवन की रक्षा करवाई थी । अब तुम ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त कर चुके हो । मैं तुमको चाहती हू । तुम विधिपूर्वक मेरे साथ विवाह कर लो । कच ने कहा-जिस तरह तुम्हारे पिता मेरे मान्य और पूजनीय है, उसी-तरह मै तुमको भी समझता हू । जैसे महात्मा शुक्र को तुम प्राणों से अधिक प्यारी हो, वैसे ही गुरु-कन्या होने के कारण धर्म की दृष्टि मे मेरे लिये पूजनीय हो । जैसे मेरा गुरु तुम्हारा पिता शुक्र मुझको नित्य माननीय है, हे देवयानी ! वैसे ही तुम हो । तुम मेरी धर्म की बहिन हो । तुम ऐसी अनुचित बात मत कहो ॥१।८॥

देवयानी ने कहा हे कच ! तुम मेरे पिता के पुत्र नहीं हो । मेरे पिता के गुरु-पुत्र बृहस्पति के बेटे हो । हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! इस कारण तुम भी मेरे मान्य और पूजनीय हो । हे कच ! याद करो, जब असुरों ने तुमको बार-बार मारडाला, तब मैने ही पिता से कहकर तुम्हें जिन्दा कराया है । तब ही मे तुमसे प्रीति हो गई है । मित्रता और प्रेम में मेरी उत्तम भक्ति को तुम जानते हो । हे धर्मज्ञ ! मुझको छोड़ना तुम्हें योग्य नहीं है । कच ने कहा-हे उत्तम व्रतवाली देवयानी ! न करने योग्य कार्य

यत्रोषितं विशालाक्षि त्वया चन्द्रनिभानने ।
तत्राहमुषितो भद्रे कुक्षौ काव्यस्य भाविनि ॥ १३ ॥
भगिनी धर्मतो मे त्वं मैवं वोचः सुमध्यमे ।
सुखमस्म्युषितो भद्रे न मन्युर्विद्यते मम ॥ १४ ॥
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि शिवमाशंस मे पथि ।
अविरोधेन धर्मस्य स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ।
अप्रमत्तोत्थिता नित्यमाराधय गुरुं मम ॥ १५ ॥
देवयान्युवाच—यदि मां धर्मकामार्थे प्रत्याख्यास्यसि याचितः ।
ततः कच न ते विद्या सिद्धिमेषा गमिष्यति ॥ १६ ॥
कच उवाच—गुरुपुत्रीति कृत्वाऽहं प्रत्याचक्षे न दोषतः ।
गुरुणा चाननुज्ञातः काममेवं शपस्व माम् ॥ १७ ॥
आर्ष धर्मं ब्रुवाणोऽहं देवयानि यथा त्वया ।
शप्तो नार्होऽस्मि शापस्य कामतोऽद्य न धर्मतः ॥ १८ ॥
तस्माद्भवत्या यः कामो न तथा स भविष्यति ।
ऋषिपुत्रो न ते कश्चिज्जातु पाणिं ग्रहीष्यति ॥ १९ ॥

में तुम मुझको नियुक्त करती हो। हे शुभे ! मैं तुम्हें गुरु से भी अधिक हृदय में मानता हूं ॥०।१२॥

हे बड़े नेत्रवाली चन्द्रमुखी ! जिस शुक्र की कोख में तुम रही हो, उसीमें मैं भी निवास कर चुका हूं। इस कारण से तुम भी मेरी बहिन हो। तुम ऐसी बात न कहो। मैं तुमसे किसी प्रकार से असन्तुष्ट नहीं हूं। अब मैं तुमसे जाने की आज्ञा मांगता हूं। मार्ग में मेरे कल्याण होने का आशीर्वाद दो। धर्ममार्ग में मुझे कभी कभी याद किया करना। नित्य सावधानी से मेरे गुरु की सेवा करना। देवयानी ने कहा, हे कच ! तुम मुझको धर्म और कामार्थ में मांगनी हुई को त्याग करते हो, इससे तुम्हारी कामना सफल न होगी ॥१३।१६॥

कच ने कहा—गुरु कन्या समझकर ही मैंने तुम्हारा कहना नहीं माना। तुममें कोई दोष समझ कर मैंने यह काम नहीं किया। गुरु ने भी इस बारे में मुझे कुछ नहीं कहा। इस पर भी यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो मैं तुम्हारा शाप स्वीकार करने को तय्यार हूं। हे देवयानी ! मैंने ऋषियों के धर्म को मानकर तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। तुमने धर्म का विचार न करते हुए काम के वशीभूत होकर शाप दिया है। मैं शाप के योग्य नहीं हूं। इस कारण तुम्हारी इच्छा पूर्ण न होगी और कोई ऋषि तुम्हारा पति न होगा। तुमने जो मुझे शाप दिया है उससे मेरी कुछ हानि नहीं। मैं यह

फलिष्यति न ते विद्या यत्त्वं मामात्थ तत्तथा ।
अध्यापयिष्यामि तु यं तस्य विद्या फलिष्यति ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा द्विजश्रेष्ठो देवयानीं कचस्तदा ।
त्रिदशेशालयं शीघ्रं जगाम द्विजसत्तमः ॥ २१ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य देवा इन्द्रपुरोगमाः ।
बृहस्पतिं सभाज्येदं कचं वचनमब्रुवन् ॥ २२ ॥
देवा ऊचु—यत्त्वयास्मद्धितं कर्म कृतं वै परमाद्भुतम् ।
न ते यशः प्रणशिता भागभाक्त्वं भविष्यसि ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

विद्या जिसको पढ़ाऊँगा, उसको फलीभूत होगी। वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! ब्राह्मणों में श्रेष्ठ कच देवयानी से यह कहकर शीघ्र देवलोक को चला गया। इन्द्रादि देवताओं ने कच को आया हुआ देखकर बृहस्पति का सत्कार किया और कच से बोले—हे कच ! तुमने हमारे हित के लिये यह अद्भुत काम किया है, इससे तुम्हारा यश कभी नष्ट न होगा और तुमको हमारे साथ यज्ञ में भाग मिलेगा ॥१७।२३॥

आदिपर्व का सतहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

वैशंपायन उवाच—कृतविद्ये कचे प्राप्ते हृष्टरूपा दिवौकसः ।
कचादधीत्य तां विद्यां कृतार्था भरतर्षभ ॥ १ ॥
सर्व एव समागम्य शतक्रतुमथाब्रुवन् ।
कालस्ते विक्रमस्याद्य जहि शत्रून्पुरन्दर ॥ २ ॥
एवमुक्तस्तु सहितैस्त्रिदशैर्मघवांस्तदा ।
तथेत्युक्त्वा प्रचक्राम सोऽपश्यत वने स्त्रियः ॥ ३ ॥

॥ अठहत्तरवाँ अध्याय ७८ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे जनमेजय ! सब देवताओं ने कच से वह मृतसञ्जीवनी विद्या सीखकर सब देवता अपने को कृतार्थ समझकर बहुत प्रसन्न हुए। तत्पश्चात् सब देवता एकत्रित होकर इन्द्र से बोले हे इन्द्र ! अब इस समय आप अपना पराक्रम शत्रुओं को दिखा सकते हैं। दैत्यों पर चढ़ाई कीजिये। इन्द्र ने देवताओं का कहना मानकर दैत्यों पर चढ़ाई कर दी। राह में इन्होंने एक

क्रीडन्तीनां तु कन्यानां वने चैत्ररथोपमे ।
वायुभूतः स वस्त्राणि सर्वाण्येव व्यमिश्रयत् ॥ ४ ॥
ततो जलात्समुत्तीर्य कन्यास्ताः सहितास्तदा ।
वस्त्राणि जगृहुस्तानि यथासन्नान्यनेकशः ॥ ५ ॥
तत्र वासो देवयान्याः शर्मिष्ठा जगृहे तदा ।
व्यतिमिश्रमजानन्ती दुहिता वृषपर्वणः ॥ ६ ॥
ततस्तयोर्मिथस्तत्र विरोधः समजायत ।
देवयान्याश्च राजेन्द्र शर्मिष्ठायाश्च तत्कृते ॥ ७ ॥

देवयान्युवाच—कस्माद् गृह्णासि मे वस्त्रं शिष्या भूत्वा ममासुरि ।
समुदाचारहीनाया न ते साधु भविष्यति ॥ ८ ॥

शर्मिष्ठोवाच—आसीनं च शयानं च पिता ते पितरं मम ।
स्तौति वन्दीव चाभीक्ष्णं नीचैः स्थित्वा विनीतवत् ॥ ९ ॥
याचतस्त्वं हि दुहिता स्तुवतः प्रतिगृह्णतः ।
सुताऽहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥ १० ॥
आदुन्वस्व विदुन्वस्व द्रुह्य कुप्यस्व याचकि ।
अनायुधा सायुधाया रिक्ता क्षुभ्यसि भिक्षुकि ।
लप्स्यसे प्रतियोद्धारं न हि त्वां गणयाम्यहम् ॥ ११ ॥

सरोवर में कुछ स्त्रियों को स्नान करते देखा। उस समय इन्द्र ने वायु होकर उन स्त्रियों के वस्त्रों को उड़ाकर मिला दिया। जब वे स्त्रियाँ स्नान करके बाहर आईं, तब उन्होंने जल्दी में जिसका वस्त्र जिसके हाथ आया, उसने उसी को पहिन लिया। उस समय देवयानी के वस्त्र शर्मिष्ठा नाम वृषपर्वा दैत्य की कन्या ने भूल से पहिन लिये। इस कारण उन दोनों में झगड़ा होने लगा ॥१-७॥

देवयानी ने कहा—हे असुरकन्ये! तुमने मेरे पिता के शिष्य की लड़की होकर मेरे वस्त्रों को क्यों पहिन लिया। सदाचार हीन होने से तुम्हारा भला न होगा। यह सुनकर शर्मिष्ठा ने कहा तुम्हारा बाप नीचे खड़ा होकर मेरे पिता की वन्दीजनों के समान स्तुति किया करता है। मेरे और तुम्हारे में बड़ा अन्तर है। तुम भिखारी, दान लेनेवाले और स्तुति करनेवाले की पुत्री हो और मैं स्तुति किये जानेवाले, दान देनेवाले और स्वयं न लेनेवाले की पुत्री हूँ। तुम चाहे गाओ, चाहे छाती पीटो, चाहे क्रोध करो, चाहे धूलि में लेटो, चाहे क्रोध से बदला लेने की चेष्टा करो, मैं तुमको कुछ

वैशम्पायन उवाच—समुच्छ्रयं देवयानी गतां सक्तां च वासासि ।
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत्कूपे ततः स्वपुरमागमत् ॥ १२ ॥
हतेयमिति विज्ञाय शर्मिष्ठा पापनिश्चया ।
अनवेक्ष्य ययौ वेश्म क्रोधवेगपरायणा ॥ १३ ॥
अथ तं देशमभ्यागाद्ययातिर्नहुषात्मजः ।
श्रान्तयुग्यः श्रान्तहयो मृगलिप्सुः पिपासितः ॥ १४ ॥
स नाहुषः प्रेक्षमाण उदपानं गतोदकम् ।
ददर्श राजा तां तत्र कन्यामग्निशिखामिव ॥ १५ ॥
तामपृच्छत्स दृष्ट्वैव कन्याममरवर्णिनीम् ।
सान्त्वयित्वा नृपश्रेष्ठः साम्ना परमवल्गुना ॥ १६ ॥
का त्वं ताम्रनखी श्यामा सुमृष्टमणिकुण्डला ।
दीर्घं ध्यायसि चात्यर्थं कस्माच्छोचसि चातुरा ॥ १७ ॥
कथ च पतिताऽस्यस्मिन्कूपे वीरुत्तृणावृते ।
दुहिता चैव कस्य त्वं वद सत्यं सुमध्यमे ॥ १८ ॥
देवयान्युवाच—योऽसौ देवैर्हतान्दैत्यानुत्थापयति विद्यया ।
तस्य शुक्रस्य कन्याऽहं स मां नून न बुध्यते ॥ १९ ॥
एष मे दक्षिणो राजन्पाणिस्ताम्रनखाङ्गुलिः ।
समुद्धर गृहीत्वा मां कुलिनस्त्वं हि मे मतः ॥ २० ॥

नहीं गिनती हूँ। हे भिखारी ! तुम शस्त्ररहित और निर्धन होकर मुझ सायुध पर क्रोध करती हो और मुझसे शत्रुता करती हो, मैं तुमको कुछ नहीं समझती हूँ। शर्मिष्ठा ने ऐसा कहकर देवयानी को कुएँ में डाल दिया और क्रोध के आवेश में वह पापिनी यह समझकर कि, वह मर गई है, वहाँ से विना विचारे घर को चली आई ॥८।१३॥

अकस्मात् उसी देश में नहुष का पुत्र राजा ययाति गया। ययाति जिसके रथ के घोड़े आदि थक गये थे, मृगों का पीछा करता हुआ, प्यास से व्याकुल, जल की तलाश में कुएँ में पड़ी हुई अग्नि के समान तेजस्विनी देवयानी को देखा और उस देवकन्या के समान रूपवाली से पूछा। राजाओं में श्रेष्ठ ययाति ने मीठे वचनों से समझाते हुए देवयानी से पूछा हे लाल नखवाली सुन्दरी ! तुम कौन हो ? तुम मणिकुण्डल धारण किये हुए गहरे विचार में पड़ी हुई क्या सोचकर रही हो ? लता और घास आदि से भरे हुए इस कुएँ में फँस

जानामि त्वामहं शान्तं वीर्यवन्तं यशस्विनम् ।
तस्मान्मां पतितामस्मात्कूपादुद्धर्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच—तामथो ब्राह्मणीं राजा विज्ञाय नहुषात्मजः ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणावुज्जहार ततोऽवटात् ॥ २२ ॥
उद्धृत्य चैनां तरसा तस्मात्कूपान्नराधिपः ।
आमन्त्रयित्वा सुश्रोणीं ययातिः स्वपुरं ययौ ॥ २३ ॥
गते तु नाहुषे तस्मिन्देवयान्यप्यनिन्दिता ।
उवाच शोकसंतप्ता घूर्णिकामागतां पुरः ॥ २४ ॥

देवयान्युवाच—त्वरितं घूर्णिके गच्छ शीघ्रमाचक्ष्व मे पितुः ।
नेदानीं संप्रवेक्ष्यामि नगरं वृषपर्वणः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—सा तत्र त्वरितं गत्वा घूर्णिकाऽसुरमन्दिरम् ।
दृष्ट्वा काव्यमुवाचेद सम्भ्रमाविष्टचेतना ॥ २६ ॥
आचचक्षे महाप्राज्ञं देवयानीं वने हताम् ।
शर्मिष्ठया महाभाग दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ २७ ॥
श्रुत्वा दुहितरं काव्यस्तत्र शर्मिष्ठया हताम् ।
त्वरया निर्ययौ दुःखान्मार्गमाणः सुतां वने ॥ २८ ॥

गिर पड़ी हो ? ॥१४।१८॥

हे सुमध्यमे ! तुम किसकी कन्या हो ? सत्य सत्य कहो। देवयानी ने कहा जो देवताओं से मारे हुए दैत्यों को अपनी मृतसञ्जीविनी विद्या से जिलाता है, उस शुक्र की मैं कन्या हूँ। उनको मेरे यहाँ गिरने की खबर नहीं मिली ? हे राजन् ! मैं आपको कुलीन समझती हूँ। आप मेरा यह दाहिना हाथ पकड़कर ऊपर निकाल लीजिये। मैं आपको जानती हूँ। आप शान्तचित्त, पराक्रमी और यशस्वी हैं। इस कारण आप मेरा हाथ पकड़कर इस कुएँ से निकालने योग्य हो। वैशम्पायन ने कहा इसके उपरान्त राजा ययाति ने उसे ब्राह्मण कन्या जानकर उसके दाहिने हाथ को पकड़कर कुएँ के खड्ड में से निकाल दिया। उस उत्तम कमरवाली कन्या से आज्ञा लेकर राजा अपने नगर को चला गया। ययाति के चले जाने पर शोक से दुःखी देवयानी ने सामने से आती हुई अपनी दासी से क्रोध से कहा हे दासी ! तुम जल्दी जाकर मेरे पिता से सब वृत्तान्त कह दो ॥१९।२५॥

मैं अब वृषपर्वा के नगर में प्रवेश नहीं करूँगी। वैशम्पायन ने कहा हे जनमेजय ! वह घूर्णिका दासी देवयानी की आज्ञा पाकर घबराई हुई, शुक्र के पास आई और वन में देवयानी और शर्मिष्ठा की लड़ाई होने का सब वृत्तान्त कह सुनाया। यह

दृष्ट्वा दुहितरं काव्यो देवयानीं ततो वने ।
बाहुभ्यां संपरिष्वज्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ॥ २९ ॥
आत्मदोषैर्नियच्छन्ति सर्वे दुःखसुखे जनाः ।
मन्ये दुश्चरितं तेऽस्ति यस्येयं निष्कृतिः कृता ॥ ३० ॥
देवयान्युवाच—निष्कृतिर्मेऽस्तु वा मास्तु श्रृणुष्वावहितो मम ।
शर्मिष्ठया यदुक्ताऽस्मि दुहित्रा वृषपर्वणाः ॥ ३१ ॥
सत्यं किलैतत्सा प्राह दैत्यानामसि गायनः ॥ ३२ ॥
एवं हि मे कथयति शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
वचनं तीक्ष्णपरुषं क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ॥ ३३ ॥
स्तुवतो दुहिता नित्यं याचतः प्रतिगृह्णतः ।
अहं तु स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥ ३४ ॥
इदं मामाह शर्मिष्ठा दुहिता वृषपर्वणः ।
क्रोधसंरक्तनयना दर्पपूर्णा पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
यद्यहं स्तुवतस्तात दुहिता प्रतिगृह्णतः ।
प्रसादयिष्ये शर्मिष्ठामित्युक्ता तु सखी मया ॥ ३६ ॥
शुक्र उवाच—स्तुवतो दुहिता न त्वं याचतः प्रतिगृह्णतः ।
अस्तोतुः स्तूयमानस्य दुहिता देवयान्यसि ॥ ३७ ॥

सुनकर घबराये हुए शुक्र देवयानी को ढूँढने के लिये जल्दी से वन को दौड़े। वहां देवयानी को देखकर दोनों हाथों से अपने हृदय से लगाया। उन्होंने दुःखित होकर कहा कि, मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार सुख और दुःख भोगता है। मैं समझता हूं कि, तुमने कोई ऐसा काम किया होगा, जिसका फल यह तुमको मिला है। देवयानी ने कहा—मुझे चाहे जिस दोष का फल मिला हो, परन्तु सावधानी से तुम मेरे वचन को सुनो ॥२९।३२॥

क्या वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने मुझसे सत्य ही कहा था कि तुम दैत्यों की गवैया हो ? अत्यन्त क्रोध से लाल नेत्र करके वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने मुझसे यह कठोर वचन कहा—स्तुति करनेवाले, सदा भिखारी, दान लेनेवाले की तुम पुत्री हो और मैं स्तुति करानेवाले, दान देनेवाले और स्वयं दान न लेनेवाले की पुत्री हूं। घमण्ड और क्रोध से लाल नेत्र किये हुए शर्मिष्ठा ने मुझसे यह वचन बार बार कहा। हे तात ! यदि मैं स्तुति करनेवाले और दान लेनेवाले की पुत्री हूं, तो मैं अवश्य शर्मिष्ठा को प्रसन्न कर लूंगी और ऐसा ही मैंने अपनी सखी

वृषपर्वैव तद्वेद शक्रो राजा च नाहुषः ।
अचिन्त्यं ब्रह्म निर्द्वन्द्वमैश्वरं हि बलं मम ॥ ३८ ॥
यच्च किंचित्सर्वगतं भूमौ वा यदि वा दिवि ।
तस्याहमीश्वरो नित्यं तुष्टेनोक्तः स्वयंभुवा ॥ ३९ ॥
अहं जलं विमुञ्चामि प्रजानां हितकाम्यया ।
पुष्णाम्यौषधयः सर्वा इति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ४० ॥
वैशम्पायन उवाच एवं विषादमापन्नां मन्युना संप्रपीडिताम् ।
वचनैर्मधुरैः श्लक्ष्णैः सान्त्वयामास तां पिता ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

से भी कहा है ॥३२।३६॥

शुक्र ने कहा—हे देवयानी ! तुम स्तुति करनेवाले, दान लेनेवाले और भिखारी की पुत्री नहीं हो किन्तु दान न लेनेवाले और स्तुति करानेवाले की तुम पुत्री हो । नहुष के पुत्र राजा ययाति और इन्द्र इस बात को जानते है और स्वयं वृषपर्वा से भी यह बात छिपी नहीं है । मेरा यह ईश्वरसम्बन्धी ब्रह्मबल अचिन्त्य और अद्वितीय है । ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर मुझे पृथ्वी और स्वर्ग के सब पदार्थों का स्वामी बनाया है । मैं ही प्रजा के हित के लिये जल बर्षाता हू । मै ही वृष्टि से सब अन्नों और ओषधियों को पुष्ट करता हूं । मैं सत्य कहता हूं । वैशम्पायन ने कहा—इस प्रकार शोक और विषाद से पीड़ित देवयानी को मधुर और शांतिदायक वचनों से शुक्र ने समझाया ॥३७।४१॥

आदिपर्व का अठहत्तरवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

शुक्र उवाच—यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षते ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ १ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा ।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ॥ २ ॥

॥ उन्नासीवां अध्याय ७९ ॥

शुक्र ने कहा हे देवयानी ! जो कोई नित्य अपनी निन्दा को सुनकर सह लेता है, उसने मानो सब संसार को जीत लिया । जो कोई बिगड़े हुए घोड़े के समान क्रोध के वेग को रोक लेता है, वही सच्चा जितेन्द्रिय है । केवल घोड़े की लगाम पकड़नेवाला सवार नहीं कहा जा सकता, घोड़े को अपने वश में रखनेवाला ही सच्चा सवार है । हे देवयानी जो पुरुष क्रोध का त्याग करता है वह निश्चय सब

यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ ३ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति ।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥ ४ ॥
यः संधारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते ।
यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ॥ ५ ॥
यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः ।
न क्रुध्येद्यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः ॥ ६ ॥
यत्कुमाराः कुमार्यश्च वैरं कुर्युरचेतसः ।
न तत्प्राज्ञोऽनुकुर्वीत न विदुस्ते बलाबलम् ॥ ७ ॥
देवयान्युवाच—वेदाहं तात बालापि धर्माणां यदिहान्तरम् ।
अक्रोधे चापिवादे च वेद चापि बलाबलम् ॥ ८ ॥
शिष्यस्याशिष्यवृत्तेस्तु न क्षन्तव्यं बुभूषता ।
तस्मात्संकीर्णवृत्तेषु वासो मम न रोचते ॥ ९ ॥
पुमांसो ये हि निन्दन्ति वृत्तेनाभिजनेन च ।
न तेषु निवसेत्प्राज्ञः श्रेयोर्थी पापबुद्धिषु ॥ १० ॥

ससार को जीतता है । जो उत्पन्न हुए क्रोध को शांति से सर्प की कैंचुली (कुज) के समान दूर कर देता है, वही ससार में पुरुष है। जो क्रोध को रोक सकता है, जो दूसरे की की हुई निन्दा को सह लेता है, जो औरों से सताये जाने पर भी उसे कष्ट देना नहीं चाहता वही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पाने का अधिकारी है ॥१।५॥

जो सौ वर्ष तक हर महीने आनन्दपूर्वक श्राद्ध करता हुआ क्रोध नहीं करता, इन दोनों में कभी क्रोध न करनेवाला ही श्रेष्ठ समझा जायगा। जो पुत्र वा कन्या बुद्धिरहित होकर विरोध करते हैं, ये बल और दीनता का ज्ञान नहीं रखते। बुद्धिमान् ऐसा कार्य नहीं करते। देवयानी ने कहा—हे तात ! मैं बालिका होने पर भी धर्म के अन्तर को जानती हू और क्रोध झगड़े की बुराई भी मुझे विदित है। परन्तु ससार में प्रतिष्ठा की इच्छा करनेवाले मनुष्य को अन्यथा वर्ताव करनेवाले शिष्य को क्षमा करना योग्य नहीं। इन आप के शिष्य असुरों का व्यवहार हमारे साथ अच्छा नहीं देख पड़ता। इसीसे मैं अब इनके यहा रहना नहीं चाहती। जो पुरुष अपने चालचलन और कुटुम्ब के अभिमान से दूसरों की निन्दा करते हैं, उनके पास बुद्धिवाला मैं कल्याण का चाहनेवाला कदापि न रहे। जो अपने से दूसरों को अच्छा समझते हैं,

ये त्वेनमभिजानन्ति वृत्तेनाभिजनेन वा ।
तेषु साधुषु वस्तव्यं स वासः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ११ ॥
वाग्दुरुक्तं महाघोरं दुहितुर्वृषपर्वणः ।
मम मथ्नाति हृदयमग्निकाम इवारणिम् ।
न ह्यतो दुष्करतरं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु ॥ १२ ॥
यः सपत्नश्रियं दीप्तां हीनश्रीः पर्युपासते ।
मरणं शोभनं तस्य इति विद्वज्जना विदुः ॥ १३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

ऐसे महात्माओं में वास करना श्रेष्ठ कहलाता है। वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा के वाक्य मेरे हृदय को अभी तक अरणी काष्ठ को अग्नि के समान जला रहे हैं। निर्धनी को धनवान् शत्रु की सेवा करना किसी प्रकार से अच्छा नहीं है। तीनों लोकों में इससे बढकर कोई बुराई नहीं है और इससे मरना श्रेष्ठ है ॥६।१३॥

आदिपर्व का उन्नासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अशीतितमोऽध्याय ॥ ८० ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः काव्यो भृगुश्रेष्ठः समन्युरुपगम्य ह ।
वृषपर्वाणमासीनमित्युवाचाविचारयन् ॥ १ ॥
नाधर्मश्चरितो राजन्सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्यमानो हि कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ २ ॥
पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति ।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुभुक्तमिवोदरे ॥ ३ ॥
यद्घातयिथा विप्रं कचमांगिरसं तदा ।
अपापशीलं धर्मज्ञं शुश्रूषुं मद्गृहे रतम् ॥ ४ ॥

॥ अस्सीवां अध्याय ८० ॥

वैशम्पायन ने कहा। हे जनमेजय! भृगुवंशियों में श्रेष्ठ शुक्र को भी क्रोध हो आया। उन्होंने उसी समय वृषपर्वा के पास आकर कहा हे दानवराज! तुम नहीं जानते हो कि, गौ और पृथ्वी के समान अधर्म करने का भी फल जल्दी नहीं मिलता है। किन्तु यह अधर्म करनेवाले की जड़ को धीरे-धीरे काटता जाता है। यदि अधर्म का फल करनेवाले को नहीं मिलता है, तो उसके पुत्र और पोता को

वधादनर्हतस्तस्य वधाच्च दुहितुर्मम ।
वृषपर्वन्निबोधेदं त्यक्ष्यामि त्वां सबान्धवम् ।
स्थातुं त्वद्विषये राजन्न शक्ष्यामि त्वया सह ॥ ५ ॥
अहो मामभिजानासि दैत्य मिथ्याप्रलापिनम् ।
यथेममात्मनो दोषं न नियच्छस्युपेक्षसे ॥ ६ ॥
वृषपर्वोवाच—नाधर्मं न मृषा वादं त्वयि जानामि भार्गव ।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च तत्प्रसीदतु मे भवान् ॥ ७ ॥
यद्यस्मानपहाय त्वमितो गच्छसि भार्गव ।
समुद्रं संप्रवेक्ष्यामो नान्यदस्ति परायणम् ॥ ८ ॥
शुक्र उवाच—समुद्रं प्रविशध्वं वा दिशो वा द्रवतासुराः ।
दुहितुर्नाप्रियं सोढुं शक्तोऽहं दयिता हि मे ॥ ९ ॥
प्रसाद्यतां देवयानी जीवितं यत्र मे स्थितम् ।
योगक्षेमकरस्तेऽहमिन्द्रस्येव बृहस्पतिः ॥ १० ॥
वृषपर्वोवाच—यत्किंचिदसुरेन्द्राणां विद्यते वसु भार्गव ।
भुवि हस्तिगवाश्वं च तस्य त्वं मम चेश्वरः ॥ ११ ॥
शुक्र उवाच—यत्किंचिदस्ति द्रविणं दैत्येन्द्राणां महासुर ।
तस्येश्वरोऽस्मि यद्येषा देवयानी प्रसाद्यताम् ॥ १२ ॥

भोगना पड़ता है । जैसे भारी भोजन नहीं पचता, वैसे अधर्म भी फल दिखाये बिना नहीं रहता । तुमने धर्मशील, धर्मज्ञ, गुरु की सेवा करनेवाले, मेरे घर में ठहरे हुए अङ्गिरा के पोते कच को कई बार मारडाला ॥१।४॥

हे वृषपर्वा ! उस अवध्य के मारने और मेरी कन्या देवयानी के पीडा देने में मैं तुमको भाइयों सहित छोड़कर चला जाऊंगा । हे दैत्य ! तुम मुझे झूठा समझ रहे हो और अपने किये हुए दोष को नहीं मानते हो । वृषपर्वा ने कहा—हे भार्गव ! मैं आपको अधर्मी और झूठा कभी नहीं समझता हूं । आप तो धर्मात्मा और सत्यवादी हैं । आप मुझसे प्रसन्न रहें । हे भार्गव ! यदि आप हम लोगों को छोड़कर चले जायँगे, तो मैं आप के पहिले ही अपने बन्धु बान्धवों के साथ समुद्र में चला जाऊँगा । शुक्र ने कहा—हे असुरो ! चाहे तुम समुद्र में प्रवेश करो, या कहीं और चले जाओ; मैं यहां नहीं रहूंगा । देवयानी मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी है । उसके दुःख को मैं देख नहीं सकता । तुम देवयानी को प्रसन्न कर लो । मेरा जीवन उसी के अधीन है ।

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तथेत्याह वृषपर्वा महाकविः ।
देवयान्यन्तिकं गत्वा तमर्थं प्राह भार्गवः ॥ १३ ॥
देवयान्युवाच—यदि त्वमीश्वरस्तात राज्ञो वित्तस्य भार्गव ।
नाभिजानामि तत्तेऽहं राजा तु वदतु स्वयम् ॥ १४ ॥
वृषपर्वोवाच—यं काममभिकामासि देवयानि शुचिस्मिते ।
तत्तेऽहं संप्रदास्यामि यदि वापि हि दुर्लभम् ॥ १५ ॥
देवयान्युवाच—दासीं कन्यासहस्रेण शर्मिष्ठामभिकामये ।
अनु मां तत्र गच्छेत्सा यत्र दद्याच्च मे पिता ॥ १६ ॥
वृषपर्वोवाच—उत्तिष्ठ त्वं गच्छ धात्रि शर्मिष्ठां शीघ्रमानय ।
यं च कामयते कामं देवयानी करोतु तम् ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो धात्री तत्र गत्वा शर्मिष्ठां वाक्यमब्रवीत् ।
उत्तिष्ठ भद्रे शर्मिष्ठे ज्ञातीनां सुखमावह ॥ १८ ॥
त्यजति ब्राह्मणः शिष्यान्देवयान्या प्रचोदितः ।
सा यं कामयते कामं स कार्योऽद्य त्वयानघे ॥ १९ ॥
शर्मिष्ठोवाच यं सा कामयते कामं करवाण्यहमद्य तम् ।
यद्येवमाह्वयेच्छुक्रो देवयानीकृते हि माम् ।
मद्दोषान्मागमच्छुक्रो देवयानी च मत्कृते ॥ २० ॥

इन्द्र का निर्वाह जैसे बृहस्पति करते हैं, इसी प्रकार मैं तुम्हारा करता हूँ ॥५।१०॥

वृषपर्वा ने कहा हे भार्गव ! जो कुछ पृथ्वी पर असुरों का धन, हाथी, घोड़े, गाय आदि हैं, उनके और मेरे भी आप मालिक हैं । शुक्र ने कहा हे महासुर ! जो कुछ असुर राजाओं का धन है, यदि उसका मैं ईश्वर हूँ, तो देवयानी की उसकी इच्छा पूरी करके प्रसन्न करो । वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय ! यह सुनकर बड़े विद्वान् वृषपर्वा ने 'ऐसा ही होगा' कहा । तब शुक्राचार्य ने देवयानी के पास जाकर उसी वृत्तान्त को कहा । देवयानी ने कहा—हे तात भार्गव ! जो आप सचमुच राजा वृषपर्वा की सारी सम्पत्ति के मालिक हैं, तो इस बात को वह स्वयं मेरे आगे आकर अपने मुख से कहें । तब अपने बन्धु बान्धवों सहित वृषपर्वा ने आप देवयानी के पास आकर कहा हे मनोहर हास्ययुक्त देवयानी ! जो तुम्हारी इच्छा हो सो मुझसे मांगो दुर्लभ होने पर भी मैं तुमको वही दूंगा ॥११।२०॥

देवयानी ने कहा अच्छा, हजार कन्याओं

वैशम्पायन उवाच—ततः कन्यासहस्रेण वृता शिबिकया तदा ।
पितुर्नियोगात्त्वरिता निश्चक्राम. पुरोत्तमात् ॥ २१ ॥
शर्मिष्ठोवाच—अहं दासीसहस्रेण दासी ते परिचारिका ।
अनु त्वां तत्र यास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ॥ २२ ॥
देवयान्युवाच—स्तुवतो दुहिताऽहं ते याचतः प्रतिगृह्णतः ।
स्तूयमानस्य दुहिता कथं दासी भविष्यसि ॥ २३ ॥
शर्मिष्ठोवाच—येन केनचिदार्त्तानां ज्ञातीनां सुखमावहेत् ।
अतस्त्वामनुयास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच—प्रतिश्रुते दासभावे दुहित्रा वृषपर्वणः ।
देवयानी नृपश्रेष्ठ पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥
देवयान्युवाच—प्रविशामि पुरं तात तुष्टाऽस्मि द्विजसत्तम ।
अमोघं तव विज्ञानमस्ति विद्याबलं च ते ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तो दुहित्रा स द्विजश्रेष्ठो महायशाः ।
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूजितः सर्वदानवैः ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्यानेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

सहित शर्मिष्ठा मेरी दासी होकर रहे और मेरे पिता जहां मेरा विवाह करें वहां मेरे साथ जावे। वृषपर्वा ने कहा—हे दाई ! तुम शर्मिष्ठा को शीघ्र यहां ले आओ। जो देवयानी चाहती है उसे शर्मिष्ठा स्वीकार करे। वैशम्पायन ने कहा—राजा की आज्ञा से दाई ने शर्मिष्ठा से जाकर कहा—हे भद्रे शर्मिष्ठे ! उठो और अपने बान्धवों की सहायता करो। देवयानी के कहने से ब्राह्मण शुक्राचार्य अपने शिष्य दैत्यों को छोड़कर जाना चाहते हैं। इस कारण हे पाप रहित ! तुमको देवयानी की इच्छानुसार उसे प्रसन्न करना होगा। शर्मिष्ठा ने कहा—जो देवयानी का प्रिय करने के लिये मुझको बुलाया है, तो मैं अभी चलकर देवयानी की इच्छा पूर्ण करूंगी ; मेरे दोष से देवयानी और शुक्र दैत्यों को छोड़कर न जावें ॥१-२०॥

वैशम्पायन ने कहा—इसके पश्चात् हजार कन्याओं सहित शर्मिष्ठा पालकी में बैठकर नगर से बाहर गई और देवयानी के पास जाकर बोली हे देवयानी ! मैं हजार दासियों सहित तुम्हारी दासी हूं। जो तुम कहोगी सो मैं करूंगी और जहां तुम्हारा पिता तुमको देगा मैं वहीं तुम्हारे साथ जाऊंगी। देवयानी ने कहा—मैं स्तुति करनेवाले भिखारी की पुत्री हूं। तुम स्तुति किये जानेवाले राजा की कन्या होकर भला किस प्रकार मेरी दासी बनोगी ? शर्मिष्ठा ने कहा—मेरे दुःखित बान्धवों को सुख हो, इस कारण जहां तुम्हारा पिता तुम्हे

देगा, वहा मै दासी होकर जाऊगी ॥२१।२४॥

वैशम्पायन ने कहा—इस प्रकार जब शर्मिष्ठा ने दासी होकर रहना स्वीकार कर लिया, तब देवयानी ने अपने पिता से कहा—हे पिताजी ! आपका विद्यावल और विज्ञान निश्चय सफल है । हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! मै अब प्रसन्न होकर नगर में जाती हू । वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! इस प्रकार पुत्री की बात सुनकर बड़े यशवाला सब दानवों से पूजित शुक्र प्रसन्न होकर नगर में गया ॥२५।२७॥

आदिपर्व का अस्सीवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकाशीतितमोऽध्याय ॥ ८१ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथ दीर्घस्य कालस्य देवयानी नृपोत्तम ।
वनं तदेव निर्याता क्रीडार्थं वरवर्णिनी ॥ १ ॥
तेन दासीसहस्रेण सार्धं शर्मिष्ठया तदा ।
तमेव देशं संप्राप्ता यथाकामं चचार सा ॥ २ ॥
ताभिः सखीभिः सहिता सर्वाभिर्मुदिता भृशम् ।
क्रीडन्त्योऽभिरताः सर्वाः पिबन्त्यो मधुमाधवीम् ॥ ३ ॥
खादन्त्यो विविधान्भक्ष्यान्विदशन्त्यः फलानि च ।
पुनश्च नाहुषो राजा मृगलिप्सुर्यदृच्छया ॥ ४ ॥
तमेव देशं संप्राप्तो जलार्थी श्रमकर्शितः ।
ददृशे देवयानीं स शर्मिष्ठां ताश्च योषितः ॥ ५ ॥
पिबन्तीर्ललमानाश्च दिव्याभरणभूषिताः ।
उपविष्टां च ददृशे देवयानीं शुचिस्मिताम् ॥ ६ ॥

॥ इक्यासीवा अध्याय ८१ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजाओं में श्रेष्ठ जनमेजय ! बहुत समय व्यतीत होने पर एक दिन देवयानी फिर क्रीड़ा करने के लिये उसी वन में गई । अपनी हजार दासी कन्याओं के साथ शर्मिष्ठा भी वहा गई । सब कन्याएँ अपनी इच्छा के अनुसार मदिरा पीते, अनेक प्रकार के भोजन करते और फलों को तोड़कर उनका स्वाद लेने लगीं । दैवयोग से नहुष का पुत्र राजा ययाति शिकार करते हुए, परिश्रम से घबराया हुआ, जल की इच्छा से फिर उसी स्थान पर पहुँचा । राजा ययाति ने देवयानी और शर्मिष्ठा को सब दासियोंसहित मदिरा पी रही, क्रीड़ा कर रही, दिव्य आभूषणों से भूषित देखा । उस समय देवयानी परमसुन्दर रूप धारण किये हुए, मुसकराती हुई हजार दासियों के मध्य में बैठी थी और शर्मिष्ठा उसकी सेवा कर रही थी । तब ययाति ने शर्मिष्ठा और देवयानी से कहा दो

रूपेणाप्रतिमां तासां स्त्रीणां मध्ये वराङ्गनाम् ।
शर्मिष्ठया सेव्यमानां पादसंवाहनादिभिः ॥ ७ ॥

ययातिरुवाच—द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां द्वे कन्ये परिवारिते ।
गोत्रे च नामनी चैव द्वयोः पृच्छाम्यहं शुभे ॥ ८ ॥

देवयान्युवाच—आख्यास्याम्यहमादत्स्व वचनं मे नराधिप ।
शुक्रो नामासुरगुरुः सुतां जानीहि तस्य माम् ॥ ९ ॥
इयं च मे सखी दासी यत्राहं तत्र गामिनी ।
दुहिता दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा वृषपर्वणः ॥ १० ॥

ययातिरुवाच—कथं तु ते सखी दासी कन्येयं वरवर्णिनी ।
असुरेन्द्रसुता सुभ्रूः परं कौतूहलं हि मे ॥ ११ ॥

देवयान्युवाच—सर्व एव नरश्रेष्ठ विधानमनुवर्त्तते ।
विधानविहितं मत्वा मा विचित्राः कथाः कृथा ॥ १२ ॥
राजवद्रूपवेषौ ते ब्राह्मीं वाचं बिभर्षि च ।
को नाम त्वं कुतश्चासि कस्य पुत्रश्च शंस मे ॥ १३ ॥

ययातिरुवाच—ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्नः श्रुतिपथं गतः ।
राजाहं राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुतः ॥ १४ ॥

देवयान्युवाच—केनास्यर्थेन नृपते इमं देशमुपागतः ।
जिघृक्षुर्वारिजं किंचिदथवा मृगलिप्सया ॥ १५ ॥

हजार कन्याएँ तुम्हारी सेवा में लगी हुई हैं। तुम दोनों कौन हो? तुम्हारा नाम और गोत्र क्या है? इसपर देवयानी ने कहा—हे महाराज! सुनिए। मैं असुरों के गुरु शुक्राचार्य की कन्या देवयानी हूं। यह दूसरी मेरी सखी और दासी मेरे साथ रहनेवाली, दानवों के राजा वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा है ॥१।१०॥

ययाति ने कहा—असुरों के राजा वृषपर्वा की यह परम सुन्दरी कन्या तुम्हारी सखी होकर भी दासीभाव को कैसे प्राप्त हुई? मुझसे कहो। यह जानने के लिये मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है। देवयानी ने कहा—हे मनुष्यों में श्रेष्ठ! सब कुछ भाग्य के अनुसार दैव की इच्छा से होता है। अतएव आपको दैव के कामों में विस्मय न होना चाहिये। आपका रूप और वेष राजाओं जैसा जान पड़ता है और वाणी ब्राह्मणों जैसी है। आपका क्या नाम है? आप कहां से आये हैं? आप किसके पुत्र हैं? ययाति ने कहा—ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके

यया‍तिरुवाच—मृगलिप्सुरहं भद्रे पानीयार्थमुपागतः ।
बहुधाऽप्यनुयुक्तोऽस्मि तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १६ ॥
देवयान्युवाच—द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां दास्या शर्मिष्ठया सह ।
त्वदधीनाऽस्मि भद्रं ते सखा भर्ता च मे भव ॥ १७ ॥
ययातिरुवाच—विद्ध्यौशनसि भद्रं ते न त्वामर्होऽस्मि भाविनि ।
अविवाह्या हि राजानो देवयानि पितुस्तव ॥ १८ ॥
देवयान्युवाच—संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं क्षत्रेण ब्रह्म संहितम् ।
ऋषिश्चाप्यृषिपुत्रश्च नाहुषाङ्ग वहस्व माम् ॥ १९ ॥
ययातिरुवाच—एकदेहोद्भवा वर्णाश्चत्वारोऽपि वराङ्गने ।
पृथग्धर्माः पृथक्शौचास्तेषां तु ब्राह्मणो वरः ॥ २० ॥
देवयान्युवाच—पाणिधर्मो नाहुषाऽयं न पुंभिः सेवितः पुरा ।
तं मे त्वमग्रहीरग्रे वृणोमि त्वामहं ततः ॥ २१ ॥
कथं नु मे मनस्विन्याः पाणिमन्यः पुमान्स्पृशेत् ।
गृहीतमृषिपुत्रेण स्वयं वाप्यृषिणा त्वया ॥ २२ ॥
ययातिरुवाच—क्रुद्धादाशीविषात्सर्पाज्ज्वलनात्सर्वतोमुखात् ।
दुराधर्षतरो विप्रो ज्ञेयः पुंसा विजानता ॥ २३ ॥

मैंने सब वेदों को पढ़ा है । मैं राजा का पुत्र और स्वयं राजा हूं । मेरा नाम ययाति है ॥११।१४॥

देवयानी ने कहा आप यहां किसलिए आये हैं ? आप जल में उत्पन्न पदार्थ को लेने आये हैं या कमल के फूल लेने ? या मृग की इच्छा से आपका यहां आना हुआ है ? ययाति ने कहा हे भद्रे ! मैं मृग का शिकार करने को वन में आया था । जल की खोज में इधर निकल आया हूं । मृग का पीछा करने से मैं बहुत थक गया हूं । अब मुझे आज्ञा दीजिये । देवयानी ने कहा हे राजन् ! मैं इन दो हजार कन्याओं के साथ और शर्मिष्ठा दासीसहित आपके अधीन हूं । आपका कल्याण हो । आप मेरे सखा और स्वामी बनें । ययाति ने कहा—हे देवयानी ! तुम शुक्राचार्य की कन्या हो । मैं तुम्हारे साथ विवाह करने के योग्य नहीं हूं । हे देवयानी ! तुम्हारे पिता क्षत्रिय राजाओं को अपनी कन्या नहीं दे सकते । यह सुनकर देवयानी ने कहा- हे राजन् ! क्षत्रियों और ब्राह्मणों का परस्पर मेल हो चुका है । आप बड़े प्रतापी राजा नहुष के पुत्र किसी ऋषि या ऋषिपुत्र से कम नहीं हैं । मेरे कहने से आप मुझे स्वीकार करें ॥१५।१९॥

राजा ययाति ने कहा हे सुन्दरी ! चारों वर्ण एक ब्रह्मा के ही शरीर से उत्पन्न हुए हैं, किन्तु

देवयान्युवाच—कथमाशीविषात्सर्पाज्ज्वलनात्सर्वतोमुखात् ।
दुराधर्षतरो विप्र इत्यात्थ पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥
ययातिरुवाच—एकमाशीविषो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
हन्ति विप्रः सराष्ट्राणि पुराण्यपि हि कोपितः ॥ २५ ॥
दुराधर्षतरो विप्रस्तस्माद्भीरु मतो मम ।
अतोऽदत्तां च पित्रा त्वां भद्रे न विवहाम्यहम् ॥ २६ ॥
देवयान्युवाच—दत्तां वहस्व तन्मां त्वं पित्रा राजन्वृतो मया ।
अयाचतो भयं नास्ति दत्तां च प्रतिगृह्णतः ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच-त्वरितं देवयान्याऽथ संदिष्टं पितुरात्मनः ।
सर्वं निवेदयामास धात्री तस्मै यथातथम् ॥ २८ ॥
श्रुत्वैव च स राजानं दर्शयामास भार्गवः ।
दृष्ट्वैव चागतं शुक्रं ययातिः पृथिवीपतिः ।
ववन्दे ब्राह्मणं काव्यं प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ॥ २९ ॥
देवयान्युवाच—राजाऽयं नाहुषस्तात दुर्गमे पाणिमग्रहीत ।
नमस्ते देहि मामस्मै लोके नान्यं पतिं वृणे ॥ ३० ॥

सब के धर्म और कर्म पृथक्-पृथक् हैं । ब्राह्मण उनमें श्रेष्ठ है । देवयानी ने कहा—हे नहुषपुत्र ययाति ! पहिले मेरा हाथ किसी ने नहीं पकड़ा था । उस दिन कुएँ से निकालते समय पहिले-पहिल आपने ही मेरा हाथ पकड़ा था । इसीसे मैं आपको अपना स्वामी बनाती हूँ । हे राजन् ! मैं तपस्विनी हूँ । मेरा हाथ अब दूसरा नहीं पकड़ सकता । ययाति ने कहा—क्रोधित विषैले सर्प और चारों ओर फैल रही जलती हुई अग्नि से भी बढ़कर ब्राह्मण का क्रोध भयंकर है, ऐसा ज्ञानवान पुरुषों ने कहा है । देवयानी ने कहा—सर्प और अग्नि से ब्राह्मण को बलवान् कैसे कहा ? ययाति ने कहा—सर्प जिसको काटता है वही मरता है । शस्त्र से भी एक ही मारा जाता है । परन्तु क्रोधित ब्राह्मण नगरोंसहित बड़े बड़े राज्यों को नष्ट कर देता है । हे भीरु ! इसी कारण मैं ब्राह्मण को बलवान् समझता हूँ । तुम्हारे पिता के दिये बिना मैं तुम्हारे साथ विवाह नहीं कर सकता हूँ ॥२०।२६॥

देवयानी ने कहा बहुत अच्छा, पिता के देने पर आप मुझे स्वीकार करना । वर न मांगनेवाले को और दी हुई वस्तु के लेनेवाले को भय नहीं है । वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! देवयानी ने उसी समय दाई को भेजकर अपने पिता शुक्र को बुलवाया । इस वृत्तान्त को सुनकर महर्षि शुक्र उसी समय देवयानी के पास आये । शुक्र को आया देख कर राजा हाथ जोड़कर उनके आगे खड़ा हो गया ।

शुक्र उवाच—वृतोऽनया पतिर्वीर सुतया त्वं ममेष्टया ।
गृहाणेमां मया दत्तां महिषीं नहुषात्मज ॥ ३१ ॥
ययातिरुवाच—अधर्मो न स्पृशेदेष महान्मामिह भार्गव ।
वर्णसंकरजो ब्रह्मन्निति त्वां प्रवृणोम्यहम् ॥ ३२ ॥
शुक्र उवाच—अधर्मात्त्वां विमुञ्चामि वृणु त्वं वरमीप्सितम् ।
अस्मिन्विवाहे मा ग्लासीरहं पापं नुदामि ते ॥ ३३ ॥
वहस्व भार्यां धर्मेण देवयानीं सुमध्यमाम् ।
अनया सह संप्रीतिमतुलां समवाप्नुहि ॥ ३४ ॥
इयं चापि कुमारी ते शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
संपूज्या सततं राजन्मा चैनां शयने ह्वयेः ॥ ३५ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तो ययातिस्तु शुक्रं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
शास्त्रोक्तविधिना राजा विवाहमकरोच्छुभम् ॥ ३६ ॥
लब्ध्वा शुक्रान्महद्वित्तं देवयानीं तदोत्तमाम् ।
द्विसहस्रेण कन्यानां तथा शर्मिष्ठया सह ॥ ३७ ॥
संपूजितश्च शुक्रेण दैत्यैश्च नृपसत्तमः ।
जगाम स्वपुरं हृष्टोऽनुज्ञातोऽथ महात्मना ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

तब देवयानी ने शुक्र से कहा—हे तात ! यह नहुष के पुत्र राजा ययाति हैं । इन्होंने संकट के समय मेरा हाथ पकड़ा था । मैं अपना विवाह इनके सिवाये दूसरे से नहीं करना चाहती हूँ । मैं आपको प्रणाम करती हूँ । आप मुझे इन्हीं को दे दीजिये ॥२७।३०॥

यह सुनकर शुक्र ने राजा ययाति से कहा हे वीर ! मैं इस अपनी प्यारी कन्या को आपको देता हूँ । आप इसको ग्रहण करें । ययाति ने कहा हे भार्गव ! मुझको वर्णसंकर का दोष न हो, यह मैं आप से कहता हूँ । शुक्र ने कहा मैं आपको अधर्म से छुड़ाता हूँ । मैं इस कन्या के साथ विवाह करने से होनेवाले पाप को मैं मिटा दूंगा । आप धर्मानुसार देवयानी के साथ विवाह करो । मैं आशीर्वाद देता हूँ कि, इसके साथ आपको परम प्रसन्नता प्राप्त हो । हे राजन् ! यह उत्तम वचन बोलनेवाली वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा सत्कार करने के योग्य है, परन्तु कभी इसको अपने साथ शय्या पर न सुलाना । वैशम्पायन ने कहा—यह सुनकर राजा ययाति ने शुक्र की प्रदक्षिणा कर विधिपूर्वक देवयानी के साथ विवाह किया । ययाति शुक्र से बहुत सा धन और दो हजार कन्याएँ और शर्मिष्ठा सहित उत्तम देवयानी को लेकर नगर को चले । चलते समय शुक्राचार्य

और सब दैत्यों ने राजा का यथोचित सत्कार किया ॥३१।३८॥

आदिपर्व का इक्यासीवां अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

वैशम्पायन उवाच—ययातिः स्वपुरं प्राप्य महेन्द्रपुरसन्निभम् ।
प्रविश्यान्तः पुरं तत्र देवयानीं न्यवेशयत् ॥ १ ॥
देवयान्याश्चानुमते सुतां तां वृषपर्वणः ।
अशोकवनिकाभ्याशे गृहं कृत्वा न्यवेशयत् ॥ २ ॥
वृतां दासीसहस्रेण शर्मिष्ठां वार्षपर्वणी ।
वासोभिरन्नपानैश्च संविभज्य सुसत्कृताम् ॥ ३ ॥
देवयान्या तु सहितः स नृपो नहुषात्मजः ।
विजहार बहूनब्दान्देववन्मुदितः सुखी ॥ ४ ॥
ऋतुकाले तु संप्राप्ते देवयानी वराङ्गना ।
लेभे गर्भं प्रथमतः कुमारं च व्यजायत ॥ ५ ॥
गते वर्षसहस्रे तु शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
ददर्श यौवनं प्राप्ता ऋतुं सा चान्यचिन्तयत ॥ ६ ॥
ऋतुकालश्च संप्राप्तो न च मेऽस्ति पतिर्वृतः ।
किं प्राप्तं किं नु कर्तव्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत् ॥ ७ ॥

॥ बयासीवां अध्याय ८२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! राजा ययाति ने इन्द्रपुरी के समान अपने नगर में पहुंचकर देवयानी को अन्तःपुर में रक्खा। देवयानी की आज्ञा के अनुसार अशोकवन के पास घर बनवाकर उसी शर्मिष्ठा के रहने का प्रबन्ध किया गया। शर्मिष्ठा के पास हजार दासियां भी रहती थीं। राजा ययाति ने शर्मिष्ठा और उसकी दासियों के खाने-पीने और पहिनने का यथोचित प्रबन्ध कर दिया। अब नहुष का पुत्र ययाति देवयानी के साथ देवताओं के समान प्रसन्नता से सुख भोगने लगा। स्त्रियों में श्रेष्ठ देवयानी ने ऋतु-स्नान के उपरान्त गर्भ धारण करके एक सुन्दर पुत्र को उत्पन्न किया ॥१।५॥

सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर युवती शर्मिष्ठा ने ऋतु-स्नान होने पर विचार किया कि, मेरा विवाह अभी तक नहीं हुआ और ऋतुकाल का समय आगया है। अब मुझे क्या करना चाहिये ! क्या करने से मुझे सुख मिलेगा ! देवयानी के पुत्र भी

देवयानी प्रजाताऽसौ वृथाऽहं प्राप्तयौवना ।
यथा तया वृतो भर्ता तथैवाऽहं वृणोमि तम् ॥ ८ ॥
राज्ञा पुत्रफलं देयमिति मे निश्चिता मतिः ।
अपीदानीं स धर्मात्मा इयान्मे दर्शनं रहः ॥ ९ ॥
अथ निष्क्रम्य राजाऽसौ तस्मिन्काले यदृच्छया ।
अशोकवनिकाभ्याशे शर्मिष्ठां प्रेक्ष्य धिष्ठितः ॥ १० ॥
तमेकं रहिते दृष्ट्वा शर्मिष्ठा चारुहासिनी ।
प्रत्युद्गम्याञ्जलिं कृत्वा राजानं वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥
शर्मिष्ठोवाच—सोमस्येन्द्रस्य विष्णोर्वा यमस्य वरुणस्य च ।
तव वा नाहुष गृहे कः स्त्रियं द्रष्टुमर्हति ॥ १२ ॥
रूपाभिजनशीलैर्हि त्वं राजन्वेत्थ मां सदा ।
सा त्वां याचे प्रसाद्याहमृतुं देहि नराधिप ॥ १३ ॥
ययातिरुवाच—वेद्मि त्वां शीलसंपन्नां दैत्यकन्यामनिन्दिताम् ।
रूपं च ते न पश्यामि सूच्यग्रमपि निन्दितम् ॥ १४ ॥
अब्रवीदुशना काव्यो देवयानीं यदाऽवहम् ।
नेयमाह्वयितव्या ते शयने वार्षपर्वणी ॥ १५ ॥
शर्मिष्ठोवाच—न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ १६ ॥

हो चुका है और मेरी तरुण अवस्था पति के बिना वृथा है। जिसतरह देवयानी ने राजा ययाति को अपना पति बनाया है इसीप्रकार मैं भी करूं। राजा ययाति ही मुझे पुत्र फल दे सकते हैं। यदि एकान्त में धर्मात्मा राजा के दर्शन हों, तो मेरा कार्य सिद्ध हो सकता है। तत्पश्चात अचानक अपनी इच्छा से टहलते हुए राजा अशोकवन में जहां शर्मिष्ठा थी, वहां पहुंच गये। शर्मिष्ठा ने एकान्त में अपने पास आये हुए राजा को देखकर उनसे हाथ जोड़ कर कहा—हे नहुषपुत्र ! चन्द्रमा, इन्द्र विष्णु, यम, वरुण आदि देवताओं के और आपके अन्तःपुर की स्त्रियों को कोई नहीं देख सकता ॥६।१२॥

हे राजन् ! आप मेरे भी रूप, कुल और शीलस्वभाव को जानते हैं। इस कारण मैं आप से ऋतुकाल में गर्भाधान की प्रार्थना करती हूं। ययाति ने कहा—मैं तुम्हारे शीलस्वभाव को अच्छी-तरह जानता हूं। तुम रूप में भी किसी प्रकार से

पृष्टं तु साक्ष्ये प्रवदंतमन्यथा वदन्ति मिथ्या पतितं नरेन्द्र ।
एकार्थतायां तु समाहितायां मिथ्या वदन्तं त्वनृतं हिनस्ति ॥ १७ ॥
ययातिरुवाच—राजा प्रमाणं भूतानां स नश्येत मृषा वदन् ।
अर्थकृच्छ्रमपि प्राप्य न मिथ्या कर्त्तुमुत्सहे ॥ १८ ॥
शर्मिष्ठोवाच—समावेतौ मतौ राजन्पतिः सख्याश्च यः पतिः ।
समं विवाहमित्याहुः सख्या मेऽसि वृतः पतिः ॥ १९ ॥
ययातिरुवाच—दातव्यं याचमानेभ्य इति मे व्रतमाहितम् ।
त्वं च याचसि मां कामं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ २० ॥
शर्मिष्ठोवाच—अधर्मात्पाहि मां राजन्धर्मं च प्रतिपादय ।
त्वत्तोऽपत्यवती लोके चरेयं धर्ममुत्तमम् ॥ २१ ॥
त्रय एवाधना राजन्भार्या दासस्तथा सुतः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ॥ २२ ॥
देवयान्या भुजिष्यास्मि वश्या च तव भार्गवी ।
सा चाहं च त्वया राजन्भजनीये भजस्व माम् ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु राजा स तथ्यमित्यभिजज्ञिवान् ।
पूजयामास शर्मिष्ठां धर्मं च प्रत्यपादयत् ॥ २४ ॥

कम नहीं हो। देवयानी के विवाह के समय शुक्राचार्य ने मुझसे कह दिया था कि, तुम शर्मिष्ठा को कभी अपनी शय्या पर न बुलाना। शर्मिष्ठा ने कहा—हे राजन् ! हंसी में, स्त्री विषय में, विवाह काल में, प्राणों पर संकट आ पड़ने में और सब धन के नाश होते समय झूठ बोलनेवाले को पाप नहीं होता। हे राजन ! साक्षी में, प्रश्नोत्तर में, गऊ, स्त्री, ब्राह्मणादि के लिये मिथ्या बोलनेवाला महापातकि होता है। ययाति ने कहा राजा प्रजा को शिक्षा देनेवाला होता है। मिथ्या कहनेवाला राजा अवश्य नाश को प्राप्त होता है। इस कारण मैं संकट पड़ने पर भी झूठ न बोलूंगा॥ १३।१८॥

शर्मिष्ठा ने कहा—हे राजन ! अपना और सखी का पति एक समान है। इस प्रकार एक का विवाह होने से उसी के साथ दूसरी का भी विवाह होना शास्त्रसिद्ध है। जब मेरी सखी देवयानी ने आपको पति बना लिया था, तब उसी समय मैंने भी मन में आपको पति बना लिया था। ययाति ने कहा—मेरा यह व्रत है कि, मुझसे जो कोई मनुष्य जो कुछ मांगता है, मैं उसको वही देता हूं। शर्मिष्ठा ने कहा—मैं चाहती हूं कि, अधर्म से बचाकर मेरे धर्म की रक्षा कीजिये। आपसे पुत्र पाकर मैं धर्म का पालन कर सकूंगी। हे राजन ! स्त्री, पुत्र और नौकर, इन तीनों का अपनी सम्पत्ति पर कुछ अधि-

स समागम्य शर्मिष्ठां यथाकाममवाप्य च ।
अन्योन्यं चाभिसंपूज्य जग्मतुस्तौ यथागतम् ॥ २५ ॥
तस्मिन्समागमे सुभ्रूः शर्मिष्ठा चारुहासिनी ।
लेभे गर्भं प्रथमतस्तस्मान्नृपतिसत्तमात् ॥ २६ ॥
प्रजज्ञे च ततः काले राजन्राजीवलोचना ।
कुमारं देवगर्भाभं राजीवनिभलोचनम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

कार नहीं रहता । वह सम्पत्ति उनके स्वामी की ही होती है । हे राजन् ! देवयानी और मैं दोनों आपके अधीन हैं, इस कारण आप मेरा मनोरथ पूरा करें। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! शर्मिष्ठा के ऐसा कहने पर उसके वचन को सत्य माना और उसका आदर करके धर्म का प्रतिपादन किया ॥१९।२४॥

इस प्रकार शर्मिष्ठा को प्रसन्न करके राजा अपने स्थान को गये । सुन्दर हास्ययुक्त, अच्छी भौंवाली शर्मिष्ठा ने राजाओं में श्रेष्ठ ययाति से गर्भ धारण किया । इसके पीछे ठीक समय पर उस कमल के सदृश लोचनवाली शर्मिष्ठा ने देवताओं के तुल्य पुत्र उत्पन्न किया ॥२५।२७॥

आदिपर्व का बयासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्र्यशीतितमोऽध्याय ॥ ८३ ॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा कुमारं जातं तु देवयानी शुचिस्मिता ।
चिन्तयामास दुःखार्त्ता शर्मिष्ठां प्रति भारत ॥ १ ॥
अभिगम्य च शर्मिष्ठां देवयान्यब्रवीदिदम् ।
देवयान्युवाच किमिदं वृजिनं सुभ्रु कृतं वै कामलुब्धया ॥ २ ॥
शर्मिष्ठोवाच—ऋषिरभ्यागतः कश्चिद्धर्मात्मा वेदपारगः ।
स मया वरदः कामं याचितो धर्मसंहितम् ॥ ३ ॥
नाहमन्यायतः काममाचरामि शुचिस्मिते ।
तस्मादृषेर्ममापत्यमिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ४ ॥

॥ तिरासीवां अध्याय ८३ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! शर्मिष्ठा के पुत्र होने की खबर सुनकर देवयानी को बड़ा दुःख हुआ । इसके पश्चात् देवयानी ने शर्मिष्ठा से पूछा—हे सखी ! तुमने काम के वश में होकर यह क्या अधर्म किया है ! शर्मिष्ठा ने कहा मैंने कोई अधर्म नहीं किया है । यह पुत्र मेरे एक

देवयान्युवाच—शोभनं भीरु यद्येवमथ स ज्ञायते द्विजः ।
गोत्रनामाभिजनतो वेत्तुमिच्छामि तं द्विजम् ॥ ५ ॥
शर्मिष्ठोवाच—तपसा तेजसा चैव दीप्यमानं यथा रविम् ।
तं दृष्ट्वा मम संप्रष्टुं शक्तिर्नासीच्छुचिस्मिते ॥ ६ ॥
देवयान्युवाच—यद्येतदेवं शर्मिष्ठे न मन्युर्विद्यते मम ।
अपत्यं यदि ते लब्धं ज्येष्ठाच्छ्रेष्ठाच्च वै द्विजात् ॥ ७ ॥
वैशंपायन उवाच—अन्योन्यमेवमुक्त्वा तु संप्रहस्य च ते मिथः ।
जगाम भार्गवी वेश्म तथ्यमित्यवजग्मुषी ॥ ८ ॥
ययातिर्देवयान्यां तु पुत्रावजनयन्नृपः ।
यदुं च तुर्वसुं चैव शक्रविष्णू इवापरौ ॥ ९ ॥
तस्मादेव तु राजर्षेः शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च त्रीन्कुमारानजीजनत् ॥ १० ॥
ततः काले तु कस्मिंश्चिद्देवयानी शुचिस्मिता ।
ययातिसहिता राजञ्जगाम रहितं वनम् ॥ ११ ॥
ददर्श च तदा तत्र कुमारान्देवरूपिणः ।
क्रीडमानान्सुविश्रब्धान्विस्मिता चेदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

महात्मा वेद के जाननेवाले ऋषि से उत्पन्न हुआ है। मैंने उससे धर्म की रीति से काम की याचना की थी। देवयानी ने कहा—हे सखी! यदि तुम्हारी बात सत्य है, तो तुमने अच्छा ही किया। परन्तु मैं उस ब्राह्मण का नाम, कुल और गोत्र जानना चाहती हूं ॥१।५॥

शर्मिष्ठा ने कहा—उस ब्राह्मण का तप और तेज से सूर्य के समान प्रकाश था। उसको देखकर मैं कुछ पूछ ही नहीं सकी। देवयानी ने कहा—हे शर्मिष्ठा! यदि ऐसी बात है, तो मुझे तुमपर कुछ भी क्रोध नहीं। तुमने किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण को अपना पति बनाया, सो अच्छा ही किया। वैशम्पायन ने कहा—शर्मिष्ठा की बात को सच जानकर देवयानी मुसकराकर अपने घर चली गई। इसके उपरान्त राजर्षि ययाति के वीर्य और देवयानी के गर्भ से इन्द्र और उपेन्द्र के समान दो पुत्र यदु और तुर्वसु नाम के और वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु और पूरु नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ समय के व्यतीत होने पर देवयानी अपने पति ययाति के साथ निर्जन वन को गई ॥६।१०॥

वहां देवताओं के समान रूपवान् तीन कुमार खेलते देखे। देवयानी ने अचरज मानकर राजा से पूछा—यह तीनों कुमार किसके हैं? जो रूप और तेज में आपके ही समान दिखाई देते हैं। वैशम्पायन

देवयान्युवाच—कस्यैते दारका राजन्देव पुत्रोपमाः शुभाः ।
वर्चसा रूपतश्चैव सदृशा मे मतास्तव ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं पृष्ट्वा तु राजानं कुमारान्पर्यपृच्छत ।
देवयान्युवाच—किं नामधेयं वंशो वः पुत्रकाः कश्च वः पिता ।
प्रब्रूत मे यथातथ्यं श्रोतुमिच्छामि तं ह्यहम् ॥ १४ ॥
तेऽदर्शयन्प्रदेशिन्या तमेव नृपसत्तमम् ।
शर्मिष्ठां मातरं चैव तथाऽऽचख्युश्च दारकाः ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच-इत्युक्त्वा सहितास्ते तु राजानमुपचक्रमुः ।
नाभ्यनन्दत तान्राजा देवयान्यास्तदान्तिके ॥ १६ ॥
रुदन्तस्तेऽथ शर्मिष्ठामभ्ययुर्बालकास्ततः ।
श्रुत्वा तु तेषां बालानां सव्रीड इव पार्थिवः ॥ १७ ॥
दृष्ट्वा तु तेषां बालानां प्रणयं पार्थिवं प्रति ।
बुद्ध्वा च तत्त्वं सा देवी शर्मिष्ठामिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥
देवयान्युवाच—मदधीना सती कस्मादकार्षीर्विप्रियं मम ।
तमेवासुरधर्मं त्वमास्थिता न बिभेषि मे ॥ १९ ॥
शर्मिष्ठोवाच—यदुक्तमृषिरित्येव तत्सत्यं चारुहासिनि ।
न्यायतो धर्मतश्चैव चरन्ती न बिभेमि ते ॥ २० ॥
यदा त्वया वृतो भर्त्ता वृत एव तदा मया ।
सखीभर्त्ता हि धर्मेण भर्त्ता भवति शोभने ॥ २१ ॥

ने कहा हे जनमेजय ! देवयानी ने राजा से यह कहकर बालकों से पूछा तुम्हारा क्या नाम है ? और तुम किसके वंश में उत्पन्न हुए हो ? ठीक ठीक बताओ, तुम्हारे पिता का नाम क्या है ? तब उन बालकों ने उँगली से राजा को दिखाया और कहा शर्मिष्ठा हमारी माता है । वैशम्पायन ने कहा कि, लड़के यह बात कहकर राजा के पास गये । उस राजा यदु ने देवयानी के सामने कुछ आनन्द प्रकाश नहीं किया न उनका आदर किया । तीनों बालक रोते हुए अपनी माता शर्मिष्ठा के पास गये । राजा देवयानी और शर्मिष्ठा से बहुत ही लज्जित हुए । देवयानी राजा पर लड़कों की प्रीति देखकर सब बात समझ गई और शर्मिष्ठा से कहा—तुमने मेरे अधीन होने पर मुझसे निडर होकर मेरी इच्छा के विपरीत ऐसा अकार्य क्यों किया ? ॥११।२०॥

शर्मिष्ठा ने कहा—हे मधुरहासिनी देवयानी !

पूज्याऽसि मम मान्या च ज्येष्ठा च ब्राह्मणी ह्यसि ।
त्वत्तोऽपि मे पूज्यतमो राजर्षिः किं न वेत्थ तत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा तस्यास्ततो वाक्यं देवयान्यब्रवीदिदम् ।
राजन्नाद्येह वत्स्यामि विप्रियं मे कृतं त्वया ॥ २३ ॥
सहसोत्पतितां श्यामां दृष्ट्वा तां साश्रुलोचनाम् ।
तूर्णं सकाशं काव्यस्य प्रस्थितां व्यथितस्तदा ॥ २४ ॥
अनुवव्राज संभ्रान्तः पृष्ठतः सान्त्वयन्नृपः ।
न्यवर्त्तत न चैव स्म क्रोधसंरक्तलोचना ॥ २५ ॥
अविब्रुवन्ती किंचिरसा राजानं साश्रुलोचना ।
अचिरादेव संप्राप्ता काव्यस्योशनसोऽन्तिकम् ॥ २६ ॥
सा तु दृष्ट्वैव पितरमभिवाद्याग्रतः स्थिता ।
अनन्तरं ययातिस्तु पूजयामास भार्गवम् ॥ २७ ॥

देवयान्युवाच—अधर्मेण जितो धर्मः प्रवृत्तमधरोत्तरम् ।
शर्मिष्ठयाऽतिवृत्ताऽस्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ २८ ॥
त्रयोऽस्यां जनिताः पुत्रा राज्ञा तेन ययातिना ।
दुर्भगाया मम द्वौ तु पुत्रौ तात ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

मैंने तुमसे ऋषि का नाम लिया था सो सत्य है। इसमें तुमसे डरने का कोई कारण नहीं, क्योंकि मैंने न्याय और धर्म के अनुसार यह काम किया है। जब तुमने राजा को अपना पति बनाया, तभी मैंने भी अपने मन में उन्हें अपना पति माना था। हे सखी! बुद्धिमानों का यह कहना है कि, सखी का पति धर्म से पति के तुल्य होता है। तुम ब्राह्मण-कन्या होने के कारण मुझसे श्रेष्ठ और पूजा तथा मान पाने की अधिकारिणी हो। क्या तुम यह नहीं जानती कि, यह राजर्षि तुमसे भी अधिक मेरे पूजनीय और माननीय हैं? देवयानी शर्मिष्ठा की यह बात सुनकर राजा से बोली—मैं अब तुम्हारे यहां नहीं रहूंगी। तुमने मेरे अप्रिय कार्य को किया है। राजा यह देखकर कि, सुन्दरी देवयानी रोती हुई शुक्राचार्य के पास चली। राजा भी घबराकर विनयपूर्वक देवयानी को शांत करने का उपाय करते हुए उसके पीछे पीछे चले। देवयानी की आंखें क्रोध के मारे लाल हो रहीं थीं। वह किसी प्रकार से भी शान्त न हुई और शीघ्र अपने पिता शुक्राचार्य के पास पहुंची। पिता को प्रणाम करके सामने खड़ी हुई, वैसे ही राजा ययाति भी वहां पहुंचे। ययाति भी शुक्राचार्य को प्रणाम करके सामने खड़े हो गये ॥२१।२७॥

देवयानी ने कहा—हे पिताजी! अधर्म से

धर्मज्ञ इति विख्यात एष राजा भृगूद्वह ।
अतिक्रान्तश्च मर्यादां काव्यैतत्कथयामि ते ॥ ३० ॥

शुक्र उवाच—धर्मज्ञः सन्महाराज योऽधर्ममकृथाः प्रियम् ।
तस्माज्जरा त्वामचिराद्धर्षयिष्यति दुर्जया ॥ ३१ ॥

ययातिरुवाच—ऋतुं वै याचमानाया भगवन्नान्यचेतसा ।
दुहितुर्दानवेन्द्रस्य धर्म्यमेतत्कृत मया ॥ ३२ ॥
ऋतुं वै याचमानाया न ददाति पुमानृतुम् ।
भ्रूणहेत्युच्यते ब्रह्मन्स इह ब्रह्मवादिभिः ॥ ३३ ॥
अभिकामां स्त्रियं यश्च गम्यां रहसि याचितः ।
नोपैति स च धर्मेषु भ्रूणहेत्युच्यते बुधैः ॥ ३४ ॥
इत्येतानि समीक्ष्याहं कारणानि भृगूद्वह ।
अधर्मभयसंविग्नः शर्मिष्ठामुपजग्मिवान् ॥ ३५ ॥

शुक्र उवाच—नन्वहं प्रत्यवेक्ष्यस्ते मदधीनोऽसि पार्थिव ।
मिथ्याचारस्य धर्मेषु चौर्यं भवति नाहुष ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच—क्रुद्धेनोशनसा शप्तो ययातिर्नाहुषस्तदा ।
पूर्वं वयः परित्यज्य जरां सद्योऽन्वपद्यत ॥ ३७ ॥

ययातिरुवाच—अतृप्तो यौवनस्याहं देवयान्यां भृगूद्वह ।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मञ्जरेयं न विशेच्च माम् ॥ ३८ ॥

धर्म हार गया। नीचे दरजेवाला ऊँचे दरजे पर हो गया है। देखिए, यह राजा धर्मात्मा विख्यात है परन्तु इसने मर्यादा को तोड़कर शर्मिष्ठा से गमन किया और उसके तीन पुत्र उत्पन्न हुए और मुझ अभागी के केवल दो ही पुत्र अभी तक हुए हैं। शुक्र ने ययाति से कहा हे महाराज धर्म को जानते हुए भी तुमने अधर्म किया है, इसलिये तुमको शीघ्र ही यह बुढ़ापा व्याप्त होगा। ययाति ने कहा हे भगवन्! दानवराज की पुत्री ने ऋतुस्नान करके धर्म की रक्षा के लिये मुझसे प्रार्थना की थी। मैंने धर्म कार्य जानकर ऐसा किया। काम के वश में होकर कुछ नहीं किया है। हे ब्रह्मन्! किसी कामिनी के ऋतुस्नान कर चुकने के पश्चात धर्म की रक्षा के लिये प्रार्थना करने पर जो पुरुष ऋतुरक्षा नहीं करता, उसको विद्वान् लोग ब्रह्म हत्या का पापी कहते हैं। हे भार्गव! इन्हीं कारणों से अधर्म से डरकर मैंने शर्मिष्ठा की इच्छा पूर्ण की है॥२८।३५॥

शुक्र उवाच नाहं मृषा ब्रवीम्येतज्जरां प्राप्तोऽसि भूमिप ।
जरां त्वेतां त्वमन्यस्मिन्संक्रामय यदीच्छसि ॥ ३९ ॥
ययातिरुवाच—राज्यभाक्स भवेद्ब्रह्मन्पुण्यभाक्कीर्तिभाक्तथा ।
यो मे दद्याद्वयः पुत्रस्तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ४० ॥
शुक्र उवाच—संक्रामयिष्यसि जरां यथेष्टं नहुषात्मज ।
मामनुध्याय भावेन न च पापमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥
वयो दास्यति ते पुत्रो यः स राजा भविष्यति ।
आयुष्मान्कीर्तिमांश्चैव बह्वपत्यस्तथैव च ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारत आदिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

शुक्र ने कहा—हे राजा नहुष ! तुम मेरे आधीन हो, इस कारण तुमने इस बारे में मुझसे आज्ञा ले लेनी थी। धर्म विषय में असत्य व्यवहार करने से चोरी के दोष के भागी बनना पड़ता है। वैशम्पायन ने कहा—शुक्र के क्रोधयुक्त होकर शाप देने पर ययाति उसी क्षण बूढ़े हो गये। तब उन्होंने शुक्राचार्य से कहा—हे भार्गव ! मैं यौवन अवस्था में देवयानी से तृप्त नहीं हुआ हूं। इस कारण आप ऐसा उपाय सोचें कि, जिससे यह वृद्धावस्था मुझको व्याप्त न हो। शुक्र ने कहा—हे राजन् ! मेरा कहना कभी झूठा नहीं हो सकता। तुमको बुढ़ापा तो आ ही गया है परन्तु तुम इस बुढ़ापे को चाहे जिसे देकर उसकी यौवन अवस्था को ले सकते हो। ययाति ने कहा—बहुत अच्छा, मैं अपने पुत्रों को ऐसा करने के लिये कहूंगा। जो मेरा पुत्र मेरा बुढ़ापा लेकर अपनी जवानी दे देगा, वही मेरे राज्य का अधिकारी होगा। वह पुण्य और कीर्ति का भागी होगा। शुक्रजी ने कहा—हे नहुषपुत्र ! मुझे याद करके तुम दूसरे के शरीर में अपना बुढ़ापा पहुंचा सकोगे और अपने शरीर में दूसरे की जवानी ले सकोगे। ऐसा करने मे तुमको पाप न होगा। जो पुत्र तुमको अपनी अवस्था देगा वह आयुवान्, कीर्तिवान, राज्याधिकारी और अनेक सन्तानयुक्त होगा ॥३६।४२॥

आदिपर्व का तिरासीवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

वैशम्पायन उवाच—जरां प्राप्य ययातिस्तु स्वपुरं प्राप्य चैव हि ।
पुत्रं ज्येष्ठं वरिष्ठं च यदुमित्यब्रवीद्वचः ॥ १ ॥
ययातिरुवाच—जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः ।
काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ॥ २ ॥

त्वं यदो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ॥ ३ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनस्ते यौवनं त्वहम् ।
दत्त्वा स्वं प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ ४ ॥

यदुरुवाच—जरायां बहवो दोषाः पानभोजनकारिताः ।
तस्माज्जरां न ते राजन्ग्रहीष्य इति मे मतिः ॥ ५ ॥
सितश्मश्रुर्निरानन्दो जरया शिथिलीकृतः ।
वलीसंगतगात्रस्तु दुर्दर्शो दुर्बलः कृशः ॥ ६ ॥
अशक्तः कार्यकरणे परिभूतः स यौवनैः ।
सहोपजीविभिश्चैव तां जरां नाभिकामये ॥ ७ ॥
सन्ति ते बहवः पुत्रा मत्तः प्रियतरा नृप ।
जरां ग्रहीतुं धर्मज्ञ तस्मादन्यं वृणीष्व वै ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच—यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मादराज्यभाक्तात प्रजा तव भविष्यति ॥ ९ ॥
तुर्वसो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
यौवनेन चरेयं वै विषयांस्तव पुत्रकः ॥ १० ॥

॥ चौरासीवां अध्याय ८४ ॥

वैशम्पायन ने कहा, हे जनमेजय! राजा ययाति बुढ़ापे से ग्रसित अपने नगर में आकर अपने बड़े और श्रेष्ठ पुत्र यदु से बोले, हे पुत्र! शुक्राचार्य के शाप से मैं वृद्ध हो गया हूँ। मेरे बाल श्वेत और देह पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं। परन्तु मैं यौवन अवस्था से तृप्त नहीं हुआ हूँ। तुम अपनी यौवन अवस्था मुझे दे दो और मेरा बुढ़ापा तुम ले लो। एक हजार वर्ष व्यतीत होने पर मैं तुम्हारा यौवन तुमको देकर अपनी वृद्धावस्था को ले लूँगा ॥१-४॥

यह सुनकर यदु ने कहा, हे महाराज! बुढ़ापे में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। एक तो न खाया जाता है और न पिया जाता है। खाने पीने पर भी वह भोजन पचता नहीं, जिससे अनेक रोग सताते हैं। इस कारण मैं आपका बुढ़ापा लेना नहीं चाहता। बुढ़ापे से बाल श्वेत हो जाते हैं, आनन्द जाता रहता है, मांस ढीला पड़ जाता है, शरीर दुर्बल और असमर्थ हो जाता है, इष्ट मित्रों और साथियों का साथ भी छूट जाता है। इस कारण मैं ऐसे बुढ़ापे का लेना नहीं चाहता। हे धर्मज्ञ राजा! आपके मुझसे भी अधिक प्यारे पुत्र हैं। आप उनसे यौवन लेकर अपना बुढ़ापा दे दीजिये ॥५-८॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ ११ ॥

तुर्वसुरुवाच—न कामये जरां तात कामभोगप्रणाशिनीम् ।
बलरूपान्तकरणीं बुद्धिप्राणप्रणाशिनीम् ॥ १२ ॥

ययातिरुवाच—यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मात्प्रजा समुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति ॥ १३ ॥
संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च ।
पिशिताशिषु चान्त्येषु मूढ राजा भविष्यसि ॥ १४ ॥
गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च ।
पशुधर्मेषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं स तुर्वसुं शप्त्वा ययातिः सुतमात्मनः ।
शर्मिष्ठायाः सुतं द्रुह्युमिदं वचनमब्रवीत ॥ १६ ॥

ययातिरुवाच—द्रुह्यो त्वं प्रतिपद्यस्व वर्णरूपविनाशिनीम् ।
जरां वर्षसहस्रं मे यौवनं स्वं ददस्व च ॥ १७ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चादास्यामि भूयोऽहं पाप्मानं जरया सह ॥ १८ ॥

ययाति ने कहा—मेरे हृदय मे उत्पन्न होकर भी तुम मुझे अपनी अवस्था नहीं देते, इससे तुम्हारी सन्तान राजा नहीं होगी। फिर तुर्वसु से कहा—हे पुत्र! मेरे बुढ़ापे को लेकर अपना यौवन मुझे दे दो। मैं तुम्हारे यौवन से विषय-भोग करूंगा। मैं एक हज़ार वर्ष पीछे तुम्हारा यौवन तुमको लौटा दूंगा। तुर्वसु ने उत्तर दिया कि, बुढ़ापे में मनमाने भोगों से हाथ धोना पड़ता है, बल और रूप नहीं रहता, बुद्धि जाती रहती है, प्राण नष्ट होने का भय होता है, इसलिये मैं बुढ़ापा लेना नहीं चाहता ॥९।१२॥

ययाति ने कहा—हे तुर्वसु! तुम मेरे पुत्र होकर मेरा कहना नहीं मानते हो, इसलिये तुम्हारी प्रजा नष्ट हो जायगी। उनके आचार और धर्म बिगड़ जायंगे। लोमी, मांसाहारी, नीच और गुरु-पत्नी से आसक्त पक्षियों की भांति आचरनवाले पापी म्लेच्छ तुम्हारी प्रजा होंगे। वैशम्पायन ने कहा हे राजन्! ययाति ने अपने पुत्र तुर्वसु को ऐसा शाप देकर शर्मिष्ठा के पुत्र द्रुह्यु से कहा—हे द्रुह्यु! हजार वर्ष के लिये रंग रूप का नाश करनेवाले इस बुढ़ापे को तुम ले लो और अपना यौवन मुझको दे दो। हज़ार वर्ष पूर्ण होने पर मैं तुम्हारा यौवन तुमको देकर फिर अपना बुढ़ापा ले लूंगा। द्रुह्यु ने कहा। बूढ़े मनुष्य दुर्बल शरीरवाले होकर घोड़े, रथ, हाथी,

दुह्युरुवाच—न गजं न रथं नाश्वं जीर्णो भुङ्क्ते न च स्त्रियम् ।
वाक्सङ्गश्चास्य भवति तां जरां नाभिकामये ॥ १९ ॥
ययातिरुवाच—यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्माद् द्रुह्यो प्रियः कामो न ते संपत्स्यते क्वचित् ॥ २० ॥
यत्राश्वरथमुख्यानामश्वानां स्याद्गतं न च ।
हस्तिनां पीठकानां च गर्दभानां तथैव च ॥ २१ ॥
वस्तानां च गवां चैव शिबिकायास्तथैव च ।
उडुपप्लवसंतारो यत्र नित्यं भविष्यति ।
अराजा भोजशब्दं त्वं तत्र प्राप्स्यसि सान्वयः ॥ २२ ॥
ययातिरुवाच—अनो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
एकं वर्षसहस्रं तु चरेयं यौवनेन ते ॥ २३ ॥
अनुरुवाच—जीर्णः शिशुवदादत्तेऽकालेऽन्नमशुचिर्यथा ।
न जुहोति च कालेऽग्निं तां जरां नाभिकामये ॥ २४ ॥
ययातिरुवाच—यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
जरादोषस्त्वया प्रोक्तस्तस्मात्त्वं प्रतिलप्स्यसे ॥ २५ ॥
प्रजाश्च यौवन प्राप्ता विनशिष्यन्त्यनो तव ।
अग्निप्रस्कन्दनपरस्त्वं चाप्येवं भविष्यसि ॥ २६ ॥

स्त्री आदि को नहीं भोग सकते, इसलिये मैं बुढ़ापे को नहीं लूंगा ॥१३।१९॥

ययाति ने कहा हे द्रुह्यु ! तुमने मेरे पुत्र होकर मुझको अपनी अवस्था नहीं दी, इसलिये तुम्हारी इच्छा कभी पूरी न होगी । जहां घोड़े, रथ, हाथी, राजाओं के योग्य सवारी, गौ, गधे, बकरे आदि पर नहीं जा सकते हैं, जहां बेड़े पर और कूदकर जाना आना पड़ता है, जहां राजा शब्द को कोई नहीं जानता, तुम वंशसहित उस देश में रहोगे । इसके पश्चात् अनु नामक पुत्र से कहा।

हे अनु ! तुम पापसहित मेरा बुढ़ापा ले लो और मैं एक हजार वर्ष पर्यन्त तुम्हारे यौवन से विषय भोगूंगा । अनु ने कहा—बूढ़ा मनुष्य बच्चे की तरह भूख नहीं सह सकता, सदा अपवित्र ही बना रहता है और ठीक समय पर अग्निहोत्र आदि धर्म के कर्म भी नहीं कर सकता । इस कारण मैं यह बुढ़ापा लेने के लिए तय्यार नहीं हूं ॥२०।२४॥

ययाति ने क्रोध में आकर कहा तुम मेरे हृदय से उत्पन्न होकर भी मेरा बुढ़ापा नहीं लेना चाहते, इससे बुढ़ापा न आने पर भी बुढ़ापे के सब दोष

ययातिरुवाच—पूरो त्वं मे प्रियः पुत्रस्त्वं वरीयान्भविष्यसि ।
जरा वली च मां तात पलितानि च पर्ययुः ॥ २७ ॥
काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ।
पूरो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
कंचित्कालं चरेयं वै विषयान्वयसा तव ॥ २८ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तः प्रत्युवाच पूरुः पितरमञ्जसा ।
यथाऽऽत्थ मां महाराज तत्करिष्यामि ते वचः ॥ ३० ॥
प्रतिपत्स्यामि ते राजन्पाप्मानं जरया सह ।
गृहाण यौवनं मत्तश्चर कामान्यथेप्सितान् ॥ ३१ ॥
जरयाऽहं प्रतिच्छन्नो वयोरूपधरस्तव ।
यौवनं भवते दत्त्वा चरिष्यामि यथाऽऽत्थ माम् ॥ ३२ ॥

ययातिरुवाच पूरो प्रीतोऽस्मि ते वत्स प्रीतश्चेदं ददामि ते ।
सर्वकामसमृद्धा ते प्रजा राज्ये भविष्यति ॥ ३३ ॥
एवमुक्त्वा ययातिस्तु स्मृत्वा काव्यं महातपाः ।
संक्रामयामास जरां तदा पूरौ महात्मनि ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने चतुरशीतितमोऽध्याय ॥ ८४ ॥

तुम्हारे शरीर में व्याप्त होंगे । हे अनु ! तुम्हारी सन्तान भी जीवित न रहेगी । तुम श्रुति और स्मृति के अनुसार अग्निकार्य से वर्जित होगे । फिर पूरु से कहा—हे पूरु ! तुम मुझे बहुत प्यारे हो । शुक्राचार्य के शाप से मुझको बुढ़ापा आ गया है । मैं यौवन अवस्था में अच्छी प्रकार तृप्त नहीं हुआ हूं । हे पूरु ! तुम मेरे पापसहित इस बुढ़ापे को ले लो और मैं तुम्हारे यौवन से कुछ दिन तक विषय-भोग करूंगा । हजार वर्ष के व्यतीत होने पर तुम्हारा यौवन तुमको देकर अपना बुढ़ापा ले लूंगा । इससे तुम सब भाईयों में श्रेष्ठ समझे जाओगे ॥२५।२९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! पिता के वचन सुनकर पूरु ने कहा—हे महाराज ! मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हूं । मैं आपका बुढ़ापा लेने के लिए तय्यार हूं । आप मेरी यौवन अवस्था लेकर मनमाना विषय-भोग करें । मैं आपका बुढ़ापा लेकर आपकी आज्ञानुसार काम करूंगा । ययाति

ने कहा—हे पूरु! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूं। तुमको आशीर्वाद देता हूं कि, तुम्हारे सब मनोरथ सिद्ध होंगे और तुम्हारा वंश पृथ्वी पर फैलेगा। तुम्हारे राज्य में प्रजा अति प्रसन्न रहेगी। ययाति ने यह कहकर शुक्र का स्मरण किया और अपना बुढ़ापा पूरु को दे दिया ॥३०।३४॥

आदिपर्व का चौरासीवां अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

वैशम्पायन उवाच—पौरवेणाथ वयसा ययातिर्नहुषात्मजः।
प्रीतियुक्तो नृपश्रेष्ठश्चचार विषयान्प्रियान् ॥ १ ॥
यथाकामं यथोत्साहं यथाकालं यथासुखम्।
धर्माविरुद्धं राजेन्द्र यथाऽर्हति स एव हि ॥ २ ॥
देवानतर्पयद्यज्ञैः श्राद्धैस्तद्वत्पितॄनपि।
दीनाननुग्रहैरिष्टैः कामैश्च द्विजसत्तमान् ॥ ३ ॥
अतिथीनन्नपानैश्च विशश्च परिपालनैः।
आनृशंस्येन शूद्रांश्च दस्यून्सन्निग्रहेण च ॥ ४ ॥
धर्मेण च प्रजाः सर्वा यथावदनुरञ्जयन्।
ययातिः पालयामास साक्षादिन्द्र इवापरः ॥ ५ ॥
स राजा सिंहविक्रान्तो युवा विषयगोचरः।
अविरोधेन धर्मस्य चचार सुखमुत्तमम् ॥ ६ ॥
स संप्राप्य शुभान्कामांस्तृप्तः खिन्नश्च पार्थिवः।
कालं वर्षसहस्रान्तं सस्मार मनुजाधिपः ॥ ७ ॥

पचासीवां अध्याय ८५॥

वैशम्पायन ने कहा नहुषपुत्र ययाति पूरु के यौवन से अपनी इच्छा के अनुसार विषय भोगने लगा। अपनी कामना और उत्साह के अनुकूल यथायोग्य धर्मपूर्वक सुख भोगने लगा। वह यज्ञों से देवों को, श्राद्ध से पितरों को, उदारता से दीनों को, कामना पूरी करने से ब्राह्मणों को, अन्न पान आदि से अतिथियों को, प्रजापालन से वैश्यों को और दया से शूद्रों को, अच्छी प्रकार तृप्त करता था। उसने चोरों को दण्ड देकर अपने वश में किया। वह साक्षात् इन्द्र की तरह धर्म से प्रजा का पालन करते हुए पृथ्वी का राज्य करने लगा। सिंह के समान विक्रमवाला वह राजा विषय में आसक्त होकर भी धर्मानुसार भली प्रकार भोग भोगने लगा। वह अच्छी कामना की सामग्री

परिसंख्याय कालज्ञः कलाः काष्ठाश्च वीर्यवान् ।
यौवनं प्राप्य राजर्षिः सहस्रपरिवत्सरान् ॥ ८ ॥
विश्वाच्या सहितो रेमे व्यभ्राजन्नन्दने वने ।
अलकायां स कालं तु मेरुशृङ्गे तथोत्तरे ॥ ९ ॥
यदा स पश्यते कालं धर्मात्मा तं महीपतिः ।
पूर्णं मत्वा ततः कालं पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥ १० ॥
यथाकामं यथोत्साहं यथाकालमरिंदम ।
सेविता विषयाः पुत्र यौवनेन मया तव ॥ ११ ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ १२ ॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥ १३ ॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥ १४ ॥
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः ।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वभिजायते ॥ १५ ॥
तस्मादेनामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम् ।
निर्द्वन्द्वो निर्ममो भूत्वा चरिष्यामि मृगैः सह ॥ १६ ॥

पाकर हर्षित हुआ, परन्तु यह स्मरण करके कि, यौवन अवस्था हजार वर्ष तक रहेगी, दुःखित भी हुआ। वह वीर्यवान् कालज्ञ राजर्षि यौवन पाकर हजार वर्ष तक विश्वाची अप्सरा के साथ कभी नन्दन वन में, कभी अलकापुरी में और कभी सुमेरुपर्वत के सुन्दर शिखर पर विहार करता रहा। अनन्तर जब उस धर्मात्मा ने देखा कि, हजार वर्ष पूरे हो गये, तब अपने प्यारे पुत्र पूरु को बुलाकर कहा ॥१।१०॥

हे पुत्र! मैं तुम्हारे यौवन से अभिलाषा और उत्साहपूर्वक विषय भोग चुका हूं। जैसे आग में घृत छोड़ने से और भी भड़क उठती है, इसी प्रकार विषय भोग से काम की निवृत्ति कभी नहीं होती। पृथ्वी में धन, धान्य, स्त्री, यह सब एक पुरुष के भोगे जाने पर भी तृप्ति नहीं होती इसलिये भोग की तृष्णा को छोड़ देना ही ठीक है। इस इच्छा को दुर्मति पुरुष नहीं त्याग सकते। बुढ़ापा आजाने से भी इच्छा का नाश नहीं होता। इस रोग का

पूरो प्रीतोऽस्मि भद्रं ते गृहाणेदं स्वयौवनम् ।
राज्यं चेदं गृहाण त्वं त्वं हि मे प्रियकृत्सुतः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच–प्रतिपेदे जरां राजा ययातिर्नाहुषस्तदा ।
यौवनं प्रतिपेदे च पूरुः स्वं पुनरात्मनः ॥ १८ ॥
अभिषेक्तुकामं नृपतिं पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णा इदं वचनमब्रुवन् ॥ १९ ॥
कथं शुक्रस्य नप्तारं देवयान्याः सुतं प्रभो ।
ज्येष्ठं यदुमतिक्रम्य राज्यं पूरोः प्रयच्छसि ॥ २० ॥
यदुर्ज्येष्ठस्तव सुतो जातस्तमनु तुर्वसुः ।
शर्मिष्ठायाः सुतो द्रुह्युस्ततोऽनुः पूरुरेव च ॥ २१ ॥
कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान्राज्यमर्हति ।
एतं संबोधयामस्त्वां धर्मं त्वं प्रतिपालय ॥ २२ ॥

ययातिरुवाच–ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः सर्वे शृण्वन्तु मे वचः ।
ज्येष्ठं प्रति यथा राज्यं न देयं मे कथंचन ॥ २३ ॥
मम ज्येष्ठेन यदुना नियोगो नानुपालितः ।
प्रतिकूलः पितुर्यश्च न स पुत्रः सतां मतः ॥ २४ ॥

छोड़ने के सिवाये और कोई उपाय नहीं है। विषय भोग में मेरे हजार वर्ष व्यतीत हो गये परन्तु इच्छा प्रबल होती जाती है। इसलिये मैं इसको छोड़कर परब्रह्म में चित्त लगाकर निर्द्वन्द्व वन में मृगों के साथ रहूंगा। हे पूरु! तुम मेरे प्यारे पुत्र हो। मैं तुमपर प्रसन्न हूं। तुम्हारा मंगल हो। यह अपना यौवन और राज्य ले लो। वैशम्पायन ने कहा। हे जनमेजय! अब ययाति ने पूरु को जवानी देकर अपना बुढ़ापा ले लिया। राजा ययाति ने जब छोटे पुत्र पूरु को राज्य देना चाहा तब ब्राह्मण आदि सब प्रजा उनसे आकर कहने लगी। हे महाराज! शुक्र के नाती और देवयानी के पुत्र बड़े लड़के यदु को छोड़कर आप सबसे छोटे पूरु को क्यों राज्य दे रहे हैं ॥११।२०॥

बड़ों को छोड़कर सबसे छोटा लड़का कैसे राज्य का अधिकारी हो सकता है। आपने जो कार्य करना हो उसको धर्म के अनुसार करें। ययाति ने कहा। हे ब्राह्मणादि वर्णों के लोगो! बड़े पुत्रों को छोड़कर छोटे को राज्य देने का कारण सुनो। मैं बड़े पुत्र यदु को राज्य नहीं दे सकता हूं, क्योंकि उसने मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया है। जो पुत्र पिता के अनुकूल कार्य को नहीं करता, वह पुत्र कहलाने का अधिकारी नहीं है। जो पुत्र माता पिता की आज्ञा के अनुकूल चलनेवाला

मातापित्रोर्वचनकृद्धितः पथ्यश्च यः सुतः ।
स पुत्रः पुत्रवद्यश्च वर्त्तते पितृमातृषु ॥ २५ ॥
यदुनाऽहमवज्ञातस्तथा तुर्वसुनाऽपि च ।
द्रुह्युना चानुना चैव मय्यवज्ञा कृता भृशम् ॥ २६ ॥
पूरुणा तु कृतं वाक्यं मानितं च विशेषतः ।
कनीयान्मम दायादो धृता येन जरा मम ॥ २७ ॥
मम कामः स च कृतः पूरुणा मित्ररूपिणा ।
शुक्रेण च वरो दत्तो काव्येनोशनसास्वयम् ॥ २८ ॥
पुत्रो यस्त्वाऽनुवर्त्तेत स राजा पृथिवीपतिः ।
भवतोऽनुनयाम्येवं पूरू राज्येऽभिषिच्यताम् ॥ २९ ॥
प्रकृतय ऊचु—यः पुत्रो गुणसंपन्नो मातापित्रोर्हितः सदा ।
सर्वमर्हति कल्याणं कनीयानपि सत्तमः ॥ ३० ॥
अर्हः पूरुरिदं राज्यं यः सुतः प्रियकृत्तव ।
वरदानेन शुक्रस्य न शक्यं वक्तुमुत्तरम् ॥ ३१ ॥
वैशम्पायन उवाच-पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा ।
अभ्यषिञ्चत्ततः पूरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः ॥ ३२ ॥
दत्त्वा च पूरवे राज्यं वनवासाय दीक्षितः ।
पुरात्स निर्ययौ राजा ब्राह्मणैस्तापसैः सह ॥ ३३ ॥

हितकारी और नम्र होता है वही सच्चा पुत्र कहलाने का अधिकारी है ॥२१।२५॥

यदु, तुर्वसु, अनु, द्रुह्यु इन सब ने मेरा अनादर किया, मेरा कहना नहीं माना। केवल पूरु ने ही मेरा कहना मानकर मेरे मान की रक्षा की। इस पूरु ने मेरा बुढ़ापा लेकर जवानी दी, इसलिये यह मेरी सम्पत्ति का मालिक है। शुक्राचार्य ने भी मुझको यह वर दिया था कि, तुम्हारी आज्ञा का पालन करनेवाला पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा। इस कारण मैं आप सब से प्रार्थना करता हूं कि, पूरु का ही राज्याभिषेक किया जावे। यह सुनकर प्रजा ने कहा—हे महाराज! जो पुत्र गुणवान् और माता-पिता की आज्ञा का पालन करनेवाला होता है, वह छोटा होने पर भी सब सुखों और भलाइयों का अधिकारी हो सकता है। आपके छोटे पुत्र पूरु ने आपका हित किया है और शुक्रजी ने भी उसको राज्य देने को वरदान दिया है, तो आप निस्संदेह उसको राज्य दीजिये। वैशम्पायन ने कहा—हे

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः ।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः ॥ ३४ ॥
पूरोस्तु पौरवो वंशो यत्र जातोऽसि पार्थिव ।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कारयितुं वशी ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने पञ्चाशीतितमोऽध्याय ॥ ८५ ॥

जनमेजय ! पुरवासियों की इस बात को सुनकर राजा ने अपने छोटे पुत्र पूरु का राज्याभिषेक कराया। उसको राज्य देकर आप तपस्या करने के लिये तपस्वी ब्राह्मणों के साथ वन को चले गये। इसके उपरान्त यदु से यादव, तुर्वसु से यवन, द्रुह्यु से भोज और अनु से म्लेच्छ उत्पन्न हुए। राजा पूरु से पौरववंश चला। आप इस वंश में हजार वर्ष राज्य करने के लिये उत्पन्न हुए हो ॥२६।३५॥

आदिपर्व का पचासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षड्शीतितमोऽध्याय ॥ ८६ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं स नाहुषो राजा ययातिः पुत्रमीप्सितम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितो वानप्रस्थोऽभवन्मुनिः ॥ १ ॥
उषित्वा च वने वासं ब्राह्मणैः शंसितव्रतः ।
फलमूलाशनो दान्तस्ततः स्वर्गमितो गतः ॥ २ ॥
स गतः स्वर्निवासं तं निवसन्मुदितः सुखी ।
कालेन नातिमहता पुनः शक्रेण पातितः ॥ ३ ॥
निपतन्प्रच्युतः स्वर्गादप्राप्तो मेदिनीतलम् ।
स्थित आसीदन्तरिक्षे स तदेति श्रुतं मया ॥ ४ ॥
तत एव पुनश्चापि गतः स्वर्गमिति श्रुतम ।
राज्ञा वसुमना सार्धमष्टकेन च वीर्यवान ॥ ५ ॥

॥ छियासीवा अध्याय ८६ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे जनमेजय ! नहुषपुत्र राजा ययाति इस प्रकार प्यारे पुत्र को राज्य देकर प्रसन्नतापूर्वक वानप्रस्थ आश्रम धारण कर मुनि हो गये। कन्द मूल फल आदि का भोजन करके संशित मन जितेन्द्रिय रहकर थोड़े काल में मृत्यु को प्राप्त होकर स्वर्गवासी हुए। स्वर्ग में जाकर राजा ययाति बहुत काल तक वहा का सुख नहीं भोग सके। इन्द्र ने शीघ्र ही उनको स्वर्ग से गिरा दिया। जनमेजय ने कहा हे भगवन् ! मैने सुना है कि, महाराज ययाति पृथ्वी पर नहीं गिरे, परन्तु वे आकाश में ही ठहर

प्रतर्दनेन शिविना समेत्य किल संसदि ।
जनमेजय उवाच—कर्मणा केन स दिवं पुनः प्राप्तो महीपतिः ॥ ६ ॥
सर्वमेतदशेषेण श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसन्निधौ ॥ ७ ॥
देवराजसमो ह्यासीद्ययातिः पृथिवीपतिः ।
वर्धनः कुरुवंशस्य विभावसुसमद्युतिः ॥ ८ ॥
तस्य विस्तीर्णयशसः सत्यकीर्तेर्महात्मनः ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि दिवि चेह च सर्वशः ॥ ९ ॥
वैशंपायन उवाच—हन्त ते कथयिष्यामि ययातेरुत्तमां कथाम् ।
दिवि चेह च पुण्यार्थां सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ १० ॥
ययातिर्नाहुषो राजा पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितः प्रवव्राज वनं तदा ॥ ११ ॥
अन्त्येषु स विनिक्षिप्य पुत्रान्यदुपुरोगमान ।
फलमूलाशनो राजा वने स न्यवसाच्चिरम् ॥ १२ ॥
शंसितात्मा जितक्रोधस्तर्पयन्पितृदेवताः ।
अग्नींश्च विधिवज्जुह्वन्वानप्रस्थविधानतः ॥ १३ ॥

गहे । यह भी सुना है कि, वे फिर वसुमान, अष्टक, पतर्दन और शिवि के साथ स्वर्गलोक को गये ॥१-५॥

आप इस कथा को विस्तारपूर्वक इन ऋषियों और ब्राह्मणों के सामने कहें कि, राजा ययाति फिर किस प्रकार स्वर्ग में पहुँचे । वह राजा ययाति कुरुवंश का बढ़ानेवाला, सत्य, कीर्तियुक्त, सूर्य के समान तेजवाला, देवराज के सदृश था । उसका यश सारे संसार में फैला हुआ है । उस महात्मा की इस लोक और परलोक की सम्पूर्ण कथा सुनना चाहता हूं । वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! स्वर्ग में और इस लोक में पुण्य बढ़ानेवाली और सब पापों को नाश करनेवाली राजा ययाति की सम्पूर्ण कथा को कहता हूं । राजा ययाति यदु आदि पुत्रों को धर्म-भ्रष्ट म्लेच्छ होने का शाप और छोटे पुत्र पूरु को राज्य देकर वन को चले गये । वन में फल-मूल खाकर, क्रोध को जीतकर, वाणप्रस्थ आश्रम की विधि के अनुसार पितरों और देवताओं को सन्तुष्ट करते हुए राजा ययाति तपस्या करने लगे । वे वहां विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते थे । जो कोई अभ्यागत-अतिथि आता था, उसका वन के फल-मूल और घृत आदि से वे सत्कार करते थे । वे राजा ययाति कटे हुए खेत में गिरे हुए अन्न के दानों को बीन लाकर अपने आप सूखकर गिरे हुए

अतिथीन्पूजयामास वन्येन हविषा विभुः ।
शिलोञ्छवृत्तिमास्थाय शेषान्नकृतभोजनः ॥ १४ ॥
पूर्णं वर्षसहस्रं च एवंवृत्तिरभून्नृपः ।
अब्भक्षः शरद स्त्रिंशदासीन्नियतवाङ्मनाः ॥ १५ ॥
ततश्च वायुभक्षोऽभूत्संवत्सरमतन्द्रितः ।
तथा पञ्चाग्निमध्ये च तपस्तेपे स वत्सरम् ॥ १६ ॥
एकपादःस्थितश्चासीत्षण्मासाननिलाशनः ।
पुण्यकीर्तिस्ततः स्वर्गं जगामावृत्य रोदसी ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

फल उठा लाकर अपना निर्वाह करते थे। इस प्रकार हजार वर्ष व्यतीत हो गये। फिर एकाग्र चित्त होकर उन्होंने तीस वर्ष तक केवल जल पीकर निर्वाह किया, फिर एक वर्ष तक केवल वायुभक्षी रहे। इसके पश्चात् एक वर्ष तक पञ्चाग्नि तापकर उन्होंने तप किया। अन्त में छ महीने वायु भक्षण कर एक पाव से खड़े रहकर, पुण्यात्मा नहुषपुत्र ययाति स्वर्ग को गये ॥६।१७॥

आदिपर्व का छियासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तशीतितमोऽध्याय ॥ ८७ ॥

वैशम्पायन उवाच स्वर्गतः स तु राजेन्द्रो निवसन्देववेश्मनि ।
पूजितस्त्रिदशैः साध्यैर्मरुद्भिर्वसुभिस्तथा ॥ १ ॥
देवलोकं ब्रह्मलोकं संचरन्पुण्यकृद्वशी ।
अवसत्पृथिवीपालो दीर्घकालमिति श्रुतिः ॥ २ ॥
स कदाचिन्नृपश्रेष्ठो ययातिः शक्रमागमत् ।
कथान्ते तत्र शक्रेण स पृष्टः पृथिवीपतिः ॥ ३ ॥

। सत्तासीवा अध्याय ८७ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे जनमेजय हमने सुना है कि, स्वर्ग में जाने पर सब देवताओं ने राजा ययाति का बड़ा आदर किया। वे कभी देवलोक में मरुद्गण, वसुगण आदि देवताओं के साथ रहते थे और कभी ब्रह्मलोक में विचरते थे। इस तरह वे बहुत दिनों तक स्वर्ग में रहे। एक दिन राजा ययाति इन्द्र के पास गये। इन्द्र ने पूछा हे राजन्! जब पूरु ने तुम्हारा बुढापा ले लिया और अपना यौवन तुमको दे दिया, तब पूरु को तुमने राज्य देकर क्या कहा था? ययाति ने कहा मैंने पूरु से

शुक्र उवाच—यदा स पूरुस्तव रूपेण राजञ्जरां गृहीत्वा प्रचचार भूमौ ।
तदा च राज्यं संप्रदायैव तस्मै त्वया किमुक्तः कथयेह सत्यम् ॥ ४ ॥
ययातिरुवाच—गङ्गायमुनयोर्मध्ये कृत्स्नोऽयं विषयस्तव ।
मध्ये पृथिव्यास्त्वं राजा भ्रातरोऽन्त्याधिपास्तव ॥ ५ ॥
अक्रोधनः क्रोधनेभ्यो विशिष्टस्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः ।
अमानुषेभ्यो मानुषाश्च प्रधाना विद्वांस्तथैवाविदुषः प्रधानः ॥ ६ ॥
आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ७ ॥
नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययाऽस्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥ ८ ॥
अरुन्तुदं पुरुषं तीक्ष्णवाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निवद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ॥ ९ ॥
सद्भिः पुरस्तादभिपूजितः स्यात्सद्भिस्तथा पृष्ठतो रक्षितः स्यात् ।
सदा सतामतिवादांस्तितिक्षेत्सतां वृत्तं चाददीतार्यवृत्तः ॥ १० ॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान्पण्डितो नावसृजेत्परेषु ॥ ११ ॥

यह कहा था कि, गंगा और यमुना के मध्य में जितने देश हैं वह सब तुम्हारे अधिकार में रहेंगे। भारत-खण्ड के बीच में तुम्हीं राजा हो। तुम्हारे भाई प्रांतदेशों में राज्य करेंगे। इसके सिवाये मैंने कहा कि, क्रोधी से क्रोध करनेवाला, अक्षमावान् से क्षमा करनेवाला, पशु-पक्षी आदि सब प्राणियों से मनुष्य और मूर्खों से विद्वान् सदैव श्रेष्ठ होता है। इससे तुमको चाहिये कि, यदि कोई पुरुष तुमको गाली भी दे, तुम उसको क्षमा करो। क्षमा करने से क्रोधी का संहार हो जाता है और उसके पुण्य को क्षमावान् पाता है। दुखिया को कभी दुःख न देना, न कभी किसी से कठोर वचन कहना। जो हीन पुरुष हैं उनकी सहायता से शत्रु के जीतने की इच्छा कभी न करना और ऐसी बात न कहना जिससे मनुष्यों को दुःख पहुँचे। जो मनुष्य दुःख-दायी, रूखी, तीक्ष्ण और काँटों के समान दुःख देनेवाली बात किसी को कहता है, उसका कभी कल्याण नहीं होता है। तुमको चाहिये कि, सर्वदा सत्पुरुषों की संगति में रहो और उनकी चाल पर चलो और जो उनके मुख से कोई मर्यादारहित बात निकल जावे तो उसको क्षमा करो। जो आदमी साधु होता है, वह मूर्ख के बाणरूपी वचनों को सहकर उससे बदला लेने का विचार नहीं करता है। मनुष्यों पर दया करना, दान देना और मीठे

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥ १२ ॥
तस्मात्सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित् ।
पूज्यान्संपूजयेद्दद्यान्न च याचेत्कदाचन ॥ १३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने सप्ताशीतितमोऽध्याय ॥ ८७ ॥

वचन बोलना, इनके समान तीनों लोकों में ईश्वर की भक्ति नहीं है । इस कारण से तुमको चाहिये कि, कभी कठोर वचन न बोलो । जो मनुष्य पूजने के योग्य हैं उनका पूजन करना चाहिये और दान देना और कभी किसी से कुछ न मांगना यह तुम्हारा धर्म है ॥१।१३॥

आदिपर्व का सत्तासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टाशीतितमोऽध्याय ॥ ८८ ॥

इन्द्र उवाच—सर्वाणि कर्माणि समाप्य राजन्गृहं परित्यज्य वनं गतोऽसि ।
तत्त्वां पृच्छामि नहुषस्य पुत्र केनासि तुल्यस्तपसा ययाते ॥ १ ॥
ययातिरुवाच—नाहं देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु महर्षिषु ।
आत्मनस्तपसा तुल्यं कंचित्पश्यामि वासव ॥ २ ॥
इन्द्र उवाच—यदाऽवमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च अल्पीयसश्चाविदितप्रभावः ।
तस्माल्लोकास्त्वन्तवन्तस्तवेमे क्षीणे पुण्ये पतिताऽस्यद्य राजन् ॥ ३ ॥
ययातिरुवाच—सुरर्षिगन्धर्वनरावमानात्क्षयं गता मे यदि शक्र लोकाः ।
इच्छाम्यहं सुरलोकाद्विहीनः सतां मध्ये पतितुं देवराज ॥ ४ ॥

॥ अट्ठासीवां अध्याय ८८ ॥

इन्द्र ने कहा हे राजन् ! जब तुमने सब कर्तव्यों को पूरा करके घर छोड़कर तपस्या की, तुम अपनी तपस्या को किसकी तपस्या के बराबर जानते हो ? यह सुनकर नहुषपुत्र ययाति ने कहा देवता, मनुष्य, गन्धर्व, महर्षि आदि में मैं किसी की तपस्या को अपनी तपस्या के बराबर नहीं जानता हूं । इन्द्र ने कहा हे राजन ! तुमने ओरों का प्रभाव बिना जाने अपने से श्रेष्ठ, तुल्य और अधम सबका अपमान किया, इसलिये तुम्हारा पुण्य क्षीण होगया और स्वर्ग के भोगों का भी अन्त होगया । आज तुम स्वर्ग से नीचे गिराये जाओगे। ययाति ने कहा हे इन्द्र ! देवता, ऋषि गन्धर्व, मनुष्य आदि का अपमान करने से यदि मेरा पुण्य क्षीण हो गया है, तो मैं यहां से सज्जनों के बीच में गिरना चाहता हूं । इन्द्र ने कहा हे राजन् ! तुम यहां से सज्जनों की मण्डली में ही गिरोगे । वहां

इन्द्र उवाच—सतां सकाशे पतिताऽसि राजंश्च्युतः प्रतिष्ठां यत्र लब्धाऽसि भूयः ।
एतद्विदित्वा च पुनर्ययाते त्वं माऽवमंस्याः सदृशः श्रेयसश्च ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच–ततः प्रहायामरराजजुष्टान्पुण्याँल्लोकान्पतमानं ययातिम् ।
संप्रेक्ष्य राजर्षिवरोऽष्टकस्तमुवाच सद्धर्मविधानगोप्ता ॥ ६ ॥
अष्टक उवाच–कस्त्वं युवा वासवतुल्यरूपः स्वतेजसा दीप्यमानो यथाऽग्निः ।
पतस्युदीर्णाम्बुधरान्धकारात्खात्खेचराणां प्रवरो यथाऽर्कः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा च त्वां सूर्यपथात्पतन्तं वैश्वानरार्कद्युतिमप्रमेयम् ।
किं नु स्विदेतत्पततीति सर्वे वितर्कयन्तः परिमोहिताः स्मः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा च त्वां धिष्ठितं देवमार्गे शक्रार्कविष्णुप्रतिमप्रभावम् ।
अभ्युद्गतास्त्वां वयमद्य सर्वे तत्त्वं प्रपाते तव जिज्ञासमानाः ॥ ९ ॥
न चापि त्वां धृष्णुमः प्रष्टुमग्रे न च त्वमस्मान्पृच्छसि ये वयं स्मः ।
तत्त्वां पृच्छामि स्पृहणीयरूप कस्य त्वं वा किंनिमित्तं त्वमागाः ॥ १० ॥
भयं तु ते व्येतु विषादमोहौ त्यजाशु चैवेन्द्रसमप्रभाव ।
त्वां वर्तमानं हि सतां सकाशे नालं प्रसोढुं बलहाऽपि शक्रः ॥ ११ ॥
सन्तः प्रतिष्ठा हि सुखच्युतानां सतां सदैवामरराजकल्प ।
ते संगताः स्थावरजङ्गमेशाः प्रतिष्ठितस्त्वं सदृशेषु सत्सु ॥ १२ ॥

तुम्हें फिर अच्छी गति और प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। हे ययाति ! तुमको अब धर्म का मर्म विदित हुआ फिर कभी श्रेष्ठ और बराबरवालों का अपमान न करना ॥१,५॥

वैशम्पायन ने कहा -हे जनमेजय ! राजा ययाति देवराज से शोभित पुण्यलोक को छोड़ गिर रहे थे कि, ऐसे समय में साधु और धर्मात्मा राजर्षि अष्टक ने उनको देखकर कहा—अपने तेज से अग्नि के समान प्रज्वलित, इन्द्र के सदृश रूप और यौवन-वाला और आकाश में विचरनेवालों में श्रेष्ठ, सूर्य के समान मेघरूपी अँधियारे को हटाते हुए तुम कौन आकाश से गिर रहे हो ! हे युवक ! इन्द्र के समान सुन्दर, अग्नि और सूर्य के समान तेजस्वी तुमको सूर्य के रास्ते से गिरते देख सब लोग मोहित हो यह कह रहे हैं कि, यह कौन गिर रहा है। हम सब तुमको उपेन्द्र, इन्द्र और सूर्य के समान तेजवाला और देवमार्ग में ठहरे हुए देखकर तुम्हारे गिरने का कारण जानना चाहते हैं। हे रूपवान् ! पहिले हम तुमसे कुछ पूछने का साहस नहीं कर सके। तुमने भी हमसे हमारे बारे में कुछ नहीं पूछा। इसलिये हम तुमसे पूछते हैं कि, तुम कौन हो ! किसके पुत्र हो ? स्वर्गलोक से तुम क्यों आ रहे हो ? हे इन्द्र के सदृश प्रभाववान् ! अब तुम्हें कुछ डर नहीं है। खेद और मोह को छोड़ दो।

प्रभुरग्निः प्रतपने भूमिरावपने प्रभुः ।
प्रभुः सूर्यः प्रकाशित्वे सतां चाभ्यागतःप्रभुः ॥ १३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने अष्टाशीतितमोऽध्याय ॥ ८८ ॥

साधुओं के पास ठहरने से बल का नाश करनेवाला इन्द्र भी तुमको नहीं सता सकेगा। हे देव! साधुजन ही दुःख में पड़े हुए सज्जनों के लिये आश्रमस्वरूप हैं। इस समय तुम अपने समान पुण्यात्मा सज्जनों के पास आ गये हो। जिस प्रकार अग्नि ताप देता है और सूर्य अन्धेरे को दूर करता है, इसी प्रकार साधुओं के पास आया हुआ अभ्यागत भी समर्थवान् हो जाता है ॥८।१३॥

आदिपर्व का अट्ठासीवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

ययातिरुवाच—अहं ययातिर्नहुषस्य पुत्रः पूरोः पिता सर्वभूतावमानात् ।
प्रभ्रंशितः सुरसिद्धर्षिलोकात्परिच्युतः प्रपताम्यल्पपुण्यः ॥ १ ॥
अहं हि पूर्वो वयसा भवद्भयस्तेनाभिवादं भवतां न प्रयुञ्जे ।
यो विद्यया तपसा जन्मना वा वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥ २ ॥
अष्टक उवाच—अवादीस्त्वं वयसा यः प्रवृद्धः स वै राजन्नाभ्यधिकः कथ्यते च ।
यो विद्यया तपसा संप्रवृद्धः स एव पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥ ३ ॥
ययातिरुवाच—प्रतिकूलं कर्मणां पापमाहुस्तद्वर्त्ततेऽप्रवणे पापलोक्यम् ।
सन्तोऽसतां नानुवर्त्तन्ति चैतद्यथा चैषामनुकूलास्तथाऽऽसन् ॥ ४ ॥
अभूद्धनं मे विपुलं गतं तद्विचेष्टमानो नाधिगन्ता तदस्मि ।
एवं प्रधार्यात्महिते निविष्टो यो वर्त्तते स विजानाति धीरः ॥ ५ ॥

॥ नवासीवा अध्याय ८९ ॥

ययाति ने कहा मैं नहुष का पुत्र और पूरु का पिता ययाति हूं। सब प्राणियों का निरादर करने से मेरा पुण्य घट गया है। इसीसे अब देवता, सिद्ध और ऋषियों के लोक से भ्रष्ट होकर नीचे गिर रहा हूं। मैं तुम सब से अवस्था में बड़ा हूं। इसीसे मैंने तुमको प्रणाम नहीं किया। जो विद्या, तपस्या अथवा अवस्था में बड़ा होता है, वही द्विज वर्णों में पूज्य समझा जाता है। अष्टक ने कहा-हे राजा ययाति! आप ने कहा कि, अवस्था में जो बड़ा है वह श्रेष्ठ है किन्तु जो विद्या और तप में बड़ा है वही द्विजों में सबसे अधिक पूज्य समझा जाता है। आप अवस्था में ही नहीं, विद्या और तप में भी बड़े हैं। ययाति ने कहा कि, विद्या और तपस्या आदि कर्म के अहंकार को पण्डितों ने नरक उपजानेवाला पाप कहा है। वह अहंकार स्वतन्त्र जन में ही रहता है। साधु लोग उन स्वतंत्र

महाधनो यो यजते सुयज्ञैर्यः सर्वविद्यासु विनीतबुद्धिः ।
वेदानधीत्य तपसा योऽय देहं दिवं समायात्पुरुषो वीतमोहः ॥ ६ ॥
न जातु हृष्येन्महता धनेन वेदानधीयीतानहंकृतः स्यात् ।
नानाभावा बहवो जीवलोके दैवाधीना नष्टचेष्टाधिकाराः ।
तत्तत्प्राप्य न विहन्येत धीरो दिष्टं बलीय इति मत्वाऽऽत्मबुद्ध्या ॥ ७ ॥
सुखं हि जन्तुर्यदि वाऽपि दुःखं दैवाधीनं विन्दते नात्मशक्त्या ।
तस्माद्दिष्टं बलवन्मन्यमानो न संज्वरेन्नापि हृष्येत्कथंचित ॥ ८ ॥
दुःखैर्न तप्येन्न सुखैः प्रहृष्येत्समेन न वर्त्तेत सदैव धीरः ।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानो न संज्वरेन्नापि हृष्येत्कथंचित् ॥ ९ ॥
भये न मुह्याम्यष्टकाहं कदाचित्संतापो मे मानसो नास्ति कश्चित् ।
धाता यथा मां विदधीत लोके ध्रुव तथाऽहं भवितेति मत्वा ॥ १० ॥
संस्वेदजा अण्डजा उद्भिदश्च सरीसृपाः कृमयोऽथाप्सु मत्स्याः ।
तथाश्मानस्तृणकाष्टं च सर्वे दिष्टक्षये स्वां प्रकृतिं भजन्ति ॥ ११ ॥

असाधुओं के समान अहंकार के वश में नहीं होते। पहिले के लोग भी ऐसे थे और मैं ऐसा करने से ही स्वर्ग से गिरा हूं। मैंने पुण्यरूपी धन सञ्चय किया था। इस समय अहंकार से वह सब नष्ट हो गया। बहुत श्रम करने पर भी वह अब मुझे नहीं मिल सकता। जो मेरी ऐसी गति देखकर अपना हित साधन में प्रस्तुत होंगे, वही बुद्धिमान और धीर हैं ॥१।५॥

जो मनुष्य धनवान् होकर अच्छे यज्ञ करते हैं और सब विद्याओं को जानकर विनयशील होते हैं और सम्पूर्ण वेदों का पाठ करके तपस्या में अपने शरीर को छोड़ते हैं, वही अन्त को मोह-रहित हो स्वर्ग को जाते हैं। बहुत पुण्यसञ्चय करके भी सन्तुष्टचित्त न होना, वेदों को पढ़कर भी अहंकार न करना, इस जीवलोक में कोई धर्मात्मा और कोई अधर्मी होते हैं क्योंकि सभी जीव दैव के अधीन हैं। दैव के विरुद्ध उनकी योग्यता और चेष्टा नष्ट हो जाती है। इसलिये दैव को ही प्रबल जानकर अपने कर्म के फल स्वरूप सुख-दुःख को पाकर हर्ष शोक में अपने को नष्ट न करना चाहिये। बहुत पुण्यरूपी धन इकट्ठा करके भी प्रसन्न होना ठीक नहीं। अहंकार को छोड़कर वेदों को पढ़ना चाहिये। यत्न करने पर भी कोई अपनी इच्छा से सुखी या दुःखी नहीं हो सकता। इस कारण यदि दैव की प्रबलता से सुख या दुःख आ पड़े तो दैव को ही प्रबल मानकर न तो प्रसन्न ही होना चाहिये और न दुःखी होना। दैव को प्रबल मानकर एक ही भाव में रहना चाहिये। हे अष्टक! विधाता ने जो लिख दिया है वह कभी मिट नहीं सकता। यह जानकर न मुझे डर है और न मेरे मन में इस

अनित्यतां सुखदुःखस्य बुध्वा कस्मात्संतापमष्टकाहं भजेयम् ।
किं कुर्यां वै किंच कृत्वा न तप्ये तस्मात्संतापं वर्जयाम्यप्रमत्तः ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं ब्रुवाणं नृपतिं ययातिमथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छत् ।
मातामहं सर्वगुणोपपन्नं तत्र स्थितं स्वर्गलोके यथावत् ॥ १३ ॥
अष्टक उवाच—ये ये लोकाः पार्थिवेन्द्र प्रधानास्त्वया भुक्ता यं च कालं यथावत् ।
तान्मे राजन्ब्रूहि सर्वान्यथावत्क्षेत्रज्ञवद्भाषसे त्वं हि धर्मान् ॥ १४ ॥
ययातिरुवाच—राजाऽहमासमिह सार्वभौमस्ततो लोकान्महतश्चाजयं वै ।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १५ ॥
ततः पुरीं पुरुहूतस्य रम्यां सहस्रद्वारां शतयोजनायताम् !
अध्यावसं वर्षसहस्रमात्रं ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १६ ॥
ततो दिव्यमजरं प्राप्य लोकं प्रजापतेर्लोकपतेर्दुरापम् ।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १७ ॥
स देवदेवस्य निवेशने च विहृत्य लोकानवसं यथेष्टम् ।
संपूज्यमानस्त्रिदशैः समस्तैस्तुल्यप्रभावद्युतिरीश्वराणाम् ॥ १८ ॥
तथावसन्नन्दने कामरूपी संवत्सराणामयुतं शतानाम् ।
सहाप्सरोभिर्विहरन्पुण्यगन्धान्पश्यन्नगान्पुष्पितांश्चारुरूपान् ॥ १९ ॥

गति से कुछ सन्ताप ही है ॥९।१०॥ देखो सर्प, बिच्छू, सूर्य, मछली आदि जल अस्थल के कीड़े, पत्थर, तृण, काष्ठादि, जितने स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज पदार्थ हैं सभी अंत में अपनी अपनी प्रकृति में लीन होते हैं। हे अष्टक ! सुख और दुःख अनित्य हैं इसलिये मैं उनमें क्यों तापित हूंगा। यह विचार कर कि, क्या करूं और क्या करने से सन्ताप जाता रहेगा, प्रवृत्त होकर सन्ताप छोड़ दिया। वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! वहां ठहरे हुए सर्व गुणों से युक्त राजा ययाति के ऐसा कहने पर अष्टक ने फिर स्वर्गवास की कथा पूछी। हे राजन ! आप क्षेत्रज्ञ नारदादि के समान धर्म की कथा कह रहे हैं इसलिये आपने जितने काल तक और जिस प्रकार जिन जिन प्रधान लोकों का भोग किया है वह सब मेरे आगे कहो ॥११।१४॥

ययाति ने कहा—मैं इस लोक में सार्वभौम राजा था और सब को जय करके हज़ार वर्ष पर्यन्त वहां रहा। तत्पश्चात् परमलोक प्राप्तकरके हजार द्वारवाली सौ योजन फैली हुई सुन्दर इन्द्रपुरी में वास किया। इसके पश्चात् उससे भी श्रेष्ठ, दिव्य, अजर लोकपति प्रजापति लोक को प्राप्तकर वहां भी सहस्र वर्ष तक वास किया। फिर उससे भी परमलोक को पाकर देव देव के स्थान में विहारकर देवों से पूजा हुआ देवताओं के समान प्रभाव और द्युति-

तत्र स्थितं मां देवसुखेषु सक्तं कालेऽतीते महति ततोऽतिमात्रम् ।
दूतो देवानामब्रवीदुग्ररूपो ध्वंसेत्युच्चैस्त्रिः प्लुतेन स्वरेण ॥ २० ॥
एतावन्मे विदितं राजसिंह ततो भ्रष्टोऽहं नन्दनात्क्षीणपुण्यः ।
वाचोऽश्रौषं चान्तरिक्षे सुराणां सानुक्रोशः शोचतां मां नरेन्द्र ॥ २१ ॥
अहो कष्टं क्षीणपुण्यो ययातिः पतत्यसौ पुण्यकृत्पुण्यकीर्तिः ।
तानब्रुवं पतमानस्ततोऽहं सतां मध्ये निपतेयं कथं नु ॥ २२ ॥
तैराख्याता भवतां यज्ञभूमिः समीक्ष्य चेमां त्वरितमुपागतोऽस्मि ।
हविर्गन्धं देशिकं यज्ञभूमेर्धूमापाङ्गं प्रतिगृह्य प्रतीतः ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

वाला होकर मनमाने लोक में वास किया ॥१५।१८॥

अन्त में कामरूपी होकर दश लाख वर्ष नन्दन-वन में वासकर सुगन्धित फूलवाले मनोहर वृक्षों को देखता हुआ अप्सराओं के साथ विहार करने लगा। इस प्रकार सुख से बहुत समय स्वर्ग में व्यतीत हुआ। तत्पश्चात् उग्ररूपी देव-दूत ने मुझसे तीन बार च्युत हो यह शब्द कहा—हे राजसिंह ! मैं इतना ही जानता हूं। पुण्य क्षीण होने पर नन्दन-वन से जब मैं गिरा, तब मार्ग में अन्तरिक्ष में करुण स्वर से मेरे लिये शोक कर रहे देवताओं की बातें मुझे सुन पड़ीं। वे कह रहे थे-हा ! कैसे शोक की बात है कि, पुण्यकर्म करनेवाले पवित्र-कीर्ति राजा ययाति, पुण्य क्षीण होने से, स्वर्ग से भ्रष्ट होकर गिर रहे हैं। मैंने गिरते हुए उनसे कहा—आप लोग ऐसा उपाय करें कि, मैं साधु समाज में जाकर गिरूँ। उन्होंने तुम्हारी यह यज्ञभूमी दिखलाई। उसी के अनुसार हवि की गन्ध सूंघकर और अग्नि का धुआ देखकर मैं तुम्हारी इस यज्ञभूमि में आ पहुँचा हूं ॥१९।२३॥

आदिपर्व का नवासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

अष्टक उवाच—यदाऽवसो नन्दने कामरूपी संवत्सराणामयुतं शतानाम् ।
किं कारणं कार्तयुगप्रधान हित्वा च त्वं वसुधामन्वपद्यः ॥ १ ॥
ययातिरुवाच—ज्ञातिः सुहृत्स्वजनो वा यथेह क्षीणे वित्ते त्यज्यते मानवैर्हि ।
तथा तत्र क्षीणपुण्यं मनुष्यं त्यजन्ति सद्यः सेश्वरा देवसङ्घाः ॥ २ ॥

॥ नव्वेवां अध्याय ९० ॥

अष्टक ने कहा—हे निष्पाप पुरुषों में श्रेष्ठ ! आप कामरूपी होकर दश लाख वर्ष तक नन्दन-वन में रहकर फिर किस कारण पृथ्वी पर आये, सो हमसे कहो। ययाति ने कहा—जिस प्रकार इस

अष्टक उवाच—तस्मिन्कथं क्षीणपुण्या भवन्ति संमुह्यते मेऽत्र मनोऽतिमात्रम् ।
किं वा विशिष्टाः कस्य धामोपयान्ति तद्वै ब्रूहि क्षेत्रवित्त्वं मतो मे ॥ ३ ॥
ययातिरुवाच—इमं भौमं नरकं ते पतन्ति लालप्यमाना नरदेव सर्वे ।
ये कङ्कगोमायुबलाशनार्थे क्षीणा विवृद्धिं बहुधा व्रजन्ति ॥ ४ ॥
तस्मादेतद्वर्जनीयं नरेन्द्र दुष्टं लोके गर्हणीयं च कर्म ।
आख्यातं ते पार्थिव सर्वमेव भूयश्चेदानीं वद किं ते वदामि ॥ ५ ॥
अष्टक उवाच—यदा तु तान्वितुदन्ते वयांसि तथा गृध्राः शितिकण्ठाः पतङ्गाः ।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति न भौममन्यं नरकं शृणोमि ॥ ६ ॥
ययातिरुवाच—ऊर्ध्वं देहात्कर्मणा जृम्भमाणाद्व्यक्तं पृथिव्यामनुसंचरन्ति ।
इमं भौमं नरकं ते पतन्ति नावेक्षन्ते वर्षपूगाननेकान् ॥ ७ ॥
षष्टिं सहस्राणि पतन्ति व्योम्नि तथा अशीतिं परिवत्सराणि ।
तान्वै तुदन्ति पतत. प्रपातं भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ॥ ८ ॥
अष्टक उवाच—यदेनसस्ते पततस्तुदन्ति भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति कथंभूता गर्भभूता भवन्ति ॥ ९ ॥

लोक में स्वल्प आयु होने पर अपने जाति, मित्र और स्वजनों को छोड़ना पड़ता है उसी प्रकार वहां मनुष्यों के पुण्य क्षीण होने पर ऐश्वर्यवन्त देवता उनको त्याग देते हैं। अष्टक ने कहा कि, देवलोक के रहनेवाले क्षीणपुण्य कैसे हो जाते हैं? कौन कर्म करके मनुष्य किस लोक में जाता है? इस विषय में मुझे बड़ी शंका है। आप सब कुछ जानते हैं। यह सब मुझसे कहिए। ययाति ने कहा—हे नरदेव! जो लोग अपनी प्रशंसा अपने मुख से करते हैं, वे क्षीणपुण्य होकर पृथ्वीरूपी नरक में गिरकर भोग की अभिलाषा में थक जाते हैं। पक्षी सियार आदि नाना प्रकार के कष्टदाई शरीर धारण करते हैं। हे नरेन्द्र! इस कारण दोषयुक्त और लोकनिन्दित कर्म त्याग देना चाहिये। हे पृथ्वीनाथ! तुमने जो कुछ पूछा था सो मैंने कह दिया। अब तुम क्या सुनना चाहते हो? अष्टक ने कहा—जब मनुष्यों के शरीर को गिद्ध सियार आदि खा लेते हैं, तब उन्हें दूसरा शरीर कैसे मिलता है? आप इस पृथ्वी को नरक क्यों कहते हैं? भौम नरक क्या है ॥१-६॥

ययाति ने कहा—सब जीव कर्मानुसार देह छोड़ने के पीछे माता की कोख से जन्म लेकर और उस स्थान में सम्पूर्ण अंगयुक्त देह की उत्पत्ति होने पर पैदा होते हैं और पृथ्वी में चलते फिरते हैं। इसीसे इस पृथ्वी को भौमनरक कहा है। इस प्रकार यहां गिरने से उनकी अवस्था की वृद्धि नहीं होती और अज्ञान के वश में होकर विषय भोग में वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। कोई कोई जीव अपने

यया‍तिरुवाच—अस्त्रं रेतः पुष्पफलानुपृक्तमन्वेति तद्वै पुरुषेण सृष्टम् ।
स वै तस्या रज आपद्यते वै स गर्भभूतः समुपैति तत्र ॥ १० ॥
वनस्पतीनोषधींश्चाविशन्ति अपो वायुं पृथिवीं चान्तरिक्षम् ।
चतुष्पदं द्विपदं चापि सर्वमेवं भूता गर्भभूता भवन्ति ॥ ११ ॥
अष्टक उवाच—अन्यद्वपुर्विदधातीह गर्भमुताहोस्वित्स्वेन कायेन याति ।
आपद्यमानो नरयोनिमेतामाचक्ष्व मे संशयात्प्रब्रवीमि ॥ १२ ॥
शरीरभेदादिसमुच्छ्रयं च चक्षुःश्रोत्रे लभते केन संज्ञाम् ।
एतत्तत्त्वं सर्वमाचक्ष्व पृष्टः क्षेत्रज्ञं त्वा तात मन्याम सर्वे ॥ १३ ॥
यया‍तिरुवाच—वायुः समुत्कर्षति गर्भयोनिमृतौ रेतः पुष्परसानुपृक्तम् ।
स तत्र तन्मात्रकृताधिकारः क्रमेण संवर्धयतीह गर्भम् ॥ १४ ॥
स जायमानो विगृहीतमात्रः संज्ञामधिष्ठाय ततो मनुष्यः ।
स श्रोत्राभ्यां वेदयतीह शब्दं स वै रूपं पश्यति चक्षुषा च ॥ १५ ॥

कर्मानुसार स्वर्ग के गिरने के पश्चात् साठ या अस्सी हजार वर्ष तक आकाश में रहकर कष्ट भोगते हैं। उन गिरनेवाले जीवों को बड़े बड़े दांतवाले भयंकर हाथी, भैंसे और पुरुषशरीरधारी भौम राक्षस लोग हिंसा करते हैं। अष्टक ने कहा जो लोग पाप के हेतु स्वर्ग से गिराये जाते हैं, वह भौम राक्षसों से हिंसा किये जाकर कैसे बने रहते हैं? उनकी इन्द्रियां आदि कैसे रहती हैं? वे गर्भ में जाकर कैसे जन्म लेते हैं? ययाति ने कहा कि, सूक्ष्म भूत मे घिरा हुआ जीव जलयुक्त शरीर धरकर वीर्यरूप हो जाता है और पुष्प मे गिराये जाकर स्त्री के शोणित से मिलने पर फूल फल के समान रज बन जाता है। ऐसा जिस स्त्री के पेट में गर्भस्वरूप उत्पन्न होता है जीव पहिले जल, वायु, आकाश और तेज पांच महाभूतों से मिलता है फिर वनस्पति और ओषधि बन जाता है। इसके पश्चात् शुक्र और शोणित का स्वरूप पाकर गर्भ से दो पाये, चार पाये आदि का शरीर धारण करता है ॥७।११॥

अष्टक ने पूछा कि, जब जीव नर योनि को प्राप्त करता है तब अपने शरीर को लेकर माता की कोख में घुसता है या कोई दूसरा भौतिक शरीर धरकर? जीवों में शरीर भेद क्यों होते हैं? उनको आंख, कान आदि सब इन्द्रियां और रूप, शब्द आदि का ज्ञान कैसे होता है? कृपाकर मेरी इस शंका का समाधान कीजिये। हे पिता! आप सब कुछ जानते हैं, इसलिये हमसे ठीक ठीक कहिए। ययाति ने कहा—ऋतुकाल में एक प्रकार का वायु स्त्री के रज में, फूल फल की तरह मिश्रित, पुरुष के वीर्य को गर्भाशय के भीतर पहुंचाता है। प्राणी सूक्ष्मरूप से इसी प्रकार गर्भाशय के भीतर पहुंचाता है। गर्भाशय में वही वायु क्रमशः उस गर्भ को बढ़ाता है। पहिले ही से सूक्ष्म वासनामय शरीर

घ्राणेन गन्धं जिह्वयाऽथो रसं च त्वचा स्पर्शं मनसा वेद भावम् ।
इत्यष्टकेहोपहितं हि विद्धि महात्मनः प्राणभृतः शरीरे ॥ १६ ॥

अष्टक उवाच—यः संस्थितः पुरुषो दह्यते वा निखन्यते वाऽपि निकृष्यते वा ।
अभावभूतः स विनाशमेत्य केनाऽऽत्मना चेतयते परस्तात् ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच—हित्वा सोऽसून्सुप्तवन्निष्टनित्वा पुरोधाय सुकृतं दुष्कृतं वा ।
अन्यां योनिं पवनाग्रानुसारी हित्वा देहं भजते राजसिंह ॥ १८ ॥
पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति ।
कीटाः पतङ्गाश्च भवन्ति पापा न मे विवक्षाऽस्ति महानुभाव ॥ १९ ॥
चतुष्पदा द्विपदा षट्पदाश्च तथाभूता गर्भभूता भवन्ति ।
आख्यातमेतन्निखिलेन सर्वं भूयस्तु किं पृच्छसि राजसिंह ॥ २० ॥

अष्टक उवाच—किंस्वित्कृत्वा लभते तात लोकान्मर्त्यः श्रेष्ठांस्तपसा विद्यया वा ।
तन्मे पृष्टः शंस सर्वं यथावच्छुभाँल्लोकान्येन गच्छेत्क्रमेण ॥ २१ ॥

ययातिरुवाच—तपश्च दानं च शमो दमश्च ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा ।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम् ।
नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः ॥ २२ ॥

को धारण किये हुए जीव गर्भ में क्रमश अङ्ग-प्रत्यङ्ग, इन्द्रिय और चेतन्य से युक्त होकर गर्भ से बाहर निकलता है । मनुष्य योनि में उत्पन्न होते ही प्राणी जीवसंज्ञा पाकर कानों से शब्द सुनता है, आंखों से रूप देखता है, नाक से गन्ध सूंघता है, जिह्वा से रस का स्वाद लेता है, त्वचा से स्पर्श का अनुभव करता है और मन से सब भावों को जानता है । हे अष्टक! जीव के शरीर में ये इन्द्रिया ईश्वर की दी हुई हैं ॥१२।१६॥

अष्टक ने कहा—मनुष्य जब मृत्यु को प्राप्त होता है, तब लोग उसके शरीर को जलाकर, गाड़ कर या किसी प्रकार से नष्ट कर देते हैं । इस प्रकार नष्ट हो जाने पर जीव फिर दूसरे शरीर में पहुँचे हुए अपने को किस तरह जानता है? ययाति ने कहा—हे राजसिंह! यह जीव प्राण निकल जाने पर स्थूल शरीर को जब छोड़ता है, तब स्वप्न देख रहे पुरुष की तरह, अपने पुण्य या पाप को आगे रखकर, आतावाहिक पवन के साथ, वासनामय सूक्ष्म शरीर के द्वारा दूसरी योनि में जाता है । पुण्यात्मा पुरुष श्रेष्ठ योनि में और पापी निकृष्ट योनि अर्थात् कीड़े मकोड़े आदि में जन्म लेता है । हे राजेन्द्र! जिस प्रकार दो पाये, चार पाये और छ, पाये प्राणी गर्भाशय में पहुँचकर फिर पृथ्वी पर प्रगट होते हैं, सो सब मैंने तुमको सुना दिया । अब क्या सुनना चाहते हो? अष्टक ने कहा—हे तात! तप या और ज्ञान दोनों में किसके करने से

अधीयमानः पण्डितं मन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम् ।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका न चास्य तद्ब्रह्म फलं ददाति ॥ २३ ॥
चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ २४ ॥
न मानमान्यो मुदमाददीत न संतापं प्राप्नुयाच्चावमानात् ।
संत. सतः पूजयन्तीह लोके नासाधवः साधुबुद्धिं लभन्ते ॥ २५ ॥
इति दद्यामिति यज इत्यधीय व्रतम् ।
इत्येतानि भयान्याहुस्तानि वर्ज्यानि सर्वशः ॥ २६ ॥
ये चाश्रयं वेदयन्ते पुराणं मनीषिणो मानसमार्गरुद्धम् ।
तद्वः श्रेयस्तेन संयोगमेत्य परां शान्तिप्राप्नुयु· प्रेत्य चेह ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारत आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने नवतितमोऽध्याय ॥ ९० ॥

श्रेष्ठ लोक मिलता है ? जिसके करने मे श्रेष्ठ लोक मिलता हो, वह सब ठीक ठीक कहिए ॥१७।२१॥

ययाति ने कहा—साधु पुरुषों का यह कहना है कि, मनुष्य के जाने के लिये तपस्या, दान, शम (शान्ति), दम (इन्द्रिय-सहित मन का दमन), लज्जा, सरलता और सब जीवों पर दया करना, ये ही स्वर्गलोक के सात बड़े बड़े द्वार कहे हैं। जो लोग तमोगुण के वश होकर अपने श्रेष्ठ होने का अहकार करते हैं, उनके ये सातों गुण मिट्टी मे मिल जाते हैं और इस प्रकार उनके लोक और परलोक बिगड़ जाते है। जो मनुष्य पढ़कर अपने को पण्डित मान-कर, अभिमान करके, अपनी विद्या के द्वारा औरों के यश को मिटाना चाहता है, उसको स्वर्गलोक प्राप्त नहीं होगा। और इस प्रकार उसकी वह विद्या सफल नहीं होती। वेद शास्त्र का पढ़ना, मौनव्रत, अग्निहोत्र और यज्ञ, ये चारों कर्म श्रेष्ठ कहे हैं। परन्तु अभिमान के साथ वे सब कर्म अनुचितरूप से किये जाकर भयदाई होते है। मनुष्य को चाहिये कि, अधिक सम्मान मिलने पर प्रसन्न न हो और अपमान होने पर दु खित न हो। इस लोक में साधु पुरुष ही साधुजनों का सम्मान करते है। असाधु पुरुषों की बुद्धि कभी साधुओं की ऐसी नहीं होती। अहकार से सबके आगे यह कहना ही डर का कारण है कि, मैंने इतना दान दिया, इतने यज्ञ किये, इतने शास्त्र पढ़े, इतने व्रत किये। इस कारण अपने मुख से अपने कामों की बड़ाई न करनी चाहिये। विद्वान् साधुजन पुराणपुरुष परब्रह्म को अपना आश्रय मानकर समाधिमग्न हो अपने हृदय में उसी का ध्यान करते है। यही एक उत्तम अक्षय सुख का साधन है। ऐसा करनेवाले पुरुष इस लोक में शान्ति से जीवन बिताकर परलोक में मुक्ति पाते हैं ॥२२।२७॥

आदिपर्व का नब्बेवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकनवतितमोऽध्याय ॥ ९१ ॥

अष्टक उवाच—चरन्गृहस्थः कथमेति धर्मात्कथं भिक्षुः कथमाचार्यकर्मा ।
वानप्रस्थः सत्पथे संनिविष्टो बहून्यस्मिन्संप्रति वेदयंति ॥ १ ॥
ययातिरुवाच—आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी ।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी ॥ २ ॥
धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत दद्यात्सदैवातिथीन्भोजयेच्च ।
अनाददानश्च परैरदत्तं सैषा गृहस्थोपनिषत्पुराणी ॥ ३ ॥
स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो दाता परेभ्यो न परोपतापी ।
तादृङ् मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः ॥ ४ ॥
अशिल्पजीवी गुणवांश्चैव नित्यं जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रयुक्तः ।
अनोकशायी लघुरल्पप्रचारश्चरन्देशानेकचरः स भिक्षुः ॥ ५ ॥
रात्र्या यया वाभिजिताश्च लोका भवंति कामाभिजिताः सुखाश्च ।
तामेव रात्रिं प्रयतेत विद्वानरण्यसंस्थो भवितुं यतात्मा ॥ ६ ॥

॥ इक्यानवेवा अध्याय ९१ ॥

अष्टक ने कहा—गृहस्थी, सन्यासी, आचार्य और वानप्रस्थ के कौन कौन से धर्म हैं, जिनके करने से मनुष्य को ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह सुनकर ययाति ने कहा—आचार्य अर्थात् ब्रह्मचारी के ये धर्म हैं-गुरुकुल में रहने के समय गुरु के बुलाते ही पढ़ने के लिये जावे, गुरु के काम में सदा तत्पर रहे, प्रातःकाल को गुरु के उठने से पहले उठे, गुरु से पीछे सोवे, जितेन्द्रिय, धैर्ययुक्त, बहुत न बोलनेवाला, सावधान, बहुत पढ़नेवाला हो तो उसका ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। प्राचीन उपनिषदों ने लिखा है कि, धर्म के साथ धन कमाकर यज्ञ करना, सदा शक्ति के अनुसार दान देना, अतिथियों को भोजन कराना, दूसरे की वस्तु को बिना उसके दिये न लेना, ये गृहस्थी के कर्म हैं। परिश्रम करके अपनी जीविका चलाना, कभी पाप कर्म न करना, दूसरों को देना, किसी दूसरे को कष्ट न पहुँचाना, वन में रहना और अपने आहार तथा इन्द्रियों की चेष्टाओं को वश में रखना, ये छः कर्म वानप्रस्थ मुनियों के हैं। उद्यम करके न खाना, गुणवान् होना, जितेन्द्रिय रहना, विरक्तभाव होना, गृहस्थ से दूर रहना, देवालय आदि स्थानों में सोना और देशान्तरों में अकेला घूमना, ये सन्यासी के कर्म कहे हैं ॥१।५॥

मनुष्य को उचित है कि, जिस समय यज्ञ प्रभृति पुण्य कर्मों से स्वर्ग आदि लोकों को पाने का अधिकार प्राप्त कर ले और संसार के सुख भोगकर जी भरजाय, तो उसी समय वन में जाने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से उस मनुष्य की पहिले की और

दशैव पूर्वान्दश चापरांश्च ज्ञातीनथात्मानमथैकविंशम् ।
अरण्यवासी सुकृते दधाति विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून् ॥ ७ ॥
अष्टक उवाच—कतिस्विदेव मुनयः कति मौनानि चाप्युत ।
भवंतीति तदाचक्ष्व श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ८ ॥
ययातिरुवाच—अरण्ये वसतो यस्य ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं स मुनिः स्याज्जनाधिप ॥ ९ ॥
अष्टक उवाच—कथंस्विद्वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं कथं भवति पृष्ठतः ॥ १० ॥
ययातिरुवाच—न ग्राम्यमुपयुञ्जीत य आरण्यो मुनिर्भवेत् ।
तथाऽस्य वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ॥ ११ ॥
अनग्निरनिकेतश्चाप्यगोत्रचरणो मुनिः ।
कौपीनाच्छादनं यावत्तावदिच्छेच्च चीवरम् ॥ १२ ॥
यावत्प्राणाभिसंधानं तावदिच्छेच्च भोजनम् ।
तथाऽस्य वसतो ग्रामेऽरण्यं भवति पृष्ठतः ॥ १३ ॥
यस्तु कामान्परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः ।
आतिष्ठेच्च मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात् ॥ १४ ॥

आगे की दस पीढ़ियां मुक्ति पाती हैं। अष्टक ने कहा—मुनि कितने प्रकार के होते हैं? और मौनव्रत कितने प्रकार के हैं? यह हम सुनना चाहते हैं। ययाति ने कहा—मुनि दो प्रकार के होते हैं—एक तो वह जो ग्राम को पीठ देकर वन में वास करते हैं और दूसरे वह जो वन को पीठ देकर ग्राम में रहते हैं। अष्टक ने कहा कि, उन दोनों के क्या लक्षण हैं? वन में रहनेवाला ग्राम को और ग्राम का बसनेवाला वन को क्योंकर पीठ देता है॥६।१०॥

ययाति ने कहा कि, ग्राम को पीठ देनेवाला मुनि वह है, जो वन में रहता है और ग्राम की वस्तुओं को नहीं खाता है। उसके योगबल से सम्पूर्ण पदार्थ अपनेआप से निकट आजाते हैं। वह विवेक से सन्यासी गृहस्थवर्जित और परमहंस होता है। वह मुनि थोड़े वस्त्र अपने पास रखता है और केवल प्राणों की रक्षा के लिये भोजन करता है। वन को पीठ देकर ग्राम में बसनेवाला मुनि वह है, जिसके पास वन के सब पदार्थ अपनेआप से आजाते हैं। जो मनुष्य सब कर्म और कामना त्यागकर जितेन्द्रिय होकर मौनव्रत धारण करता है, वह सिद्धि को प्राप्त होता है। जो नित्य शुद्धचित्त और आकांक्षा से रहित होकर हिंसा का त्याग देता है, जो शुद्ध भोजन करता है, अहिंसा करनेवाले नर्मों को काट डालता है, ऐसा मुनि सबका पूजनीय होता

पापानां कर्मणां नित्यं बिभृयाद्यस्तु मानवः ।
सुखमप्याचरन्नित्यं सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥ ४ ॥
तद्वै नृशंसं तदसत्यमाहुर्यः सेवते धर्ममनर्थबुद्धिः ।
अर्थोऽप्यनीशस्य तथैव राजंस्तदार्जवं स समाधिस्तदार्यम् ॥ ५ ॥
अष्टक उवाच—केनासि दूतः प्रहितोऽसि राजन्युवा स्रग्वी दर्शनीयः सुवर्चाः ।
कुत आयातः कतरस्यां दिशि त्वमुताहोस्वित्पार्थिवं स्थानमस्ति ॥ ६ ॥
ययातिरुवाच—इमं भौमं नरकं क्षीणपुण्यः प्रवेष्टुमुर्वीं गगनाद्विप्रहीणः ।
उक्त्वाऽहं वः प्रपतिष्याम्यनन्तरं त्वरन्ति मां लोकपा ब्रह्मणो ये ॥ ७ ॥
सतां सकाशे तु वृतः प्रपातस्ते संगता गुणवंतस्तु सर्वे ।
शक्राच्च लब्धो हि वरो मयैष पतिष्यता भूमितलं नरेंद्र ॥ ८ ॥
अष्टक उवाच—पृच्छामि त्वां मा प्रपत प्रपातं यदि लोकाः पार्थिव संति मेऽत्र ।
यद्यंतरिक्षे यदि वा दिवि स्थिताः क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ९ ॥
ययातिरुवाच—यावत्पृथिव्यां विहितं गवाश्वं महारण्यैः पशुभिः पार्वतैश्च ।
तावल्लोका दिवि ते संस्थिता वै तथा विजानीहि नरेन्द्रसिंह ॥ १० ॥

आदि देह के धर्म से यदि तपस्या के विपरीत पाप हो जावे, तो वह थोड़े काल में पूरी होनेवाली तपस्या करे। इससे वह उस पाप से छूटकर सफल मनोरथ हो सकते हैं। जो ज्ञानी पुरुष अविनाशी ब्रह्म का ध्यान करता है, वह सदा इच्छानुसार पाप करने से भी अति सुखरूप मुक्ति को पाता है। हे राजन्! मोक्ष की तलाश न करके अनित्य स्वर्ग भोगने के लिये जो धर्म किया जाता है उसको पण्डित लोग अजितेंद्रिय मनुष्य के धन के सदृश कष्टदाई और असत्य कहते हैं। जिस निष्काम कर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसीको उचित पथ और समाधि कहते हैं, जिसपर चलना योग्य है ॥१।५॥

अष्टक ने कहा—हे राजन्! आप मनोहर तेजस्वी देख पड़ते हैं। आपके गले में दिव्य पुष्पों की माला पड़ी हुई है। आप कहा से आये हैं? किसने आप को भेजा है? आप का स्थान कहा है? ययाति ने कहा—मैं क्षीण पुण्य होने के कारण स्वर्ग से गिरकर भौमनरक में जाने के लिये पृथ्वी पर जा रहा हूं। आप लोगों से जबतक बात कर रहा हूं, तबतक यहां ठहरा हुआ हूं। इसके पश्चात् पृथ्वी पर चला जाऊंगा। नीचे गिरने के लिये लोकपाल मुझे जल्दी करने को कह रहे हैं। हे नरेंद्र! गिरते समय मैंने इन्द्र से यह वर माग लिया था कि, मैं साधु लोगों के समीप जाकर गिरूं। अष्टक ने कहा—हे पृथ्वीनाथ! मुझको मालूम होता है कि, आप धर्मफल के सब स्थानों को जानते हैं, इसलिये मैं पूछता हूं कि, स्वर्गलोक या नक्षत्र

धौतदन्तं कृत्तनखं सदा स्नातमलंकृतम् ।
असितं सितकर्माणं कस्तमर्हति नार्चितुम् ॥ १५ ॥
तपसा कर्शितः क्षामः क्षीणमांसास्थिशोणितः ।
स च लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥ १६ ॥
यदा भवति निर्द्वन्द्वो मुनिर्मौनं समास्थितः ।
अथ लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥ १७ ॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
अथास्य लोकः सर्वोऽयं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि उत्तरयायाते एकनवतितमोऽध्याय ॥ ९१ ॥

है । जो क्षमा, शील, तपस्या से दुबला और जिसका मांस, हड्डी और रक्त पतला हो गया है, वह इस लोक और परलोक को जीतता है । जब मुनि मौनव्रत धारण किये हुए अद्वैतभाव के अवलम्बन से द्वन्द्व भावों से रहित होता है, तब वह इस लोक और परलोक को जीतता है । जब परमहंस अवस्था में पहुँचा हुआ मुनि, पशुओं की तरह, मुख से ही आहार करता है–हाथ-पैर नहीं चलाता और रसके स्वाद को न जानकर प्राणरक्षा के हेतु जो मिल जाय वही खा लेता है, ऐसी अवस्था होने से उसके सामने सम्पूर्ण लोक अमृतस्वरूप होता है ॥११।१८॥

आदिपर्व का इक्यानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्विनवतितमोऽध्याय ॥ ९२ ॥

अष्टक उवाच—कतरस्त्वनयोः पूर्वं देवानामेति सात्मताम् ।
उभयोर्धावतो राजन्सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥ १ ॥
ययातिरुवाच—अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु संयतः ।
ग्राम एव वसन्भिक्षुस्तयोः पूर्वतरं गतः ॥ २ ॥
अप्राप्य दीर्घमायुस्तु यः प्राप्तो विकृतिं चरेत् ।
तप्यते यदि तत्कृत्वा चरेत्सोऽन्यत्तपस्ततः ॥ ३ ॥

॥ बानवेवां अध्याय ९२ ॥

अष्टक ने कहा कि, सूर्य और चन्द्रमा के समान इन योगी और ज्ञानी दोनों प्रकार के मुनियों में कौन पहिले मुक्ति पाता है ? ययाति ने कहा इन दोनों में से ज्ञानी मुनी संयत रहकर इच्छानुसार गृहस्थों में रहकर भी पहिले देवताओं का स्वरूप पा सक्ते हैं परन्तु योगि जनों से क्रोध द्वेष

पापानां कर्मणां नित्यं विभृयाद्यस्तु मानवः ।
सुखमप्याचरन्नित्यं सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥ ४ ॥
तद्वै नृशंसं तदसत्यमाहुर्यः सेवते धर्ममनर्थबुद्धिः ।
अर्थोऽप्यनीशस्य तथैव राजंस्तदार्जवं स समाधिस्तदार्यम् ॥ ५ ॥
अष्टक उवाच—केनासि दूतः प्रहितोऽसि राजन्युवा स्रग्वी दर्शनीयः सुवर्चाः ।
कुत आयातः कतरस्यां दिशि त्वमुताहोस्वित्पार्थिवं स्थानमस्ति ॥ ६ ॥
ययातिरुवाच—इमं भौमं नरकं क्षीणपुण्यः प्रवेष्टुमुर्वीं गगनाद्विप्रहीणः ।
उक्त्वाऽहं वः प्रपतिष्याम्यनन्तरं त्वरन्ति मां लोकपा ब्रह्मणो ये ॥ ७ ॥
सतां सकाशे तु वृतः प्रपातस्ते संगता गुणवंतस्तु सर्वे ।
शक्राच्च लब्धो हि वरो मयैष पतिष्यता भूमितलं नरेंद्र ॥ ८ ॥
अष्टक उवाच—पृच्छामि त्वां मा प्रपत प्रपातं यदि लोकाः पार्थिव संति मेऽत्र ।
यद्यंतरिक्षे यदि वा दिवि स्थिताः क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ९ ॥
ययातिरुवाच—यावत्पृथिव्यां विहितं गवाश्वं महारण्यैः पशुभिः पार्वतैश्च ।
तावल्लोका दिवि ते संस्थिता वै तथा विजानीहि नरेन्द्रसिंह ॥ १० ॥

आदि देह के धर्म से यदि तपस्या के विपरीत पाप हो जावे, तो वह थोड़े काल में पूरी होनेवाली तपस्या करे। इससे वह उस पाप से छूटकर सफल मनोरथ हो सकते हैं। जो ज्ञानी पुरुष अविनाशी ब्रह्म का ध्यान करता है, वह सदा इच्छानुसार पाप करने से भी अति सुखरूप मुक्ति को पाता है। हे राजन्! मोक्ष की तलाश न करके अनित्य स्वर्ग भोगने के लिये जो धर्म किया जाता है उसको पण्डित लोग अजितेन्द्रिय मनुष्य के धन के सदृश कष्टदाई और असत्य कहते हैं। जिस निष्काम कर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसीको उचित पथ और समाधि कहते हैं, जिसपर चलना योग्य है ॥१-५॥

अष्टक ने कहा—हे राजन्! आप मनोहर तेजस्वी देख पड़ते हैं। आपके गले में दिव्य फूलों की माला पड़ी हुई है। आप कहां से आये हैं? किसने आप को भेजा है? आप का स्थान कहां है? ययाति ने कहा—मैं क्षीण-पुण्य होने के कारण स्वर्ग से गिरकर भौमनरक में जाने के लिये पृथ्वी पर जा रहा हूं। आप लोगों से जबतक बात कर रहा हूं, तबतक यहां ठहरा हुआ हूं। इसके पश्चात् पृथ्वी पर चला जाऊंगा। नीचे गिरने के लिये लोकपाल मुझे जल्दी करने को कह रहे हैं। हे नरेन्द्र! गिरते समय मैंने इन्द्र से यह वर मांग लिया था कि, मैं साधु लोगों के समीप जाकर गिरूं। अष्टक ने कहा—हे पृथ्वीनाथ! मुझको मालूम होता है कि, आप धर्मफल के सब स्थानों को जानते हैं, इसलिये मैं पूछता हूं कि, स्वर्गलोक या नक्षत्र-

अष्टक उवाच—तांस्ते ददामि मा प्रपत प्रपातं ये मे लोका दिवि राजेंद्र संति ।
यद्यंतरिक्षे यदि वा दिवि श्रितास्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ ११ ॥
ययातिरुवाच—नास्मद्विधो ब्राह्मणो ब्रह्मविच्च प्रतिग्रहे वर्तते राजमुख्य ।
यथा प्रदेयं सततं द्विजेभ्यस्तथाऽददं पूर्वमहं नरेन्द्र ॥ १२ ॥
नाब्राह्मणः कृपणो जातु जीवेद्यां चापि स्याद्ब्राह्मणी वीरपत्नी ।
सोऽहं नैवाकृतपूर्वं चरेयं विधित्समानः किमु तत्र साधु ॥ १३ ॥
प्रतर्दन उवाच-पृच्छामि त्वां स्पृहणीयरूप प्रतर्दनोऽहं यदि मे संति लोकाः ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १४ ॥
ययातिरुवाच—संति लोका बहवस्ते नरेन्द्र अप्येकैकः सप्तसप्ताप्यहानि ।
मधुच्युतो घृतपृक्ता विशोकास्ते नान्तवंतः प्रतिपालयंति ॥ १५ ॥
प्रतर्दन उवाच—तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रितास्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ १६ ॥
ययातिरुवाच—न तुल्यतेजाः सुकृतं कामयेत योगक्षेमं पार्थिव पार्थिवः सन् ।
दैवादेशादापदं प्राप्य विद्वांश्चरेन्नृशंसं न हि जातु राजा ॥ १७ ॥

लोक में मेरे पुण्य से भोगने योग्य कोई स्थान है या नहीं ? ययाति ने कहा—हे नरेंद्र ! पृथ्वी पर गाय-घोड़े आदि वन और पर्वत के जितने पशु हैं, उतने ही देवलोक में तुम्हारे पुण्य से पाये हुए स्थान हैं। अष्टक ने कहा—हे राजेंद्र ! यदि मेरु की पीठ पर वा नक्षत्रलोक में मेरे पुण्य से उपार्जन किये हुए स्थान हैं, तो वह सब मैं आपको देता हूं। आप नीचे न गिरिए। आप मोह-रहित होकर उनके अधिकारी बनें। ययाति ने कहा—हे राजेन्द्र ! वेद के जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण ही दान ले सकते हैं। मेरे जैसे क्षत्रिय नहीं लेते। मैंने पहिले विधि के अनुसार यथोचितरूप से ब्राह्मणों को दान दिये हैं। मेरा धर्म दान लेना नहीं है यह केवल ब्राह्मण का धर्म है। इससे मैं आप के दिये हुए पुण्य को नहीं ले सकता हूं। तब उस साधुमण्डली में से प्रतर्दन नाम के एक राजा ने कहा—मैं आपसे पूछता हूं कि, स्वर्ग और आकाश में मेरे कितने लोक हैं ? ययाति ने कहा—हे प्रतर्दन ! स्वर्ग में तुम्हारे बहुत से लोक हैं। वह सब सुख के देनेवाले, तेजयुक्त और शोक के दूर करनेवाले हैं। मैं एक एक में सात सात दिन भी रहकर उनका पार नहीं पासकता हूं ॥६।१५॥

प्रतर्दन ने कहा—यदि नक्षत्रलोक वा स्वर्गलोक में मेरे पुण्य से उपार्जन किये स्थान हैं, तो वह सब आपको देता हूं। आप न गिरें। आप मोह-रहित होकर शीघ्र वहां चढ़जावें। ययाति ने कहा—हे राजन् ! बराबर तेजवाला होकर कोई दूसरे राजा से पुण्य की प्रार्थना नहीं करता। ज्ञानी राजा दैव

धर्म्यं मार्गं यतमानो यशस्यं कुर्यान्नृपो धर्ममवेक्षमाणः ।
न मद्विधो धर्मबुद्धिः प्रजानन्कुर्यादेवं कृपणं मां यथाऽऽत्थ ॥ १८ ॥
कुर्यादपूर्वं न कृतं यदन्यैर्विधित्समानः किमु तत्र साधु ।
ब्रुवाणमेवं नृपतिं ययातिं नृपोत्तमो वसुमानब्रवीत्तम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते द्विनवतितमोऽध्याय ॥ ९२ ॥

के वशीभूत विपत में पड़कर भी विपरीत व्यवहार नहीं करते । इस कारण मैं किस प्रकार स्वीकार करूं । राजा को धर्म की ओर दृष्टि रखकर धर्मयुक्त और यश के देनेवाला कार्य करना चाहिये । तुमने जो करने के लिये मुझसे कहा, उसे नीच काम जानकर क्षत्रिय राजा कभी नहीं कर सकता । पहिले किसी राजा ने ऐसा नहीं किया है । ऐसे करके मैं साधु नहीं कहला सकता हूं । राजा ययाति के इन वाक्यों को सुनकर वसुमान् नामक एक राजा ने कहा ॥१८।१९॥

आदिपर्व का बानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिनवतितमोऽध्याय ॥ ९३ ॥

वसुमानुवाच—पृच्छामि त्वां वसुमानौपदश्विर्यद्यस्ति लोको दिवि मे नरेन्द्र ।
यद्यन्तरिक्षे प्रथितो महात्मन्क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १ ॥
ययातिरुवाच—यदन्तरिक्षे पृथिवी दिशश्च यत्तेजसा तपते भानुमांश्च ।
लोकास्तावंतो दिवि संस्थिता वै ते नान्तवंतः प्रतिपालयन्ति ॥ २ ॥
वसुमानुवाच—तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु ।
क्रीणीष्वैतांस्तृणकेनापि राजन्प्रतिग्रहस्ते यदि धीमन्प्रदुष्टः ॥ ३ ॥
ययातिरुवाच—न मिथ्याऽहं विक्रयं वै स्मरामि वृथागृहीतं शिशुकाच्छङ्कमानः ।
कुर्यां न चैवाकृतपूर्वमन्यैर्विधित्समानः किमु तत्र साधु ॥ ४ ॥

॥ तिरानवेवां अध्याय ९३ ॥

वसुमान् ने कहा—हे राजन् ! आप सब कुछ जानते हैं, इसलिये आपसे पूछता हूं कि, नक्षत्रलोक और स्वर्गलोक में मेरे पुण्य से उपार्जन किये हुए कुछ स्थान हैं या नहीं ? ययाति ने कहा कि, सूर्यदेव आकाशमंडल, पृथ्वी और दिशाओं में जिन जिन स्थानों को प्रकाशित करते हैं, देवलोक में इतना अनन्त पुण्यलोक तुम्हारे लिये है । वसुमान् ने कहा—हे राजन् ! ये सब लोक मैं आपको देता हूं । आप इन स्थानों में सुख से रहें । यदि आप दान लेना स्वीकार नहीं करते, तो एक तृणमात्र ही देकर इनको मोल ले लीजिये । ययाति ने कहा कि, मैं ऐसा झूठा लेन देन नहीं कर सकता हूं, जिसको आजतक किसी ने नहीं किया है । वसुमान बोला—हे राजन् ! यदि आपको मोल लेना स्वीकार

वसुमानुवाच—तांस्त्वं लोकान्प्रतिपद्यस्व राजन्मया दत्तान्यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
अहं न तान्वै प्रतिगन्ता नरेन्द्र सर्वे लोकास्तव ते वै भवन्तु ॥ ५ ॥
शिविरुवाच—पृच्छामि त्वां शिविरौशीनरोऽहं ममापि लोका यदि सन्तीह तात ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ६ ॥
ययातिरुवाच—यत्त्वं वाचा हृदयेनापि साधून्परीप्समानान्नावमंस्था नरेन्द्र ।
तेनानन्ता दिवि लोकाः श्रितास्ते विद्युद्रूपाः स्वनवंतो महांतः ॥ ७ ॥
शिविरुवाच—तांस्त्वं लोकान्प्रतिपद्यस्व राजन्मया दत्तान्यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
न चाहं तान्प्रतिपत्स्ये ह दत्त्वा यत्र गत्वा नानुशोचंति धीराः ॥ ८ ॥
ययातिरुवाच—यथा त्वमिन्द्रप्रतिमप्रभावस्ते चाप्यनंता नरदेव लोकाः ।
तथाऽद्य लोके न रमेऽन्यदत्ते तस्माच्छिवे नाभिनंदामि देयम् ॥ ९ ॥
अष्टक उवाच—न चेदेकैकशो राजँल्लोकान्नः प्रतिनंदसि ।
सर्वे प्रदाय भवते गंतारो नरकं वयम् ॥ १० ॥
ययातिरुवाच—यदर्होऽहं तद्यतध्वं संतः सत्याभिनंदिनः ।
अहं तन्नाभिजानामि यत्कृतं न मया पुरा ॥ ११ ॥

न हो, तो भी मेरे दिये हुए सब पुण्यलोक ले लो। मैं उन लोकों में नहीं जाऊंगा। तत्पश्चात् शिवि राजा ने कहा–मैं उशीनर का पुत्र शिवि हूं। मैं आपको सर्वज्ञ समझकर पूछता हूं कि, नक्षत्रलोक वा देवलोक में मेरे पुण्य से उपार्जन किये हुए कुछ स्थान हैं या नहीं? ॥१।६॥

ययाति ने कहा–हे राजन्! तुमने कभी वाक्य और मन से मांगनेवाले साधु का अनादर नहीं किया, इसलिये देवलोक में बिजली के समान जगमगाते श्रेष्ठ अनन्तलोक तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। शिवि ने कहा–हे राजा ययाति! यदि आप मोल लेना स्वीकार नहीं करते, तो ये सब पुण्य स्थान दान में देता हूं। उन्हें देकर फिर वापस नहीं लूंगा। उन स्थानों में जाने से धीर पुरुषों का शोक से पीछा छूट जाता है। ययाति ने कहा–हे राजन्! तुम इन्द्र के समान प्रभावशाली हो और पुण्य से प्राप्त तुम्हारे लोक भी अनन्त हैं। हे शिवि! मैं दूसरे के दिये हुए पुण्यलोक में नहीं जाऊंगा। इसीसे तुम्हारे दिये हुए दान को मैं स्वीकार नहीं कर सकता ॥७।९॥

इसके पश्चात् अष्टक ने कहा–हे राजा ययाति! हम सब ने अपने अपने पुण्यलोक आपको दान कर दिये। यदि आपको लेना स्वीकार न हो, तो हम सब एकत्र होकर अपने सारे लोक आपको देकर भीमनरक में जाते हैं। ययाति ने कहा–हे सत्यप्रिय साधुओं! मैंने जो पहिले कभी नहीं किया है, वह स्वीकार नहीं करूंगा। अतएव मैं जिसके योग्य हूं, उसी के लिये यत्न करो। अष्टक ने कहा–जिन पर चढ़कर मनुष्य

अष्टक उवाच—कस्यैते प्रतिदृश्यंते रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
यानारुह्य नरो लोकानभिवाञ्छति शाश्वतान् ॥ १२ ॥
ययातिरुवाच—युष्मानेते वहिष्यन्ति रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
उच्चैः सन्तः प्रकाशंते ज्वलंतोऽग्निशिखा इव ॥ १३ ॥
अष्टक उवाच—आतिष्ठस्व रथान्राजन्विक्रमस्व विहायसम् ।
वयमप्यनुयास्यामो यदा कालो भविष्यति ॥ १४ ॥
ययातिरुवाच—सर्वैरिदानीं गन्तव्यं सह स्वर्गजितो वयम् ।
एष नो विरजः पन्था दृश्यते देवसद्मनः ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—तेऽधिरुह्य रथान्सर्वे प्रयाता नृपसत्तमाः ।
आक्रमन्तो दिवं भाभिर्धर्मेणावृत्य रोदसी ॥ १६ ॥
अष्टक उवाच—अहं मन्ये पूर्वमेकोऽस्मि गन्ता सखा चेन्द्रः सर्वथा मे महात्मा ।
कस्मादेवं शिबिरौशीनरोऽयमेकोऽत्यगात्सर्ववेगेन वाहान् ॥१७॥
ययातिरुवाच—अददद्देवयाना ययावद्वित्तमविन्दत ।
उशीनरस्य पुत्रोऽयं तस्माच्छ्रेष्ठो हि वः शिबिः ॥ १८ ॥
दानं तपः सत्यमथाऽपि धर्मो ह्रीः श्रीः क्षमा सौम्यमथो विधित्सा ।
राजन्नेतान्यप्रमेयाणि राज्ञः शिबेः स्थितान्यप्रतिमस्य बुद्ध्या ॥ १९ ॥

अक्षय लोकों को जाता है वे ये पाच स्वर्णमय प्रकाशमान् रथ किसके हैं ? ययाति ने कहा—जो अग्नि की शिखा के सदृश चमक रहे, ये ऊंचे सोने के पाच रथ तुम लोगों के लिये आये हैं । वे तुम लोगों को स्वर्ग में ले जायँगे ॥१०।१३॥

अष्टक ने कहा—हे राजन् ! आप ही इन रथों पर बैठकर आकाशमार्ग से स्वर्ग को जाइये । जब समय आवेगा, तब हम लोग भी आपके पीछे आवेंगे । ययाति ने कहा—इसी क्षण हम सब निष्पाप और स्वर्ग के जीतनेवाले हुए हैं, इसलिये हमको साथ ही स्वर्ग को चलना पड़ेगा । वह देखो, स्वर्ग का शुद्ध मार्ग देख पड़ता है । वैशम्पायन ने कहा—इसके पश्चात् वे सब नरेश धर्म के प्रभाव से आकाशमंडल में रथों पर चढ़कर गये । अष्टक ने कहा—मैंने सोचा था कि, महात्मा देवराज मेरे बड़े मित्र हैं, इसलिये मैं ही सब से पहिले स्वर्ग में जाऊगा । किन्तु यहा उशीनर का पुत्र शिबि किस पुण्य के प्रभाव से हम सब के आगे स्वर्गलोक को जा रहा है ? ॥१४।१७॥

ययाति ने कहा कि, इस उशीनर के पुत्र शिबि ने स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिये सर्वस्व दान किया था, इसलिये यह तुमसे भी श्रेष्ठ है । हे राजन्! दान, तपस्या, सत्य और धर्म का पालन, लज्जा, श्री, क्षमा, कुटिलता से रहित और श्रेष्ठ कामों में

वैशम्पायन उवाच—एवंवृत्तो ह्रीनिषेवश्च यस्मात्तस्माच्छिबिरत्यगाद्वै रथेन ।
अथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छन्मातामहं कौतुकेनेन्द्रकल्पम् ॥ २० ॥
पृच्छामि त्वां नृपते ब्रूहि सत्यं कुतश्च कश्चाऽसि सुतश्च कस्य ।
कृतं त्वया यद्धि न तस्य कर्ता लोके त्वदन्यः क्षत्रियो ब्राह्मणो वा ॥ २१ ॥
ययातिरुवाच—ययातिरस्मि नहुषस्य पुत्रः पूरोः पिता सार्वभौमस्त्विहासम् ।
गुह्यं चार्थं मामकेभ्यो ब्रवीमि मातामहोहं भवतां प्रकाशम् ॥ २२ ॥
सर्वामिमां पृथिवीं निर्जिगाय प्रादामहं छादनं ब्राह्मणेभ्यः ।
मेध्यानश्वानेकशतान्सुरूपांस्तदा देवा पुण्यभाजो भवंति ॥ २३ ॥
अदामहं पृथिवीं ब्राह्मणेभ्यः पूर्णामिमामाखिलां वाहनेन ।
गोभिः सुवर्णेन धनैश्च मुख्यैस्तदाऽददं गाः शतमर्बुदानि ॥ २४ ॥
सत्येन मे द्यौश्च वसुंधरा च तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु ।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यं सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति ॥ २५ ॥
यदष्टक प्रब्रवीमीह सत्यं प्रतर्दनं चौपदश्विं तथैव ।
सर्वे च लोका मुनयश्च देवाः सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम् ॥ २६ ॥

अनुराग आदि सब गुण शिवि में हैं। मनुष्य बुद्धि से उनके नाम नहीं लिये जा सकते। राजा शिवि इतना गुणशाली और लज्जा के भार से नम्र है कि, उसका रथ हम सबको छोड़कर स्वर्ग में पहुँच गया। वैशम्पायन ने कहा—इसके पश्चात अष्टक ने कौतूहलयुक्त इन्द्र सदृश अपने नाना ययाति से पूछा—हे राजन्! आप कौन हैं? किसके पुत्र हैं? कहां से आ रहे हैं? इसमें सन्देह नहीं कि, इस जगत में आपने जो कर्म किये हैं, उन्हें संसार भर में आपके सिवाय और कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं कर सकता ॥२०।२१॥

ययाति ने कहा—मैं नहुष का पुत्र और पूरु का पिता राजा ययाति हूँ। मैं पृथ्वी में सार्वभौम राजा था। दूसरी गुप्त बातें यह है कि, मैं तुम्हारा नाना हूं। मैंने सब पृथ्वी को जीतकर राज्य किया। मैंने ब्राह्मणों को सब पृथ्वी का दान भी दिया है। मैंने देवताओं की प्रसन्नता के लिये एकसौ सुन्दर घोड़ों का महादान भी किया है। इन दानों के करने से पुण्यात्मा लोग देवतुल्य हो जाते हैं। मैंने वाहन, गौ, सोना, रत्न धन आदि से युक्त यह पृथ्वी और सौ अरब गायें ब्राह्मणों को दान में दी थीं। मेरा कहा कभी झूठ नहीं हुआ। मेरे सत्य से ही आकाशमण्डल और पृथ्वी बने हैं। इसी सत्य के प्रताप से ही अग्निदेव भूमण्डल में जलते हैं। इसीसे ही साधु लोग सत्य का आदर करते हैं ॥२२।२५॥

हे अष्टक! मैं जो तुमसे कह रहा हूँ, यह सब सत्य है। सब देव, मुनि आदि सत्य की निष्ठा से ही पूजनीय होते हैं। जो कोई शुद्धचित्त होकर

यो नः स्वर्गजितः ,सर्वान्यथावृत्तं निवेदयेत् ।
अनसूयुर्द्विजाग्र्येभ्यः स लभेन्नः सलोकताम् ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं राजा स महात्मा ह्यतीव स्वैर्दौहित्रैस्तारितो मित्रसाहः ।
त्यक्त्वा महीं परमोदारकर्मा स्वर्गं गतः कर्मभिर्व्याप्य पृथ्वीम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि उत्तरयायातसमाप्तो त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

ब्राह्मणों को हम पांचों के स्वर्गलाभ का यह वृत्तांत सुनावेगा, वह भी हमारे लोक को पहुँचेगा। वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय! महात्मा राजा ययाति नातियों से तारे हुए मित्रोंसहित स्वर्ग को गये ॥२६।२८॥

आदिपर्व का तिरानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

जनमेजय उवाच—भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पूरोर्वंशकरान्नृपान् ।
यद्वीर्यान्यादृशांश्चापि यावतो यत्पराक्रमान् ॥ १ ॥
न ह्यस्मिञ्छीलहीनो वा निर्वीर्यो वा नराधिपः ।
प्रजाविरहितो वाऽपि भूतपूर्वः कथंचन ॥ २ ॥
तेषां प्रथितवृत्तानां राज्ञां विज्ञानशालिनाम् ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण तपोधन ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—हंत ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
पूरोर्वंशधरान्वीराञ्छक्रप्रतिमतेजसः ।
भूरिद्रविणविक्रान्तान्सर्वलक्षणपूजितान् ॥ ४ ॥
प्रवीरेश्वररौद्राश्वास्त्रयः पुत्रा महारथाः ।
पूरोः पौष्ट्यामजायंत प्रवीरो वंशकृत्तनः ॥ ५ ॥

॥ चौरानवेवां अध्याय ९४ ॥

जनमेजय ने कहा हे भगवन्! पूरुवंशी राजाओं में जिसका जैसा विक्रम और वीर्य था, वह सुनना चाहता हूं। इस वंश में कोई राजा कभी कुचरित्र, वीर्यवर्जित अथवा प्रजारहित नहीं हुआ। हे तपोधन! मैं उन राजाओं के जगत विख्यात चरित्र विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! पूरुवंश का वृत्तान्त जो आपने मुझसे पूछा, उस वंश के इन्द्र के समान तेजस्वी वीरविक्रमी सर्व लक्षणों से युक्त अगणित राजा हुए। उनका वृत्तान्त आपसे कहता हूं, सुनिए। पूरु के पौष्टिनाम्नी स्त्री से प्रवीर, ईश्वर और रौद्राश्व तीन महारथी पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से प्रवीर के वंश

मनस्युरभवत्तस्माच्छूरसेनीसुतः प्रभुः ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता राजीवलोचनः ॥ ६ ॥
शक्तः संहननो वाग्मी सौवीरीतनयास्त्रयः ।
मनस्योरभवन्पुत्राः शूराः सर्वे महारथाः ॥ ७ ॥
अन्वग्भानुप्रभृतयो मिश्रकेश्यां मनस्विनः ।
रौद्राश्वस्य महेष्वासा दशाप्सरसि सूनवः ॥ ८ ॥
यज्वानो जज्ञिरे शूराः प्रजावंतो बहुश्रुताः ।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ॥ ९ ॥
ऋचेयुरथ कक्षेयुः कृकणेयुश्च वीर्यवान् ।
स्थण्डिलेयुर्वनेयुश्च जलेयुश्च महायशाः ॥ १० ॥
तेजेयुर्बलवान्धीमान्सत्येयुश्चेन्द्रविक्रमः ।
धर्मेयुः संनतेयुश्च दशमो देवविक्रमः ॥ ११ ॥
अनाधृष्टिरभूत्तेषां विद्वान्भुवि तथैकराट् ।
ऋचेयुरथ विक्रान्तो देवानामिव वासवः ॥ १२ ॥
अनाधृष्टिसुतस्त्वासीद्राजसूयाश्वमेधकृत् ।
मतिनार इति ख्यातो राजा परमधार्मिकः ॥ १३ ॥
मतिनारसुता राजंश्चत्वारोऽमितविक्रमाः ।
तंसुर्महानतिरथो द्रुह्युश्चाप्रतिमद्युतिः ॥ १४ ॥

और शूरसेनी के गर्भ से मनस्यु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी का शासन किया॥५।६॥

मनस्यु के वीर्य और सौवीरी के गर्भ से शक्त, संहनन और वाग्मी, ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। वे *सब शूर और महारथी थे*। रौद्राश्व के वीर्य से मिश्रकेशी अप्सरा के गर्भ से अन्वग, भानु आदि दस पुत्रों ने जन्म लिया। वे सभी सब शास्त्रों में निपुण, धर्मात्मा, बड़े धनुषधारी, यज्ञशील, प्रजावाले और सब शास्त्रों के जाननेवाले हुए। उनमें ऋचेयु, कक्षेयु, वीर्यवान् कृकणेयु, स्थण्डिलेयु, वनेयु और यशस्वान् जलेयु, तेजेयु, सत्येयु, इन्द्र के समान विक्रमवाला धर्मेयु, और देवता के समान पराक्रमवाला सन्ततेयु, ये दस पुत्र उत्पन्न हुए। जैसे *देवताओं में इन्द्र विक्रमी और विद्वान्* हैं, ऐसे ही भूमण्डल में अद्वितीय राजा होकर अनाधृष्टि नाम से प्रसिद्ध हुए। राजसूय और अश्वमेधयज्ञ करनेवाले परमधार्मिक प्रख्यात राजा मतिनार ने अनाधृष्टि से जन्म लिया। मतिनार से तंसु, महान,

तेषां तंसुर्महावीर्यः पौरवं वंशमुद्वहन् ।
आजहार यशो दीप्तं जिगाय च वसुन्धराम् ॥ १५ ॥
ईलिनं तु सुतं तंसुर्जनयामास वीर्यवान् ।
सोऽपि कृत्स्नामिमां भूमिं विजिग्ये जयतां वरः ॥ १६ ॥
रथन्तर्यां सुतान्पञ्च पञ्चभूतोपमांस्ततः ।
ईलिनो जनयामास दुष्यन्तप्रभृतीन्नृपान् ॥ १७ ॥
दुष्यन्तं शूरभीमौ च प्रवसुं वसुमेव च ।
तेषां श्रेष्ठोभवद्राजा दुष्यन्तो जनमेजय ॥ १८ ॥
दुष्यन्ताद्भरतो जज्ञे विद्वाञ्छाकुन्तलो नृपः ।
तस्माद्भरतवंशस्य विप्रनस्थे महद्यशः ॥ १९ ॥
भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नवपुत्रानजीजनत् ।
नाभ्यनन्दत तान्राजा नानुरूपा ममेत्युत ॥ २० ॥
ततस्तान्मातरः क्रुद्धाः पुत्रान्निन्युर्यमक्षयम् ।
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य वितथं पुत्रजन्म तत ॥ २१ ॥
ततो महद्भिः क्रतुभिरीजानो भरतस्तदा ।
लेभे पुत्रं भरद्वाजाद्भुमन्युं नाम भारत ॥ २२ ॥
ततः पुत्रिणमात्मानं ज्ञात्वा पौरवनन्दनः ।
भुमन्युं भरतश्रेष्ठ यौवराज्येऽभ्यषेचयत ॥ २३ ॥

अतिरथ और द्युतिवान् द्रुह्यु ये चार पुत्र उत्पन्न हुए। ये सब बड़े विक्रमी थे ॥७।१४॥

उनमें तंसु अति वीर्यवन्त और वंशधर थे। उन्होंने भूमण्डल को जीतकर बड़ा यश पाया। वीर्यवन्त तंसु ने ईलिन नामक पुत्र को जन्म दिया। जयशील इस तंसु के पुत्र ने भी सम्पूर्ण धरतीतल को जीत लिया। इसके पश्चात् रथन्तरी के गर्भ और राजा ईलिन के वीर्य से पंचभूतों के समान पाच पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम दुष्यन्त, शूर, भीम, प्रवसु और वसु थे। हे जनमेजय! इनमें से श्रेष्ठ दुष्यन्त राजा हुए। दुष्यन्त से शकुन्तला के गर्भ से विद्वान् भरत ने जन्म लिया। उनसे ही भरतवंश का महान् यश फैल गया। राजा भरत के तीन रानियों से नौ पुत्रों ने जन्म लिया। वे राजा के योग्य पुत्र नहीं हुए थे, इसलिये राजा उनपर असंतुष्ट थे ॥१५।२०॥

यह देखकर पुत्रों की माताओं ने क्रोध के वश में होकर अपने अपने पुत्रों को मारडाला।

ततो दिविरथो नाम भुमन्योरभवत्सुतः ।

सुहोत्रश्च सुहोता च सुहविः सुयजुस्तथा ॥ २४ ॥

पुष्करिण्यामृचीकश्च भुमन्योरभवन्सुताः ।

तेषां ज्येष्ठः सुहोत्रस्तु राज्यमाप महीक्षिताम् ॥ २५ ॥

राजसूयाश्वमेधाद्यैः सोऽयजद्बहुभिर्मखैः ।

सुहोत्रः पृथिवीं कृत्स्नां बुभुजे सागराम्बराम् ॥ २६ ॥

पूर्णां हस्तिगजाश्वैश्च बहुरत्नसमाकुलाम ।

ममज्जेव मही तस्य भूरिभारावपीडिता ॥ २७ ॥

हस्त्यश्वरथसंपूर्णा मनुष्यकलिला भृशम् ।

सुहोत्रे राजनि तदा धर्मतः शासति प्रजाः ॥ २८ ॥

चैत्ययूपाङ्किता चाऽसीद्भूमिः शतसहस्रशः ।

प्रवृद्धजनसस्या च सर्वदैव व्यरोचत ॥ २९ ॥

ऐक्ष्वाकी जनयामास सुहोत्रात्पृथिवीपतेः ।

अजमीढं सुमीढं च पुरुमीढं च भारत ॥ ३० ॥

अजमीढो वरस्तेषां तस्मिन्वंशः प्रतिष्ठितः ।

षट् पुत्रान्सोऽप्यजनयत्तिसृषु स्त्रीषु भारत ॥ ३१ ॥

इससे मनुष्यों में श्रेष्ठ राजा भरत के पुत्रों की उत्पत्ति व्यर्थ हुई । इसके पश्चात् राजा भरत ने महायज्ञ का अनुष्ठान करके भरद्वाज से भुमन्यु नाम पुत्र पाया । हे भरतश्रेष्ठ ! उस पौरवनन्दन भरत ने अपने को पुत्रवान् जानकर उस भुमन्यु नामक पुत्र को यौवराज्य पर अभिषिक्त किया । इसके पश्चात् भुमन्यु के वीर्य और पुष्करणी के गर्भ से सुहोत्र, सुहोता, सोहवि , सुयजु, ऋचीक और दिविरथ, ये सब पुत्र उत्पन्न हुए । इनमें सुहोत्र सबसे बड़े थे। इस कारण उन्होंने राज्य पाया । वह राजसूय-यज्ञ और अश्वमेध आदि यज्ञ करके हाथी और घोड़ों से भरी सारी पृथ्वी समुद्र-पर्यन्त अपने अधिकार में लाया । तब भूमण्डल, हाथी, घोड़े, रथों से पूरित और अगणित मनुष्यों से विकल होकर अति भार से पीड़ित होने के कारण डूबने लगा ॥२१।२७॥

राजा सुहोत्र के धर्मानुसार प्रजा शासन करने से सारी पृथ्वी हजारों स्थानों में देवालय और यज्ञ के यूपों से विचित्र हुई । हे भारत ! राजा सुहोत्र के ऐक्ष्वाकी स्त्री से अजमीढ़, सुमीढ़, पुरुमीढ, ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए । उनमें से अजमीढ ज्येष्ठ पुत्र थे। उनसे ही वंश प्रतिष्ठित हुआ । हे भारत ! अजमीढ़ ने तीन रानियों से छः पुत्र उत्पन्न किये । उनमें धूमिनि के गर्भ से ऋक्ष, नीली के गर्भ से दुष्यन्त,

ऋक्षं धूमिन्यथा नीली दुष्यन्तपरमेष्ठिनौ ।
केशिन्यजनयज्जन्हुं सुतौ व्रजनरूपिणौ ॥ ३२ ॥
तथेमे सर्वपञ्चाला दुष्यन्तपरमेष्ठिनोः ।
अन्वयाः कुशिका राजञ्जह्नोरमिततेजसः ॥ ३३ ॥
व्रजनरूपिणयोर्ज्येष्ठमृक्षमाहुर्जनाधिपम् ।
ऋक्षात्संवरणो जज्ञे राजन्वंशकरः सुतः ॥ ३४ ॥
आर्क्षे संवरणे राजन्प्रशासति वसुंधराम् ।
संक्षयः सुमहानासीत्प्रजानामिति नः श्रुतम् ॥ ३५ ॥
व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तदा ।
क्षुन्मृत्युभ्यामनावृष्ट्या व्याधिभिश्च समाहतम् ॥ ३६ ॥
अभ्यघ्नन्भारतांश्चैव सपत्नानां बलानि च ।
चालयन्वसुधां चेमां बलेन चतुरङ्गिणा ॥ ३७ ॥
अभ्ययात्तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम् ।
अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेजयत् ॥ ३८ ॥
ततः सदारः सामात्यः सुपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजा संवरणस्तस्मात्पलायत महाभयात् ॥ ३९ ॥
सिन्धोर्नदस्य महतो निकुञ्जे न्यवसत्तदा ।
नदीविषयपर्यंते पर्वतस्य समीपतः ॥ ४० ॥

और परमेष्ठी और केशिनी के गर्भ मे जन्हु, व्रजन और रूपिण, ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। दुष्यन्त और परमेष्ठी के वंश से ये सब पाचाल राजा उत्पन्न हुए। तेजस्वी जन्हु के वंश मे कुशिक उत्पन्न हुए। राजा ऋक्ष, व्रजन और रूपिण से बड़े थे। ऋक्ष मे राजवंश बढानेवाला संवरण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२८।३४॥

हे राजन्! हम सुनते हैं कि, जब ऋक्ष के पुत्र संवरण ने पृथ्वी पर राज्य किया, तब बहुत प्रजा नष्ट होने लगी। क्षुधा, मृत्यु, अनावृष्टि और व्याधि आदि नाना कारणों से प्रजा लोप होने पर राज्य एक बार ही नष्ट हो गया। शत्रुदल की सेना भारत की ओरवाले योद्धाओं को मारने और घायल करने लगी। पाचाल के राजा विक्रम से भूमण्डल को जीतकर चतुरङ्गिणी सेना से पृथ्वी को हिलाते हुए, राजा संवरण के समीप आ पहुंचे और युद्धस्थल में दश अक्षौहिणी सेना से राजा संवरण को पराजय किया। तब वह बहुत भय खाकर स्त्री, पुत्र,

तत्रावसन्बहून्कालान्भारता दुर्गमाश्रिताः ।
तेषां निवसतां तत्र सहस्रं परिवत्सरान् ॥ ४१ ॥
अथाभ्यगच्छद्भरतान्वसिष्ठो भगवानृषिः ।
तमागतं प्रयत्नेन प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ॥ ४२ ॥
अर्घ्यमभ्याहरंस्तस्मै ते सर्वे भारतास्तदा ।
निवेद्य सर्वमृषये सत्कारेण सुवर्चसे ॥ ४३ ॥
तमासने चोपविष्टं राजा वव्रे स्वयं तदा ।
पुरोहितो भवान्नोऽस्तु राज्याय प्रयतेमहि ॥ ४४ ॥
ओमित्येवं वसिष्ठोऽपि भारतान्प्रत्यपद्यत ।
अथाभ्यषिञ्चत्साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम् ॥ ४५ ॥
विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नःश्रुतम् ।
भारताध्युषितं पूर्वं सोऽध्यतिष्ठत्पुरोत्तमम् ॥ ४६ ॥
पुनर्बलिभृतश्चैव चक्रे सर्वमहीक्षितः ।
ततः स पृथिवीं प्राप्य पुनरीजे महाबलः ॥ ४७ ॥
आजमीढो महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
ततः संवरणात्सौरी तपती सुषुवे कुरुम् ॥ ४८ ॥
राजत्वे तं प्रजाः सर्वा धर्मज्ञ इति वव्रिरे ।
तस्य नाम्नाभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम् ॥ ४९ ॥

मन्त्री और मित्रोंसहित भागकर सिंधुनदी के किनारे से पर्वत तक फैली हुई एक फुलवाडी में टिका रहा ॥३५।४०॥

भारतगण उस जाने के अयोग्य वन में बहुत दिन तक बसते रहे । धीरे धीरे उनको सौ वर्ष व्यतीत हो गये । अनन्तर एक समय भगवान् ऋषि वसिष्ठ उनके यहां आ पहुँचे । भारत लोगों ने उनको आया हुआ देखकर विधिपूर्वक प्रणाम करके अर्घ दिया । उस बड़े तेजस्वी ऋषि के आसन पर बैठने पर राजा ने अपनेआप उनका सत्कार करके सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया । उनसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि, आप हमारे पुरोहित होवें । इसके पश्चात हम राज्य पाने का यत्न कर सकते है । वसिष्ठजी ने भारतों का कहना स्वीकार किया और सम्पूर्ण भूमण्डल की चोटी के समान श्रेष्ठ पौरव सवरण को क्षत्रियों के अधिपतिरूपी राज्य पर स्थापित किया । राजा सवरण भरत के पहिले बसाये हुए सुन्दर नगर में आकर सब राजाओं से कर लेने लगा ।

कुरुक्षेत्रं स तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः ।
अश्ववंतमभिष्यन्तं तथा चैत्ररथं मुनिम् ॥ ५० ॥
जनमेजयं च विख्यातं पुत्रांश्चास्यानुशुश्रुम् ।
पञ्चैतान्वाहिनी पुत्रान्व्यजायत मनस्विनी ॥ ५१ ॥
अविक्षितः परिक्षित्तुः शबलाश्वस्तु वीर्यवान् ।
आदिराजो विराजश्च शाल्मलिश्च महाबलः ॥ ५२ ॥
उच्चैःश्रवा भङ्गकारो जितारिश्चाष्टमः स्मृतः ।
एतेषामन्ववाये तु ख्यातास्ते कर्मजैर्गुणैः ॥ ५३ ॥
जनमेजयादयः सप्त तथैवान्ये महारथाः ।
परीक्षितोऽभवन्पुत्राः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ॥ ५४ ॥
कक्षसेनोग्रसेनौ तु चित्रसेनश्च वीर्यवान् ।
इन्द्रसेनः सुषेणश्च भीमसेनश्च नामतः ॥ ५५ ॥
जनमेजयस्य तनया भुवि ख्याता महाबलाः ।
धृतराष्ट्रः प्रथमजः पाण्डुर्बाह्लीक एव च ॥ ५६ ॥
निषधश्च महातेजास्तथा जाम्बूनदो बली ।
कुण्डोदरः पदातिश्च वसातिश्चाष्टमः स्मृतः ॥ ५७ ॥
सर्वे धर्मार्थकुशलाः सर्वभूतहितेरताः ।
धृतराष्ट्रोऽथ राजाऽऽसीत्तस्य पुत्रोऽथ कुण्डिकः ॥ ५८ ॥

अजमीढ़ का पुत्र महायशी संवरण फिर पृथ्वी को पाकर बहुत दक्षिणायुक्त यज्ञ करने लगा। अनन्तर सूर्यपुत्री तपती ने राजाओं में श्रेष्ठ संवरण से कुरु नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥४९।४८॥

हे राजन ! सारी प्रजा ने कुरु को धर्मज्ञ देखकर अपना राजा बनाया। महात्मा कुरु की तपस्या से कुरुजाङ्गल नामक स्थान पवित्र और उनके निज नाम के अनुसार कुरुक्षेत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। वाहिनी नामवाली उनकी मनस्विनी रानी से अविक्षित, अभिष्यंत, चैत्ररथ, मुनि और प्रख्यात जनमेजय, ये पाच पुत्र उत्पन्न हुए। अविक्षित से परीक्षित, शबलाश्व, वीर्यवन्त आदिराज, विराज, महाबली शाल्मली, उच्चै श्रवा, भङ्गकार और जितारी, यह आठ पुत्र उत्पन्न हुए। इनके वंश में कर्म के हेतु गुण से प्रधान जनमेजय आदि सात और दूसरे अनेक महारथियों ने जन्म लिया। जनमेजय, कक्षसेन, उग्रसेन, वीर्यवन्त चित्रसेन, इन्द्रसेन, सुषेण और भीमसेन, ये सब पुत्र परीक्षित से उत्पन्न हुए ॥४९।५५॥

हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डिनश्चापि पञ्चमः ।
हविःश्रवास्तथेन्द्राभो भुमन्युश्चापराजितः ॥ ५९ ॥
धृतराष्ट्रसुतानांतुत्रीनेतान्प्रथितान्भुवि ।
प्रतीपं धर्मनेत्रं च सुनेत्रं चापि भारत ।
प्रतीपः प्रथितस्तेषां वभूवाप्रतिमो भुवि ॥ ६० ॥
प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ ।
देवापिः शान्तनुश्चैव वाह्लीकश्च महारथः ॥ ६१ ॥
देवापिश्च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया ।
शान्तनुश्च महीं लेभे वाह्लीकश्च महारथः ॥ ६२ ॥
भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः ।
देवर्षिकल्पा नृपते वहवो राजसत्तमाः ॥ ६३ ॥
एवंविधाश्चाप्यपरे देवकल्पा महारथाः ।
जाता मनोरन्ववाये ऐलवंशविवर्धनाः ॥ ६४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने चतुर्नवतितमोऽध्याय ॥ ९४ ॥

ये सब बड़े वीर और धर्मात्मा थे। जनमेजय से महाबलवान् पृथ्वी में प्रख्यात, धर्मार्थयुक्त, सब प्राणियों का हित चाहनेवाले आठ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें सब से बड़ा धृतराष्ट्र फिर पाण्डु, वाह्लीक, निषध, बलवान् जाम्बुनद, कुण्डोदर, पदाति और वसाति हुए। इनमें धृतराष्ट्र राजा हुआ। कुण्डिक, हस्ती, वितर्क, क्राथ, कुण्डिन, हवि श्रवा, इन्द्राभ और तेजस्वी भुमन्यु, ये धृतराष्ट्र के पुत्र हैं। हे भारत ! प्रतीप, धर्मनेत्र और सुनेत्र, ये तीन प्रसिद्ध राजकुमार धृतराष्ट्र के पौत्र हैं। इनमें प्रतीप प्रख्यात और अद्वितीय हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! देवापि, शान्तनु और वाह्लीक, ये तीन पुत्र प्रतीप से उत्पन्न हुए ॥५६।६१॥

इनमें से देवापि ने धर्म की इच्छा से वनवास किया और महारथी शान्तनु और वाह्लीक पृथ्वी के राजा हुए। हे राजन् ! देवर्षि सदृश सत्ययुक्त बहुत से राजाओं ने भरतवंश में जन्म लिया। ऐसे देवर्षि सम ऋषि सत्यवान् बहुत से महारथियों ने ऐलवंश की वृद्धि करके मनु वंश में जन्म लिया था ॥६२।६५॥

— —

आदिपर्व का चौरानवेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चनवतितमोऽध्याय ॥ ९५ ॥

जनमेजय उवाच —श्रुतस्त्वत्तो मया ब्रह्मन्पूर्वेषां संभवो महान् ।
उदाराश्चापि वंशेऽस्मिन्राजानो मे परिश्रुताः ॥ १ ॥

किं तु लघ्वर्थसंयुक्तं प्रियाख्यानं न मामति ।
प्रीणात्यतो भवान्भूयो विस्तरेण ब्रवीतु मे ॥ २ ॥
एतामेव कथां दिव्यामाप्रजापतितो मनोः ।
तेषामाजननं पुण्यं कस्य न प्रीतिमावहेत् ॥ ३ ॥
सद्धर्मगुणमाहात्म्यैरभिवर्धितमुत्तमम् ।
विष्टभ्य लोकांस्त्रीनेषां यशः स्फीतमवस्थितम् ॥ ४ ॥
गुणप्रभाववीर्यौजः सत्त्वोत्साहवतामहम् ।
न तृप्यामि कथां शृण्वन्नमृतास्वादसंमिताम् ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच—शृणु राजन्पुरा सम्यङ्मया द्वैपायनाच्छ्रुतम् ।
प्रोच्यमानं मया कृत्स्नं स्ववंशजननं शुभम् ॥ ६ ॥

दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान्विवस्वतो मनुर्मनोरिला, इलायाः पुरूरवाः ।
पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद्ययातिर्ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः ॥ ७ ॥
उशनसो दुहिता देवयानी वृषपर्वणश्च दुहिता शर्मिष्ठा नाम अत्रानुवंश-
श्लोको भवति ॥ ८ ॥ यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत । द्रुह्युं चानुं
च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥ ९ ॥ तत्र यदोर्यादवाः पूरोः पौरवाः ॥ १० ॥
पूरोस्तु भार्या कौसल्या नाम तस्यामस्य जज्ञे जनमेजयो नाम यस्त्रीन-

॥ पंचानवेवां अध्याय ९५ ॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपसे पूर्व पुरुषों का वृत्तान्त सुनकर भरतवंश के राजाओं का उदार चरित्र विदित हुआ: किन्तु यह परमप्रिय उपाख्यान संक्षेप से कहा गया है । इस कारण अभी तृप्ति नहीं हुई । इसलिये इसे कृपा करके आप फिर विस्तृतरूप से कहें । प्रजापति मनु से लेकर सब पवित्र राजाओं के जन्म-वृत्तान्त की पवित्र कथा सुनने में किसे आनन्द न होगा ! वे दानशीलता आदि गुण, असाधारण शक्ति, शारीरिक बल, मानसिक सामर्थ्य, अदीनता और उत्साह-युक्त थे । उनके अच्छे कर्म, गुण और महात्मय से बढ़ा हुआ यश तीनों लोकों में आजतक फैला हुआ है । उनकी अमृत-सदृश कथा संक्षेप से सुनकर मेरा मन तृप्त नहीं होता है ॥१।५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! मैंने व्यासजी के मुख से आपके शुभ वंश का वृत्तान्त जिस प्रकार सुना है, उसी प्रकार कहता हूं, सुनिए । दक्ष से अदिति, अदिति से विवस्वान्, विवस्वान से मनु, मनु से इला, इला से पुरूरवा, पुरूरवा से आयु, आयु से नहुष और नहुष से ययाति ने जन्म लिया । ययाति की दो स्त्रियां थीं । एक शुक्र की कन्या देवयानी, दूसरी वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा । देवयानी

हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डिनश्चापि पञ्चमः ।
हविःश्रवास्तथेन्द्राभो भुमन्युश्चापराजितः ॥ ५९ ॥
धृतराष्ट्रसुतानांतुत्रीनेतान्प्रथितान्भुवि ।
प्रतीपं धर्मनेत्रं च सुनेत्रं चापि भारत ।
प्रतीपः प्रथितस्तेषां वभूवाप्रतिमो भुवि ॥ ६० ॥
प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ ।
देवापिः शान्तनुश्चैव वाह्लीकश्च महारथः ॥ ६१ ॥
देवापिश्च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया ।
शान्तनुश्च महीं लेभे वाह्लीकश्च महारथः ॥ ६२ ॥
भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः ।
देवर्षिकल्पा नृपते वहवो राजसत्तमाः ॥ ६३ ॥
एवंविधाश्चाप्यपरे देवकल्पा महारथाः ।
जाता मनोरन्ववाये ऐलवंशविवर्धनाः ॥ ६४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने चतुर्नवतितमोऽध्याय ॥ ९४॥

ये सब बड़े वीर और धर्मात्मा थे। जनमेजय से महाबलवान् पृथ्वी में प्रख्यात, धर्मार्थयुक्त, सब प्राणियों का हित चाहनेवाले आठ पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें सब से बड़ा धृतराष्ट्र फिर पाण्डु, वाह्लीक, निषध, बलवान् जाम्बुनद, कुण्डोदर, पदाति और वसाति हुए। इनमें धृतराष्ट्र राजा हुआ। कुण्डिक, हस्ती, वितर्क, क्राथ, कुण्डिन, हवि श्रवा, इन्द्राभ और तेजस्वी भुमन्यु, ये धृतराष्ट्र के पुत्र हैं। हे भारत! प्रतीप, धर्मनेत्र और सुनेत्र, ये तीन प्रसिद्ध राजकुमार धृतराष्ट्र के पौत्र हैं। इनमें प्रतीप प्रख्यात और अद्वितीय हैं। हे भरतश्रेष्ठ! देवापि, शान्तनु और वाह्लीक, ये तीन पुत्र प्रतीप से उत्पन्न हुए ॥५६।६१॥

इनमें से देवापि ने धर्म की इच्छा से वनवास किया और महारथी शान्तनु और वाह्लीक पृथ्वी के राजा हुए। हे राजन्! देवर्षि सदृश सत्ययुक्त बहुत से राजाओं ने भरतवंश में जन्म लिया। ऐसे देवर्षि सब ऋषि सत्यवान् बहुत से महारथियों ने ऐलवंश की वृद्धि करके मनु वंश में जन्म लिया था ॥६२।६५॥

आदिपर्व का चौरानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चनवतितमोऽध्याय ॥ ९५ ॥

जनमेजय उवाच -श्रुतस्त्वत्तो मया ब्रह्मन्पूर्वेषां संभवो महान् ।
उदाराश्चापि वंशेऽस्मिन्राजानो मे परिश्रुताः ॥ १ ॥

हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डिनश्चापि पञ्चमः ।
हविःश्रवास्तथेन्द्राभो भुमन्युश्चापराजितः ॥ ५९ ॥
धृतराष्ट्रसुतानांतुत्रीनेतान्प्रथितान्भुवि ।
प्रतीपं धर्मनेत्रं च सुनेत्रं चापि भारत ।
प्रतीपः प्रथितस्तेषां बभूवाप्रतिमो भुवि ॥ ६० ॥
प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ ।
देवापिः शान्तनुश्चैव बाह्लीकश्च महारथः ॥ ६१ ॥
देवापिश्च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया ।
शान्तनुश्च महीं लेभे बाह्लीकश्च महारथः ॥ ६२ ॥
भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः ।
देवर्षिकल्पा नृपते बहवो राजसत्तमाः ॥ ६३ ॥
एवंविधाश्चाप्यपरे देवकल्पा महारथाः ।
जाता मनोरन्ववाये ऐलवंशविवर्धनाः ॥ ६४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने चतुर्नवतितमोऽध्याय ॥ ९४॥

ये सब बड़े वीर और धर्मात्मा थे। जनमेजय से महाबलवान् पृथ्वी में प्रख्यात, धर्मार्थयुक्त, सब प्राणियों का हित चाहनवाले आठ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें सब से बड़ा धृतराष्ट्र फिर पाण्डु, बाह्लीक, निषध, बलवान् जाम्बुनद, कुण्डोदर, पदाति और वसाति हुए। इनमें धृतराष्ट्र राजा हुआ। कुण्डिक, हस्ती, वितर्क, क्राथ, कुण्डिन, हवि श्रवा, इन्द्राभ और तेजस्वी भुमन्यु ये धृतराष्ट्र के पुत्र हैं। हे भारत ! प्रतीप, धर्मनेत्र और सुनेत्र, ये तीन प्रसिद्ध राजकुमार धृतराष्ट्र के पौत्र हैं। इनमें प्रतीप प्रख्यात और अद्वितीय हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! देवापि, शान्तनु और बाह्लीक, ये तीन पुत्र प्रतीप से उत्पन्न हुए ॥५६।६१॥

इनमें से देवापि ने धर्म की इच्छा से वनवास किया और महारथी शान्तनु और बाह्लीक पृथ्वी के राजा हुए। हे राजन् ! देवर्षि सदृश सत्ययुक्त बहुत से राजाओं ने भरतवंश में जन्म लिया। ऐसे देवर्षि सब ऋषि सत्यवान् बहुत से महारथियों ने ऐलवंश की वृद्धि करके मनु वंश में जन्म लिया था ॥६२।६५॥

आदिपर्व का चौरानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चनवतितमोऽध्याय ॥ ९५ ॥

जनमेजय उवाच—श्रुतस्त्वत्तो मया ब्रह्मन्पूर्वेषां संभवो महान् ।
उदाराश्चापि वंशेऽस्मिन्राजानो मे परिश्रुताः ॥ १ ॥

किं तु लघ्वर्थसंयुक्तं प्रियाख्यानं न मामति ।
प्रीणात्यतो भवान्भूयो विस्तरेण ब्रवीतु मे ॥ २ ॥
एतामेव कथां दिव्यामाप्रजापतितो मनोः ।
तेषामाजननं पुण्यं कस्य न प्रीतिमावहेत् ॥ ३ ॥
सद्धर्मगुणमाहात्म्यैरभिवर्धितमुत्तमम् ।
विष्टभ्य लोकांस्त्रीनेषां यशः स्फीतमवास्थितम् ॥ ४ ॥
गुणप्रभाववीर्योजः सत्त्वोत्साहवतामहम् ।
न तृप्यामि कथां शृण्वन्नमृतास्वादसंमिताम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—शृणु राजन्पुरा सम्यङ्मया द्वैपायनाच्छ्रुतम् ।
प्रोच्यमानं मया कृत्स्नं स्ववंशजननं शुभम् ॥ ६ ॥

दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान्विवस्वतो मनुर्मनोरिला इलायाः पुरूरवाः ।
पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद्ययातिर्ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः ॥ ७ ॥
उशनसो दुहिता देवयानी वृषपर्वणश्च दुहिता शर्मिष्ठा नाम अत्रानुवंश-
श्लोको भवति ॥ ८ ॥ यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत । द्रुह्युं चानुं
च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥ ९ ॥ तत्र यदोर्यादवाः पूरोः पौरवाः ॥ १० ॥
पूरोस्तु भार्या कौसल्या नाम तस्यामस्य जज्ञे जनमेजयो नाम यस्त्रीन-

॥ पंचानवेवां अध्याय ९५ ॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपसे पूर्व पुरुषों का वृत्तान्त सुनकर भरतवंश के राजाओं का उदार चरित्र विदित हुआ; किन्तु यह परमप्रिय उपाख्यान संक्षेप से कहा गया है । इस कारण अभी तृप्ति नहीं हुई । इसलिये इसे कृपा करके आप फिर विस्तृतरूप से कहें । प्रजापति मनु से लेकर सब पवित्र राजाओं के जन्म-वृत्तान्त की पवित्र कथा सुनने में किसे आनन्द न होगा ? वे दानशीलता आदि गुण, असाधारण शक्ति, शारीरिक बल, मानसिक सामर्थ्य, अदीनता और उत्साहयुक्त थे । उनके अच्छे कर्म, गुण और महात्मय से बढ़ा हुआ यश तीनों लोकों में आजतक फैला हुआ है । उनकी अमृत-सदृश कथा संक्षेप से सुनकर मेरा मन तृप्त नहीं होता है ॥१।५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! मैंने व्यासजी के मुख से आपके शुभ वंश का वृत्तान्त जिस प्रकार सुना है, उसी प्रकार कहता हूं, सुनिए । दक्ष से अदिति, अदिति से विवस्वान्, विवस्वान से मनु, मनु से इला, इला से पुरूरवा, पुरूरवा से आयु, आयु से नहुष और नहुष से ययाति ने जन्म लिया । ययाति की दो स्त्रियां थीं । एक शुक्र की कन्या देवयानी, दूसरी वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा । देवयानी

श्वमेधानाजहार विश्वजिता चेष्ट्वा वनं विवेश ॥ ११ ॥ जनमेजयः खल्वनन्तां
नामोपयेमे माधवीं तस्यामस्य जज्ञे प्राचिन्वान्यः प्राचीं दिशं जिगाय
यावत्सूर्योदयात्ततस्तस्य प्राचिन्वत्त्वम् ॥ १२ ॥ प्राचिन्वान्खल्वश्मकीमुप-
येमे यादवीं तस्यामस्य जज्ञे संयातिः ॥ १३ ॥ संयातिः खलु दृषद्वतो
दुहितरं वराङ्गीं नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञेऽहंयातिः ॥ १४ ॥ अहंयातिः
खलु कृतवीर्यदुहितरमुपयेमे भानुमतीं नाम तस्यामस्य जज्ञे सार्वभौमः
॥ १५ ॥ सार्वभौमः खलु जित्वा जहार कैकेयीं सुनन्दां नाम तामुपयेमे
तस्यामस्य जज्ञे जयत्सेनो नाम ॥ १६ ॥ जयत्सेनः खलु वैदर्भीमुपयेमे
सुश्रवां नाम तस्यामस्य जज्ञेऽवाचीनः ॥ १७ ॥ अवाचीनोऽपि वैदर्भीम-
परामेवोपयेमे मर्यादां नाम तस्यामस्य जज्ञेऽरिहः ॥ १८ ॥ अरिहः
खल्वाङ्गीमुपयेमे तस्यामस्य जज्ञे महाभौमः ॥ १९ ॥ महाभौमः खलु
प्रासेनजितीमुपयेमे सुयज्ञां नाम तस्यामस्य जज्ञेऽयुतनायी यः पुरुषमेधा-
नामयुतमानयत्तेनास्यायुतनायित्वम् ॥ २० ॥ अयुतनायी खलु
पृथुश्रवसो दुहितरमुपयेमे कामां नाम तस्यामस्य जज्ञेऽक्रोधनः ॥ २१ ॥

के गर्भ से यदु, तुर्वसु दो पुत्र हुए और वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु और पूरु, ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। आगे यदु से यादववंश और पूरु से पौरववंश उत्पन्न हुआ ॥९।१०॥

पूरु की भार्या कौशल्या से जनमेजय का जन्म हुआ। उन्होंने तीन अश्वमेध और एक विश्वजित्-यज्ञ करके वन में प्रवेश किया। उन्होंने माधव की अनन्ता नाम्नी कन्या से विवाह किया था। उससे प्राचिन्वान नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सूर्योदय तक प्राचीदिशा जीतने पर उसका नाम प्राचिन्वान् हुआ था। प्राचिन्वान ने अश्म नामवाली माधव की कन्या से विवाह किया। उससे संयाति की उत्पत्ति हुई। संयाति ने दृशवत की कन्या वराङ्गी से विवाह किया। उसके गर्भ से अहंयाति ने जन्म लिया। अहंयाति ने कृतवीर्य की कन्या भानुमती से पाणिग्रहण किया। उसके गर्भ से सार्वभौम का जन्म हुआ ॥११।१५॥

सार्वभौम ने कैकेय राज को जीतकर उसकी कन्या सुनन्दा को हर लिया। उसके साथ विवाह करने पर जयत्सेन उत्पन्न हुआ। जयत्सेन ने विदर्भ राजा की कन्या सुश्रवा से विवाह किया। उससे अवाचीन का जन्म हुआ। अवाचीन ने दूसरी वैदर्भी मर्यादा नामवाली कन्या से विवाह किया। उसके गर्भ से अरिह का जन्म हुआ। अरिह ने आङ्गी नाम्नी कन्या से विवाह करके महाभौम पुत्र उत्पन्न किया। महाभौम ने प्रासेनजित की कन्या सुयज्ञा से विवाह किया। उसके गर्भ से अयुतनायी का जन्म हुआ। अयुत अश्वमेध यज्ञ करने के कारण उसका

स खलु कालिङ्गीं करम्भां नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञे देवातिथिः ॥ २२ ॥ देवातिथिः खलु वैदेहीमुपयेमे मर्यादां नाम तस्यामस्य जज्ञेऽरिहो नाम ॥ २३ ॥ अरिहः खल्वाङ्गेयीमुपयेमे सुदेवां नाम तस्यां पुत्रमजीजनदृक्षम् ॥ २४ ॥ ऋक्षः खलु तक्षकदुहितरमुपयेमे ज्वालां नाम तस्यां पुत्रं मतिनारं नामोत्पादयामास ॥ २५ ॥ मतिनारः खलु सरस्वत्यां गुणसमन्वितं द्वादशवार्षिकं सत्रमाहरत् । समाप्ते च सत्रे सरस्वत्यभिगम्य तं भर्तारं वरयामास । तस्यां पुत्रमजीजनत्तंसुं नाम ॥ २६ ॥ अत्रानुवंशश्लोको भवति ।

तंसुं सरस्वतीपुत्रं मतिनारादजीजनत् ।
ईलिनं जनयामास कालिङ्ग्यां तंसुरात्मजम् ॥ २७ ॥

ईलिनस्तु रथन्तर्यां दुष्यन्ताद्यान्पञ्च पुत्रानजीजनत् ॥ २८ ॥ दुष्यन्तः खलु विश्वामित्रदुहितरं शकुन्तलां नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञे भरतः ॥२९ ॥ अत्रानुवंशश्लोकौ भवतः ।—

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्तं माऽवमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥ ३० ॥

नाम अयुतनायी पड़ा ॥१६।२०॥

अयुतनायी ने पृथुश्रवा की कन्या कामा से विवाह किया। उससे अक्रोधन उत्पन्न हुआ। अक्रोधन ने कलिंग राजा की कन्या करम्भा से विवाह किया। उससे देवातिथि उत्पन्न हुआ। देवातिथि ने विदेह राजा की कन्या मर्यादा से विवाह किया। मर्यादा के गर्भ से अरिह ने जन्म लिया। अरिह ने अंगराज की पुत्री सुदेवा से विवाह किया। सुदेवा ने ऋक्ष नामक पुत्र उत्पन्न किया। ऋक्ष ने तक्षक की कन्या ज्वाला के साथ विवाह किया। उसका पुत्र मतिनार नामक राजा हुआ ॥२१।२५॥

मतिनार ने सरस्वती नदी के तटपर बारह वर्ष में अनुष्ठान होनेवाले, अनन्त गुणयुक्त यज्ञ का अनुष्ठान किया था। उस महायज्ञ के समाप्त होने पर सरस्वती ने उसको अपना पति बनाया। सरस्वती के गर्भ से तंसु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। तंसु ने कालिङ्गी से ईलिन नामक पुत्र उत्पन्न किया। राजा ईलिन के वीर्य और रथन्तरी के गर्भ से दुष्यन्त आदि पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। राजा दुष्यन्त ने विश्वामित्र की कन्या शकुन्तला से विवाह किया। शकुन्तला के गर्भ से भरत का जन्म हुआ। हे दुष्यन्त! माता चमड़े की कोष के समान है। इसमें पिता आप ही पुत्र के स्वरूप में जन्म लेता है, इसलिए आप पुत्र को पालें। आप शकुन्तला का अनादर न करें। हे राजन्! अपने वीर्य से उत्पन्न हुई सन्तान यमराज से उद्धार करती है। आप ही ने

रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥ ३१ ॥

ततोऽस्य भरतत्वम्। भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्वसेनीं सुनन्दां नाम तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः ॥ ३२ ॥ भुमन्युः खलु दाशार्हीमुपयेमे विजयां नाम तस्यामस्य जज्ञे सुहोत्रः ॥ ३३ ॥ सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम तस्यामस्य जज्ञे हस्ती य इदं हास्तिनपुरं स्थापयामास । एतदस्य हास्तिनपुरत्वम् ॥ ३४ ॥ हस्ती खलु त्रैगर्तीमुपयेमे यशोधरां नाम तस्यामस्य जज्ञे विकुण्ठनो नाम ॥ ३५ ॥ विकुण्ठनः खलु दाशार्हीमुपयेमे सुदेवां नाम तस्यामस्य जज्ञेऽजमीढो नाम ॥ ३६ ॥ अजमीढस्य चतुर्विंशं पुत्रशतं बभूव कैकेय्यां गान्धार्यां विशालायामृक्षायां चेति पृथक्पृथग्वंशधरा नृपतयः तत्र वंशकरः संवरणः ॥ ३७ ॥ संवरणः खलु वैवस्वतीं तपतीं नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञे कुरुः ॥ ३८ ॥ कुरुः खलु दाशार्हीमुपयेमे शुभाङ्गीं नाम तस्यामस्य जज्ञे विदूरथः ॥ ३९ ॥ विदूरथस्तु माधवीमुपयेमे संप्रियां नाम तस्यामस्य जज्ञेऽनश्वा नाम ॥ ४० ॥ अनश्वा खलु मागधीमुपयेमेऽमृतां नाम तस्यामस्य जज्ञे परीक्षित् ॥ ४१ ॥

यह गर्भ धारण किया है। जो शकुन्तला कह रही है, वह सब सत्य है। इसलिये हे पौरव ! आप शकुन्तला के गर्भ में उत्पन्न इस महात्मा पुत्र को पालें। हमारे कहने से इस पुत्र का पालन आपको अवश्य करना होगा। इस कारण दुष्यन्त के पुत्र का नाम भरत हुआ ॥२६।३१॥

भरत ने काशिराज सर्वसेन की कन्या सुनन्दा से विवाह किया। उससे भुमन्यु उत्पन्न हुआ। भुमन्यु ने दशार्ह की कन्या विजया से विवाह किया। उससे सुहोत्र उत्पन्न हुआ। सुहोत्र ने इक्ष्वाकु की कन्या सुवर्णा से विवाह किया। उससे हस्ती नामक पुत्र का जन्म हुआ। जिसके नाम से हस्तिनापुर विख्यात हुआ है। हस्ती ने त्रिगर्त राजा की कन्या यशोधरा से विवाह किया। उससे वैकुण्ठन पुत्र का जन्म हुआ। वैकुण्ठन ने दशार्ह की कन्या सुदेवा से विवाह किया। जिसके गर्भ से अजमीढ ने जन्म लिया ॥३२।३६॥

अजमीढ ने कैकेयी, विशाला, गान्धारी और ऋक्षा इन चार पत्नियों से चौबीस सौ पुत्र उत्पन्न किये। वे सब राजा अलग अलग वंशवाले हुए। उनमें से संवरण के पुत्र से ही वंश प्रतिष्ठित हुआ। संवरण ने सूर्य की कन्या तपती से विवाह किया। उस तपती के गर्भ से कुरु का जन्म हुआ। कुरु ने दाशार्ही की कन्या शुभाङ्गी से विवाह किया। शुभाङ्गी के गर्भ से विदुरथ का जन्म हुआ। विदुरथ ने माधव की कन्या संप्रिया से विवाह किया। उससे

परीक्षित्खलु वाहुदामुपयेमे सुयशां नाम तस्यामस्य जज्ञे भीमसेनः ॥ ४२ ॥ भीमसेनः खलु कैकेयीमुपयेमे कुमारीं नाम तस्यामस्य जज्ञे प्रतिश्रवा नाम ॥ ४३ ॥ प्रतिश्रवसः प्रतीपः । प्रतीपः खलु शैब्यामुपयेमे सुनन्दां नाम तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शान्तनुं वाह्लीकं चेति ॥ ४४ ॥ देवापिः खलु वाल एवारण्यं विवेश शान्तनुस्तु महीपालो वभूव ॥ ४५ ॥ अत्रानुवंशश्लोको भवति । यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुखमश्नुते । पुनर्युवा च भवति तस्मात्तं शान्तनुं विदुरिति तदस्य शान्तनुत्वम् ॥ ४६ ॥ शान्तनुः खलु गङ्गां भागीरथीमुपयेमे तस्यामस्य जज्ञे देवव्रतो नाम यमाहुर्भीष्ममिति ॥ ४७ ॥

भीष्मः खलु पितुः प्रियचिकीर्षया सत्यवतीं मातरमुदवाहयद्यामाहुर्गन्धकालीमिति ॥ ४८ ॥ तस्यां पूर्वं कानीनो गर्भः पराशराद् द्वैपायनोऽभवत् । तस्यामेव शान्तनोरन्यौ द्वौ पुत्रौ वभूवतुः ॥ ४९ ॥ विचित्रवीर्यश्चित्राङ्गदश्च । तयोरप्राप्तयौवन एव चित्राङ्गदो गन्धर्वेण हतो विचित्रवीर्यस्तु राजासीत् ॥ ५० ॥ विचित्रवीर्यः खलु कौसल्यात्मजे अम्बिकाम्वालिके काशिराजदुहितरावुपयेमे ॥ ५१ ॥ विचित्रवीर्यस्त्वनपत्य एव विदेहत्वं

गर्भ से अनश्वा उत्पन्न हुआ । अनश्वा ने मगधराज की कन्या अमृता से विवाह किया । उसके गर्भ से परीक्षित का जन्म हुआ ॥३७।४१॥

परीक्षित ने वाहुद की कन्या सुयशा से विवाह किया । सुयशा के गर्भ से भीमसेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । भीमसेन ने कैकयराज की कन्या कुमारी से विवाह किया । कुमारी के गर्भ से प्रतिश्रवा नामक पुत्र का जन्म हुआ । प्रतिश्रवा के पुत्र प्रतीप ने शैवराज की कन्या से विवाह किया । उसके गर्भ से देवापि, शान्तनु और वाह्लीक तीन पुत्र उत्पन्न हुए । देवापि ने बालकपन में ही वानप्रस्थ धारण किया था । शान्तनु राजा हुआ । (यह राजा अपनी भुजा से जिस बुड्ढे को स्पर्श करता था, वह फिर जवान होकर सुख भोगता था । इस कारण उसका नाम शान्तनु हुआ) ॥४२।४६॥

शान्तनु ने गंगा से विवाह किया । गंगा के गर्भ से देवव्रत उत्पन्न हुआ । जिसको सब भीष्म कहते हैं । भीष्म ने पिता का प्रिय कार्य करने की इच्छा से सत्यवती का विवाह उसके साथ कर दिया । सत्यवती का दूसरा नाम गंधकाली था । पहिले सत्यवती की कन्या-दशा में पराशर से गर्भ होने से द्वैपायन का जन्म हुआ । शान्तनु के वीर्य से उसके दो पुत्र विचित्रवीर्य और चित्रांगद हुए । चित्रांगद यौवन को प्राप्त करने के पहिले ही गंधर्व से मारा गया था । विचित्रवीर्य ने काशिराज की कन्या अम्बिका और अम्बालिका से विवाह किया, परन्तु

प्राप्तस्ततः सत्यवत्यचिन्तयन्मा दौष्यन्तो वंश उच्छेदं व्रजेदिति ॥ ५२ ॥ सा द्वैपायनमृषिं मनसा चिन्तयामास। स तस्याः पुरतः स्थितः किं करवाणीति ॥ ५३ ॥ सा तमुवाच भ्राता तवानपत्य एव स्वर्यातो विचित्रवीर्यः साध्वपत्यं तस्योत्पादयेति । ५४ ॥ स तथेत्युक्त्वा त्रीन्पुत्रानुत्पादयामास धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरं चेति ॥ ५५ ॥ तत्र धृतराष्ट्रस्य राज्ञः पुत्रशतं बभूवगांधार्यां वरदानाद् द्वैपायनस्य ॥ ५६ ॥ तेषां धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां चत्वारः प्रधाना बभूवुर्दुर्योधनो दुःशासनो विकर्णश्चित्रसेनश्चेति ॥ ५७ ॥ पाण्डोस्तु द्वे भार्ये बभूवतुः कुन्ती पृथा नाम माद्री चेत्युभे स्त्रीरत्ने ॥ ५८ ॥ अथ पाण्डुर्मृगयां चरन्मैथुनगतमृषिमपश्यन्मृग्यां वर्त्तमानं तथैवाद्भुतमनासादितकामरसमतृप्तं च बाणेनाजघान ॥ ५९ ॥ स बाणविद्ध उवाच पाण्डुं चरता धर्ममिमं येन त्वयाऽभिज्ञेन कामरसस्याहमनवाप्तकामरसो निहतस्तस्मात्त्वमप्येतामवस्थामासाद्यानवाप्तकामरसः पञ्चत्वमाप्स्यसि क्षिप्रमेवेति स विवर्णरूपस्तथा पाण्डुः शापं परिहरमाणो नोपासर्पत भार्ये वाक्यं चोवाच ॥ ६० ॥ स्वचापल्यादिदं प्राप्तवानहं

सन्तान उत्पन्न होने से पहिले ही परलोक को सिधारा। इसलिये कि, दुष्यन्त का वंश नष्ट न हो जावे, सत्यवती ने अपने पुत्र द्वैपायन ऋषि को स्मरण किया ॥४७।५२॥

इसके उपरान्त द्वैपायन ने उसके सम्मुख उपस्थित होकर पूछा हे माता! कहो, क्या आज्ञा है? सत्यवती ने कहा कि, तुम्हारा भाई विचित्रवीर्य बिना सन्तान परलोक को सिधार गया है। तुम पुत्र उत्पन्न करने की चेष्टा करो। द्वैपायन ने स्वीकार कर लिया। अनन्तर उन्होंने उचित काल में धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर तीन पुत्र उत्पन्न किये। इसके पश्चात् द्वैपायन के वरदान से गांधारी के गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए। धृतराष्ट्र के पुत्रों में दुर्योधन दुःशासन, विकर्ण और चित्रसेन, ये चार प्रधान थे ॥५३।५७॥

पाण्डु की दो स्त्रियें कुन्ती और माद्री थीं। कुन्ती का दूसरा नाम पृथा था। इसके पश्चात् एक समय पाण्डु मृगया के निमित्त वन में गये थे। वहां देखा कि, एक ऋषि मृगी से मैथुन कर रहा है। तबतक कामरस के पूर्ण न होने के हेतु भले प्रकार तृप्त नहीं हुआ था। उस अद्भुत मृगरूपी ऋषि पर राजा ने बाण मारा। ऋषि ने बाण से विद्ध होकर पाण्डु से कहा कि, तुमने धर्म और कामरस के अभिज्ञ होकर, मुझको अपूर्ण मनोरथ देखने पर भी मारडाला, इसलिये तुम भी कामरस में अतृप्त रहकर उस दशा में ही शीघ्र परलोक को सिधारोगे। यह शाप के सुनते ही पाण्डु का रंग उसी क्षण बदल गया और शाप से बचने के लिये स्त्री से

शृणोमि च नानपत्यस्य लोकाः सन्तीति सा त्वं मदर्थे पुत्रानुत्पादयेति कुन्तीमुवाच सा तथोक्ता पुत्रानुत्पादयामास धर्माद्युधिष्ठिरं मारुताद्भीमसेनं शक्रादर्जुनमिति ॥ ६१ ॥ तां संहृष्टः पाण्डुरुवाचेयं ते सपत्न्यनपत्या साध्वस्या अपत्यमुत्पाद्यतामिति । एवमस्त्विति कुन्ती तां विद्यां माद्र्याः प्रायच्छत् ॥ ६२ ॥ माद्र्यामश्विभ्यां नकुलसहदेवावुत्पादितौ ॥ ६३ ॥ माद्रीं खल्वलंकृतां दृष्ट्वा पाण्डुर्भावं चक्रे स तां स्पृष्ट्वैव विदेहत्वं प्राप्तः ॥ ६४ ॥ तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वारुरोहोवाच कुन्तीं यमयोरप्रमत्तया त्वया भवितव्यमिति ॥ ६५ ॥ ततस्ते पाण्डवाः कुन्त्या सहिता हास्तिनपुरमानीय तापसैर्भीष्मस्य विदुरस्य च निवेदिताः सर्ववर्णानां च निवेद्यान्तर्हितास्तापसा बभूवुः प्रेक्षमाणानां तेषाम् ॥ ६६ ॥ तच्च वाक्यमुपश्रुत्य भगवतामन्तरिक्षात्पुष्पवृष्टिः पपात देवदुन्दुभयश्च प्रणेदुः ॥ ६७ ॥ प्रतिगृहीताश्च पाण्डवाः पितुर्निधनमावेदयन्तस्तस्यौर्ध्वदेहिकं न्यायतश्च कृतवन्तस्तांस्तत्र निवसतः पाण्डवान्बाल्यात्प्रभृति दुर्योधनो नामर्षयत् ॥ ६८ ॥ पापाचारो राक्षसीं बुद्धिमाश्रितोऽनेकैरुपायैरुद्धर्तुं च व्यवसितो

मिलना छोड़ दिया। इसके उपरान्त पाण्डु ने कुन्ती और माद्री से कहा—अपने दोष से ही मुझे ऐसा शाप मिला है। मैंने शास्त्रों में सुना है कि, पुत्र उत्पन्न हुए बिना पुरुष को स्वर्ग नहीं मिलता। इस कारण तुम मेरे लिये पुत्र उत्पन्न करने का यत्न करो। कुन्ती ने पति की आज्ञा पाकर धर्म से युधिष्ठिर को, वायु से भीमसेन को और इन्द्र से अर्जुन को उत्पन्न किया ॥५८।६१॥

तब प्रसन्न होकर पाण्डु ने कुन्ती से कहा—तुम्हारी सौत माद्री के पुत्र नहीं हैं। इनके भी इसीतरह पुत्र उत्पन्न कराओ। कुन्ती ने पति की आज्ञा मान ली और जिस विद्या के बल से उन्होंने धर्म, वायु और इन्द्र को बुलाया था, वही विद्या माद्री को भी बता दी। माद्री के अश्विनीकुमार से नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। एक दिन पाण्डु माद्री को गहनों से सजी हुई देखकर कामवश हो गये। माद्री के स्पर्श करते ही उनकी मृत्यु हो गई। पाण्डु की देह में आग लगाने पर माद्री भी उसके साथ सती हुई। सती होते समय वह अपने दोनों पुत्र कुन्ती के हवाले कर गई। इसके पश्चात् तपस्वी लोग कुन्तीसहित पाण्डवों को हस्तिनापुर ले आये। वहां तपस्वियों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब के सामने भीष्म और विदुर से पाण्डु के मरने का सब हाल कहा। वहां से तपस्वियों के अन्तर्द्धान होने पर उनकी बात का अनुमोदन करने को आकाश से फूलों की वर्षा हुई और नगाड़ों का शब्द होने लगा ॥६२।६७॥

भीष्म आदि ने पाण्डु पुत्रों को स्वीकार कर

भावित्वाच्चार्थस्य न शकितास्ते समुद्धर्तुम् ॥ ६९ ॥ ततश्च धृतराष्ट्रेण व्याजेन वारणावतमनुप्रेषिता गमनमरोचयन् ॥ ७० ॥ तत्रापि जतुगृहे दग्धुं समारब्धा न शकिता विदुरमन्त्रितेनेति ॥ ७१ ॥ तस्माच्च हिडिम्बमन्तरा हत्वैकचक्रां गताः ॥ ७२ ॥ तस्यामप्येकचक्रायां बकं नाम राक्षसं हत्वा पाञ्चालनगरमधिगताः ॥ ७३ ॥ तत्र द्रौपदीं भार्यामविन्दन्स्वविषयं चाभिजग्मुः ॥ ७४ ॥ कुशलिनः पुत्रांश्चोत्पादयामासुः प्रतिविन्ध्यं युधिष्ठिरः सुतसोमं वृकोदरः श्रुतकीर्तिमर्जुनः शतानीकं नकुलः श्रुतकर्माणं सहदेव इति ॥ ७५ ॥ युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैब्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयंवराल्लेभे तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम ॥ ७६ ॥ भीमसेनोऽपि काश्यां बलन्धरां नामोपयेमे वीर्यशुल्कां तस्यां पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास ॥ ७७ ॥ अर्जुनः खलु द्वारवतीं गत्वा भगिनीं वासुदेवस्य सुभद्रां भद्र भाषिणीं भार्यामुदावहत् । स्वविषयं चाभ्याजगाम कुशली तस्यां पुत्रमभिमन्युमतीव गुणसंपन्नं दयितं वासुदेवस्याजनयत् ॥७८॥

लिया। उस समय पाचों पाण्डवों ने अपने पिता की मृत्यु का वृत्तान्त कहकर विधिपूर्वक उनकी और्ध्वदैहिक क्रिया की। दुर्योधन उनसे लड़कपन में ही झगड़ने लगा। उस दुरात्मा ने अपनी राक्षसी-बुद्धि से अनेक प्रकार के उपाय कर पाण्डवों को वहां से उखाड़ने की चेष्टा की। परन्तु जो कार्य होनेहार है वह अवश्य होता है, इसलिये उसका मनोरथ सफल नहीं हो सका। इसके पश्चात धृतराष्ट्र ने छलपूर्वक उनको वारणावत नगर में भेजा। वहां कुन्तीसहित पाण्डवों को जतुगृह में जलाने की चेष्टा की। विदुर की सावधानी से कुन्ती और पाण्डव उस सङ्कट से बच गये ॥६८।७१॥

और वारणावत से एक चक्रा नगरी में गये। फिर भीम ने वन में हिडिम्ब दानव को मारा। इसके पश्चात पाचों पाण्डव कुशल-पूर्वक एक चक्रा नगरी में पहुँचे। वहा उन्होंने बक नामक राक्षस को मारा। वहा से पाञ्चालदेश में जाकर स्वयंवर में द्रौपदी को प्राप्त किया। इसके पश्चात् आधा राज्य पाकर पाचों पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में रहने लगे। पाचों पाण्डवों से द्रौपदी के पाच पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें युधिष्ठिर के वीर्य से प्रतिविन्ध्य, भीम के वीर्य से सुतसोम, अर्जुन के वीर्य से श्रुतकीर्ति, नकुल के वीर्य से शतानीक और सहदेव के वीर्य से श्रुतकर्मा का जन्म हुआ ॥७२।७५॥

युधिष्ठिर ने देवराज की कन्या देविका को स्वयंवर में प्राप्त किया। उस देविका के गर्भ से यौधेय नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। भीमसेन ने काशी के राजा की कन्या बलन्धरा से विवाह किया। उसके गर्भ से सर्वग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अर्जुन ने द्वारका में जाकर कृष्ण की बहन मधुर-

नकुलस्तु चैद्यां करेणुमतीं नाम भार्यामुदावहत्तस्यां पुत्रं निरमित्रं नामाज-
नयत् ॥ ७९ ॥ सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे मद्ररा-
जस्य द्युतिमतो दुहितरं तस्यां पुत्रमजनयत्सुहोत्रं नाम ॥ ८० ॥
भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां राक्षसं घटोत्कचं पुत्रमुत्पादयामास ॥ ८१ ॥
इत्येते एकादश पाण्डवानां पुत्रास्तेषां वंशकरोऽभिमन्युः ॥ ८२ ॥ स
विराटस्य दुहितरमुपयेमे उत्तरां नाम तस्यामस्य परासुर्गर्भोऽभवत्तमुत्सङ्गेन
प्रतिजग्राह पृथा नियोगात्पुरुषोत्तमस्य वासुदेवस्य पाण्मासिकं गर्भमहमेनं
जीवयिष्यामीति ॥ ८३ ॥ स भगवता वासुदेवेनासंजातबलवीर्यपराक्रमो-
ऽकालजातोऽस्त्राग्निना दग्धस्तेजसा स्वेन संजीवितो जीवयित्वा चैनमुवाच
परिक्षीणे कुले जातो भवत्वयं परीक्षिन्नामेति ॥ ८४ ॥ परीक्षित्खलु माद्रवतीं
नामोपयेमे त्वन्मातरं तस्यां भवाञ्जनमेजयः ॥ ८५ ॥ भवतो वपुष्टमायां
द्वौ पुत्रौ जज्ञाते शतानीकः शङ्कुकर्णश्च शतानीकस्य वैदेह्यां पुत्र उत्पन्नो-
ऽश्वमेधदत्त इति ॥ ८६ ॥ एष पूरोर्वंशः पाण्डवानां च कीर्तितो धन्यः
पुण्यः परमपवित्रः सततं श्रोतव्यो ब्राह्मणैर्नियमवद्भिरनन्तरं क्षत्रियैः

भाषिणी सुभद्रा को हर कर उससे विवाह किया। निर्विघ्न अपने नगर में लौटकर अति गुणवान् वसुदेव के प्यारे अभिमन्यु नामक पुत्र को उत्पन्न किया। नकुल ने चेदि देश के राजा की कन्या करेणुमती से विवाह किया। उससे नरमित्र नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। सहदेव ने स्वयंवर के समय में द्युतिमान् मद्रराज की कन्या विजया से विवाह किया। विजया के गर्भ से सुहोत्र नाम पुत्र का जन्म हुआ। भीमसेन ने पहिले ही हिडिम्बा से घटोत्कच राक्षस उत्पन्न किया था। पाण्डवों के ये ग्यारह पुत्र थे, किन्तु अभिमन्यु ही से वंश की रक्षा हुई ॥७९।८२॥

अभिमन्यु ने विराट् देश के राजा की कन्या उत्तरा से विवाह किया। उनके वीर्य और उत्तरा के गर्भ से छ महीने पीछे अस्त्राग्नि के द्वारा जला हुआ पुत्र पृथ्वी पर गिरा। कृष्ण की आज्ञा से उस बालक को कुन्ती ने गोद में ले लिया। पुरुषोत्तम वासुदेव ने कहा—'अस्त्र के तेज से नष्ट इस छ महीने के गर्भ को मैं अभी अपने तेज से जिला दूगा'। भगवान् वासुदेव ने उस अकाल उत्पन्न बलवीर्य, पराक्रमयुक्त, अस्त्राग्नि से जले हुए बालक को अपने तेज से जिलाया। उस बालक का नाम परीक्षित रक्खा गया। कुरुवंश क्षीण होने पर उत्पन्न होने के कारण ही उत्तरा के पुत्र का नाम परीक्षित पड़ा। हे महाराज! परीक्षित ने माद्रवती आपकी माता से विवाह किया। उससे आपने जन्म लिया है। आपने वपुष्टमा रानी से शतानीक और शङ्कुकर्ण नाम के दो पुत्र उत्पन्न किये हैं। शतानीक के वीर्य और वैदेही के गर्भ से अश्वमेधदत्त नाम एक

स्वधर्मनिरतैः प्रजापालनतत्परैर्वैश्यैरपि च श्रोतव्योऽधिगम्यश्च तथा शूद्रैरपि त्रिवर्णशुश्रूषुभिः श्रद्दधानैरिति ॥ ८७ ॥ इतिहासमिमं पुण्यमशेषतः श्रावयिष्यन्ति ये नराःश्रोष्यन्ति वा नियतात्मानो विमत्सरा मैत्रा वेदपरास्तेऽपि स्वर्गजितः पुण्यलोका भवन्ति सततं देवब्राह्मणमनुष्याणां मान्याः संपूज्याश्च ॥ ८८ ॥ परं हीदं भारतं भगवता व्यासेन प्रोक्तं पावनं ये ब्राह्मणादयो वर्णाः श्रद्दधाना अमत्सरा मैत्रा वेदसंपन्नाः श्रोष्यन्ति तेऽपि स्वर्गजितः सुकृतिनोऽशोच्याः कृताकृते भवन्ति ॥ ८९ ॥ भवति चात्र श्लोकः ॥

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं नियतात्मभिः ॥ ९० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने पञ्चनवतितमोऽध्याय ॥ ९५ ॥

पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥८३।८६॥

हे राजन्! यह मैंने आपके आगे पूरु और पाण्डवों के वंश का वर्णन किया। यश को बढ़ानेवाली यह पवित्र कथा पढ़-सुनकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कृतार्थ हो जाते हैं। इसको पढ़ने-सुनने-वाले लोग स्वर्ग को जाते हैं और इस लोक में भी सम्मान पाते हैं ॥८७।९०॥

आदिपर्व का पञ्चानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

वैशम्पायन उवाच-इक्ष्वाकुवंशप्रभवो राजाऽऽसीत्पृथिवीपतिः ।
महाभिष इति ख्यातः सत्यवाक्सत्यविक्रमः ॥ १ ॥
सोऽश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
तोषयामास देवेशं स्वर्गं लेभे ततः प्रभुः ॥ २ ॥
ततः कदाचिद्ब्रह्माणमुपासाञ्चक्रिरे सुराः ।
तत्र राजर्षयो ह्यासन्स च राजा महाभिषः ॥ ३ ॥

॥ छयानवेवां अध्याय ९६ ॥

वैशम्पायन ने कहा कि, इक्ष्वाकु के वंश में सत्यवादी और सत्यपराक्रमी महाभिष नाम के राजा थे। उन्होंने हजार अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञ करके देवराज को संतुष्ट किया और अन्त को स्वर्ग पहुँचे। एक समय सब देवता और राजर्षि देवराज की सभा में बैठे हुए थे। महाभिष राजा भी वहाँ

अथ गङ्गा सरिच्छ्रेष्ठा समुपायात्पितामहम् ।
तस्यावासः समुद्धूतं मारुतेन शशिप्रभम् ॥ ४ ॥
ततोऽभवन्सुरगणाः सहसाऽवाङ्मुखास्तदा ।
महाभिषस्तु राजर्षिरशङ्को दृष्टवान्नदीम् ॥ ५ ॥
सोपध्यातो भगवता ब्रह्मणा तु महाभिषः ।
उक्तश्च जातो मर्त्येषु पुनर्लोकानवाप्स्यसि ॥ ६ ॥
यया हृतमनाश्चासि गङ्गया त्वं हि दुर्मते ।
सा ते वै मानुषे लोके विप्रियाण्याचरिष्यति ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—यदा ते भविता मन्युस्तदा शापाद्विमोक्ष्यसे ।
स चिन्तयित्वा नृपतिर्नृपानन्यांस्तपोधनान् ॥ ८ ॥
प्रतीपं रोचयामास पितरं भूरितेजसम् ।
महाभिषं तु तं दृष्ट्वा नदी धैर्याच्च्युतं नृपम् ॥ ९ ॥
तमेव मनसा ध्यायन्त्युपावर्त्तत्सरिद्वरा ।
सा तु विध्वस्तवपुषः कश्मलाभिहतान्नृप ॥ १० ॥
ददर्श पथि गच्छन्ती वसून्देवान्दिवौकसः ।
तथारूपांश्च तान्दृष्ट्वा पप्रच्छ सरितांवरा ॥ ११ ॥

पर थे । इसके पश्चात् नदियों में प्रधान गङ्गा पितामह के सामने उपस्थित हुई, उसका चन्द्र प्रकाश सदृश वस्त्र वायु से उड़ता देखकर देवताओं ने मुख नीचे कर लिये किन्तु राजर्षि महाभिष बिना किसी झिझक के उसकी ओर देखने रहे । भगवान ब्रह्मा ने यह देखकर राजा को शाप दिया कि, तुम यहा से जाकर पृथ्वी पर जन्म लोगे। वहा कुछ दिन रहकर फिर इस लोक में आओगे ॥१-८॥

उस समय महाभिष ने पृथ्वी के सब धर्मात्मा राजाओं का स्मरण कर अपना जन्म राजा प्रतीप के यहा लेना विचार कर उसके घर जन्म लिया । राजा के चित्त को चलायमान देखकर उन्हीं का ध्यान करती हुई गङ्गा भी ब्रह्मलोक से चली । राह में जाते समय उसने देखा कि, आठों वसु दुःखित और अचेत होकर स्वर्ग से पृथ्वी पर गिर रहे हैं । गंगा ने उनसे पूछा तुम लोग किस कारण पृथ्वी पर जा रहे हो ? देवलोक में कुशल तो है ? वसुओं ने कहा—हे महानदी ! थोड़े ही अपराध के कारण महात्मा वशिष्ठ ने क्रोध करके हमको शाप दे दिया है । हमसे यह अपराध हुआ था कि, वे गुप्तरूप से सन्ध्यावन्दन कर रहे थे । उन्हें न पहचानने के कारण प्रणाम किये बिना ही हम आगे चले गये । इस अपराध को अपमान जानकर वशिष्ठजी ने हमको शाप दे दिया है कि, तुम मनुष्य-योनि में उत्पन्न

किमिदं नष्टरूपाःस्थ कच्चित्क्षेमं दिवौकसाम् ।
तामूचुर्वसवो देवाः शप्ताः स्मो वै महानदि ॥ १२ ॥
अल्पेऽपराधे संरम्भाद्वसिष्ठेन महात्मना ।
विमूढा हि वयं सर्वे प्रच्छन्नमृषिसत्तमम् ॥ १३ ॥
सन्ध्यां वसिष्ठमासीनं तमत्यभिसृताः पुरा ।
तेन कोपाद्वयं शप्ता योनौ संभवतेति ह ॥ १४ ॥
न तच्छक्यं निवर्त्तयितुं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ।
त्वमस्मान्मानुषी भूत्वा सृज पुत्रान्वसून्भुवि ॥ १५ ॥
न मानुषीणां जठरं प्रविशेम वयं शुभे ।
इत्युक्ता तैश्च वसुभिस्तथेत्युक्त्वाऽब्रवीदिदम् ॥ १६ ॥
गङ्गोवाच—मर्त्येषु पुरुषश्रेष्ठः को वः कर्त्ता भविष्यति ।
वसव ऊचुः—प्रतीपस्य सुतो राजा शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
भविता मानुषे लोके स नः कर्त्ता भविष्यति ॥ १७ ॥
गङ्गोवाच- ममाप्येवं मतं देवा यथा मां वदतानघाः ।
प्रियं तस्य करिष्यामि युष्माकं चैतदीप्सितम् ॥ १८ ॥
वसव ऊचुः—जातान्कुमारान्स्वानप्सु प्रक्षेप्तुं वै त्वमर्हसि ।
यथा न चिरकालं नो निष्कृतिः स्यात्त्रिलोकगे ॥ १९ ॥
गङ्गोवाच—एवमेतत्करिष्यामि पुत्रस्तस्य विधीयताम् ।
नास्य मोघः संगमः स्यात्पुत्रहेतोर्मया सह ॥ २० ॥

होकर नरदेह धारण करो ॥७।१४॥

ब्रह्मज्ञानी महात्मा का कहा कभी झूठ नहीं हो सकता। इससे तुम मानुषी होकर हमें पुत्ररूप से उत्पन्न करो। हे शुभे! हमको संसारी स्त्रियों के उदर में वास करना अच्छा नहीं प्रतीत होता। गंगा ने वसुओं की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए कहा मनुष्यों में तुम्हारा पिता कौन होगा? वसुओं ने कहा राजा प्रतीप के पुत्र तीनों लोकों में प्रशंसनीय महाराज शान्तनु के द्वारा हम जन्म लेंगे। गंगा ने कहा हे निष्पाप देवताओ! मैं अवश्य उस राजा का प्रिय और तुम लोगों के मन की इच्छा पूर्ण करूंगी। वसुओं ने कहा—जो बालक उत्पन्न हों, उसे तुम अपने जल में फेंक देना। ऐसा करने से शीघ्र नरदेह से हमारा छुटकारा हो जायगा ॥१५।१०॥

गंगा ने कहा—तुम जैसा कहते हो वही होगा, परन्तु

वसव ऊचुः—तुरीयार्धं प्रदास्यामो वीर्यस्यैकैकशो वयम् ।
तेन वीर्येण पुत्रस्ते भविता तस्य चेप्सितः ॥ २१ ॥
न संपत्स्यति मर्त्येषु पुनस्तस्य तु संततिः ।
तस्मादपुत्रः पुत्रस्ते भविष्यति स वीर्यवान् ॥ २२ ॥
एवं ते समयं कृत्वा गङ्गया वसवः सह ।
जग्मुः संहृष्टमनसो यथासंकल्पमञ्जसा ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि महाभिषोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ॥९६॥

ऐसा उपाय करो, जिसमें मेरे गर्भ से महाराज शान्तनु का पुत्र उत्पन्न करना वृथा न हो। वसुओं ने कहा—हम अपने अपने तेज का आठवां अंश देकर तुम्हारी और उसकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे। उस राजा का एक पुत्र होकर जीता रहेगा, जो बड़ा पराक्रमी निःसन्तान होगा। वसुगण गंगा से ऐसा कहकर प्रसन्नचित्त से मनमाने स्थान को गये ॥२०।२३॥

आदिपर्व का छियानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः प्रतीपो राजाऽऽसीत्सर्वभूतहितः सदा ।
निषसाद समा बह्वीर्गङ्गाद्वारगतो जपन् ॥ १ ॥
तस्य रूपगुणोपेता गङ्गा स्त्रीरूपधारिणी ।
उत्तीर्य सलिलात्तस्माल्लोभनीयतमाकृतिः ॥ २ ॥
अधीयानस्य राजर्षेर्दिव्यरूपा मनस्विनी ।
दक्षिणं शालसङ्काशमूरुं भेजे शुभानना ॥ ३ ॥
प्रतीपस्तु महीपालस्तामुवाच यशस्विनीम् ।
करोमि किं ते कल्याणि प्रियं यत्तेऽभिकांक्षितम् ॥ ४ ॥
स्त्र्युवाच—त्वामहं कामये राजन्भजमानां भजस्व माम् ।
त्यागः कामवतीनां हि स्त्रीणां सद्भिर्विगर्हितः ॥ ५ ॥

॥ सत्तानवेवां अध्याय ९७ ॥

वैशम्पायन ने कहा कि, सब प्राणियों का हित चाहने वाले राजा प्रतीप गंगा के तटपर बहुत दिनों से तप कर रहे थे। एक दिन गंगाजी लुभानेवाले रूप और गुण से युक्त, स्त्री का रूप रक्खे हुए, जल से निकलकर, राजर्षि प्रतीप की दाहिनी जंघा पर बैठ गयीं। राजा ने उसे देखकर कहा—हे कल्याणी!

कुलस्य ये वः प्रथितास्तत्साधुत्वमथोत्तमम् ।
समयेनेह धर्मज्ञ आचरेयं च यद्विभो ॥ १४ ॥
तत्सर्वमेव पुत्रस्ते न मीमांसेत कर्हिचित् ।
एवं वसन्ती पुत्रे ते वर्धयिष्याम्यहं रतिम् ॥ १५ ॥
पुत्रैः पुण्यैः प्रियैश्चैव स्वर्गं प्राप्स्यति ते सुतः ।
वैशम्पायन उवाच—तथेत्युक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ १६ ॥
पुत्रजन्म प्रतीक्षन्वै स राजा तद्धारयत् ।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रतीपः क्षत्रियर्षभः ॥ १७ ॥
तपस्तेपे सुतस्यार्थे स भार्यः कुरुनन्दनः ।
तयोः समभवत्पुत्रो वृद्धयोः स महाभिषः ॥ १८ ॥
शान्तस्य जज्ञे सन्तानस्तस्मादासीत्स शान्तनुः ।
संस्मरंश्चाक्षयाँल्लोकान्विजातान्स्वेन कर्मणा ॥ १९ ॥
पुण्यकर्मकृदेवासीच्छान्तनुः कुरुसत्तमः ।
प्रतीपः शान्तनुं पुत्रं यौवनस्थं ततोऽन्वशात् ॥ २० ॥
पुरा स्त्री मां समभ्यागाच्छान्तनो भूतये तव ।
त्वामाव्रजेद्यदि रहः सा पुत्र वरवर्णिनी ॥ २१ ॥

प्रतीप उवाच—नाहं परस्त्रियं कामाद्गच्छेयं वरवर्णिनि ।
न चासवर्णां कल्याणि धर्म्यमेतद्धि मे व्रतम् ॥ ६ ॥
स्त्र्युवाच—नाश्रेयस्यऽस्मिनागम्या न वक्तव्या च कर्हिचित् ।
भजन्तीं भज मां राजन्दिव्यां कन्यां वरस्त्रियम् ॥ ७ ॥
प्रतीप उवाच—त्वया निवृत्तमेतत्तु यन्मां चोदयसि प्रियम् ।
अन्यथा प्रतिपन्नं मां नाशयेद्धर्मविप्लवः ॥ ८ ॥
प्राप्य दक्षिणमूरुं मे त्वमाश्लिष्टा वराङ्गने ।
अपत्यानां स्नुषाणां च भीरु विद्ध्येतदासनम् ॥ ९ ॥
सव्योरुः कामिनीभोग्यस्त्वया स च विवर्जितः ।
तस्मादहं नाचरिष्ये त्वयि कामं वराङ्गने ॥ १० ॥
स्नुषा मे भव सुश्रोणि पुत्रार्थं त्वां वृणोम्यहम् ।
स्नुषापक्षं हि वामोरु त्वमागम्य समाश्रिता ॥ ११ ॥
स्त्र्युवाच—एवमप्यस्तु धर्मज्ञ संयुज्येयं सुतेन ते ।
त्वद्भक्त्यातु भजिष्यामि प्रख्यातं भारतं कुलम् ॥ १२ ॥
पृथिव्यां पार्थिवा ये च तेषां यूयं परायणम् ।
गुणा न हि मया शक्या वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ १३ ॥

तुम क्या चाहती हो ? मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूं ? स्त्री ने कहा—हे महाराज ! मैं काम के वश में होकर आपके पास आई हूं । आप मेरी इच्छा पूरी करें । सत्पुरुषों को कामवती स्त्री का त्याग करना अच्छा नहीं कहा है । प्रतीप ने कहा कि, मैं पराई स्त्री या दूसरे वर्ण की स्त्री को कामवश होकर स्वीकार नहीं कर सकता । मेरा यही व्रत है । गंगा ने फिर कहा हे महाराज ! मैं सुलक्षणा, न मिलने के योग्य और निंदित स्त्री नहीं हूं । मैं अनुरक्त होकर प्रार्थना करती हूं । आप मेरी इच्छा पूरी करें ॥१।७॥

प्रतीप ने कहा—तुम जिस प्रिय कार्य के लिये मुझे प्रवृत्ति दिलाती हो, मैं उससे निवृत्त हूं । यदि इस समय उसके विरुद्ध आचरण करूं, तो यह अधर्म मुझको नष्ट करेगा । विशेष करके तुम मेरी दाहिनी जंघा पर बैठी हुई हो । हे सुन्दरी ! पुरुष की दाहिनी जंघा पुत्र, कन्या और पुत्रवधू के बैठने की जगह है । स्त्री के बैठने का स्थान तो बाईं जंघा है । इसलिये तुमको मैं अपनी पुत्रवधू बना सकता हूं—स्त्री नहीं बना सकता ॥८।११॥

गंगा ने कहा हे धर्मज्ञ ! आप अपने पुत्र से मेरा विवाह करना चाहते हो, यह मुझको स्वीकार है । आपकी भक्ति के कारण से मैं भरतकुल में रहूंगी । आप सब राजाओं में श्रेष्ठ हो और आप

कुलस्य ये वः प्रथितास्तत्साधुत्वमथोत्तमम् ।
समयेनेह धर्मज्ञ आचरेयं च यद्विभो ॥ १४ ॥
तत्सर्वमेव पुत्रस्ते न मीमांसेत कर्हिचित् ।
एवं वसन्ती पुत्रे ते वर्धयिष्याम्यहं रतिम् ॥ १५ ॥
पुत्रैः पुण्यैः प्रियैश्चैव स्वर्गं प्राप्स्यति ते सुतः ।
वैशम्पायन उवाच—तथेत्युक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ १६ ॥
पुत्रजन्म प्रतीक्षन्वै स राजा तद्धारयत् ।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रतीपः क्षत्रियर्षभः ॥ १७ ॥
तपस्तेपे सुतस्यार्थे स भार्यः कुरुनन्दनः ।
तयोः समभवत्पुत्रो वृद्धयोः स महाभिषः ॥ १८ ॥
शान्तस्य जज्ञे सन्तानस्तस्मादासीत्स शान्तनुः ।
संस्मरंश्चाक्षयाँल्लोकान्विजातान्स्वेन कर्मणा ॥ १९ ॥
पुण्यकर्मकृदेवासीच्छान्तनुः कुरुसत्तमः ।
प्रतीपः शान्तनुं पुत्रं यौवनस्थं ततोऽन्वशात् ॥ २० ॥
पुरा स्त्री मां समभ्यागाच्छान्तनो भूतये तव ।
त्वामाव्रजेद्यदि रहः सा पुत्र वरवर्णिनी ॥ २१ ॥

के गुणों को सौ वर्ष तक कहकर भी समाप्त नहीं कर सकती हूं। ऋषिवंश में जो प्रख्यात थे, उनकी साधुता और श्रेष्ठता कही नहीं जा सकती। हे धर्मज्ञ ! मैं इस प्रतिज्ञा से आपकी पुत्रवधू होना स्वीकार करती हूं कि, जो मैं कुछ करूंगी उसके सम्बन्ध में आपके पुत्र को कुछ कहने का अधिकार न होगा। इस प्रतिज्ञा के अनुसार आपके पुत्र चलेंगे, तो मैं सदा उनसे प्रेम करूंगी। श्रेष्ठ सुकृती-प्रिय पुत्रों से तुम्हारे पुत्र को स्वर्ग प्राप्त होगा। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! इतना कहकर गंगा वहीं अन्तर्द्धान हो गई। इधर राजा पुत्र के जन्म की राह देखने लगे। अब राजा प्रतीप अपनी स्त्रीसहित सन्तान की इच्छा से तप करने लगे। बुढ़ापे की अवस्था में प्रतीप के महाभिषक् नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। बूढ़े राजा के शान्तचित्त होने पर उत्पन्न होने के कारण महाभिषक् का दूसरा नाम शान्तनु पड़ा। महाराज शान्तनु पिछले स्वर्ग के सुख को याद करके शुभ कर्मों को करने लगे ॥१२।१९॥

थोड़े दिनों में जब शान्तनु युवा हुए, तब प्रतीप ने उनसे कहा—हे शान्तनु ! जब तुम उत्पन्न नहीं हुए थे, तब एक दिन एक सुन्दरी मेरे पास आई थी। यदि वह अनुपम रूपवाली कामिनी पुत्र की कामना से, एकान्त में तुम्हारे पास आवे, तो तुम मेरी आज्ञा से उसकी इच्छा पूरी करना।

कामयानाऽभिरूपाढ्या दिव्यस्त्री पुत्रकाम्यया ।
सा त्वया नानुयोक्तव्या कासि कस्यासि चाङ्गने ॥ २२ ॥
यच्च कुर्यान्न तत्कर्म सा प्रष्टव्या त्वयाऽनघ ।
मन्नियोगाद्भजन्तीं तां भजेथा इत्युवाच तम् ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवं संदिश्य तनयं प्रतीपः शान्तनुं तदा ।
स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं वनं राजा विवेश ह ॥ २४ ॥
स राजा शान्तनुर्धीमान्देवराजसमद्युतिः ।
बभूव मृगयाशीलः सततं वनगोचरः ॥ २५ ॥
स मृगान्महिषांश्चैव विनिघ्नन्राजसत्तमः ।
गङ्गामनु चचारैकः सिद्धचारणसेविताम् ॥ २६ ॥
स कदाचिन्महाराज ददर्श परमां स्त्रियम् ।
जाज्वल्यमानां वपुषा साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥ २७ ॥
सर्वानवद्यां सुदतीं दिव्याभरणभूषिताम् ।
सूक्ष्माम्बरधरामेकां पद्मोदरसमप्रभाम् ॥ २८ ॥
तां दृष्ट्वा हृष्टरोमाऽभूद्विस्मितो रूपसंपदा ।
पिबन्निव च नेत्राभ्यां नातृप्यत नराधिपः ॥ २९ ॥
सा च दृष्ट्वैव राजानं विचरन्तं महाद्युतिम् ।
स्नेहादागतसौहार्दा नातृप्यत विलासिनी ॥ ३० ॥

उससे यह कभी न पूछना कि, तुम कौन हो, किसकी कन्या हो ? वह जो करे उस विषय में भी उससे कुछ पूछ-ताछ न करना। वैशम्पायन ने कहा हे राजन् ! राजा प्रतीप शान्तनु को यह आज्ञा देकर अपने राज्य पर अभिषिक्त करके वन को चले गये। इन्द्र के समान तेजस्वी राजा शान्तनु प्रायः वनों में शिकार के लिये जाया करते थे ॥ २०-२५ ॥

एक दिन राजा शान्तनु शिकार खेलने को चले गये और वहां वन के जीवों को मारते हुए गंगा के किनारे पर पहुँचे। वहां साक्षात् लक्ष्मी के समान कान्तिवाली, सर्वांगसुन्दरी, दिव्य आभूषणों से भूषित, शोभा देनेवाली, दांतों से शोभित एक परमसुन्दरी स्त्री को देखा। राजा शान्तनु ने पद्मोदर-सदृश सुन्दरी रमणी को पतला वस्त्र पहने हुए देखकर उसके रूप से आश्चर्य माना। उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया। वे दोनों एक दूसरे को देखने लगे। न राजा उस स्त्री की शोभा को देखकर तृप्त होता था न वह स्त्री उस राजा को हृदय में उत्सक

तामुवाच ततो राजा सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया गिरा ।
देवी वा दानवी वा त्वं गन्धर्वी वाऽथवाऽप्सराः ॥ ३१ ॥
यक्षी वा पन्नगी वापि मानुषी वा सुमध्यमे ।
याचे त्वां सुरगर्भाभे भार्या मे भव शोभने ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि शान्तनूपाख्याने सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

हुई प्रीति के कारण से अपनी दृष्टि से दूर करती थी। अन्त में राजा शान्तनु ने बड़ी मधुर वाणी से उस स्त्री से कहा–हे सुन्दरी ! तुम कौन हो ? तुम देवता, दानव, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, नाग या मनुष्य, किसकी कन्या हो ? तुम कोई भी हो, मैं चाहता हूं कि, तुम मेरी स्त्री होना स्वीकार करो ॥२५।३२॥

आदिपर्व का सत्तानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञः सस्मितं मृदु वल्गु च ।
वसूनां समयं स्मृत्वाऽथाऽभ्यगच्छदनिन्दिता ॥ १ ॥
उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा ।
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा ॥ २ ॥
यत्तु कुर्यामहं राजञ्छुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
न तद्वारयितव्याऽस्मि न वक्तव्या तथाऽप्रियम् ॥ ३ ॥
एवं हि वर्तमानेऽहं त्वयि वत्स्यामि पार्थिव ।
वारिता विप्रियं चोक्ता त्यजेयं त्वामसंशयम् ॥ ४ ॥
तथेति सा यदा तूक्ता तदा भरतसत्तम ।
प्रहर्षमतुलं लेभे प्राप्य तं पार्थिवोत्तमम् ॥ ५ ॥

॥ अट्ठानवेवां अध्याय ९८ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे जनमेजय ! मधुर मन्द मुसकान के साथ राजा के कहे हुए इन वचनों को सुनकर और वसुओं से की हुई अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण करके सुन्दरी गंगा ने कहा–हे राजन् ! मैं रानी होकर आपकी इच्छा पूरी करूंगी, किन्तु इस शर्त पर कि, यदि मैं आपका प्रिय या अप्रिय चाहे जो कुछ करूं, आप न तो मुझे रोक सकेंगे और न कुछ अप्रिय वचन ही कह सकेंगे। जबतक आप इस प्रतिज्ञा का पालन करेंगे, तबतक मैं आपके पास रहूंगी। यदि आपने मुझे रोका

आसाद्य शान्तनुस्तां च बुभुजे कामतो वशी ।
न प्रष्टव्येति मन्वानो न स तां किंचिदूचिवान् ॥ ६ ॥
स तस्याः शीलवृत्तेन रूपौदार्यगुणेन च ।
उपचारेण च रहस्तुतोष जगतीपतिः ॥ ७ ॥
दिव्यरूपा हि सा देवी गङ्गा त्रिपथगामिनी ।
मानुषं विग्रहं कृत्वा श्रीमन्तं वरवर्णिनी ॥ ८ ॥
भाग्योपनतकामस्य भार्या चोपनताऽभवत् ।
शान्तनोर्नृपसिंहस्य देवराजसमद्युतेः ॥ ९ ॥
संभोगस्नेहचातुर्यैर्हावलास्यमनोहरैः ।
राजानं रमयामास यथा रेमे तथैव सः ॥ १० ॥
स राजा रतिसक्तत्वादुत्तमस्त्रीगुणैर्हृतः ।
संवत्सरानृतून्मासान्बुबुधे न बहून्गतान् ॥ ११ ॥
रममाणस्तया सार्धं यथाकामं नरेश्वरः ।
अष्टावजनयत्पुत्रांस्तस्याममरसंनिभान् ॥ १२ ॥
जातं जातं च सा पुत्रं क्षिपत्यम्भसि भारत ।
प्रीणाम्यहं त्वामित्युक्त्वा गङ्गा स्रोतस्यमज्जयत् ॥ १३ ॥

या अप्रिय वचन कहे, तो निश्चय आपको त्यागकर चली जाऊंगी। राजा के स्वीकार करने पर गंगा उस धीर प्रतापी और सुन्दर राजर्षि को पाकर बहुत प्रसन्न हुई। उसके साथ बड़े सुख से राजा शान्तनु का समय व्यतीत होने लगा। न पूछने की प्रतिज्ञा करने के कारण वे उससे उसके बारे में कुछ भी पूछ न सके। उसके चरित्र, आचरण, उदारता और सेवा से राजा शान्तनु बड़े प्रसन्न रहते थे ॥१।७॥

दिव्यरूपिणी, त्रिपथगामिनी, गंगादेवी इस तरह मनुष्यदेह पाकर, इन्द्र के समान राजा शान्तनु के पास रहकर, उनकी आज्ञा का पालन करती हुई, सम्भोग, स्नेह, चतुराई, अच्छे नाच और मनोहर हाव-भाव से उसका मन बहलाने लगी। शान्तनु भी उत्तम स्त्री के गुणों पर मोहित होकर उसके साथ क्रीडा में आसक्त हो गये। इस तरह अनेक ऋतुएँ और वर्ष व्यतीत हो गये; किन्तु राजा को कुछ भी विचार न था कि, कितना समय व्यतीत हो गया ॥८।११॥

राजा ने उसके साथ क्रीडा करते हुए समय समय पर देवताओं के समान आठ पुत्र उत्पन्न किये, परन्तु जो पुत्र उत्पन्न होता था, उसको वह तुरन्त जल में डाल देती थी और यह कहकर उसको डुबो देती थी कि, मैं आपको प्रसन्न करने के लिये ऐसा करती हूं। राजा को गंगा का यह काम बहुत

तस्य तन्न प्रियं राज्ञः शान्तनोरभवत्तदा ।
न च तां किंचनोवाच त्यागाद्भीतो महीपतिः ॥ १४ ॥
अथैनामष्टमे पुत्रे जाते प्रहसतीमिव ।
उवाच राजा दुःखार्त्तः परीप्सन्पुत्रमात्मनः ॥ १५ ॥
मा वधीः कस्य काऽसीति किं हिनस्सि सुतानिति ।
पुत्रघ्नि सुमहत्पापं संप्राप्तं ते सुगर्हितम् ॥ १६ ॥
स्त्र्युवाच—पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर ।
जीर्णस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः ॥ १७ ॥
अहं गङ्गा जन्हुसुता महर्षिगणसेविता ।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमुषिताऽहं त्वया सह ॥ १८ ॥
इमेऽष्टौ वसवो देवा महाभागा महौजसः ।
वसिष्ठशापदोषेण मानुषत्वमुपागताः ॥ १९ ॥
तेषां जनयिता नान्यस्त्वदृते भुवि विद्यते ।
मद्विधा मानुषी धात्री लोके नास्तीह काचन ॥ २० ॥
तस्मात्तज्जननीहेतोर्मानुषत्वमुपागता ।
जनयित्वा वसूनष्टौ जिता लोकास्त्वयाऽक्षयाः ॥ २१ ॥

ही अप्रिय था, परन्तु इस डर से कि, वह छोड़कर चली न जाय, कुछ नहीं कह सकते थे। इस प्रकार *क्रमशः गंगा ने सात पुत्रों को जल में फेंक दिया।* यथासमय आठवां बालक उत्पन्न हुआ। हँसती हुई गङ्गा से राजा ने अति दुःखी होकर अपने पुत्र की रक्षा के लिये उससे कहा—तुम इस बालक को न मारो। तुम किसकी कन्या हो? तुम्हारा क्या नाम है? तुम क्यों इन पुत्रों की हत्या कर डालती हो? हे पुत्रों की हत्या करनेवाली! तुमको पुत्र वध का महापाप हुआ ॥१२।१६॥

गङ्गा ने कहा—हे पुत्रकामी! मैं इस आपके पुत्र को न मारूंगी। इस पुत्र से आप पुत्र उत्पन्न करनेवाले पुरुषों में श्रेष्ठ समझे जाओगे। अब आपके पास रहने की मेरी अवधि बीत गई। प्रतिज्ञा के *अनुसार अब मैं नहीं रहूंगी। मैं जह्नु की कन्या* हूं। मेरा नाम गंगा है। महर्षिगण सदा मेरी सेवा किया करते हैं। देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिये मैं आपके पास रही। ये आपके आठ पुत्र महातेजस्वी आठों वसु थे। वसिष्ठ ऋषि के शाप से उन्हें मनुष्ययोनि में जन्म लेना पड़ा। इस पृथ्वी पर आपके समान पिता और मेरे समान माता उन्हें नहीं मिल सकती थी। इसलिये उनकी माता होने के लिये मैंने मानवी शरीर धारण किया था। आपने आठों वसुओं के पिता होकर अक्षय-

देवानां समयस्त्वेष वसूनां संश्रुतो मया ।
जातं जातं मोक्षयिष्ये जन्मतो मानुषादिति ॥ २२ ॥
तत्ते शापाद्विनिर्मुक्ता आपवस्य महात्मनः ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि पुत्रं पाहि महाव्रतम् ॥ २३ ॥
एष पर्यायवासो मे वसूनां संनिधौ कृतः ।
मत्प्रसूतिं विजानीहि गङ्गादत्तमिमं सुतम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि भीष्मोत्पत्तावष्टनवतितमोऽध्याय ॥ ९८ ॥

लोक जीत लिया । मैंने वसुओं से यह नियम किया था कि, जन्म लेते ही मैं उनको मानवी शरीर से मुक्त करूंगी । मैंने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली थी । अब आठों वसु आपव ऋषि के शाप से छुटकारा पा गये हैं । मैंने आपके लिये वसुओं से एक पुत्र मांगा था, इससे हर एक वसु ने आठवें भाग से इस पुत्र को उत्पन्न किया है । मेरे उत्पन्न किये हुए इस पुत्र को गंगादत्त अर्थात् गंगा का दिया हुआ जानना ॥१७।२४॥

आदिपर्व का अट्ठानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

शान्तनुरुवाच—आपवो नाम को न्वेष वसूनां किं च दुष्कृतम् ।
यस्याभिशापात्ते सर्वे मानुषीं योनिमागताः ॥ १ ॥
अनेन च कुमारेण त्वया दत्तेन किं कृतम् ।
यस्य चैव कृतेनायं मानुषेषु निवत्स्यति ॥ २ ॥
ईशा वै सर्वलोकस्य वसवस्ते च वै कथम् ।
मानुषेषूदपद्यन्त तन्ममाचक्ष्व जाह्नवि ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच एवमुक्ता तदा गङ्गा राजानमिदमब्रवीत् ।
भर्तारं जाह्नवी देवी शान्तनुं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

॥ निन्नानवेवां अध्याय ९९ ॥

शान्तनु ने गंगा से कहा आपव ऋषि कौन हैं ? वसुओं ने उनका क्या अपराध किया था कि, उन सब ने ऋषि के शाप से मनुष्य-शरीर धारण किया ? मुझे दिये हुए आपके इस पुत्र ने कौन ऐसा कर्म किया, जिससे यह मनुष्य-लोक में रहेगा ? हे जाह्नवी ! वसु सब लोकों के ईश्वर होकर क्यों इस पृथ्वी में उत्पन्न हुए, यह मुझसे कहो । वैशम्पायन ने कहा कि, देवी जाह्नवी गंगा ने पुरुषों

गङ्गोवाच—यं लेभे वरुणः पुत्रं पुरा भरतसत्तम ।
वशिष्ठनामा स मुनिः ख्यात आपव इत्युत ॥ ५ ॥
तस्याश्रमपदं पुण्यं मृगपक्षिसमन्वितम् ।
मेरोः पार्श्वे नगेन्द्रस्य सर्वर्तुकुसुमावृतम् ॥ ६ ॥
स वारुणिस्तपस्तेपे तस्मिन्भरतसत्तम ।
वने पुण्यकृतां श्रेष्ठः स्वादुमूलफलोदके ॥ ७ ॥
दक्षस्य दुहिता या तु सुरभीत्यभिशब्दिता ।
गां प्रजाता तु सा देवी कश्यपाद्भरतर्षभ ॥ ८ ॥
अनुग्रहार्थं जगतः सर्वकामदुहां वरा ।
तां लेभे गां तु धर्मात्मा होमधेनुं स वारुणिः ॥ ९ ॥
सा तस्मिंतापसारण्ये वसन्ती मुनिसेविते ।
चचार पुण्ये रम्ये च गौरपेतभया तदा ॥ १० ॥
अथ तद्वनमाजग्मुः कदाचिद्भरतर्षभ ।
पृथ्वाद्या वसवः सर्वे देवा देवर्षिसेवितम् ॥ ११ ॥
ते सदारा वनं तच्च व्यचरन्त समन्ततः ।
रेमिरे रमणीयेषु पर्वतेषु वनेषु च ॥ १२ ॥
तत्रैकस्याथ भार्या तु वसोर्वासवविक्रम ।
संचरन्ती वने तस्मिन्गां ददर्श सुमध्यमा ॥ १३ ॥

में श्रेष्ठ पति राजा शान्तनु से यह कहा—हे भारत! जो पहिले वरुणदेव के पुत्र हुए, उन्हीं वशिष्ठ मुनि का नाम आपव है। आपव ऋषि का पवित्र आश्रम सुमेरुपर्वत के पास है। वहां मृग आदि अनेक प्रकार के पशु-पक्षी रहा करते हैं। सब ऋतुओं के फूल सदा खिले रहते हैं। वह स्थान सदा अनेक प्रकार के फलों से परिपूर्ण रहता है। हे भारतश्रेष्ठ! वही पुण्यवान् वरुणपुत्र मीठे फल-मूल जलयुक्त उस वन के आश्रम में तपस्या किया करते थे ॥१।७॥

एक समय सुरभि नामवाली देवी दक्ष की कन्या ने जगत् के उपकार के लिये कश्यप से नन्दिनी नाम की कामधेनु गौ उत्पन्न की थी, वही उन मुनि को हवन-सामग्री देनेवाली गाय थी। मुनियों के निवासस्थान उस पवित्र आश्रम में सब जगह वह नन्दिनी गाय निर्भय विचरती थी। हे भरतश्रेष्ठ! एक समय पृथु आदि वसुगण देवर्षि से सेवित उस वन में आकर अपनी स्त्रियों के साथ फिरने लगे और रमणीय पर्वत और निकुञ्ज में इधर-

नन्दिनीं नाम राजेन्द्र सर्वकामधुगुत्तमाम् ।
सा विस्मयसमाविष्टा शीलद्रविणसंपदा ॥ १४ ॥
द्यवे वै दर्शयामास तां गां गोवृषभेक्षण ।
आपीनां च सुदोग्ध्रीं च सुवालधिखुरां शुभाम् ॥ १५ ॥
उपपन्नां गुणैः सर्वैः शीलेनानुत्तमेन च ।
एवं गुणसमायुक्तां वसवे वसुनन्दिनी ॥ १६ ॥
दर्शयामास राजेन्द्र पुरा पौरवनन्दन ।
द्यौस्तदा तां तु दृष्ट्वैव गां गजेन्द्रेन्द्रविक्रम ॥ १७ ॥
उवाच राजंस्तां देवीं तस्या रूपगुणान्वदन् ।
एषा गौरुत्तमा देवी वारुणेरसितेक्षणा ॥ १८ ॥
ऋषेस्तस्य वरारोहे यस्येदं वनमुत्तमम् ।
अस्याः क्षीरं पिबेन्मर्त्यः स्वादु यो वै सुमध्यमे ॥ १९ ॥
दशवर्षसहस्राणि स जीवेत्स्थिरयौवनः ।
एतच्छ्रुत्वा तु सा देवी नृपोत्तम सुमध्यमा ॥ २० ॥
तमुवाचानवद्याङ्गी भर्तारं दीप्ततेजसम् ।
अस्ति मे मानुषे लोके नरदेवात्मजा सखी ॥ २१ ॥
नाम्ना जितवती नाम रूपयौवनशालिनी ।
उशीनरस्य राजर्षेः सत्यसन्धस्य धीमतः ॥ २२ ॥

उधर क्रीडा करने लगे। हे इन्द्र के समान विक्रमवाले! उनमें से एक वसु की सुन्दरी स्त्री ने उस वन में विचरती हुई सुरभि की कन्या नन्दिनी को देखा। हे राजेन्द्र! सब कामधेनुओं में श्रेष्ठ, शील सम्पत्ति से युक्त, बड़े बड़े थनोंवाली, बहुत दूध देनेवाली, सुन्दर पूंछ और खुरोंवाली, शुभलक्षण, सर्वाङ्ग और सब गुणों से युक्त को देखकर आश्चर्ययुक्त अपने पति द्यौ नामवाले वसु को दिखलाई। वसु ने सुरभि की पुत्री को देखकर अपनी प्रिय-देवी से उसका रूप और गुण बतलाकर कहा—हे सुन्दरी! जिस ऋषि का यह उत्तम तपोवन है, उसी वरुणपुत्र ऋषि के हवन की गौ यह काले नेत्रवाली देवी सुरभि की पुत्री है। हे सुन्दरी! जो मनुष्य इस नन्दिनी का मीठा दूध पियेगा, वह स्थिर-यौवन पाकर दस हजार वर्ष तक जीता रहेगा। हे नृपोत्तम! उस सर्वाङ्गसुन्दरी वसु पत्नी ने यह सुनकर अपने तेजस्वी पति से कहा ॥८।२०॥

मनुष्य-लोक में रूप यौवनशाली नरदेव की

दुहिता प्रथिता लोके मानुषे रूपसंपदा ।
तस्या हेतोर्महाभाग सवत्सां गां ममेप्सिताम् ॥ २३ ॥
आनयस्वामरश्रेष्ठ त्वरितं पुण्यवर्धन ।
यावदस्याः पयः पीत्वा सा सखी मम मानद ॥ २४ ॥
मानुषेषु भवत्वेका जरारोगविवर्जिता ।
एतन्मम महाभाग कर्तुमर्हस्यनिन्दित ॥ २५ ॥
प्रियं प्रियतरं ह्यस्मान्नास्ति मेऽन्यत्कथंचन ।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्या देव्याः प्रियचिकीर्षया ॥ २६ ॥
पृथ्वाद्यैर्भ्रातृभिः सार्धं द्यौस्तदा तां जहार गाम् ।
तया कमलपत्राक्ष्या नियुक्तो द्यौस्तदा नृप ॥ २७ ॥
ऋषेस्तस्य तपस्तीव्रं न शशाक निरीक्षितुम् ।
हृता गौः सा तदा तेन प्रपातस्तु न तर्कितः ॥ २८ ॥
अथाश्रमपदं प्राप्तः फलान्यादाय वारुणिः ।
न चापश्यत्स गां तत्र सवत्सां काननोत्तमे ॥ २९ ॥
ततः स मृगयामास वने तस्मिंस्तपोधनः ।
नाध्यागमच्च मृगयंस्तां गां मुनिरुदारधीः ॥ ३० ॥

कन्या मेरी सहेली है। वह बुद्धिमान्, सत्यवादी, राजर्षि उशीनर की पुत्री जितवती रूप और जवानी से मनोहर है। हे महाभाग! उसके लिये मुझे बछड़ेसहित इस गौ के लेने की अभिलाषा है। हे देवताओं में श्रेष्ठ! आप यह मेरा प्रियकार्य अवश्य कीजिये। मेरी सहेली इस गौ का दूध पीकर मनुष्य लोक में सदा युवा और रोग से वर्जित रहेगी ॥२१।२५॥

द्यौ नामवाले वसु ने यह बात सुनकर अपनी प्रिय देवी का कार्य करने के लिये पृथु आदि अपने भाइयों के साथ उस कामधेनु को हर ले गये। वह उस समय अपनी कमल नेत्रवाली स्त्री के कहने में आकर, अनुराग से अन्धे हो रहे, वसु ने मुनि के तप के प्रभाव का विचार नहीं किया। उन्होंने यह नहीं सोचा कि, यह काम करने से मुनि शाप देदेंगे और उससे मेरा अधःपात हो जायगा। इसके पश्चात् वरुणपुत्र ऋषि फल लेकर अपने आश्रम में आये, परन्तु बछड़ेसहित उस गौ को न देखा, तब वह बुद्धिमान् तपोधन उस गौ को वन में इधर-उधर ढूँढने लगे। बहुत देर तक तलाश करने पर भी उसका पता न लगा। अन्त को उन्होंने दिव्य दृष्टि से देखा कि, वसुगण उनकी गाय को हर ले गये हैं। उन्होंने क्रोध में होकर उसी क्षण वसुओं को यह शाप दिया कि, जिन वसुओं ने

ज्ञात्वा तथाऽपनीतां तां वसुभिर्दिव्यदर्शनः ।
ययौ क्रोधवशं सद्यः शशाप च वसूंस्तदा ॥ ३१ ॥
यस्मान्मे वसवो जह्रुर्गां वै दोग्ध्रीं सुवालधिम् ।
तस्मात्सर्वे जनिष्यन्ति मानुषेषु न संशयः ॥ ३२ ॥
एवं शशाप भगवान्वसूंस्तान्भरतर्षभ ।
वशं क्रोधस्य संप्राप्त आपवो मुनिसत्तमः ॥ ३३ ॥
शप्त्वा च तान्महाभागस्तपस्येव मनो दधे ।
एवं स शप्तवान्राजन्वसूनष्टौ तपोधनः ॥ ३४ ॥
महाप्रभावो ब्रह्मर्षिर्देवान्क्रोधसमन्वितः ।
अथाश्रमपदं प्राप्तास्ते वै भूयो महात्मनः ॥ ३५ ॥
शप्ताः स्म इति जानन्त ऋषिं तमुपचक्रमुः ।
प्रसादयन्तस्तमृषिं वसवः पार्थिवर्षभ ॥ ३६ ॥
लेभिरे न च तस्मात्ते प्रसादमृषिसत्तमात् ।
आपवात्पुरुषव्याघ्र सर्वधर्मविशारदात् ॥ ३७ ॥
उवाच च स धर्मात्मा शप्ता यूयं धरादयः ।
अनुसंवत्सरात्सर्वे शापमोक्षमवाप्स्यथ ॥ ३८ ॥
अयं तु यत्कृते यूयं मया शप्ताः स वत्स्यति ।
द्यौस्तदा मानुषे लोके दीर्घकालं स्वकर्मणः ॥ ३९ ॥

मेरी सुलक्षणा, सुन्दर पूँछवाली दुधारी कामधेनु हर ली है वह निश्चय सब के सब मनुष्य योनि में जन्म लेंगे ॥२६।३१॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मुनियों में श्रेष्ठ आपव क्रोध करके वसुओं को शाप देकर फिर तप करने लगे। इधर वसुओं को जब वशिष्ठ के शाप देने का हाल मालूम हुआ, तब वे फिर वशिष्ठ के आश्रम में आये और अनेक प्रकार से ऋषि को मनाने लगे। परन्तु ऋषि किसी तरह सन्तुष्ट नहीं हुए। सब धर्मों के ज्ञाता ऋषिश्रेष्ठ वरुण के पुत्र ने किसी तरह क्षमा न करके कहा—मैंने पृथु आदि तुम सब वसुओं को शाप दिया है, किन्तु तुम सब लोग एक ही वर्ष के भीतर इस शाप से छुटकारा पा जाओगे। परन्तु ये द्यौ, जिनके कारण तुम सब को शाप मिला है, बहुत दिनों तक पृथ्वी पर रहकर अपने कर्म फल भोगेंगे। क्योंकि यही असल में अपराधी हैं। मैंने क्रोध के वश होकर जो कह दिया है, वह झूठ नहीं हो सकता। इसके सिवाय द्यौ का वंश पृथ्वी

नानृतं तच्चिकीर्षामि क्रुद्धो युष्मान्यदब्रुवम् ।
न प्रजास्यति चाप्येष मानुषेषु महामनाः ॥ ४० ॥
भविष्यति च धर्मात्मा सर्वशास्त्रविशारदः ।
पितुः प्रियहिते युक्तः स्त्रीभोगान्वर्जयिष्यति ॥ ४१ ॥
एवमुक्त्वा वसून्सर्वान्स जगाम महानृषिः ।
ततो मामुपजग्मुस्ते समेता वसवस्तदा ॥ ४२ ॥
अयाचन्त च मां राजन्वरं तच्च मया कृतम् ।
जाताञ्जातान्प्रक्षिपास्मान्स्वयं गङ्गे त्वमम्भसि ॥ ४३ ॥
एवं तेषामहं सम्यक्शतानां राजसत्तम ।
मोक्षार्थं मानुषाल्लोकाद्यथावत्कृतवत्यहम् ॥ ४४ ॥
अयं शापादृषेस्तस्य एक एव नृपोत्तम ।
द्यौ राजन्मानुषे लोके चिरं वत्स्यति भारत ॥ ४५ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतदाख्याय सा देवी तत्रैवान्तरधीयत ।
आदाय च कुमारं तं जगामाथ यथेप्सितम् ॥ ४६ ॥
स तु देवव्रतो नाम गाङ्गेय इति चाभवत् ।
द्युनामा शांतनोः पुत्रः शांतनोरधिको गुणैः ॥ ४७ ॥
शांतनुश्चापि शोकार्तो जगाम स्वपुरं ततः ।
तस्याहं कीर्त्तयिष्यामि शान्तनोरधिकान्गुणान् ॥ ४८ ॥

पर नहीं चलेगा । ये धर्मात्मा और धर्मशास्त्र के पूरे पण्डित होकर, स्त्री-भोग त्याग करके, पिता का प्रिय और हित करेंगे ॥३२।४०॥

वसुओं से यह कहकर महात्मा वशिष्ठ चले गये । इसके उपरान्त सब वसुओं ने मेरे आगे प्रार्थना की । हे गंगादेवी ! हमारे जन्म लेते ही तुम हमें जल में डुबो देना । मैंने उनसे ऐसा करना स्वीकार कर लिया । हे राजन् ! इस प्रकार वसुओं को शाप से छुड़ाने के लिये ही मैंने इन बालकों को डुबोया है । अब ऋषि के शाप के कारण केवल ये द्यौ नामक वसु बहुत दिनों तक पृथ्वी पर रहेंगे । वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! इतना कहकर और आठवें कुमार को लेकर गंगादेवी अन्तर्द्धान हो गई । वही द्यौ नाम के वसु शान्तनु के पुत्र होकर देवव्रत और गाङ्गेय नाम से प्रसिद्ध हुए । लोग उन्हें पिता से भी अधिक गुणी समझकर उनकी प्रशंसा करते थे । राजा शान्तनु अन्त को दुःखित होकर अपनी नगरी को चले आये ।

महाभाग्यं च नृपतेर्भारतस्य महात्मनः ।
यस्येतिहासो द्युतिमान्महाभारतमुच्यते ॥ ४९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वण्यापवोपाख्याने नवनवतितमोऽध्याय ॥ ९९ ॥

उन्हीं भारतवंश में उत्पन्न शान्तनु राजा के गुणों का और उनके भाग्यशाली होने का वर्णन करता हूं,—जिनका यह इतिहास महाभारत नाम से प्रसिद्ध है ॥४१।४९॥

आदिपर्व का निन्नानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ शततितमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

वैशम्पायन उवाच-स राजा शान्तनुर्धीमान्देवराजर्षिसत्कृतः ।
धर्मात्मा सर्वलोकेषु सत्यवागिति विश्रुतः ॥ १ ॥
दमो दानं क्षमा बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
नित्यान्यासन्महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ॥ २ ॥
एवं स गुणसंपन्नो धर्मार्थकुशलो नृपः ।
आसीद्भरतवंशस्य गोप्ता सर्वजनस्य च ॥ ३ ॥
कम्बुग्रीवः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः ।
अन्वितः परिपूर्णार्थैः सर्वैर्नृपतिलक्षणैः ॥ ४ ॥
तस्य कीर्तिमतो वृत्तमवेक्ष्य सततं नराः ।
धर्म एव परः कामादर्थाच्चेति व्यवस्थिताः ॥ ५ ॥
एतान्यासन्महासत्त्वे शांतनौ पुरुषर्षभे ।
न चास्य सदृशः कश्चिद्धर्मतः पार्थिवोऽभवत् ॥ ६ ॥

॥ सौवां अध्याय १०० ॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय! महात्मा राजा शान्तनु बड़े धर्मात्मा और सत्यवादी प्रसिद्ध हुए। देवता और राजर्षि उनका सत्कार करते थे। जितेन्द्रियता, दान, दया, बुद्धि, लोक लज्जा, धैर्य और प्रभाव, ये सब गुण राजा शान्तनु में स्थिररूप से विराजमान थे। भरतकुल-दीपक राजा शान्तनु धार्मिक, सर्वगुणसम्पन्न और भरतवंश तथा प्रजा के रक्षक थे। उनकी गर्दन शङ्ख के समान, पराक्रम मस्त हाथी के समान और दोनों कन्धे बैल की तरह ऊंचे थे। वे सम्पूर्ण अर्थ और राजलक्षण से भूषित थे। उन यशस्वी महाराज के चरित्र को देखकर सबको निश्चय हो गया कि, धर्म ही अर्थ और काम से श्रेष्ठ है ॥१।५॥

राजा शान्तनु के समान धार्मिक और कोई

वर्तमानं हि धर्मेषु सर्वधर्मभृतां वरम् ।
तं महीपा महीपालं राजराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ७ ॥
वीतशोकभयाबाधाः सुखस्वप्ननिबोधनाः ।
पतिं भारतगोप्तारं समपद्यन्त भूमिपाः ॥ ८ ॥
तेन कीर्तिमता शिष्टाः शक्रप्रतिमतेजसा ।
यज्ञदानक्रियाशीलाः समपद्यन्त भूमिपाः ॥ ९ ॥
शान्तनुप्रमुखैर्गुप्ते लोके नृपतिभिस्तदा ।
नियमात्सर्ववर्णानां धर्मोत्तरमवर्त्तत ॥ १० ॥
ब्रह्म पर्यचरत्क्षत्रं विशः क्षत्रमनुव्रताः ।
ब्रह्मक्षत्रानुरक्ताश्च शूद्राः पर्यचरन्विशः ॥ ११ ॥
स हास्तिनपुरे रम्ये कुरूणां पुटभेदने ।
वसन्सागरपर्यन्तामन्वशासद्वसुंधराम् ॥ १२ ॥
स देवराजसदृशो धर्मज्ञः सत्यवागृजुः ।
दानधर्मतपोयोगाच्छ्रिया परमया युतः ॥ १३ ॥
अरागद्वेषसंयुक्तः सोमवत्प्रियदर्शनः ।
तेजसा सूर्यकल्पोऽभूद्वायुवेगसमो जवे ।
अन्तकप्रतिमः कोपे क्षमया पृथिवीसमः ॥ १४ ॥

राजा नहीं हुआ। उनको धर्मात्माओं में श्रेष्ठ देखकर सब राजाओं ने महाराज की पदवी दी। उनके शासन के समय में किसी को शोक, भय और चिन्ता नहीं थी। सब सदा सुख से सोते और जागते थे। इन्द्र के समान तेजस्वी और कीर्तिमान् उस राजा के शासन-समय में सब राजा यज्ञ और दान करते थे। शान्तनु आदि भरतवंशी राजाओं के राज्य-काल में चारों वर्णों का धर्म बढ़ने लगा। क्षत्रियलोग ब्राह्मणों की सेवा करते थे, वैश्यलोग क्षत्रियों के आज्ञाकारी थे और शूद्रलोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य तीनों वर्णों की सेवा में तत्पर रहते थे ॥६।११॥

राजा शान्तनु कुरुवंशियों की राजधानी हस्तिनापुर में रहकर समुद्र-पर्यन्त सारी पृथ्वी का शासन करते थे। धर्मज्ञ, सत्यवादी और सरल स्वभाववाला राजा शान्तनु दान, धर्म और तपस्या के बल से इन्द्र के समान था। राग और द्वेष न होने के कारण वह चन्द्रमा के समान सुशोभित, सूर्य के सदृश तेजस्वी, वायु के समान बल तथा विक्रमवाला, कुपित होने पर साक्षात् काल के समान और

वधः पशुवराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम् ।
शान्तनौ पृथिवीपाले नावर्त्तत तथा नृप ॥ १५ ॥
ब्रह्मधर्मोत्तरे राज्ये शान्तनुर्विनयात्मवान् ।
समं शशास भूतानि कामरागविवर्जितः ॥ १६ ॥
देवर्षिपितृयज्ञार्थमारभ्यन्त तदा क्रियाः ।
न चाधर्मेण केषांचित्प्राणिनामभवद्वधः ॥ १७ ॥
असुखानामनाथानां तिर्यग्योनिषु वर्त्तताम् ।
स एव राजा सर्वेषां भूतानामभवत्पिता ॥ १८ ॥
तस्मिन्कुरुपतिश्रेष्ठे राजराजेश्वरे सति ।
श्रिता वागभवत्सत्यं दानधर्माश्रितं मनः ॥ १९ ॥
स समाः षोडशाष्टौ च चतस्रोऽष्टौ तथाऽपराः ।
रतिमप्राप्नुवन्स्त्रीषु बभूव वनगोचरः ॥ २० ॥
तथारूपस्तथाचारस्तथावृत्तस्तथाश्रुतः ।
गाङ्गेयस्तस्य पुत्रोऽभून्नाम्ना देवव्रतो वसुः ॥ २१ ॥
सर्वास्त्रेषु स निष्णातः पार्थिवेष्वितरेषु च ।
महाबलो महासत्त्वो महावीर्यो महारथः ॥ २२ ॥
स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा गङ्गामनुसरन्नदीम् ।
भागीरथीमल्पजलां शान्तनुर्दृष्टवान्नृपः ॥ २३ ॥

क्षमा में पृथ्वी के समान था। हे राजन्! उसके राज्य में मृग, वाराह, पशु पक्षी आदि जीव नहीं मारे जाते थे। उसके राज्य में अतिमान्य ब्राह्मणों का धर्म ही प्रधान धर्म माना जाता था। राजा स्वयं काम क्रोध से रहित नम्रता के साथ समान भाव से सब प्राणियों की रक्षा करते थे। देवयज्ञ ऋषियज्ञ और पितृयज्ञ की ही क्रिया होती थी। कोई अधर्म से किसी जीव को नहीं मारता था। वह राजा दुःखी, अनाथ, पशु, पक्षी आदि सब का राजा और पिता था। सब लोग सत्य बोलनेवाले, दानी और धर्मात्मा थे। छत्तीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम का सुख भोगकर शान्तनु वन को चले गये। उनका पुत्र था। नाम वसु का अवतार, गंगा के गर्भ से उत्पन्न, महात्मा देवव्रतरूप, आचार, चरित्र और विद्या आदि में उनके सदृश था ॥१२।२०॥

बड़े बल और वीर्यवाला, महासत्यवान्, महारथी और गदा आदि सब अस्त्रों के चलाने में निपुण राजा शान्तनु एक दिन मृग को बाण से

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास शान्तनुः पुरुषर्षभः ।
स्यन्दते किं त्वियं नाद्य सरिच्छ्रेष्ठा यथा पुरा ॥ २४ ॥
ततो निमित्तमन्विच्छन्ददर्श स महामनाः ।
कुमारं रूपसंपन्नं बृहन्तं चारुदर्शनम् ॥ २५ ॥
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं यथा देवं पुरन्दरम् ।
कृत्स्नां गङ्गां समावृत्य शरैस्तीक्ष्णैरवस्थितम् ॥ २६ ॥
तां शरैराचितां दृष्ट्वा नदीं गङ्गां तदन्तिके ।
अभवद्विस्मितो राजा दृष्ट्वा कर्मातिमानुषम् ॥ २७ ॥
जातमात्रं पुरा दृष्ट्वा तं पुत्रं शान्तनुस्तदा ।
नोपलेभे स्मृतिं धीमानभिज्ञातुं तमात्मजम् ॥ २८ ॥
स तु तं पितरं दृष्ट्वा मोहयामास मायया ।
संमोह्य तु ततः क्षिप्रं तत्रैवांतरधीयत ॥ २९ ॥
तदद्भुतं ततो दृष्ट्वा तत्र राजा स शांतनुः ।
शंकमानः सुतं गङ्गामब्रवीद्दर्शयेति ह ॥ ३० ॥
दर्शयामास तं गंगा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ तं कुमारमलंकृतम् ॥ ३१ ॥

घायल करके उसके पीछे जाते हुए, निकटवर्ती गंगा-तट पर पहुँचे । वहां उन्होंने देखा, नदी का जल बहुत घट गया है । ये देखकर राजा शान्तनु सोचने लगे कि, आज पहिले की तरह गंगा की बड़ी धारा नहीं दीख पड़ती, क्या कारण है? ॥२१।२४॥

पता लगाने पर उन्हें दीख पड़ा कि, बड़ा भारी देखने में सुन्दर रूपवाला देवराज के समान सुन्दर एक कुमार जल के प्रवाह को बाणों से रोके हुए, दिव्य अस्त्रों का प्रयोग कर रहा है । गंगा ने गंगा के पानी को बाणों से ढका हुआ देखकर, उस बालक के विचित्र कार्य को देखकर आश्चर्य माना । बुद्धिमान् शान्तनु ने जन्म लेते ही उस पुत्र को देखा था, इस कारण यह नहीं जान सका कि, वह उसी का पुत्र है । अपने पिता शान्तनु को अचम्भे में छोड़, वह बालक वहीं पर अन्तर्द्धान हो गया । शान्तनु ने उस अद्भुत कार्य को देखकर अन्त को गंगा से कहा—हे गंगादेवी ! यह बालक, जो अभी अन्तर्द्धान हो गया है, किसका है ? मुझे फिर उसे दिखलाओ । नदियों में श्रेष्ठ गंगा कपड़े-गहने पहिन-कर उस अनेक आभूषणों से अलंकृत कुमार का दाहिना हाथ पकड़े हुए राजा के आगे आई । निर्मल वस्त्र पहिने हुए नाना प्रकार के आभूषणों से सजी हुई गंगा को पहिले देख चुकने पर भी उसने नहीं पहिचाना । तब गंगा ने कहा—हे पुरुष

अलंकृतामाभरणैर्विरजोम्बरसंवृताम् ।
दृष्टपूर्वामपि स तां नाभ्यजानात्स शांतनुः ॥ ३२ ॥

गङ्गोवाच- यं पुत्रमष्टमं राजंस्त्वं पुरा मय्यविन्दथाः ।
स चायं पुरुषव्याघ्र सर्वास्त्रविदनुत्तमः ॥ ३३ ॥
गृहाणेमं महाराज मया संवर्धितं सुतम् ।
आदाय पुरुषव्याघ्र नयस्वैनं गृहं विभो ॥ ३४ ॥
वेदानधिजगे साङ्गान्वसिष्ठादेष वीर्यवान् ।
कृतास्त्रः परमेष्वासो देवराजसमो युधि ॥ ३५ ॥
सुराणां संमतो नित्यमसुराणां च भारत ।
उशना वेद यच्छास्त्रमयं तद्वेद सर्वशः ॥ ३६ ॥
तथैवाङ्गिरसः पुत्रः सुरासुरनमस्कृतः ।
यद्वेद शास्त्रं तच्चापि कृत्स्नमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ।
तव पुत्रे महाबाहौ सांगोपांगं महात्मनि ॥ ३७ ॥
ऋषिः परैरनाधृष्यो जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
यदस्त्रं वेद रामश्च तदेस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥ ३८ ॥
महेष्वासामिमं राजन्राजधर्मार्थकोविदम् ।
मया दत्तं निजं पुत्रं वीरं वीर गृहं नय ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच तयैवं समनुज्ञातः पुत्रमादाय शांतनुः ।
भ्राजमानं यथादित्यमाययौ स्वपुरं प्रति ॥ ४० ॥

व्याघ्र ! अब से पहिले आपने मेरे गर्भ से जो आठवां बालक उत्पन्न किया था, वह यही है। यह आपका पुत्र सम्पूर्ण अस्त्र विद्या सीखकर अच्छी तरह निपुण हो गया है ॥२५-३३॥

हे महाराज ! युद्ध में इसका सामना कोई वीर नहीं कर सकता। इसका धैर्य और विक्रम अधिक है। आपके इस पुत्र ने वशिष्ठ ऋषि से छः अंगोंसहित वेदों को पढ़ा है। हे भारत ! यह सुर और असुर दोनों को प्यारा है। असुरों के गुरु शुक्राचार्य जिन जिन शास्त्रों को जानते हैं और देवता दैत्य सब जिनकी वन्दना करते हैं, वे बृहस्पति जो कुछ जानते हैं, सो सब इस बालक ने सीख लिया है। प्रतापी कठोर ऋषि जामदग्नि का पुत्र परशुराम जिस अस्त्र विद्या को जानता है, वे सब अस्त्र इसको दे दिये हैं। हे वीर राजन् ! अब मैं धर्म अर्थ का जाननेवाला महाधनुर्धारी

पौरवस्तु पुरीं गत्वा पुरन्दरपुरोपमाम् ।
सर्वकामसमृद्धार्थं मेने सोऽऽत्मानमात्मना ॥ ४१ ॥
पौरवेषु ततः पुत्रं राज्यार्थमभयप्रदम् ।
गुणवन्तं महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ४२ ॥
पौरवाञ्छान्तनोः पुत्रः पितरं च महायशाः ।
राष्ट्रं च रञ्जयामास वृत्तेन भरतर्षभ ॥ ४३ ॥
स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः ।
वर्त्तयामास वर्षाणि चत्वार्यमितविक्रमः ॥ ४४ ॥
स कदाचिद्वनं यातो यमुनामभितो नदीम् ।
महीपतिरनिर्देश्यमाजिघ्रद्गन्धमुत्तमम् ॥ ४५ ॥
तस्य प्रभवमन्विच्छन्विचचार समन्ततः ।
स ददर्श तदा कन्यां दाशानां देवरूपिणीम् ॥ ४६ ॥
तामपृच्छत्स दृष्ट्वैव कन्यामसितलोचनाम् ।
कस्य त्वमसि का चासि किं च भीरु चिकीर्षसि ॥ ४७ ॥
साऽब्रवीद्दाशकन्याऽस्मि धर्मार्थं वाहये तरीम् ।
पितुर्नियोगाद्भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मनः ॥ ४८ ॥

आपका यह पुत्र आपको देती हूं । इसको घर ले जावें । वैशम्पायन ने कहा—राजा शान्तनु गंगा की आज्ञा से सूर्य-सदृश पुत्र को लेकर अपने नगर में आये ॥३४।४०॥

उस पुत्र को पाकर राजा शान्तनु ने अपने को कृतार्थ समझा । उन्होंने मन में सोचा कि, इतने दिनों के पश्चात् अब मैं सचमुच समृद्धिशाली हुआ । अब पुरु-वंश के राज्य की रक्षा के लिये शान्तनु ने गुणवान् महात्मा पुत्र को युवराज बनाया । हे भरत-श्रेष्ठ ! महायशस्वी शान्तनु के पुत्र ने अपने सच्चरित्र और सद्गुणों के कारण पिता को, पुरवासियों को और सारी प्रजा को प्रेमी बनाया । बड़े विक्रमवाले राजा शान्तनु ने बड़े सुख के साथ चार वर्ष व्यतीत किये । इसके पश्चात् एक दिन राजा शान्तनु यमुना के किनारे के वन में पहुँच गये । वहां एक अद्भुत, अपूर्व सुगन्धि को सूंघकर यह देखने लगे कि, यह सुगन्धि कहां से आती है । थोड़ी देर इधर-उधर घूमने के उपरान्त उन्होंने देवरूपिणी एक कन्या को देखा । राजा ने उस काली आंखवाली कन्या से पूछा—तुम कौन हो ! किसकी कन्या हो ! इस वन में किसलिये आई हो ? कन्या ने कहा—तुम्हारा कल्याण हो, मैं दाशराज की पुत्री हूं । उन्हीं की आज्ञा से धर्म के लिये नाव चलाती हूं । राजा शान्तनु ने उस दाश-कन्या को रूपवती, सुगन्धवती,

रूपमाधुर्यगन्धैस्तां संयुक्तां देवरूपिणीम् ।
समीक्ष्य राजा दाशेयीं कामयामास शांतनुः ॥ ४९ ॥
स गत्वा पितरं तस्या वरयामास तां तदा ।
पर्यपृच्छत्ततस्तस्याः पितरं सोऽऽत्मकारणात् ॥ ५० ॥
स च तं प्रत्युवाचेदं दाशराजो महीपतिम् ॥ ५१ ॥
जातमात्रैव मेदेया वराय वरवर्णिनी ।
हृदि कामस्तु मे कश्चित्तं निवोध जनेश्वर ॥ ५२ ॥
यदीमां धर्मपत्नीं त्वं मत्तः प्रार्थयसेऽनघ ।
सत्यवागसि सत्येन समयं कुरु मे ततः ॥ ५३ ॥
समयेन प्रदद्यां ते कन्यामहमिमां नृप ।
न हि मे त्वत्समः कश्चिद्वरो जातु भविष्यति ॥ ५४ ॥
शान्तनुरुवाच—श्रुत्वा तव वरं दाश व्यवस्येयमहं तव ।
दातव्यं चेत्प्रदास्यामि न त्वदेयं कथंचन ॥ ५५ ॥
दाश उवाच—अस्यां जायेत यः पुत्रः स राजा पृथिवीपते ।
त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नान्यः कश्चन पार्थिव ॥ ५६ ॥
वैशम्पायन उवाच—नाकामयत तं दातुं वरं दाशाय शांतनुः ।
शरीरजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत ॥ ५७ ॥

मधुरमोहिनी और देवरूपिणी देखकर मन में उसकी इच्छा की। उस कन्या के पिता के पास जाकर अपनी इच्छा प्रगट की और पूछा कि, तुम मेरे साथ अपनी कन्या का विवाह करने के लिये प्रसन्न हो या नहीं? दाशराज ने कहा—हे नरेश! कन्या के जन्म के समय ही मैंने निश्चय कर लिया था कि, यह कन्या किसी वर को दी जायगी। इसके देने में मेरी एक प्रार्थना है, यदि आप उसको स्वीकार करें, तो मैं यह कन्या आपको दे सकता हूँ ॥४९।५१॥

राजा ने कहा—आपका क्या कार्य है? स्पष्ट-स्पष्ट कहो। दाशराज ने कहा—हे पृथ्वीनाथ! इसके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो, वह आपके पीछे राजा हो। तुम किसी दूसरे पुत्र को अभिषिक्त नहीं कर सकोगे। वैशम्पायन ने कहा—हे भारत! राजा शान्तनु यद्यपि उस समय कामाग्नि से उस कन्या पर मोहित हो रहे थे, परन्तु उसने उस धीमरों के राजा को वह वर नहीं दिया और उस कन्या का अपने हृदय में ध्यान करते हुए हस्तिनापुर को चले गये। राजा शान्तनु शोक से विह्वल

स चिन्तयन्नेव तदा दाशकन्यां महीपतिः ।
प्रत्ययाद्धास्तिनपुरं कामोपहतचेतनः ॥ ५८ ॥
ततः कदाचिच्छोचन्तं शान्तनुं ध्यानमास्थितम् ।
पुत्रो देवव्रतोऽभ्येत्य पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ५९ ॥
सर्वतो भवतः क्षेमं विधेयाः सर्वपार्थिवाः ।
तत्किमर्थमिहाभीक्ष्णं परिशोचसि दुःखितः ॥ ६० ॥
ध्यायन्निव च मां राजन्नाभिभाषसि किंचन ।
न चाश्वेन विनिर्यासि विवर्णो हरिणः कृशः ॥ ६१ ॥
व्याधिमिच्छामि ते ज्ञातुं प्रतिकुर्यां हि तत्र वै ।
एवमुक्तः स पुत्रेण शान्तनुः प्रत्यभाषत ॥ ६२ ॥
असंशयं ध्यानपरो यथा वत्स तथा शृणु ।
अपत्यं नस्त्वमेवैकः कुले महति भारत ॥ ६३ ॥
शस्त्रनित्यश्च सततं पौरुषे पर्यवस्थितः ।
अनित्यतां च लोकानामनुशोचामि पुत्रक ॥ ६४ ॥
कथंचित्तव गाङ्गेय विपत्तौ नास्ति नः कुलम् ।
असंशयं त्वमेवैकः शतादपि वरः सुतः ॥ ६५ ॥

होकर सोच ही रहा था कि, इतने में उसके पुत्र देवव्रत ने आकर कहा—हे पिताजी ! आपका सब प्रकार से कुशल देखता हूं । सभी राजा आपकी आज्ञा मानते हैं । फिर आप क्यों ऐसे शोकाकुल, दुःखित और चिन्तित दीख पड़ते हैं ? मालूम होता है, आप मेरे ही विषय में कुछ सोच रहे हैं ॥५२।६०॥

हे राजन् ! मुझसे आप कुछ नहीं कहते हैं । मैं देखता हूं कि, आप दिन दिन पीले पड़ते जाते हैं । आपका शरीर भी शिथिल हुआ जाता है । आप घोड़े पर चढ़कर घूमने के लिये भी नहीं जाते । मैं जानना चाहता हूं कि, आपको कौनसी पीड़ा पहुँच रही है । मैं उसको दूर करने का उपाय करूंगा । यह बात सुनकर शान्तनु ने कहा—हे पुत्र ! इसमें संदेह नहीं कि, मुझको इन दिनों सोच हो रहा है । उसका कारण भी कहता हूं, सुनो । हे पुत्र ! भारतकुल-दीपक मेरे केवल एक तुम्हीं पुत्र हो । तुम सदा अस्त्र चलाने में नियुक्त और यश की इच्छा में लगे रहते हो । हे पुत्र ! मैं मनुष्य की अनित्यता समझकर शोक में पड़ा हुआ हूं । यदि किसी तरह तुमपर कोई विपत्ति आ पड़े, तो हमारा वंश ही नहीं रहेगा । इसमें कोई संदेह नहीं कि, तुम एक ही पुत्र सौ पुत्रों से श्रेष्ठ हो, इसी कारण मैं फिर विवाह करने की इच्छा भी

न चाप्यहं वृथा भूयो दारान्कर्तुमिहोत्सहे ।
सन्तानस्याविनाशाय कामये भद्रमस्तु ते ॥ ६६ ॥
अनपत्यं त्वैकपुत्रत्वमित्याहुर्धर्मवादिनः ।
अग्निहोत्रं त्रयीविद्या सन्तानमपि चाक्षयम् ॥ ६७ ॥
सर्वाण्येतान्यपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।
एवमेतन्मनुष्येषु तच्च सर्वं प्रजास्विति ॥ ६८ ॥
यदपत्यं महाप्राज्ञ तत्र मे नास्ति संशयः ।
एषा त्रयी पुराणानां देवतानां च शाश्वती ॥ ६९ ॥
त्वं च शूरः सदामर्षी शस्त्रनित्यश्च भारत ।
नान्यत्र युद्धात्तस्मात्ते निधनं विद्यते क्वचित् ॥ ७० ॥
सोऽस्मि संशयमापन्नस्त्वयि शांते कथं भवेत् ।
इति ते कारणं तात दुःखस्योक्तमशेषतः ॥ ७१ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततस्तत्कारणं राज्ञो ज्ञात्वा सर्वमशेषतः ।
देवव्रतो महाबुद्धिः प्रज्ञया चान्वचिन्तयत् ॥ ७२ ॥
अभ्यगच्छत्तदैवाशु वृद्धामात्यं पितुर्हितम् ।
तमपृच्छत्तदाऽभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम् ॥ ७३ ॥

नहीं करता। वंश की रक्षा के लिये केवल यही इच्छा किया करता हूं कि, तुम सदा कुशल से रहो। धर्मज्ञों का यह कहना है कि, जिसके एक ही पुत्र है, वह पुत्र-हीन के बराबर है। अग्निहोत्र, वेद पाठ और शिष्यों में विद्या के प्रचार आदि से अक्षय फल मिलता है, परन्तु पुत्र के स्नेह के बराबर कोई नहीं होता। केवल मनुष्य ही नहीं, पशु और पक्षी भी पुत्र को मंगल का मूल समझते हैं ॥६१-६८॥

इसमें कोई संदेह नहीं कि, जिस मनुष्य के संतान रहती है, उसको कहीं कभी भय नहीं रहता है और उसकी मुक्ति होती है। इसी बात को वेद, पुराण और देवता भी कहते हैं। सन्तान के नष्ट होने पर मनुष्य का जीवन व्यर्थ हो जाता है। हे भारत! तुम शूर और शस्त्र चलाने में सदा नियुक्त रहते हो, इससे युद्ध में ही तुम्हारे नष्ट होने की सम्भावना है। इसी कारण मैं चिन्ता में पड़ा रहता हूं। हे पुत्र! इसके सिवाय और कुछ मेरी चिन्ता का कारण नहीं है। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! बुद्धिमान् देवव्रत ने राजा से यह सब सुनकर कुछ देर तक सोचा। फिर हितचिन्तक वृद्ध मन्त्री के पास जाकर पिता की चिन्ता का कारण पूछा। हे भारतश्रेष्ठ! उसके पूछने पर उस गंधवती कन्या के लिये दाशराज ने जो वर मांगा था, वह सब मन्त्री ने कह सुनाया। इसके

तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत्परिपृच्छते ।
वरं शशंस कन्यां तामुद्दिश्य भरतर्षभ ॥ ७४ ॥
ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा ।
अभिगम्य दाशराजं कन्यां वव्रे पितुः स्वयम् ॥ ७५ ॥
तं दाशः प्रतिजग्राह विधिवत्प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीच्चैनमासीनं राजसंसदि भारत ॥ ७६ ॥
त्वमेव नाथः पर्याप्तः शांतनोर्भरतर्षभ ।
पुत्रः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः किं तु वक्ष्यामि ते वचः ॥ ७७ ॥
को हि संबन्धकं श्लाघ्यमीप्सितं यौवनमीदृशम् ।
अतिक्रामन्न तप्येत साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ७८ ॥
अपत्यं चैनदार्यस्य यो युष्माकं समोगुणैः ।
यस्य शुक्रात्सत्यवती संभूता वरवर्णिनी ॥ ७९ ॥
तेन मे बहुशस्तात पिता ते परिकीर्तितः ।
अर्हः सत्यवतीं वोढुं धर्मज्ञः स नराधिपः ॥ ८० ॥
असितो ह्यपि देवर्षिः प्रत्याख्यातः पुरा मया ।
सत्यवत्या भृशं चार्थी स आसीदृषिसत्तमः ॥ ८१ ॥
कन्यापितृत्वात्किंचित्तु वक्ष्यामि त्वां नराधिप ।
बलवत्सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलम् ॥ ८२ ॥

पश्चात् बूढ़े क्षत्रियों को साथ लेकर देवव्रत उस दाशराज के पास गये । वहां जा कर उन्होंने पिता के लिये दाशराज से उसकी कन्या मांगी ॥६०।७०॥

दाशराज ने उसका विधिपूर्वक सत्कार किया और कहा—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ ! आप सब शस्त्र धारियों में श्रेष्ठ और महाराजा शान्तनु के उत्तम बेटे हैं । आप स्वय सब विषयों के कर्ता हैं, परन्तु आपसे कुछ कहता हूं । ऐसे प्रशंसनीय और साध्य नाय सम्बन्ध को अस्वीकार कर देने से साक्षात् इन्द्र को भी सन्ताप होगा । यह सत्यवती कन्या जिस मनुष्य के वीर्य से उत्पन्न हुई है, वह पुरुष आपके ही समान गुणवान् है । उन्होंने कई बार मुझसे आपके पिता का नाम लेकर कहा था कि, वह धर्मज्ञ राजा, सत्यवती से विवाह करने योग्य है । देवर्षि असित ने भी यह कन्या मुझसे मांगी थी, परन्तु मैंने उनको देना उचित नहीं समझा । हे नृपोत्तम ! मैं इस कन्या का पिता हूं, इसलिये आपसे कुछ कहता हूं । इस कन्या के देने में मुझे

यस्य हि त्वं सपत्नः स्या गन्धर्वस्यासुरस्य वा ।
न स जातु चिरं जीवेत्त्वयि क्रुद्धे परंतप ॥ ८३ ॥
एतावानत्र दोषो हि नान्यः कश्चन पार्थिव ।
एतज्जानीहि भद्रं ते दानादाने परंतप ॥ ८४ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तु गाङ्गेयस्तद्युक्तं प्रत्यभाषत ।
शृण्वतां भूमिपालानां पितुरर्थाय भारत ॥ ८५ ॥
इदं मे व्रतमादत्स्व सत्यं सत्यवतांवर ।
नैव जातो न वाऽजात ईदृशं वक्तुमुत्सहेत् ॥ ८६ ॥
एवमेतत्करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे ।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥ ८७ ॥
इत्युक्तः पुनरेवाथ तं दाशः प्रत्यभाषत ।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म राज्यार्थे भरतर्षभ ॥ ८८ ॥
त्वमेव नाथः संप्राप्तः शान्तनोरमितद्युतेः ।
कन्यायाश्चैव धर्मात्मन्प्रभुर्दानाय चेश्वरः ॥ ८९ ॥
इदं तु वचनं सौम्य कार्यं चैव निबोध मे ।
कौमारिकाणां शीलेन वक्ष्याम्यहमरिंदम ॥ ९० ॥
यत्त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण ।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ॥ ९१ ॥

'बलवान् से शत्रुता' का दोष दीख पड़ता है ॥७६।८२

इसके पुत्रों की तो किन में गिणती है यदि आप देवता या किसी गंधर्व के भी विरोधी होवें, तो आप के क्रोध करने पर वह भी जीता नहीं रह सकता। आपके पिता को कन्या देने में मुझे इस बात के सिवाय और कोई सोच नहीं है। वैशम्पायन ने कहा-हे राजन! गङ्गा के पुत्र महात्मा देवव्रत ने दाशराज की यह बातें सुनकर सब क्षत्रियों के आगे प्रतिज्ञापूर्वक कहा-हे दाशराज! जो तुम्हारी इच्छा है उसे मैं पिता की भलाई के लिये अवश्य पूरी करूंगा। मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूं कि, इस तुम्हारी कन्या के जो पुत्र होगा उसी को राज्य दूंगा। ऐसी प्रतिज्ञा आज तक न किसी ने की और न करेगा। यह बात सुनकर दाशराज ने राज्य के लिये पूरा काम करने के लिये फिर कहा-हे धर्मात्मा! आप शान्तनु के कुल को बढ़ाने के लिये आये हैं। इस कन्यादान के आप भी कर्ता होवें। हे शांतशील! मैं आपसे कुछ और भी कहना

नान्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन ।
तवापत्यं भवेद्यत्तु तत्र नः संशयो महान् ॥ ९२ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्यैतन्मतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः ।
प्रत्यजानात्तदा राजन्पितुः प्रियचिकीर्षया ॥ ९३ ॥
गाङ्गेय उवाच-दाशराज निबोधेदं वचनं मे नृपोत्तम ।
शृण्वतां भूमिपालानां यद्ब्रवीमि पितुः कृते ॥ ९४ ॥
राज्यं तावत्पूर्वमेव मया त्यक्तं नराधिपाः ।
अपत्यहेतोरपि च करिष्येऽद्य विनिश्चयम् ॥ ९५ ॥
अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति ।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ॥ ९६ ॥
वैशम्पायन उवाच-तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संप्रहृष्टतनूरुहः ।
ददानीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ॥ ९७ ॥
ततोऽन्तरिक्षेऽप्सरसो देवाः सर्षिगणास्तदा ।
अभ्यवर्षन्त कुसुमैर्भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ९८ ॥
ततः स पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम् ।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ॥ ९९ ॥

चाहता हूं; कन्या के ऊपर स्नेह होने के कारण उसकी भलाई के लिये और कुछ कहता हूं, वह भी सुनिए। हे सत्यधर्मशील ! आपने सत्यवती के पुत्र के लिये इन राजाओं के सामने जो प्रतिज्ञा की है, वह आप जैसे महानुभावों से ही हो सकती है ॥८३।९१॥

हे महाबाहु ? इसमें मुझे कुछ भी संदेह नहीं है, किन्तु आपकी जो सन्तान होगी उसकी ओर से मुझे बड़ा संदेह है। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! दाशराज का अभिप्राय समझकर पिता का प्रिय करने के लिये सत्यधर्मवाले गङ्गा के पुत्र देवव्रत ने कहा—हे दाशराज ! मैं इन राजाओं के सम्मुख यह भी प्रतिज्ञा करता हूं, सुनो। हे राजवृन्द ! मैं राज्य छोड़ने की प्रतिज्ञा पहिले ही कर चुका हूं। अब मेरे पुत्र के राज्य पाने में जो सन्देह हुआ है, उसके दूर करने के लिये भी मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि, मैं आज से जन्म-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहूंगा। इससे मेरे निःसंतान होने पर भी मुझे अक्षय स्वर्ग-लोक मिलेगा। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! इस बात को सुनकर दाशराज बहुत प्रसन्न हुआ और देवव्रत को कन्या लाकर दे दी। उस समय देवताओं ने देवव्रत पर आकाश से फूलों की वर्षा की और कहा कि, इसने भीष्मव्रत किया है। इससे इसका नाम भीष्म होगा। इसके पश्चात भीष्म ने यश-

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भाविनीम् ।
आगम्य हास्तिनपुरं शांतनोः संन्यवेदयत् ॥ १०० ॥
तस्य तद् दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
समेताश्च पृथक्चैव भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ १०१ ॥
तच्छ्रुत्वा दुष्करं कर्म कृतं भीष्मेण शांतनुः ।
स्वच्छन्दमरणं तुष्टो ददौ तस्मै महात्मने ॥ १०२ ॥
न ते मृत्युः प्रभविता यावज्जीवितुमिच्छसि ।
त्वत्तो ह्यनुज्ञां संप्राप्य मृत्युः प्रभविताऽनघ ॥ १०३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि सत्यवतीलाभोपाख्याने शततमोऽध्याय ॥ १०० ॥

न्विनी, योजनगंधा सत्यवती से कहा—हे माता ! रथ पर सवार होकर अपने घर को चलो। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! यह कहकर भीष्म ने उसको रथ पर स्वार कर लिया और हस्तिनापुर में लाकर अपने पिता को सब वृत्तान्त कह सुनाया। सब राजाओं ने भीष्म की उस प्रतिज्ञा को जानकर प्रशंसा की । राजा शान्तनु ने अत्यंत प्रसन्न होकर यह वरदान दिया कि, जब तुम चाहोगे, तभी तुम्हारी मृत्यु होगी ॥९२।१०३॥

आदिपर्व का सौवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकाधिकशततमोऽध्याय ॥ १०१ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा शांतनुर्नृपः ।
तां कन्यां रूपसंपन्नां स्वगृहे संन्यवेशयत् ॥ १ ॥
ततः शान्तनवो धीमान्सत्यवत्यामजायत ।
वीरश्चित्राङ्गदो नाम वीर्यवान्पुरुषेश्वरः ॥ २ ॥
अथापरं महेष्वासं सत्यवत्यां सुतं प्रभुः ।
विचित्रवीर्यं राजानं जनयामास वीर्यवान् ॥ ३ ॥
अप्राप्तवति तस्मिंस्तु यौवनं पुरुषर्षभे ।
स राजा शान्तनुर्धीमान्कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४ ॥

॥ एक सौ एक अध्याय १०१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! विवाह हो जाने पर राजा शान्तनु ने रूपवती, सत्यवती को अपने अन्तःपुर में रक्खा। कुछ दिनों के पश्चात् सत्यवती के गर्भ से, पुरुषों में श्रेष्ठ, पराक्रमी चित्रा-

स्वर्गते शान्तनौ भीष्मश्चित्राङ्गदमरिंदमम् ।
स्थापयामास वै राज्ये सत्यवत्या मते स्थितः ॥ ५ ॥
स तु चित्राङ्गदः शौर्यात्सर्वांश्चिक्षेप पार्थिवान् ।
मनुष्यं न हि मेने स कंचित्सदृशमात्मनः ॥ ६ ॥
तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव मनुष्यानसुरांस्तथा ।
गन्धर्वराजो बलवांस्तुल्यनामाऽभ्ययात्तदा ॥ ७ ॥
तेनास्य सुमहद्युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह ।
तयोर्बलवतोस्तत्र गन्धर्वकुरुमुख्ययोः ।
नद्यास्तीरे सरस्वत्याः समास्तिस्रोऽभवद्रणः ॥ ८ ॥
तस्मिन्विमर्दे तुमुले शस्त्रवर्षसमाकुले ।
मायाधिकोऽवधीद्वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम् ॥ ९ ॥
स हत्वा तु नरश्रेष्ठं चित्राङ्गदमरिन्दमम् ।
अन्ताय कृत्वा गन्धर्वो दिवमाचक्रमे ततः ॥ १० ॥
तस्मिन्पुरुषशार्दूले निहते भूरितेजसि ।
भीष्मः शान्तनवो राजा प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥ ११ ॥
विचित्रवीर्यं च तदा बालमप्राप्तयौवनम् ।
कुरुराज्ये महाबाहुरभ्यषिञ्चदनन्तरम् ॥ १२ ॥

ङ्गद और विचित्रवीर्य नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। पुरुषों में श्रेष्ठ विचित्रवीर्य अभी युवा भी न हुए थे कि, महाराज शान्तनु की मृत्यु हो गई। इसके पश्चात् भीष्म ने सत्यवती की आज्ञा से चित्राङ्गद को राज्य पर अभिषिक्त किया ॥१।५॥

चित्राङ्गद ने अपने बल से सब राजाओं को जीतकर अपने वश में किया। वे किसी मनुष्य को अपने बराबर नहीं समझते थे। सुर, असुर, मनुष्य आदि सब ने चित्राङ्गद से हार मान ली। उसी अवसर में एक चित्राङ्गद नामवाला गंधर्व उससे युद्ध करने को आया। कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी के किनारे उन महाबली, उत्साही, दोनों वीरों का आपस में घोर युद्ध होता रहा। अन्त में बड़ी मायावाले गन्धर्वराज ने वीर कुरुनदन को युद्धभूमी में गिराया। मनुष्यों में श्रेष्ठ राजा चित्राङ्गद माया न जानते थे, इसी कारण वे गन्धर्वराज के हाथों मारे गये। वीर चित्राङ्गद को मारकर वह गन्धर्व स्वर्गलोक को चला गया ॥६।१०॥

महातेजस्वी चित्राङ्गद के मारे जाने पर भीष्म ने विधिपूर्वक उनका क्रिया कर्म कराया। तत्पश्चात्

विचित्रवीर्यः स तदा भीष्मस्य वचने स्थितः ।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ॥ १३ ॥
स धर्मशास्त्रकुशलं भीष्मं शान्तनवं नृपः ।
पूजयामास धर्मेण स चैनं प्रत्यपालयत् ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि चित्राङ्गदोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

महाराज, सत्यव्रतवाले भीष्म ने नाबालिग विचित्रवीर्य को युवराज में अभिषिक्त किया। विचित्रवीर्य भीष्म की आज्ञानुसार पिता के राज्य का शासन करने लगा। वह धर्मशास्त्र का ज्ञाता जिस प्रकार भीष्म की प्रतिष्ठा करता था, उसी प्रकार भीष्म ने भी धर्मानुसार वैसा ही उसका पालन किया ॥ १३।१४

आदिपर्व का एक सौ एक अध्याय समाप्त हुआ ॥

विचित्रवीर्यः स तदा भीष्मस्य वचने स्थितः ।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ॥ १३ ॥
स धर्मशास्त्रकुशलं भीष्मं शान्तनवं नृपः ।
पूजयामास धर्मेण स चैनं प्रत्यपालयत् ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि चित्राङ्गदोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्याय ॥ १०१ ॥

महाबाहु, सत्यव्रतवाले भीष्म ने नाबालिग विचित्रवीर्य को कुरुराज में अभिषिक्त किया। विचित्रवीर्य भीष्म की आज्ञानुसार पिता के राज्य का शासन करने लगा। वह धर्मशास्त्र का ज्ञाता जिस प्रकार भीष्म की प्रतिष्ठा करता था, उसी प्रकार भीष्म ने भी धर्मानुसार वैसा ही उसका पालन किया ॥ १३।१४

आदिपर्व का एक सौ एक अध्याय समाप्त हुआ ॥

प्रथम अङ्क समाप्त हुआ ।

